

सकलकीर्ति आचार्य परिचय

संस्कृत भाषा एवं साहित्य के विकास में जेनाचार्यों एवं सन्तों का सहत्वपूर्ण योगदान रहा है। यद्यपि भगवान् महावीर ने अपना दिव्य सन्देश अर्धमागधी भाषा में दिया था और उनके परिनिर्वाण के पश्चात् एक हजार वर्ष से भी अधिक समय देश में प्राकृत भाषा का बलवत्त्व रहा और उसमें अपार साहित्य लिखा गया, लेकिन जब जेनाचार्यों ने देश के बुद्धिजीवियों की रुचि संस्कृत को ओर अधिक देखी तथा संस्कृत भाषा का विद्वान् ही पंडितों की श्रेणी में समझा जाने लगा तो उन्होंने संस्कृत भाषा को अपनाने में अपना पूर्ण समर्थन दिया और अपनी लेखनी द्वारा संस्कृत में सभी विषयों के विकास पर इतना अधिक लिखा कि अभी तक पूर्ण रूप से उसका इतिहास भी नहीं लिखा जा सका। उन्होंने काव्य लिखे, पुराण लिखे, कथा एवं नाटक लिखे। आध्यात्मिक एवं सिद्धान्त ग्रंथों की रचना की। दर्शन एवं न्याय पर शीर्षस्थ ग्रंथों की रचना करके संस्कृत साहित्य के इतिहास में अपना सहत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। यही नहीं आधुर्वेद, ज्योतिष, मन्त्र शास्त्र, गणित जैसे विषयों पर भी उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की। संस्कृत भाषा में ग्रन्थ निर्माण का उत्तम यह क्रम गत डेढ़ हजार वर्षों से उसी अबाध गति से चल रहा है। आचार्य समन्तभद्र, आचार्य सिद्धसेन, आचार्य पूज्यपाद, आचार्य रविषेण, आचार्य अकलंकदेव, आचार्य जिनसेन, विद्यानन्द एवं श्रमृतचन्द्र जैसे महान् आचार्यों पर किसे हर्ष नहीं होगा? इसी तरह आचार्य गुणभद्र, आचार्य भद्रासिंह, महावीराचार्य, आचार्य शुभचन्द्र, हस्तिभल्ल, जैसे आचार्यों ने संस्कृत भाषा में अपार साहित्य लिख कर संस्कृत साहित्य के यश एवं गौरव को द्विगुणित किया। १४ वीं शताब्दी में ही देश में भट्टारक संस्था ने लोकप्रियता प्राप्त की। ये भट्टारक स्वयं ही आचार्य, उपाध्याय एवं सर्वसाधु के रूप में सर्वत्र समादृत थे। इन्होंने अपने ५०० वर्षों के युग में न केवल जैन धर्म की ही सर्वत्र प्रभावना की किन्तु अपनी महान् विद्वत्ता से संस्कृत साहित्य की अनोखी सेवा की और देश को अपने त्याग एवं ज्ञान से एक नवीन दिशा प्रदान की।

इन भट्टारकों में भट्टारक सकलकीर्ति का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है।

वे ऐसे ही सन्त शिरोमणि हैं जिनकी रचनायें राजस्थान के शास्त्र भण्डारों का गौरव बढ़ा रही हैं। इस प्रदेश का ऐसा कोई ग्रन्थागार नहीं जिसमें उनकी कम से कम तीन चार कृतियाँ संग्रहीत नहीं हों। वे साहित्य गगन के ऐसे महान् तपस्वी सन्त हैं जिनकी विद्वत्ता पर देश का सम्पूर्ण विद्वत् समाज गर्व कर सकता है। वे साहित्य गगन के सूर्य हैं और अपनी काव्य प्रतिभा से गत ७०० वर्षों से सभी को आलोकित कर रहा है। उन्होंने संस्कृत एवं राजस्थानी में दो चार नहीं, पचासों रचनायें लिखी हैं और काव्य, पुराण, चरित, कथा, अध्यात्म, सुभाषित आदि विविध विषयों पर अधिकार पूर्ण लिखा। गुजरात, बागड़, मेवाड़ एवं डूंगरहड़ प्रदेश में जिनके पचासों शिष्य प्रशिष्यों ने उनकी कृतियों की प्रतिलिपियाँ करके यहां के शास्त्र भण्डारों को शोभा में ललित की है। और गत ५०० वर्षों से जिनकी कृतियों का स्वाध्याय एवं पठन पाठन का समाज में सर्वाधिक प्रचार रहा है। जिनमें कितने ही पुराण एवं चरित्र ग्रन्थों को हिन्दी टीकायें हो चुकी हैं तथा अभी तक भी वही क्रम चालू है। ऐसे महाकवि का संस्कृत साहित्य के इतिहास में कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलना नितम्बेह विचारणीय है। “राजस्थान के जैन सन्त व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व” पुस्तक में सर्व प्रथम लेखक ने भट्टारक सकलकीर्ति पर जब विस्तृत प्रकाश डाला तो विद्वानों का इस ओर ध्यान गया और उदयपुर विश्वविद्यालय से डा० बिहारीलालजी जैन ने भट्टारक सकलकीर्ति पर एक शोध प्रबन्ध लिख कर उनके जीवन एवं कर्तृत्व पर गहरी खोज की और बहुत ही सुन्दर रीति से उनका मूल्यांकन प्रस्तुत किया। प्रसन्नता का विषय है कि उदयपुर विश्वविद्यालय ने शोध प्रबन्ध को स्वीकृत करके श्री बिहारीलाल जैन को पी. एच. डी. की उपाधि से सम्मानित भी कर दिया है। डा० जैन ने सकलकीर्ति की आयु एवं जीवन के सम्बन्ध में कुछ नवीन तथ्य उपस्थित किये हैं। लेकिन सकलकीर्ति के विशाल साहित्य को देखते हुए अभी उनका और भी विस्तृत मूल्यांकन होना शेष है। अभी तक विद्वानों ने सर्व के रूप में उनके साहित्य का नामोल्लेख किया है तथा उनका सामान्य परिचय पाठकों के समक्ष उपस्थित किया है। किन्तु उनकी प्रत्येक कृति ही अपूर्व कृति है जिसमें सभी प्रकार की ज्ञान सामग्री उपलब्ध होती है। उन्होंने काव्य लिखे, पुराण लिखे एवं कथा साहित्य लिखा और जन साधारण में उन्हें लोकप्रिय बनाया। उन्होंने संस्कृत में ही नहीं, राजस्थानी भाषा में भी लिखा। इसमें भट्टारक सकलकीर्ति के महान् व्यक्तित्व को देखा एवं परखा जा सकता है।

जीवन परिचय—

भट्टारक सकलकीर्ति का जन्म संवत् १४४३ (सन् १३८६) में हुआ था। इनके पिता का नाम करमसिंह एवं माता का नाम शोभा था। ये अणहिलपुर पट्टण के रहने वाले थे। इनकी जाति

हमइ थी ।^१ "होनहार बिरबान के होत धीकने पास" कहावत के अनुसार गर्भाधारण करने के पश्चात् इनकी माता ने एक सुन्दर स्वप्न देखा और उसका कल पूछने पर करमसिंह ने इस प्रकार कहा —

“तजि वयण सुणीसार, कुमर तुम्ह होइसिइए ।
निर्मल गंगानीर, चन्दन नन्दन तुम्ह तणुए ॥६॥
जलनिधि गहिर गम्भीर खीरोपम सोहामणुए ।
ते जिहि तरण प्रकाश जग उद्योतन जस किरण ॥१०॥”

बालक का नाम पुनसिंह अथवा पूर्णसिंह रखा गया । एक पट्टाबलि में इनका नाम पदार्थ भी किया हुआ है । द्वितीया के चन्द्रमा के समान वह बालक दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा । उसका वर्ण राजहंस के समान शुभ्र था तथा शरीर बसीस लज्जाओं से युक्त था । पांच वर्ष के होने पर पूर्णसिंह को पढ़ने बैठा दिया गया । बालक कुशाग्र बुद्धि का था इसलिये शीघ्र ही उसने सभी ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया । विद्यार्थी अवस्था में भी इनका अहंद् भक्ति की ओर अधिक ध्यान रहता था तथा वे जमा, सत्य, शौच एवं ब्रह्मधर्म आदि धर्मों को जीवन में उतारने का प्रयास करते रहते थे । ग्राहंस्थ जीवन के प्रति विरक्ति देख कर माता-पिता ने उनका १४ वर्ष की अवस्था में ही विवाह कर दिया, लेकिन विवाह बंधन में बांधने के पश्चात् भी उनका मन संसार में नहीं लगा और वे उदासीन रहने लगे । पुत्र की गति-विधियाँ देखकर माता-पिता ने उन्हें बहुत समझाया लेकिन उन्हें कोई सफलता नहीं मिली । पुत्र एवं माता-पिता के मध्य बहुत दिनों तक वाद-विवाद चलता रहा । पूर्णसिंह के कुछ समझ में नहीं आता और वे बार-बार साधु जीवन धारण करने की उनसे स्वीकृति मांगते रहते ।

अन्त में पुत्र की विजय हुई और पूर्णसिंह ने २६ वें वर्ष में अपार सम्पत्ति की तिलांजलि देकर साधु जीवन अपना लिया । वे आत्म-कल्याण के साथ-साथ जगत्कल्याण की ओर चल पड़े । “भट्टारक सकलकीर्ति नु रास” के अनुसार उनकी इस समय केवल १८ वर्ष की आयु थी । उस समय भट्टारक

१. हरषी सुणोय सुबाणि पालइ अम्य ऊग्ररि सुपर ।
चोऊद चिताल प्रमाणि पूरइ दिन पुन जनमोउ ॥
न्याति मोहि मुहुतबंत हूँइइ हरषि बलाणिइये ।
करमसिंह वितपन्न उबयबंत इस जाणीए ॥ ३ ॥
शाभित रस सरवाणि, भूलि सरीस्य सुन्दरीय ।
सील स्वंगारित अगि पेलु प्रत्यक्ष पुरंवरीय ॥४॥

—सकलकीर्ति रास

पद्ममन्दिर का मुख्य केन्द्र नैरावा (उदयपुर) था और वे आगम ग्रन्थों के पारंगामी विद्वान् साने खाते थे । इसलिये ये भी नैरावा चले गये और उनके शिष्य बन कर अध्ययन करने लगे । यह उनके साधु जीवन की प्रथम पद यात्रा थी । वहाँ ये आठ वर्ष रहे और प्राकृत एवं संस्कृत के ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया । उनके समर्प को समझा और भविष्य में सत् साहित्य का प्रचार-प्रसार ही अपना जीवन का एक उद्देश्य बना लिया । ३४ वें वर्ष में उन्होंने आचार्य पदवी ग्रहण की और नाम सकल-कीर्ति रखा गया ।

विहार—

सकलकीर्ति का वास्तविक साधु जीवन संवत् १४७७ से प्रारम्भ होकर संवत् १४९६ तक रहा । इन २२ वर्षों में इन्होंने मुख्य रूप से राजस्थान के उदयपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़ आदि राज्यों एवं गुजरात प्रान्त के राजस्थान के समीपस्थ प्रदेशों में खूब विहार किया ।

उस समय जन साधारण के जीवन में धर्म के प्रति काफी शिथिलता आ गई थी । साधु-सन्तों के विहार का अभाव था । जन-साधारण की न तो स्वाध्याय के प्रति रुचि रही थी और न उन्हें सरल भाषा में साहित्य ही उपलब्ध होता था । इसलिये सर्वप्रथम सकलकीर्ति ने उन प्रदेशों में विहार किया और सारे समाज की एक सूत्र में बांधने का प्रयास किया । इसी उद्देश्य से उन्होंने कितने ही यात्रा-संघों का नेतृत्व किया । सर्व प्रथम उन्होंने गिरनार की संघ के साथ यात्रा प्रारम्भ की । फिर वे चंपानेर की ओर यात्रा करने निकले । वहाँ से आने के पश्चात् हुमड जातीय रतना के साथ भांगी-तुंगी की यात्रा के लिये प्रस्थान किया । इसके पश्चात् उन्होंने अन्य तीर्थों की याचना की जिससे देश में धार्मिक चेतना फिर से जाग्रत होने लगी ।

प्रतिष्ठाओं का आयोजन—

तीर्थ यात्राओं के पश्चात् सकलकीर्ति ने नव मन्दिर निर्माण एवं प्रतिष्ठाएं करवाने का कार्य हाथ में लिया । उन्होंने अपने जीवन में १४ विम्ब प्रतिष्ठाओं का संचालन किया । इस कार्य में योग देने वालों में संघपति नरपाल एवं उनकी पत्नी बहुरानी का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है । गलिया-कोट में संघपति मूलराज ने इन्हीं के उपदेश से "चतुर्विंशति जिन विम्ब" की स्थापना की थी । नागदा जाति के श्रावक संघपति ठाकुरसिंह ने भी कितनी ही विम्ब प्रतिष्ठाओं में योग दिया । महारक सकलकीर्ति द्वारा संवत् १४९०, १४९२, १४९७ आदि संवत्‌ओं में प्रतिष्ठापित मूर्तियां उदयपुर, हुंगरपुर एवं सागवाड़ा आदि स्थानों के जैन मन्दिरों में मिलती हैं । प्रतिष्ठा महोत्सवों के इन आयोजनों से तत्कालीन समाज में जो जन जाग्रति उत्पन्न हुई थी, उसने देश में जैन धर्म एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार में अपना पूरा योग दिया ।

व्यक्तित्व एवं पांडित्य—

भट्टारक सकलकीर्ति असाधारण व्यक्तित्व के धनी थे। इन्होंने जिन-जिन परम्पराओं की नींव रखी, उनका बाद में खूब विकास हुआ। वे गम्भीर अध्ययन युक्त सन्त थे। प्राकृत एवं संस्कृत भाषाओं पर इनका पूर्ण अधिकार था। ब्रह्म जिनदास एवं भ० भुवनकीर्ति जैसे विद्वानों का इनका शिष्य होना ही इनके प्रथम पाण्डित्य का सूचक है। इनकी यात्री में जाह्नू था इसलिए जहाँ भी इनका विहार हो जाता था वहाँ इनके सैकड़ों भक्त बन जाते थे। ये स्वयं तो योग्यतम विद्वान् थे ही, किन्तु इन्होंने अपने शिष्यों को भी अपने ही समान विद्वान् बनाया। ब्रह्म जिनदास ने अपने ग्रन्थों में भट्टारक सकलकीर्ति को महाकवि, निर्गन्धराज शुद्ध चरित्रधारी एवं तपोनिधि आवि उपाधिओं से सम्बोधित किया है।^१

भट्टारक सकलसूचण ने अपने उपदेश रत्नमाला की प्रशस्ति में कहा है कि सकलकीर्ति जन जन का चित्त स्वतः ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे। ये पुण्यभूति स्वरूप थे तथा अनेक पुराण ग्रन्थों के रक्षयिता थे।^२

इसी तरह भट्टारक शुभचन्द्र ने सकलकीर्ति को पुराण एवं काव्यों का प्रसिद्ध नेता कहा है। इनके अतिरिक्त इनके बाव होने वाले प्रायः सभी भट्टारकों ने सकलकीर्ति के व्यक्तित्व एवं विद्वत्ता की भारी प्रशंसा की है। ये भट्टारक थे किन्तु मुनि नाम से भी अपने आपको सम्बोधित करते थे। धर्म कुमार चरित्र ग्रन्थ की पुष्पिका में इन्होंने अपने आपको मुनि सकलकीर्ति नाम से परिचय दिया है।

ये स्वयं भी नग्न अवस्था में रहते थे और इसलिये ये निर्गन्धकार अथवा निर्गन्धराज के नाम से भी अपने शिष्यों द्वारा सम्बोधित किये गये हैं। इन्होंने वागड़ प्रदेश में जहाँ भट्टारकों का कोई

१. ततो सवत्सव जगत्प्रसिद्धेः पट्टे मतोज्ञे सकलादिकीर्तिः ।

महाकविः शुद्धचरित्रधारी निर्गन्धराजा जगति प्रतापी ॥

—जम्बू स्वामी चरित्र

२. तत्पट्ट पंकेजविकासभाष्यान् बभूव निर्गन्धवरः प्रतापी ।

महाकवित्वादिकला प्रवीणः तपोनिधिः श्री सकलादिकीर्तिः ॥

—हरिबंश पुराण

तत्पट्टधारी जनचित्तहारी पुराणमुख्योत्तम-शास्त्रकारी ।

भट्टारक श्रीसकलादिकीर्तिः प्रसिद्धनामाजनि पुण्यभूतिः ॥२१६॥

—उपदेशरत्नमाला—सकल भूषण

प्रभाव नहीं था। संवत् १४६२ में गलिगाकोट में एक भट्टारक गाँव की स्थापना की और अपने गाँवकी सरस्वती गच्छ एवं बलात्कारगरा की परम्परा का भट्टारक घोषित किया। ये उत्कृष्ट तपस्वी थे तथा अपने जीवन में इन्होंने कितने ही व्रतों का पालन किया था।

सकलकीर्ति ने जनता को जो कुछ चरित्र सम्बन्धी उपदेश दिया था, पहिले उसे अपने जीवन में उतारा। २२ वर्ष के एक छोटे से समय में ३५ से अधिक ग्रन्थों की रचना, विविध ग्रामों एवं नगरों में विहार, भारत के राजस्थान, उत्तरप्रदेश, गुजरात, मध्यप्रदेश आदि प्रदेशों के तीर्थों की पद-यात्रा एवं विविध व्रतों का पालन केवल सकलकीर्ति जैसे महा विद्वान् एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले साधु से ही सम्पन्न हो सकते थे। इस प्रकार ये भट्टा, ज्ञान एवं चारित्र्य से विभूषित उत्कृष्ट एवं आकर्षक व्यक्तित्व वाले साधु थे।

मृत्यु—

एक पट्टावलि के अनुसार भट्टारक सकलकीर्ति ५६ वर्ष तक जीवित रहे। संवत् १४६६ में महसाना नगर में उनका स्वर्गवास हुआ। पं० परमानन्दजी शास्त्री ने भी प्रशस्ति सग्रह में इनकी मृत्यु संवत् १४६६ में महसाना (गुजरात) में होना लिखा है। डा० ज्योतिप्रसाद खेन एवं डा० प्रेमसागर भी इसी संवत् को सही मानते हैं। लेकिन डा० ज्योतिप्रसाद इनका पूरा जीवन ८१ वर्ष स्वीकार करते हैं जो अब लेखक को प्राप्त विभिन्न पट्टावलियों के अनुसार वह सही नहीं जान पड़ता। सकलकीर्ति रास में उनकी विस्तृत जीवन गाथा है। उसमें स्पष्ट रूप से संवत् १४४३ को जन्म एवं संवत् १४६६ में स्वर्गवास होने को स्वीकार किया है।

तत्कालीन सामाजिक अवस्था—

भट्टारक सकलकीर्ति के समय देश की सामाजिक स्थिति अच्छी नहीं थी। समाज में सामाजिक एवं धार्मिक चेतना का अभाव था। शिक्षा की बहुत कमी थी। साधुओं का अभाव था। भट्टारकों के नग्न रहने की प्रथा थी। स्वयं भट्टारक सकलकीर्ति भी नग्न रहते थे। लोगों में धार्मिक भ्रष्टा बहुत थी। तीर्थ यात्रा बड़े-बड़े संघों में होती थी। उनका नेतृत्व करने वाले साधु होते थे। तीर्थ यात्रायें बहुत लम्बी होती थीं तथा वहाँ से सकुशल लौटने पर बड़े-बड़े उत्सव एवं समारोह किये जाते थे। भट्टारकों ने पंच-कल्याणक प्रतिष्ठाओं एवं अन्य धार्मिक समारोह करने की अच्छी प्रथा डाल दी थी। इनके सघ में मुनि, आयिका, धावक आदि सभी होते थे। साधुओं में ज्ञान प्राप्ति की काफी अभिलाषा होती थी, तथा संघ के सभी साधुओं को पढ़ाया जाता था। ग्रन्थ रचना करने का भी खूब प्रचार हो गया था। भट्टारक गण भी खूब ग्रन्थ रचना करते थे। वे प्रायः अपने ग्रंथ धावकों

के आग्रह से निबद्ध करते रहते थे । वस्तु उपवास की समाप्ति पर श्रावकों द्वारा हस्त ग्रन्थों की प्रतियां विभिन्न ग्रंथ भण्डारों को भेंट स्वरूप दे दी जाती थीं । भट्टारकों के साथ हस्तलिखित ग्रन्थों के वस्ते के वस्ते होते थे । समाज में स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं थी और न उनके पढ़ने-लिखने का साधन था । व्रतोद्यापन पर उनके आग्रहसे ग्रन्थों की स्वाध्यायार्थ प्रतिलिपि कराई जाती थी और उन्हें साधु-सन्तों को पढ़ने के लिये दे दिया जाता था ।

साहित्य सेवा—

साहित्य सेवा में सकलकीर्ति का जबरबस्त योग रहा । कभी-कभी तो ऐसा मालूम होते लगता है जैसे उन्होंने अपने साधु जीवन के प्रत्येक क्षण का उपयोग किया हो । संस्कृत, प्राकृत एवं राजस्थानी भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था । वे सहज रूप में ही काव्य रचना करते थे । इसलिये उनके मुख से जो भी वाक्य निकलता था वही काव्य रूप में परिवर्तित हो जाता था । साहित्य रचना की परम्परा सकलकीर्ति ने ऐसी डाली कि राजस्थान के बागड़ एवं गुजरात प्रदेश में होने वाले अनेक साधु सन्तों ने साहित्य की खूब सेवा की तथा स्वाध्याय के प्रति जन-साधारण की भावना को जाग्रत किया । उन्होंने अपने अन्तिम २२ वर्ष के जीवन में २७ से अधिक संस्कृत रचनाएँ एवं ८ राजस्थानी रचनाएँ निबद्ध की थीं ।

राजस्थान में ग्रंथ भण्डारों की जो अभी खोज हुई है उनमें हमें अभी तक निम्न रचनाएँ उपलब्ध हो सकी हैं ।

संस्कृत की रचनाएँ—

१. मूलाधार प्रदीप, २. प्रश्नोत्तरोपासकाचार, ३. आदिपुराण, ४. उत्तरपुराण, ५. शांतिनाथ चरित्र, ६. वर्द्धमान चरित्र, ७. मल्लिनाथ चरित्र, ८. यशोधर चरित्र, ९. धन्यकुमार चरित्र, १०. सुकुमार चरित्र, ११. सुदर्शन चरित्र, १२. सद्भाषितावली, १३. पार्श्वनाथ चरित्र, १४. व्रतकथा कोष, १५. नेमिजिन चरित्र, १६. कर्मविपाक, १७. तत्त्वार्थसार दीपक, १८. सिद्धान्तसार दीपक, १९. आगमसार, २०. परमात्मराज स्तोत्र, २१. सारस्वतुविशतिका, २२. श्रीपालचरित्र, २३. अम्बुस्वामी चरित्र, २४. द्वादशानुप्रेक्षा ।

पूजा ग्रन्थ—

२५. प्रष्टाङ्गिका पूजा, २६. सोलहकारण पूजा, २७. गणधरचलय पूजा ।

राजस्थानी कृतियाँ—

१. आराधना प्रतिबोधसार, २. नेमीश्वर गीत, ३. मुक्तावलि गीत, ४. एभोकार फल गीत, ५. सोलहकारण रास, ६. सारसिद्धामणि रास, ७. शांतिनाथ फागु ।

उक्त कृतियों के अतिरिक्त अभी और भी रचनाएं हो सकती हैं जिनकी अभी खोज होना बाकी है। भट्टारक सकलकीर्ति की संस्कृत भाषा के समान राजस्थानी भाषा में भी कोई बड़ी रचना मिलनी चाहिये, क्योंकि इनके प्रमुख शिष्य ब० जिनदास ने इन्हीं की प्रेरणा एवं उपदेश से राजस्थानी भाषा में ५० से भी अधिक रचनाएं निबद्ध की हैं।

उक्त संस्कृत कृतियों के अतिरिक्त पंचपरमेष्ठी पूजा, द्वावशानुप्रेषा एवं सारचतुर्विंशतिका आदि और भी कृतियां हैं जो राजस्थान के शास्त्र भंडारों में उपलब्ध होती हैं। ये सभी कृतियां जन समाज में लोकप्रिय रही हैं तथा उनका पठन-पाठन भी खूब रहा है।

भट्टारक सकलकीर्ति की उक्त संस्कृत रचनाओं में कवि का पाण्डित्य स्पष्ट रूप से भलकता है। उनके काव्यों में उसी तरह की शैली, अलंकार, रस एवं छन्दों की परियोजना उपलब्ध होती है जो अन्य भारतीय संस्कृत काव्यों में मिलती है। उनके चरित काव्यों के पढ़ने से अच्छा रसास्वादन मिलता है। चरित काव्यों के नायक त्रैलोक्यशलाका के लोकोत्तर महापुरुष हैं जो अतिशय पुण्यवान हैं, जिनका सम्पूर्ण जीवन अत्यधिक पावन है। सभी काव्य शान्तरस पर्यवसानी हैं।

काव्य ज्ञान के समान भट्टारक सकलकीर्ति जैन सिद्धान्त के सहज प्रेता थे। उनका मूलाधार प्रवीण, प्रश्नोत्तर आचकाधार, सिद्धान्तसार वीपक एवं तत्त्वार्थसार वीपक तथा कर्मविपाक जैसी रचनाएं उनके अगाध ज्ञान के परिचायक हैं। इसमें जैन सिद्धान्त, आचार-शास्त्र एवं तत्त्वचर्चा के उन गूढ़ रहस्यों का निखोड़ है जो एक महान् विद्वान् अपनी रचनाओं में भर सकता है।

इसी तरह सद्भावित्वावलि उनके सर्वांगज्ञान का प्रतीक है—जिसमें सकलकीर्ति ने जगत के प्राणियों की सुन्दर शिक्षाएं भी प्रदान की हैं, जिससे वे अपना आत्म-कल्याण करने की ओर अग्रसर हो सके। वास्तव में वे सभी विषयों के पारगामी विद्वान् थे। ऐसे सन्त विद्वान् को पाकर कौन देश गौरवान्वित नहीं होगा?

राजस्थानी रचनाएं—

सकलकीर्ति ने हिन्दी में बहुत ही कम रचना निबद्ध की है। इसका प्रमुख कारण सम्भवतः इनका संस्कृत भाषा की ओर अत्यधिक प्रेम था। इसके अतिरिक्त जो भी इनकी हिन्दी रचनाएं मिली हैं वे सभी लघु रचनाएं हैं जो केवल भाषा अध्ययन की दृष्टि से ही उल्लेखनीय कही जा सकती हैं। सकलकीर्ति का अधिकांश जीवन राजस्थान में व्यतीत हुआ था। इनकी रचनाओं में राजस्थानी भाषा की स्पष्ट छाप दिखलाई देती है।

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति ने संस्कृत भाषा में ३० ग्रन्थों की रचना करके मां भारती की अमूर्त सेवा की और देश में संस्कृत के पठन-पाठन का जबरदस्त प्रचार किया।

प्रस्तावना

“मूलाचार प्रदीप” ग्रन्थ के बारह अधिकारों का संक्षिप्त सारात्मक ग्रन्थवा विशिष्ट अंश :—

आचार्य सकलकोटि ने १२ अधिकारों में मुनियों के मूलगुण एवं उत्तरगुणों का बहुत सुबोध एवं रहस्यात्मक वर्णन किया ।

प्रथम ही आचार्य श्री ने ३८ श्लोकों में नमस्कार रूप मंगलाचरण किया । आपने मंगलाचरण में पंच परमेश्वरों के गुणों का क्रमिक एवं बहुत सुन्दर ढंग से वर्णन किया । पाठक गण स्वयं अनुभव करेंगे कि इसी प्रकार से अरहन्तादिक के गुणों का स्मरण करें तो चित्त की एकाग्रता के साथ-साथ ध्यान की सिद्धि भी हो सकती है । पुनः आचार्य महोदय ने शास्त्र रचना की प्रतिज्ञा करते हुए २८ मूल गुणों का बहुत ही सरल भाषा में वर्णन किया है ।

अहिंसा महाव्रत—(१) २६४ गायत्रियों में आचार्य श्री ने अहिंसा महाव्रत के पालन हेतु जीवों की काय, हृन्द्मय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, योनियों को सम्भलने की प्रेरणा दी है । (२) पंच स्थावरों का स्वरूप निर्देश करते हुए प्राणियों को पृथ्वीकायादि के अस्तित्व का श्रद्धान करने की प्रेरणा दी है । (३) इन जीवों के अस्तित्व का श्रद्धान नहीं करने वाले जीवों को, दीर्घ संसारी, पापी, मिथ्यादृष्टि, कुमार्गगामी, संसार में डूबने वाला, जिन धर्म से बाहर आदि शब्दों के द्वारा तिरस्कृत किया है । (४) आचार्यों ने जिनलिंगधारी मुनिराज को, पृथ्वीकायादिक जीवों की रक्षा के लिये निम्न बातों का निर्देश किया है—

(अ) पृथ्वीकायादिक की विराधना से विरत मुनिराज अपने हाथ-पैर की अंगुली से, छपरादि से पृथ्वी को नहीं खोदते ।

(ब) शौचादिक कार्यों में भी त्रियोग से जलकायिक जीवों की हिंसा नहीं करते ।

(स) शरीर में शीत ज्वर आदि के उत्पन्न होने पर भी ज्वाला, अंगार, अग्नि की शिखा आदि तेजकायिक मुक्त अग्नि को कभी काम में नहीं लेते ।

(द) अधिक दाह होने पर भी वस्त्र से, वस्त्र के कोने से, पंखे से, पत्र से, दूसरों के द्वारा भी वायु नहीं करवाना चाहिए। अधिक उष्णता से पीड़ित होने पर भी वायुकायिक जीवों को नाश करने वाली वायु अपने मुख से नहीं निकालना चाहिये।

(५) हाथ-पैर आदि के द्वारा अनन्त जीवों का नाश करने वाली वनस्पति की विराधना नहीं करनी चाहिये।

अहिंसा महाव्रत की ५ भावना में वचन गुप्ति के स्थान पर ऐषणा समिति का वाचन किया है और चार भावनाओं का वर्णन तत्त्वार्थ सूत्र के सदृश्य ही किया है।

सत्य महाव्रत १. सत्य महाव्रत के स्वरूप का निर्देश करते हुए आचार्य ने अर्हत् भूदाधारी मुनिराज को निर्मल, कल्याणकारी, वैराग्य की स्थिरता वाले गुण को वृद्धि करने वाले शुभ वचन ही बोलने की प्रेरणा दी है। २. आगमानुकूल वचन नहीं बोलने के समय मौन ही धारण करने की प्रेरणा दी है एवं असत्य के दुष्परिणाम बताते हुए आचार्य कहते हैं कि विष खा लेना, विषटा खा लेना तो अच्छा है परन्तु असत्य बोलना कभी अच्छा नहीं है। ३. अनेक गुणों से सम्पन्न मुनि असत्य भाषण से बाण्डाल के समान निन्द्य समझा जाता है। ४. तत्त्वार्थ के सदृश्य ही सत्य महाव्रत की भावना भाने की प्रेरणा दी है।

अचौर्य महाव्रत—[१] अचौर्य महाव्रत का वर्णन करते हुए आचार्य श्री ने कण्ठगत प्राण होने पर भी बिना दिया हुआ द्रव्य एवं संयम की हानि करने वाला द्रव्य लेने का निषेध किया। [२] पंच परमेष्ठियों की जिस द्रव्य से पूजा की है, उस निर्माल्य द्रव्य को कभी नहीं लेना चाहिये। [३] निर्माल्य द्रव्य लेने वाले को नरक में जाने से कोई नहीं बचा सकता। [४] दन्त शुद्धि करने के लिए भी आचार्य महाव्रतधारी के लिये बिना दिये तृण भी न ग्रहण करने का आदेश दिया है। अचौर्य महाव्रत को शुद्ध रखने वाली भावनाओं का बहुत रहस्यात्मक वर्णन किया है जो कि तत्त्वार्थ सूत्र से विदृश्य है—(क) याचना नहीं करना (ख) किसी को कुछ आज्ञा नहीं देना (ग) किसी पदार्थ में समत्व नहीं रखना। (घ) निर्दोष पदार्थ का सेवन करना (ङ) साधर्म्य पुरुषों के साथ शास्त्रानुकूल वर्तन करना। विशेष—अत्यन्त गम्भीरता से विचारा जाय तो तत्त्वार्थ सूत्र में कथित भावनाओं का सार आचार्य ने अपने शब्दों में किया है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत—इस महाव्रत का वर्णन तो बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है। १. ब्रह्मचारी को स्त्री संसर्ग ही कलंक का कारण है। ऐसा मानकर ब्रह्मचारी को कोमल बिल्लीने एवं आसन पर बैठने का निषेध किया है। २. स्त्री का मुख देखना मात्र ही अनेक अनर्थ का कारण है तो साक्षात् स्त्री संसर्ग कलङ्क का कारण क्यों नहीं होगा। ३. ब्रह्मचारियों को स्त्री के अङ्गार, कसा,

नृत्यादि को देखने का भी कठोर रूप से निषेध किया है । ४. स्त्री के संसर्ग से योगी अष्ट होकर नरक में जाता है । ५. ब्रह्मचर्य की पांच भावना में चार भावनाओं का तो तत्त्वार्थ सूत्र के सदृश्य ही वर्णन किया गया है । ६. परन्तु पांचवीं भावना में शरीर संस्कार के स्थान पर आचार्य महोदय ने स्त्री के रहने, सोने, उठने, बैठने आदि के स्थान का भी सदा के लिये त्याग करना बताया है ।

परिग्रह त्याग महाव्रत—इस महाव्रत का आचार्य श्री ने आकिञ्चन्य महाव्रत के नाम से वर्णन किया । १. चेतन, अचेतन, बाह्य, अन्त्यन्तर परिग्रह में मूर्च्छा के त्याग की प्रेरणा देते हुए आचार्य ने आकिञ्चन व्रत का बहुत अच्छा वर्णन किया है । २. ज्ञान, संयम, शौच के उपकरण के अलावा आचार्य ने सम्पूर्ण परिग्रह के त्याग की प्रेरणा दी है । ३. वसतिकादि में भी स्वामित्व रखने को परिग्रह बताकर मुनिधर्म के अयोग्य पदार्थ को एक ढाल के अग्रभाग का करोड़वां भाग भी नहीं ग्रहण करने की प्रेरणा दी है । ४. तत्त्वार्थ सूत्र के सदृश्य ही परिग्रह महाव्रत को शुद्ध रखने के लिए ५ भावनाओं की प्रेरणा दी है । ५. महाव्रत की परिभाषा करते हुए आचार्य कहते हैं कि महा-पुरुष जिसको धारण करते हैं एवं महान् पद मोक्ष को प्रदान करने वाला महाव्रत के नाम को सार्थक सिद्ध किया है । इस प्रकार की प्ररूपणा करते हुए प्रथम अधिकार को पूर्ण किया ।

द्वितीय अधिकार

ईर्ष्या समिति—३३६ श्लोक में आचार्य श्री ने पांच समितियों का विस्तृत वर्णन किया है । आचार्य बताते हैं कि—१. बिना प्रयोजन किसी भी गांव या घर में मुनिराज को नहीं जाना चाहिए । २. कितना ब कैंसा भी श्रेष्ठ कार्य आ जान पर भी सूर्यास्त व सूर्योदय के पूर्व मुनिराज को गमन नहीं करना चाहिये । ३. सैंकड़ों कार्य होने पर भी मुनिराज चातुर्मास में न तो स्वयं गमन करे न द्रती को ही बाहर भेजे । ४. प्रयोजन के निमित्त से भी गमनागमन कार्यों में पाप देने वाली सम्मति नहीं देना चाहिये । यहां आ, वहां जा, यहां बैठ, इस कार्य को कर, भोजन कर इस प्रकार कहना भी पाप का कारण है । ५. दयावान् मुनिराज को हिलते हुए काष्ठ, पाषाण पर पेंर देकर गमन नहीं करना चाहिये । ६. मार्ग में खड़े रहकर भी बात करने का निषेध किया तो चलते हुए बातलाप का निषेध तो नियम से ही समझ लेना चाहिये ।

भाषा समिति—भाषा समिति के वर्णन में आचार्य महोदय ने १. आत्म प्रशंसा, बिकथा, हंसी, निन्दा, खुगली आदि के वचन बोलने का निषेध करते हुए त्याग पूर्वक धर्म मार्ग में प्रवृत्ति करवाने वाले सारभूत, परिमित वचन बोलने को ही भाषा समिति कहा है । २. सत्य के दस भेदों का स्वरूप बहुत ही सुन्दर रूप से बतलाया है । पुनः ६ प्रकार की अनुभयादि भाषाओं का कथन किया

है। ३. जो सदा काल मौन धारण करने में असमर्थ हो उसे सत्य व अनुभव भाषा बोलने की प्रेरणा दी है। ४. दस प्रकार को निन्द्य भाषाओं के त्याग की प्रेरणा दी है। ५. प्रती पुरुष की ब्रह्मचर्य का वात करनेवाली स्त्री आदि विकथा भी कभी नहीं करना चाहिये। ६. धर्म कथा के अलावा किसी भी प्रकार की कथा त्यागियों को न तो करनी ही चाहिये, न सुनना ही चाहिये। ७. वधकारी वचनों को कहने का निषेध किया है। ८. संघ के दोष का कथन भी पाप का कारण बताते हुए और भी अनेकों दोषों का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है।

ऐषणा समिति—१. ठण्डा, गर्म जैसा शुद्ध प्रासुक भोजन श्रावक के यहाँ मिले वैसा ही ले लेना ऐषणा समिति है। २. भोजन के ४६ दोषों को ८ भेदों में वर्गीकृत कर संक्षेप में भेदों का कथन किया। ३. धन्य आचार सार के कथनानुसार आचार्य श्री ने ऐषणा समितिके दोषों का कथन किया। जो पानी बहुत देर पहले गरम किया हो और ठण्डा हो गया हो ऐसा जल संयमियों को नहीं लेना चाहिये। आगे आचार्य श्री ने ६ कारणों से आहार ग्रहण करे व ६ कारणों से आहार का त्याग करने की प्रेरणा दी है। ४. दस प्रकार के अशन दोष में छठ दायक दोष में वेष्या हो, दासी हो, अजिका हो या लाल वस्त्र पहनने वाली हो ऐसी स्त्री दान देवे अथवा मुनि लेवे तो दायक दोष उत्पन्न होता है। (४४६ गाथा) ५. तदनन्तर १४ मल दोषों का वर्णन करते हुए उत्तम, मध्यम, अधम्य मलों का भेद दर्शाया है। ६. शुद्ध भोजन की खोज करके आहार लेने वाले मुनि अधः कर्म दोषों से दूषित नहीं होते। भोजन चर्या के काल का कथन करते हुए धनी, निर्धन का भेद नहीं करना चाहिये। ७. पुनः ५ प्रकार की गोचर वृत्ति का कथन किया है एवं भोजन के कालादि ३२ प्रकार के अन्तराय का कथन किया है। स्वाद को छोड़कर भोजन करना चाहिये। ८. यकान आदि की अपेक्षा के बिना श्रावकों के घर में नहीं बैठना चाहिये। ९. मुनियों को कभी दिन में नहीं सोना चाहिये एवं १०. विकथादि करने, धर्म ध्यान के दुर्लभ काल को व्यर्थ व्यतीत नहीं करना चाहिये।

आदान निक्षेपण समिति—१. इस समिति के कथन में आचार्य श्री ने ज्ञान, संयम एवं शौचोपकरण को अच्छी तरह देख-भाल कर रखने एवं उठाने की प्रेरणा दी है। २. पाटा संस्तर आदि को हिलाना-चलाना नहीं चाहिये क्योंकि ऐसा करने से जीवों की विराधना होती है। ३. नहीं हिलने वाले संस्तरादि पर बैठना व सोना चाहिये। ४. दुःप्रतिलेखना के त्याग की प्रेरणा देते हुए आचार्य श्री ने अच्छी तरह पहले देखकर फिर सावधानी पूर्वक पिच्छी से मार्जन करने की प्रेरणा दी है। ५. जो मुनि आदान निक्षेपण समिति का पालन करते हैं, उन्हीं के अहिंसा महाव्रत पूर्ण रीति से पालन होता है। ६. जो इस समिति का पालन नहीं करता है वह मुनि शिष्याचारी व जीवों की विराधना करने वाला होता है। ७. अन्त में आचार्य मुनिराज को आदेश देते हैं कि तुम इस अनेक गुणों की खानि आदान निक्षेपण समिति का पालन करो।

प्रतिष्ठापन समिति—१. जो प्रदेश दृष्टि के अगोचर हैं उस स्थान पर किसी भी प्रकार के मल के निक्षेपण का निषेध किया है । २. संयमियों को नाक एवं कफ के मल को डालकर उसके ऊपर बाणू डाल देना चाहिये । ३. दिवाल को पिच्छी से मार्जन करके खुजाल आदि करना चाहिये । ४. क्योंकि बिना यत्नाचार से मल-मूत्रादि के त्याग करने वाले के अस जीवों का भी घात होता है तो स्यावर जीवों की तो बात ही क्या । अतः मोक्ष की इच्छा करने वाले को इस प्रतिष्ठापन समिति का पालन अवश्य करना चाहिये । ५. जो इन पाँचों समितियों का पालन करने में शिथिलता करते हैं, वे निन्दनीय एवं प्रमादी हैं । उनके अहिंसादि सब व्रत नष्ट हो जाते हैं एवं उन्हें अनन्त संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है । पाठकगण स्वयं इस शास्त्र के पठन से अनुभव करेंगे कि आचार्यों ने कितना रहस्यात्मक वर्णन किया है ।

तृतीय अधिकार

आचार्यों ने ४३८ श्लोकोंमें ५ इंद्रिय निरोध एवं षट् आवश्यकों का विस्तृत वर्णन किया ।

चक्षु इंद्रिय निरोध—१. चक्षु इंद्रिय निरोध नामक मूलगुण का वर्णन बहुत ही सारगर्भित किया है । २. मोक्षार्थी को चित्त मोहित करने वाले वस्त्र अथवा वस्त्र के किनारे भी नहीं देखना चाहिये । ३. मुनियों को भोगोपभोग के पवित्र पदार्थों को भी नहीं देखना चाहिये । ४. राजा, सामंत आदि की सेना को देखना भी रौद्रध्यान का कारण है । ५. सम्यग्दृष्टियों को कुवेवादि एवं छः अनाय-तन को भी नहीं देखना चाहिये । ६. आत्मशुद्धि के लिये राग को उत्पन्न करने वाले नगर आदि को भी नहीं देखना चाहिये । ७. कदाचित् राग की वृद्धि कारक पदार्थ दिख भी जाय तो दृष्टि नीची कर लेना चाहिये । ८. इंद्रिय को नहीं जीतने वाले के मन की अचलता से ब्रह्मचर्य भी नहीं टिक सकता है । अतः मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये चक्षु इंद्रिय का निरोध करना चाहिये ।

श्रोत इंद्रिय निरोध—श्रोत इंद्रिय के कथन में १. आचार्य श्री कहते हैं कि मोक्षार्थी को ६ प्रकार के स्वरों को राग पूर्वक नहीं सुनना चाहिये । २. शृंगार रस आदि को बढ़ाने वाले शास्त्र को भी नहीं सुनना चाहिये । ३. विकथा, परनिन्दा, कुकाव्य को सुनने से बुद्धि विपरीत होती है एवं सम्यग्दर्शन भी छूट जाता है । ४. राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाले शब्दों को नहीं सुनना चाहिये ।

घ्राण इंद्रिय निरोध—घ्राण इंद्रिय निरोध करने के लिये १. मोक्षार्थी को सुगन्धित पदार्थों में राग एवं दुर्गन्धित पदार्थों में द्वेष नहीं करना चाहिये ।

जिह्वा इंद्रिय निरोध—१. जिह्वा इंद्रिय का निरोध उसी के होता है जो जिह्वा को मनोज लगने वाले षट् रस मिश्रित पदार्थों में गृह्यता धारण नहीं करते । २. जो मूर्ख मुनि राग-द्वेष पूर्वक आहार करते हैं, उनके पग-पग पर कर्म बंध होता है । ३. जो यति, राक्षसी एवं सर्पिणी के

समान जिह्वा इन्द्रिय को जीतने में असमर्थ हैं वे काम रूपी मोह को कभी नहीं जीत सकते । आचार्य श्री ने मिष्ट रस की इच्छा रखने वाले साधुओं को कड़े शब्दों में भर्त्सना दी है ।

स्पर्शन इन्द्रिय निरोध—आचार्य श्री ने स्पर्श इन्द्रिय के १. विजेता को कोमल आसन, बिछौना पर सोना, बैठना एवं कोमल रेशमी वस्त्रों का स्पर्श करना भी ब्रह्मचर्य नाशक मानकर त्याग करने की प्रेरणा दी है । २. ग्रीष्म ऋतु में अनायास शीत का एवं शीत ऋतु में अनायास धूप आदि का संयोग हो जाने पर भी इन्द्रिय विजेता मुनिराज को राग-द्वेष नहीं करना चाहिये । ३. आचार्य श्री ने स्पर्शन एवं रसना इन्द्रिय को कासेन्द्रिय एवं शेष इन्द्रियों को भोगेन्द्रिय रूप कहा है । ४. इंद्रियों के अनेक दोष बतलाते हुए इनके आधीन न होने की प्रेरणा दी है । इसे प्रकार ११२ श्लोकों में इन्द्रियों का स्वरूप एवं इन्द्रिय विजेता के अनेक गुणों का विशद वर्णन किया है ।

विशेष—आचार्य ने इन इन्द्रियों के निरोधों का वर्णन पश्चात् अनुपूर्वी क्रम से किया है ।

षट् आवश्यक :

सामायिक—अनुकूल प्रतिकूल १. परिस्थितियों में राग-द्वेष का परित्याग ही सामायिक है । २. प्रकार से सामायिक के भेदों का कथन करते हुए ऋतु परिवर्तन में राग-द्वेष करने का निषेध किया है और ३. कांटों से भरे वन में द्वेष एवं दगीचे में राग करने का निषेध किया है । ३. छद्म प्रकार की सामायिक में भाव सामायिक को मुख्य बताया है । ४. अजितनाथ भगवान् से पार्श्वनाथ भगवान् तक के २२ तीर्थङ्करों ने सामायिक संयम का ही उपदेश दिया है । ५. आदि व अन्त के तीर्थ-करों ने मन्द बुद्धि एवं वक्रबुद्धि वाले जीवों को सामायिक व छेदोपस्थापना दोनों संयम का उपदेश दिया है । ६. सामायिक की महिमा बताते हुए आचार्य श्री कहते हैं जो कर्म करोड़ों वर्षों के तप से नष्ट नहीं होते वह सामायिक के बल से आधे क्षण में नष्ट हो जाते हैं । ७. अभव्य जीव भी द्रव्य सामायिक के प्रभाव से ऊर्ध्व ग्रन्थि तक जाता है । ८. प्रथम चक्रवर्ती दिन भर के पापों को शुद्ध सामायिक के द्वारा ही नष्ट करते थे । इस प्रकार पाठकगण स्वयं अनुभव करेंगे कि आचार्य श्री ने सामायिक का स्वरूप व महिमा का वर्णन कितना सुबोध एवं अपूर्व शैली से किया है ।

स्तवन—१. नामादि के भेद से स्तवन भी ६ प्रकार के हैं । प्रत्येक स्तवन का विस्तृत वर्णन किया है । २. अन्त में स्तुति की महिमा का वर्णन करते हुए स्तुति का फल रत्नत्रय की प्राप्ति करने की इच्छा की है, रत्नत्रय प्राप्ति की इच्छा निदान नहीं है । ३. जिनेन्द्र भगवान् ने कार्य सिद्धि के लिए रत्नत्रय आदि की इच्छा को अनुभय भाषा कहा है । ४. पंच परमेष्ठी आदि के गुणों में उत्पन्न हुआ स्वाभाविक अनुराग को प्रशस्त अनुराग कहते हैं । ५. यह राग रत्नत्रय को उत्पन्न करने वाला है । आचार्य श्री ने स्तुति का स्वरूप एवं उसकी महिमा का बहुत ही मनोज्ञ वर्णन किया है ।

वन्दना—१. किसी एक तीर्थंकर आदि की स्तुति करना ही वन्दना आवश्यक है। इसका भी नामादिक के भेद से ६ प्रकार का वर्णन किया है। २. वन्दना में कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म, विनयकर्म इन ४ कर्मों से वन्दना की जाती है। इन चार कर्मों का आचार्य ने बड़ी सरल भाषा में वर्णन किया है। ३. विनय के ५ भेद किये हैं—(क) लोकानुवृत्ति (ख) अर्पणनिमित्तिक (ग) काम-हेतुक (घ) भय और (ङ) मोक्ष संज्ञक, ये पांच भेद किये हैं। प्रत्येक के स्वरूप का वर्णन करते हुए चार विनय को हेय बताया है एवं ४. सर्वोत्कृष्ट मोक्ष विनय धारण करने की प्रेरणा देते हुए इसका विस्तृत वर्णन किया है। ५. आगे आचार्य कृतिकर्म का वर्णन करते हुए कम कौन-कौनसी भक्ति करना चाहिये इसका बड़ा सुन्दर उल्लेख किया है। ६ पुनः वन्दना के अनादतादि ३२ दोषों का वर्णन करते हुए उन दोषों का त्याग करने की प्रेरणा दी है।

चतुर्थ अधिकार

१. आचार्य देव ने चतुर्थ अध्याय में प्रतिक्रमण आदि तीन शेष आवश्यक एवं लोचादि सात विशेष गुणों का ३३६ श्लोकों में वर्णन किया है।

प्रतिक्रमण—प्रथम ही मंगलाचरण के पश्चात् प्रतिक्रमण का स्वरूप एवं नामादि के भेद से उसके छः भेदों का परिभाषा सहित वर्णन किया। ३. पुनः उत्तम प्रतिक्रमण के सात भेद किये : (१) प्रतिक्रामक (२) प्रतिक्रमण एवं (३) प्रतिक्रमितव्य के तीन भेदों का भी सुन्दर वर्णन किया है। ४. व्रतों की शुद्धि के लिये अन्तःकरण शुद्ध करके आलोचना करनी चाहिये। इसके दैवसिक आदि सात भेदों का कथन किया है। ५. व्रतों की शुद्धि के लिये निन्दा, गर्हा एवं शोक पूर्वक प्रतिक्रमण करना चाहिये। ६. अन्तरंग शुद्धि का कारण भाव प्रतिक्रमण ही है। ७. स्वभाव सरल अथवा कुटिल बुद्धि वाले शिष्य होने से प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर ने पूर्ण प्रतिक्रमण करने की प्रेरणा दी है परन्तु मध्य के २२ तीर्थंकरों के शिष्य बुद्धिमान एवं प्रमाद रहित थे अतः उन्होंने प्रमाद से जिस व्रत में दूषण लगे उतना ही प्रतिक्रमण करने की आज्ञा दी है। ८. आचार्य श्री ने प्रतिक्रमण की विस्तृत महिमा बता कर आत्मार्थियों को आलोचना पूर्वक प्रतिक्रमण करने की आज्ञा दी है।

प्रत्याख्यान—१. तपश्चरण के लिये योग्य अथवा अयोग्य पदार्थों का त्याग करना ही प्रत्याख्यान है। २. निक्षेपों के भेद से प्रत्याख्यान छः प्रकार का होता है। ३. नामादि प्रत्याख्यान का स्वरूप बहुत सरल एवं स्पष्ट रूप से किया है। (१) प्रत्याख्यापक (२) प्रत्याख्यान (३) प्रत्याख्यातव्य इन तीनों का स्वरूप बताया है। ४. जो कि प्रत्याख्यान करने वाले को जानना नितान्त आवश्यक है। पुनः अनागत आदि प्रत्याख्यान के दस भेदों का कथन करते हुए तपश्चरण को वृद्धि के लिये इनका पालन करने की प्रेरणा दी। ५. किसी द्रव्य से मिले हुए जल को पाने से उपवास

खण्डित होता है। बेला तैला आदि में जो पानी का त्याग न कर सके तो उसे उष्ण जल ग्रहण करना चाहिये। ६. मुनि को प्राणों का अन्त आने पर भी एक बार भोजन के पश्चात् जलादि ग्रहण नहीं करना चाहिये। ७. प्रत्याख्यान में चार प्रकार की शुद्धि रखने की प्रेरणा एवं उसका स्वरूप का वर्णन किया है। ८. उपविष्ट प्राणों के छोड़े पर अभ्यास करोड़ों उपसर्ग आने पर भी प्रत्याख्यान को भंग नहीं करना चाहिये। ९. अन्त में प्रत्याख्यान के पालन करने के गुण एवं उसको भंग करने के दूषण का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है।

कायोत्सर्ग—१. आचार्य श्री कायोत्सर्ग का स्वरूप बताकर इसको अनन्त वीर्य का उत्पन्न करने वाला बतलाया है। २. नामादिक निशेष से भी छह भेद किये एवं इनका स्वरूप निर्देश किया है। (१) उत्थितोत्थित (२) उत्थितोषविष्ट (३) उपविष्टोषविष्ट (४) उपविष्टोपविष्ट के भेद से कायोत्सर्ग के चार भेद किये हैं। ३. दो को शुभ व दो को अशुभ ध्यान बतलाते हुए अशुभ ध्यान के त्याग की प्रेरणा दी है। ४. पुनः कायोत्सर्ग करने वाले के निद्राजयी आदि अनेक गुणों का वर्णन किया है। ५. चतुर पुरुष व्रतादिक में दोष लगने पर कायोत्सर्ग करते हैं। ६. पुनः कायोत्सर्ग के फल का वर्णन करते हुए आत्माधियों को कायोत्सर्ग करने की प्रेरणा दी है। ७. उत्कृष्ट एवं जघन्य कायोत्सर्ग के काल का वर्णन करते हुए प्रतिक्रमणादि में कितने कायोत्सर्ग करना चाहिये उसका क्रमिक वर्णन किया। ८. बत्तीस दोषों से रहित धर्म-ध्यानादि पूर्वक किया हुआ कायोत्सर्ग अनेक ऋद्धियों का कारण होता है। ९. पुनः घोटकादि बत्तीस दोषों का स्वरूप सहित वर्णन किया एवं इन दोषों के त्याग की प्रेरणा दी। समर्थ अथवा असमर्थ सभी को कार्य सिद्धि के लिये कायोत्सर्ग करना चाहिये। १०. अन्त में आचार्य देव ने कायोत्सर्ग की महिमा का बहुत सुन्दर वर्णन किया। आवश्यक नाम की सार्थकता बताते हुए आवश्यकों की महिमा बताई है। ११. जो मुनि स्वाध्याय के लोभ से समस्त आवश्यक पूर्ण रूप से नहीं करता अथवा कम करता है उस पर पूर्यता सवार हो जाती है एवं उसके उभय लोक का सुख नष्ट हो जाता है। १२. अनेक उदाहरणों के द्वारा बिना आवश्यकों के कार्य सिद्धि का निषेध किया है अन्त में त्रियोग की शुद्धि पूर्वक आवश्यकों के पालने की प्रेरणा दी है। १३. मुनिराजों के १३ क्रियाओं में निषिद्धिका एवं आसिका इन दो को ही मुख्य करके आचार्य श्री ने स्वरूप निर्देश किया है। १४. जिस मुनि के त्रियोग चंचल है, कषाय एवं ममत्व नहीं धटा है उसके निषिद्धिका शब्द नाम मात्र के लिये कहा है। १५. भोगादिक एवं ख्याति आदि की इच्छा रखने वाले के लिये आसिका शब्द नाम मात्र के लिये ही होता है।

केशलोच मूलगुण का स्वरूप—१. बिना क्लेश के वालों को उखाड़ना मुनियों का केशलोच नामका मूलगुण है। २. केशलोच का उतासादि कालों की अपेक्षा वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि करोड़ों रोग हो जाने पर भी ५वें महिने में केशलोच नहीं करना चाहिये। ३. केशलोच करने से साध एवं सुपुष्टन करवाने से हानि का स्पष्ट वर्णन किया है।

अचेलकत्व मूलगुण—१. आचार्य श्री अचेलकत्व मूलगुण का स्वरूप निर्देश करते हुए बताते हैं कि जिनलिंग वीर पुरुष ही धारण करते हैं। विकारों को नष्ट करने में असमर्थ कायर पुरुष धारण नहीं कर सकते। २. जो मुनि ब्रह्मचर्य वस्त्र से सुरक्षित हैं वे ही वास्तविक तपन हैं। ३. कोपिन मात्र आवरण भी चिंता, व्याकुलता एवं अनेक अशुभ ध्यान का कारण है।

अस्नान व्रत का स्वरूप—१. आचार्य देव कहते हैं कि आत्म शुद्धता के लिये स्नानादि का त्याग करना एवं पसीनादि से युक्त शरीर धारण करना अस्नान नामक व्रत है। २. पुनः स्नान त्याग से लाभ एवं स्नान करने से हानि का वर्णन करते हुए अस्नान व्रत को धारण करने की प्रेरणा दी है। ३. जिसका अस्नानकरण पापों से मलिन है ऐसे मिथ्यावृष्टि की स्नान से शुद्धि नहीं होती है।

भूमिशयन मूलगुण का स्वरूप—१. इस मूलगुण के स्वरूप का वर्णन करते हुए भूमिशयन से लाभ और कोमल शय्या पर सोने से हानि का वर्णन किया। २. कोमल शय्या पर सोने से ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है। ३. कठिन आसन पर बैठने एवं सोने से निद्रा पर विजय होती है। समस्त पाप एवं अनर्थों का समुद्र इस निद्रा को अन्न-पान की मात्रा अत्यन्त कम करके इसको जीतना चाहिये। ४ जो निद्रा रूपी पिशाचनी को जीतने में असमर्थ है उसको ध्यान की सिद्धि नहीं होती है। ५. मुनियों को रोगादिक के होने पर भी दिन में निद्रा नहीं लेना चाहिये। ६. रात्रि के मध्य भाग में अन्तर्मुहूर्त तक ही निद्रा लेनी चाहिये। ७. कण्ठगत प्राण होने पर भी रात्रि के पहले एवं अन्तिम भाग (पहर) में निद्रा नहीं लेना चाहिये। ८. अन्त में भूमिशयन नामक मूलगुण की महिमा बताकर इसे धारण करने की प्रेरणा दी है।

अदन्त धोषन मूलगुण—१. वैराग्य वृद्धि के लिये नखादि से दांतों के इकट्ठे मल को दूर नहीं करना ही अदन्त धावन मूलगुण है। २. दन्तधावन में हानि एवं अदन्त धावन में लाभ का वर्णन किया। ३. मुख प्रक्षालादि का दूर से त्याग करने की प्रेरणा दी है। ४. अन्त में अदन्तधावन मूलगुण की महिमा बतलाते हुए आचार्य ने उसको पालन करने की प्रेरणा दी है।

स्थिति भोजन नामक मूलगुण—१. स्थिति भोजन नामक मूलगुण के स्वरूप का निर्देश करते हुए स्थिति भोजन करने से लाभ एवं बैठकर भोजन करने से हानि का निर्देश किया है। २. करोड़ों व्याधियां होने पर भी एवं प्राणों का नाश होने पर भी मुनिराज को बैठकर भोजन नहीं करने की प्रेरणा दी है। ३. मुनिराज को बैठकर कभी जल पानादि का ग्रहण नहीं करना चाहिये। ४. तीर्थङ्कर देव १ वर्ष के उपवास के पश्चात् भी खड़े-खड़े ही आहार लेते हैं ऐसा कहते हुए अन्त में स्थिति भोजन की महिमा बतलाकर उसे पालन करने की प्रेरणा दी है।

एक भुक्त नामक मूलगुण—१. इसके स्वरूप को बतलाते हुए आचार्यों ने कहा है कि मुनि-सूर्योदय के ३ घड़ी पश्चात् एवं सूर्यास्त के ३ घड़ी पहले तक योग्य काल में एक, दो अथवा तीन भुक्तों के भीतर तक आहार लेते हैं, ये एक भुक्त नामक मूलगुण है। २. पुनः आचार्य एक भक्त भोजन के ग्रहण से लाभ एवं इस मूलगुण के भंग होने से हानि का निर्देश किया है। ३. मुनि को तीव्र क्षयरादि के होने पर भी दूसरी बार जल ग्रहण नहीं करने की प्रेरणा दी है। ४. इस प्रकार मूलगुणों की महिमा बताते हुए कण्ठगत प्राण होने पर भी इसको भंग नहीं करने की प्रेरणा दी है। ५. उत्तर-शुणों के लिए मूर्ख मुनि मूलगुणों का धात करते हैं वे मुक्ति रूपी फल को प्राप्त नहीं कर सकते। ६. पुनः आचार्य ने उपसर्गादिक आने पर भी स्वप्न में भी मूलगुणों को नहीं छोड़ने की प्रेरणा दी है एवं प्रतिचारादिक नहीं लगाना चाहिये। ७. पुनः अतिचारादिक के स्वरूप का निर्देश करते हुये मूलगुण के फल को बतलाकर इस अधिकार को पूर्ण किया।

पंचम अधिकार

१. दर्शनाचार—सम्पूर्ण जगत में जिनकी कीर्ति फैल रही है ऐसे सकलकीर्ति आचार्य ने पञ्चाचार के वर्णन में २५२ श्लोकों द्वारा दर्शनाचार का वर्णन किया। २. पञ्चपरमेष्ठी को नमस्कार करके, कारण पूर्वक पञ्चाचार के निरूपण करने की प्रवृत्ति की। ३. तदनन्तर पञ्चाचार के भेदों का नामोल्लेख करते हुए आचार्य सबसे प्रसिद्ध एवं शुद्धि का कारण दर्शनाचार को कहा है। ४. तदनन्तर सम्यग्दर्शन के भेद एवं उनके स्वरूप का निर्देश किया। पुनः आचार्य देव ने, शास्त्र, गुरु एवं धर्मका बहुत मार्मिक शब्दों में वर्णन किया है। ५. जितेन्द्र देव के बताये हुए धर्मका श्रद्धानादिक करते हैं उन्हीं के सम्यग्दर्शन होता है। ६. पुनः जिन सप्त तत्वों के श्रद्धान से निर्मल सम्यग्दर्शन होता है, उनका विस्तृत वर्णन किया है। ७. जीव तत्व—जीव तत्व के स्वरूप निर्देश में संसारी जीवों का पञ्च स्थावरादि एवं असंजीवों का वर्णन किया है। पुनः जीवों की योनि एवं कुल भेदों का कथन किया है। आचार्य श्री ने व्यवहार एवं निश्चयनय से जीवों का स्वरूप निर्देश करके अजीव तत्व का वर्णन किया। ८. अजीव तत्व—अजीव तत्व के निर्देश में पुद्गल द्रव्य के स्कन्धादिक भेद से चार भेद किये। पुनः पुद्गलादि द्रव्यों के उपकार आदि का कथन किया है।

९. आस्रव तत्व—आस्रव तत्व के भेद प्रभेदों का वर्णन किया। जो मुनि ध्यानादि द्वारा आस्रव को रोकने में असमर्थ हैं, उनके यम नियमादि सब व्यर्थ हैं। जो मुनि कर्मों के आस्रव को रोकने में असमर्थ हैं वे कर्मरूपी दुर्जय शत्रुओं को कैसे जीत सकते हैं। १०. बन्ध तत्व—बन्ध तत्व का कथन करते हुये आचार्य कहते हैं जो मुनि महा तपश्चरण करके ध्यान रूपी शस्त्र से कर्म बन्ध को नाश करने में असमर्थ है वह मुक्त नहीं हो सकता, वह तो संसार रूपी वन में भ्रमण करता ही रहता

है । ११. संवर तत्त्व—कर्मों के प्राप्तव को रोकने वाला जो आत्मा का शुद्ध परिणाम है वही भाव संवर है । १३ प्रकार के चारित्र्यादि भाव संवर के कारण हैं । जो मुनि योगों का निग्रह करके संवर करता है, उसी का जन्म व दीक्षादिक सार्थक है । संवर रहित मुनि का तपादिक भूमी कूटने के समान व्यर्थ, बलेशकारी है । १२. निर्जरा तत्त्व—निर्जरा तत्त्व का स्वरूप एवं भेदों का कथन किया है । रत्नत्रयादि के द्वारा मोक्ष को प्रदान करने वाली कर्मों की निर्जरा करने की प्रेरणा दी है । १३. मोक्ष तत्त्व—द्रव्य मोक्ष एवं भाव मोक्ष का कथन करके सिद्धों के सुख का वर्णन किया । पुनः प्रयत्न पूर्वक मोक्ष सुख प्राप्त करनेकी प्रेरणा दी है । पुण्य पापका वर्णन करके पुण्यादि प्रकृतियों की सख्या बतलायी है । १४. सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गों का स्वरूप निर्देश किया । १५. कुलपवंतादि का भूभाग चलायमान हो जाये परन्तु जिनेन्द्र भगवान का वचन चलायमान अथवा अन्यथा नहीं हो सकता । १६. सम्यग्दर्शन को विशुद्ध रखने के लिये सप्त तत्त्वोंके विषय में शंकादि के त्याग की प्रेरणा दी है । १७. दूराकांक्षा का दूर करना ही निःकांक्षित अङ्ग है । १८. पुनः द्रव्य भाव चिकित्सा का स्वरूप निर्देश किया । इस प्रकार से निःकांक्षित अङ्गों का सरलतम शब्दों में स्वरूप निर्देश किया है । १९. आठ अंगों की महिमा बताकर आचार्य श्री ने उन अंगों को प्रसन्नता पूर्वक स्मरण करने की प्रेरणा दी है । २०. तीव्र सूक्ष्मता का स्वरूप बताकर उन्हें त्यागने की प्रेरणा दी है । २१. पुनः आठ मर्हों के स्वरूप को बताकर जालि आदि के मद करने को विरर्थकता बताई है । २२. कण्ठगत प्राण होने पर भी बुद्धिमानों को जात्यादिक का मद नहीं करना चाहिये ।

२३. पुनः नरक के कारणभूत छह अनायतनों के त्याग की प्रेरणा दी है । शङ्कादिक दोषों के भी त्याग की प्रेरणा दी है । २४. आचार्य ने सम्यग्दर्शन की महिमा बहुत अच्छे रूप से करके भोक्तार्थी को सम्यग्दर्शन के सन्मुख किया है । २५. सम्यग्दर्शन से युक्त आरम्भ करने वाला गृहस्थ श्रेष्ठ है एवं सम्यग्दर्शन से रहित तपस्वी साधु निच होता है । २६. इस प्रकार सम्यग्दर्शन से युक्त नरक में निवास करना अच्छा है परन्तु इसके बिना स्वयं में निवास करना शोभा नहीं देता है । २७. इस प्रकार सम्यग्दर्शन धारी जीव कहां-कहां उत्पन्न नहीं होते, इसका वर्णन कर सम्यग्दर्शन की महिमा कहकर दर्शनाचार का वर्णन करने वाला पांचवां अधिकार पूर्ण किया ।

छठा अधिकार

१. आचार्य श्री ने ५२६ श्लोकों में दोष ४ पञ्चाधार का विस्तृत वर्णन किया है । २. मंगला-चरण के अचचार्य उत्तम ज्ञान की परिभाषा सारसंक्षिप्त शब्दों में की है । ज्ञानाचार के आठ भेद बता-कर सिद्धास्त शास्त्र के पढ़ने योग्य काल का वर्णन किया है । ३. तदनन्तर काल शुद्धि पूर्वक स्वाध्याय से ज्ञान एवं अकाल में स्वाध्याय से ज्ञान का वर्णन किया । ४. आदर्शविधियों को द्रव्यादिक शुद्धिपूर्वक

स्वाध्याय करने की प्रेरणा दी है । ५. किन् शस्त्रों को काल मुद्रि पूर्वक पढ़ना चाहिये । ६. वंश-संग्रह, गोमटसारादि ग्रन्थ अन्य काल में भी पढ़े जा सकते हैं । चिन्माचार—सिद्धान्त शास्त्रों के पढ़ने के पूर्व एवं अन्त में उपवास अथवा पांच कामोत्सर्ग करने का कथन किया है । ७. उपसाचार के वर्णन में ग्रन्थ समाप्ति तक विकार एवं पीडितकता रहित आहार ग्रहण करना चाहिए । इस प्रकार ज्ञानाचार के आठों अङ्गों का वर्णन शास्त्र स्वाध्याय करने से पाठकगण समझ लें, विस्तार भय से नहीं लिखा । ८. ज्ञान से केवलज्ञान प्राप्त होता है । अतः विनयादिक के साथ ज्ञान के अभ्यास करने की प्रेरणा दी । ९. आचार्य श्री ने अनेकों उदाहरणों के द्वारा ज्ञानाचार की महत्ता प्रकट करके भोक्तार्यों को आगम अभ्यास की प्रेरणा दी ।

चारित्र्याचार—१. ६ कोटि से पाँचों पापों का त्याग करना महाव्रत है एवं रात्रिचर्या के दूषण बताकर छठे रात्रि भोजन त्याग व्रतकी रक्षा की प्रेरणा दी है । २. तदनन्तर तीन गुप्तियों का सरल सुबोध एवं विस्तृत वर्णन करके उसे पालने की प्रेरणा दी । ३. अप्रशस्त प्रणिधान को त्याग कर प्रशस्त प्रणिधान को धारण करने की प्रेरणा दी है । ४. जो मुनि ध्यान एवं आगम रूपी अमृत समुद्र में अपने मन को जैसे-जैसे लगाते वैसे-वैसे मनोगुप्ति की पूर्णता होती है । ५. जो मुनि अपने चंचल मन को बाह्य विषयों से रोकने में असमर्थ है उसके अन्य गुप्ति कैसे हो सकती है ? ६. मनोगुप्ति पालन करने के फल को बताकर उसे पालने की प्रेरणा दी है । ७. वाग्गुप्ति को पालने वाले मुनि को या तो नित्य मौन रहना चाहिये या शिष्यों को आगम पढ़ाना चाहिये अथवा कसणा-बुद्धि से सज्जनों का अनुग्रह करने के लिये कभी-कभी धर्मोपदेश देना चाहिये । ८. मुनियों को प्राण त्याग का समय आने पर भी व्रतादिक की निर्मलता एवं कारितजन्य प्राण घात के दोषों की निवृत्ति के लिये “तुम आओ, जाओ, प्रसन्न बैठो, यह कार्य शीघ्र करो” ऐसे वचन कभी नहीं बोलने चाहिये । ९. मौन व्रत ध्यान को प्रकट करने में दीपक के समान है । इत्यादिक रूप से मौन व्रत की महिमा बताकर उसे पालन करने की प्रेरणा दी है । १०. शरीर की चंचलता से अनेक प्रकार की हानि होती है । ११. ध्यान उत्पन्न करने में माता के समान काय गुप्ति पालन करने की प्रेरणा दी है ।

१२. अन्त में चारित्र्य की महिमा बताकर आचार्य देव कहते हैं कि चारित्र्यके अभाव में उत्कृष्ट सम्यग्दर्शन, उत्कृष्ट ज्ञान मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ नहीं । १३. ज्ञान दर्शन को धारण करने वाला मुनि यदि चारित्र्य से भ्रष्ट है शिथिल है तो वह भी लङ्कड़े की भांति मोक्ष मार्ग में कभी गमन नहीं कर सकता । १४. अतः चारित्र्य की महिमा समझकर प्राणों के त्याग के समय भी सर्वोत्कृष्ट चारित्र्य को मलिन नहीं करने की प्रेरणा दी है । तपाचार—१. तपाचार का स्वरूप एवं उसके भेदों का अग्रिम ही निर्वक्ष किया है । २. अग्नान तप के साकांक्ष, निराकांक्ष दो भेद बताये । पुनः साकांक्ष तपके कृतकाम्यता एवं निराकांक्ष तप के भक्त प्रत्याख्यात सरणादिक अनेक भेद किये हैं । ३. जिनेन्द्र देव ने

ब्राह्म तपश्चरण उसे ही कहा है जिससे अभ्यन्तर तप को वृद्धि करने वाले ध्यान, अध्ययन तप की वृद्धि हो। ४. आचार्य देव ने ब्राह्म तप की महिमा बताकर मोक्ष प्राप्ति के लिये समस्त शक्ति लगाकर ब्राह्म तप करने की प्रेरणा दी है। ५. जो दूसरों को दिखाई न दे एवं अज्ञानीजन जिसे धारण नहीं कर सकें वही श्रेष्ठ अभ्यन्तर तप है। आचार्य देव ने तपश्चरण का सारभूत वैय्यावृत्ति तप है। पुनः

(१) प्रायश्चित्त तप—१. प्रायश्चित्त तप के आलोचनादिक दस भेदों का निर्देश करके उनका पृथक्-पृथक् स्वरूप निर्देश किया। २. आकम्पितादि दोषों को दूर करके आलोचना करने की प्रेरणा दी है। ३. आचार्य कैसे साधु को व्रतादिक में दूषण लगने पर कंसा-कंसा प्रायश्चित्त देते हैं इसका बहुत अच्छा स्पष्टीकरण किया है। ४. पुनः व्रतों में दूषण लगने पर प्रायश्चित्त लेने में लाभ एवं तर्ही लेने से हानि का वर्णन करके आत्माश्रियों को प्रायश्चित्त लेने की प्रेरणा दी है।

(२) विनय तप—१. विनय तप के पांच भेदों का वर्णन विस्तार सहित करके मुमुक्षु जीवों को विनय करने की प्रेरणा दी है। २. उपचार विनय के प्रत्यक्षादिक भेद से वह प्रकार की होती है। ३. पुनः धारीरिक विनय के सात भेदों का वर्णन किया है। अन्त में विनय तप की महत्ता एवं उसको धारण करने का बड़ा ही रोचक वर्णन किया।

(३) वैय्यावृत्त्य तप—१. अशुभ ध्यान को तट्ट करने के लिये एवं श्रेष्ठ ध्यानादि की सिद्धि के लिये आचार्यादिक की सेवा, सुश्रूषा करना वैय्यावृत्त्य तप है। २. आचार्य श्री ने १० प्रकार के मुनि का स्वरूप बतलाकर १० प्रकार की वैय्यावृत्त्य का स्वरूप निर्देश किया है। ३. वैय्यावृत्त्य करने वाले के निर्विचिकित्सा अङ्ग का पालन एवं तीर्थंकर प्रकृति आदि श्रेष्ठ पुण्य वन्ध होता है अतः आत्माश्रियों को वैय्यावृत्ति करनी चाहिये।

(४) स्वाध्याय तप—१. आचार्य श्री ने स्वाध्याय का स्वरूप व उसके भेदों का वर्णन करके स्वाध्याय की महिमा बताकर स्वाध्याय करने की प्रेरणा दी है। २. समस्त तपाचार में स्वाध्याय के समान न तो तप हुआ है और न आगे होगा। ३. क्योंकि स्वाध्याय से इन्द्रिय निरोध, तीन गुप्ति का पालन, संवर, निर्जरा, मोक्ष की प्राप्ति रूप अनेक लाभ होते हैं।

(५) कायोत्सर्ग तप—१. कायोत्सर्ग का वर्णन पहले षट् आवश्यकों में कायोत्सर्ग नामके छठे आवश्यक में विस्तृत वर्णन किया गया है।

(६) ध्यान तप—१. समस्त चित्तवन को रोककर एकाग्रचित्त से द्रव्यों के समूह का चिन्तन करना ही ध्यान है। २. ध्यान के प्रशस्त एवं अप्रशस्त भेद प्रभेद करके आचार्य श्री ने उनका अच्छा वर्णन किया। ३. आर्त्तध्यान प्रथम गुणस्थान में उत्कृष्ट एवं छठे गुणस्थान में जघन्य होता है। ४. उसी प्रकार रौद्रध्यान प्रथम गुणस्थान में उत्कृष्ट एवं पंचम गुणस्थान में जघन्य होता है।

५. रौद्रध्यान की सामग्री प्रमाद एवं कषायें हैं। आचार्य श्री ने अपाय विचयादि धर्मध्यान के परिभाषाओं सहित दस भेदों का कथन किया है। ६. यहाँ अतित्यादि वारह भावनाओं के चिन्तन करने को संस्थान विचय धर्म ध्यान बताया है। ७. ध्यानादि के भेद से धर्मध्यान ४ प्रकार का है। ८. बुद्धिमान तथा एकान्तवास में सदा सन्तुष्ट रहने वाला आत्मा धर्म ध्यान का ध्याता होता है। ९. इसी प्रकार शुक्लध्यान आदि का बहुत सुन्दर ढंग से वर्णन करके अन्त में तप की महिमा को बताकर साधक को तपाचार पालन करने की प्रेरणा दी है। १०. इन्द्रिय लम्पटों, शक्तिहीन जो मनुष्य तपश्चरण नहीं करते उनकी बड़े कठोर शब्दों में आलोचना की है। वीर्याचार—१ बल वीर्य आदि को प्रकट करके जो संयमाचार का पालन करते हैं वह ही वीर्याचार है। २ बल एवं वीर्य शब्दों की परिभाषा का कथन करके प्राणी संयम एवं इन्द्रिय संयम के भेद करके प्राणी संयम के २७ भेदों का परिभाषाओं सहित कथन किया, अन्त में पंचाचार की महिमा बताकर उसको पालन करने की प्रेरणा दी। ३. इस प्रकार ५२६ श्लोकों में अन्तिम चार आचारों का विस्तृत वर्णन करके यह छठा अधिकार पूर्ण किया।

सातवां अधिकार

१ आचार्य श्री ने १६६ श्लोकों में मुनियों के समाचार का वर्णन किया। मंगलाचरण करके समाचार का स्वरूप एवं श्रौधिक व पदविभागिक के भेद से समाचार के दो भेद किये हैं। २. श्रौधिक समाचार के दृष्टाकार आदि १० भेदों का स्वरूप पूर्वक वर्णन किया है। ३. पुनः उपसम्पत् समाचार के विनयादिक के ५ भेद का स्वरूप निर्देश किया। ४. तदनन्तर सूत्र उपसम्पत् के तीन भेदों का स्वरूप बताया एवं पदविभागी समाचार का स्वरूप निर्देश किया। ५. आनम अभ्यास के लिये यदि दूसरे संघ में जाना हो तो अपने गुरु से शिष्य ३ बार, ५ बार, ७ बार पूछता है। ६. संघ से निकलना हो तो किसी मुनि को अकेला कभी नहीं निकलना चाहिये। ७. पुनः ग्रहिता एवं ग्रहितार्थीभित विहार के इस प्रकार दो भेद किये। ८. कैसे गुरुओं वाला मुनि एकल विहारी हो सकता है एवं कैसे आचार वाला मुनि एकल विहार न करे। ९. एकल विहार करने से ५ प्रकार की हानि व अनेक दोषों का वर्णन करके एकल विहार करने का निषेध किया है। १०. शिष्य को आगमादिक के अध्ययन हेतु कैसे संघ (गुरुकुल) में निवास करना चाहिये। ११. पंचम काल में एकल विहार करने का निषेध क्यों किया, इसका आचार्य ने अच्छे हेतुओं के द्वारा समाधान किया है। आचार्य श्री ने अनेक हेतुओं से एकल विहार करने का निषेध किया है।

१२. पुनः आचार्य के गुरुओं का निर्देश बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। १३. अभ्यागत मुनि आचार्य संघ में आता है तो वे परस्पर में किस प्रकार वात्सल्य भाव से व्यवहारिक कर्त्तव्य निभाते हैं।

१४. तीन दिन तक किस प्रकार स्वाध्याय, आहार विहारादि चर्या की परीक्षा करते हैं। तीन दिन पश्चात् आगन्तुक साधु का नाम, गुरु, दीक्षादिक का काल पूछकर फिर विधि पूर्वक श्रुतादिक का पठन-पाठन का आदेश देते हैं। १५. अगर आगन्तुक साधु के व्रताचार शुद्ध नहीं हैं तो उनको शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त देते हैं अगर प्रायश्चित्त स्वीकार नहीं करता तो उसे संघ में नहीं रखते हैं। १६. इस प्रकार पाठकगण स्वयं अनुभव करेंगे कि आचार्य कितने अनुभवी एवं व्यवहार कुशल होते हैं। १७. पुनः आगन्तुक साधु किस प्रकार द्रव्यादिक की शुद्धि पूर्वक श्रुत अभ्यास करते हैं। यदि नहीं करते हैं तो क्या हानि होती है, इसका वर्णन किया है। १८. आगन्तुक साधु को स्वर्ण के समान ही परमाणु के आचार्य से पूछकर सब कार्य करना चाहिये। १९. मुनि को अजिकादि स्त्रियों के साथ बात-चीत करना भी अनेक दोष उत्पन्न करने वाला है। अतः बिना प्रयोजन इनसे बातचीत नहीं करना चाहिये। २०. अकेले मुनि से अकेली आर्यिका प्रश्न करे तो व्रतों की शुद्धि के लिये मुनि को उत्तर नहीं देना चाहिये।

२१. तरुण मुनि एवं तरुण अजिका बातचीत करे तो ५ प्रकार के दोष लगते हैं। २२. अजिका के आश्रम में मुनि को स्वाध्यायादि क्रिया करने का निषेध किया। उसी प्रकार अजिका को भी मुनि के आश्रम में स्वाध्यायादि क्रिया नहीं करना चाहिये। २३. आर्यिका को प्रतिक्रमण आदि करवाने वाले आचार्य के गुणों का निर्देश किया है एवं मुनियों के योग्य समाचारों को आर्यिकाओं को भी पालन करना चाहिये। २४. आर्यिकाओं को वृक्ष-मूलादि योग धारण करने का निषेध किया। २५. पुनः आर्यिकाओं के विशेष समाचार का निर्देश करते हुए मायाचारी लोभादि से रहित, लज्जादि गुणों सहित एक-दूसरों की परस्पर रक्षा करते हुए रहना चाहिये। २६. शरीर पर पसीने से धूल या नाकादि का मल लगा हो तो इससे कोई हानि नहीं परन्तु अपने शरीरका संस्कार तो कभी नहीं करना चाहिये। २७. उन्हें अनुप्रेक्षादि के चिन्तवनादि शुभ ध्यान में ही समय बिताना चाहिये। २८. आर्यिकाओं के दो तीन अथवा अधिक दस-बीस आर्यिकाओं के साथ रहना चाहिये। २९. अकेली आर्यिका को किसी भी समय विहार या गमन नहीं करना चाहिये। ३०. भिक्षादि के लिये भी ५-७ वृद्ध आर्यिकाओं के बीच में अथवा कुछ आगे-पोछे चलने की प्रेरणा दी है। ३१. आर्यिका आचार्य वन्दनादि के योग्य समय में जाती है तो आचार्य से ५ हाथ, उपाध्याय से ६ हाथ, साधु से ७ हाथ दूर बैठकर गवासन से भक्तिपूर्वक नमस्कार करती है। इस प्रकार आचार्य श्री ने मुनियों के समाचार का वर्णन करते हुए सातवां अध्याय पूर्ण किया।

आठवां अधिकार

१. आचार्य श्री ने १७३ श्लोकों में मुनियों की भावना का वर्णन किया है। २. पंच परमेष्ठी एवं सरस्वती देवी आदि को नमस्कार रूप मंगलाचरण करके मुनियों की भावना के कथन की

प्रतिज्ञा की है। ३. मुनियों की भावना को जो श्रद्धा पूर्वक सुनते हैं वे भव्य जीव स्वर्ण के समान शुद्ध होते हैं। ४. मुनियों के लिये दस शुद्धियों का कथन किया।

(१) लिंग शुद्धि—१. संसार शरीर आदि का स्वरूप समझकर घनादि का मोह त्याग कर विशुद्ध जो जिन लिंग धारण करते हैं उनके लिंग शुद्धि होती है। २. जो शरीर का संस्कार नहीं करते, जिनका शरीर मल से युक्त होने पर भी जो कर्म मज से सदा दूर रहते हैं। ३. त्रियोगी की शुद्धता पूर्वक द्वादशांग रूपी अमृत से भरे हुए सर्वोत्कृष्ट धर्म तीर्थ का चिन्तन करते हैं। ४. जो काम भोग से सदा विरक्त हैं एवं जिन मुद्रा के धारी हैं। ५. जो प्रमाद रहित होकर चरित्राचरण का पालन एवं दस धर्मों को धारण करते हैं। ६. इस प्रकार उक्त अनेक निर्मल उपायों से अपने शुद्ध आचरणों का पालन करते उनके लिंग शुद्धि मानी गयी है।

(२) व्रत शुद्धि—१. जो बुद्धिमान् मुनि अष्ट प्रवचन मातृकाओं से युक्त पंच महाव्रतों का पालन करते हैं उनके व्रत शुद्धि है। २. जो मुनि परिग्रह से रहित हैं फिर भी रत्नत्रय परिग्रह को धारण करते हैं। ३. मुनियों के अयोग्य बाल के अग्रभाग के करोड़वें भाग परिग्रह की भी इच्छा नहीं करते हैं। ४. जो अत्यन्त संतोषी हैं। ५. सदा मौन धारण करते हैं। ६. सूर्यास्त के पश्चात् विहार नहीं करते हैं। ७. बालक के समान निर्विकार दिग्म्बर शरीर को धारण करते हैं। ८. इस प्रकार जो व्रतों को निर्मल पालन करते हैं उन महामुनि के व्रत शुद्धि होती है।

(३) वसतिका शुद्धि—१. जो धीर-वीर विशाल हृदय वाले मुनि ध्यान की सिद्धि के लिये गुफादि एकान्त स्थान में निवास करते हैं उनके वसतिका शुद्धि होती है। २. ऐसे मुनि गांव में एक दिन एवं नगर में पांच दिन रहते हैं। ३. एकल विहारी, निर्भीक वनों में निवास करते हैं। ४. शरीर से ममत्व धारण नहीं करते हैं। वज्रवृषभनारायणसंहनन को धारण करने वाले वे मुनिराज श्रेष्ठ ध्यानादि की सिद्धि के लिये संकड़ों उपसर्ग आ जाने पर अथवा परीषहों के आ जाने पर भयानक जीवों से धीर दुष्कर वन में ही निवास करते हैं। ५. सिंहादिका को भीष्म शब्दों को सुनकर रंचमात्र भी चलायमान नहीं होते हैं उन्हीं के वसतिका शुद्धि होती है।

(४) विहार शुद्धि—१. स्वतन्त्र विहार करनेवाले मुनिराज सूर्योदय के बाद एवं सूर्यास्त होने के पहले धर्म प्रवृत्ति के लिये ईर्यापय से गमन करते हैं। उनके उत्तम विहार शुद्धि होती है। २. जो मुनि जीवों की योनि आदि का ज्ञान करके उनकी त्वकोटिसे कभी विराधता नहीं करते। ३. वे अपने हाथों में डण्डा आदि हिंसा के उपकरणों को कभी नहीं रखते हैं। ४. पंर में काटा या तीक्ष्ण पत्थर के टुकड़े की धार से छिद जाय उसकी पीड़ा होने पर भी कभी क्लेश नहीं करते हैं। ५. आत्मा के अतुर्गति भ्रमण का निरन्तर चिन्तन करके जो निराकुल चित्त एवं वैराग्यभाव से आगम का चिन्त-

वन करते हैं। ६. सुन्दर, असुन्दर स्थान में विहार करते हुए स्त्रियाँदिक को देखने में ग्रन्थ, कुतियों के लिये लज्जड़े, विकथा करने के लिये गूँगे, शरीर से निस्पृह एवं मुक्ति को सिद्ध करने की तीव्र लालसा है, ऐसे अनेक प्रकार के गुणों से युक्त मुनि के विहार शुद्धि होती है।

(५) भिक्षा शुद्धि—१. शरीर की स्थितिके लिये उपवासादिक के पारण के दिन योग्य घर में नव कोटि से शुद्ध आहार भिक्षावृत्ति से लेते हैं उनके भिक्षा शुद्धि होती है। २. यथासब्ध सरस, नीरस जैसा शुद्ध आहार मिलता है उसे बिना स्वाद से ग्रहण कर लेते हैं। ३. अशुभ आहार के मिलने पर खेद खिन्न एवं शुभ आहार के मिलने पर वे सन्तुष्ट नहीं होते। अशुद्ध आहार का दूर से ही त्याग करते हैं। ४. शुद्ध आहार लेने पर भी प्रतिक्रमण करते हैं ऐसे अनेक गुणों से युक्त मुनि के भिक्षा-शुद्धि होती है।

(६) ज्ञान शुद्धि—१. अभिमान से रहित कालादि शुद्धि पूर्वक एकाग्रचित्त से अङ्ग पूर्वों का पठन-पाठन करते हैं उनके ज्ञान शुद्धि होती है। २. जो मुनि अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ एवं मति आदि वार ज्ञानों से युक्त हैं जो सदा धर्म ध्यान में लीन हैं। ३. त्रियोग शुद्धि पूर्वक जो सदा समस्त अङ्गों को पढ़ते पढ़ाते हैं, उनका चिन्तन करते हैं, किंचित् भी प्रसिद्धि एवं बड़प्पन की इच्छा नहीं करते ऐसे उपरोक्त कहे अनेक उपाय करते हैं उन्हीं मुनि के ज्ञान शुद्धि होती है।

(७) उज्ज्वल शुद्धि—१. शरीर में प्रक्षालन आदि संस्कार भी स्त्रियों में स्नेह उत्पन्न करने वाला है, अत्यन्त अशुभ मोहरूपी शत्रु को उत्पन्न करने वाला है। इस प्रकार जो परिग्रह में किसी समय भी मोह उत्पन्न नहीं करते। उनके उज्ज्वल शुद्धि होती है। २. शरीर के संस्कार से रहित सैकड़ों रोगों के आने पर उनके प्रतिकार रहित जो शरीर भोग एवं बन्धुवर्ग के पारमाथिक स्वरूप को विचार कर उनमें स्नेह नहीं करते उन्हीं के उज्ज्वल शुद्धि होती है।

(८) वाक्य शुद्धि—१. जो मुनि धर्म की सिद्धि के लिये एकान्तमत से रहित अनेकान्तमयी हित-मित प्रिय वचन बोलते, उनके वाक्यशुद्धि होती है। २. धर्म से विरुद्ध वचन पूछने या बिना पूछे कभी नहीं बोलते। ३. अनेक प्रकार के अनर्थ देखते एवं सुनते हैं एक सार-असार पदार्थ को जानते हैं फिर भी वे गूँगे के समान बने रह कर किसी की निंदा स्तुति नहीं करते हैं। ४. पाप की खानि विकथाओं की वे मुनि कभी नहीं करते। ५. वे मुनिराज संवेग वैराग्य को उत्पन्न करने वाली महा-पुरुषों की श्रेष्ठ कथाओं को कहते हैं उन्हीं के वाक्य शुद्धि होती है।

(९) तप शुद्धि—१. जो व्रत गुप्ति आदि से सुशोभित हैं प्रमाद रहित अपनी शक्ति के अनु-सार वारह प्रकार के तपों को ज्ञानपूर्वक करते, उनके तप शुद्धि होती है। २. शरीर से असक्त

फिर भी धैर्य बल को धारण करने वाले बेला, ऐला, महिने दो महिने आदि के उपवास को धारण करते हैं । ३. पारण के दिन वृत्तिपरिसंख्यान तप धारण करते हैं । ४. नीरस आहार करते हैं । ५. शीत-उष्ण की बाधा को जीतते हैं । ६. अनेक प्रकार के योग धारण करते हैं । ७. परीषद् सहने में रंचमान खेद नहीं करते हैं। इस प्रकार से घोर उग्र तप करते हैं, उनके तप शुद्धि होती है ।

(१०) ध्यान शुद्धि—१. आर्त रोद्रध्यान का त्यागकर पर्वतों की गुफा में बैठकर एकग्रचित्त से धर्म ध्यानादि धारण करते हैं । २. उनके कर्मरूपी वन को जलाने में ज्वाला के समान ध्यान शुद्धि होती है । ३. मन रूपी दुर्धर हाथी विषम वन में घूमता रहता है । इसको ध्यान रूपी अंकुश से बंधा करते हैं । ४. आचार्य श्री ने श्रेष्ठ ध्यान को एक नगर की उपमा देकर उसका सुन्दर वर्णन किया । ५. इस ध्यान रूपी नगर के स्वामी मुनि कंसे जाणों से शत्रुओं को जीतते हैं । ६. कर्म शत्रुओं को जीतकर कैसा साम्राज्य प्राप्त करते हैं; इसका वर्णन किया । ७. आगे मुनि के श्रमण, साधु आदि नामों की सार्थकता का वर्णन किया । ८. अन्त में दस प्रकार की शुद्धियों की महिमा एवं फल को बताकर सम्पूर्ण भावनायें एवं आत्म शुद्धि की प्राप्ति की भावना की है ।

नवां अधिकार

१. आचार्य श्री ने १५२ श्लोकों द्वारा समयसार नामक नौवें अध्याय का कथन किया । २. प्रथम मंगलाधरण करके समस्त ग्रन्थों (अधिकार) एवं चार आराधनाओं में सारभूत यहाँ समयसार की महिमा का कथन किया । ३. जो द्रव्यादिक शुद्धि का आश्रय करके सम्यग्दर्शन ज्ञान पूर्वक जो चारित्र्य धारण करने का प्रयत्न करता है वह मुनि कीर्ति मोक्ष प्राप्त करता है । ४. बिना चारित्र्य के कोई शुद्ध नहीं हो सकता । ५. पुनः मुनि को भिक्षावृत्ति धारण करने की, जितेन्द्रिय बनने की, लोक व्यवहार से दूर रहने आदि अनेक प्रकार की शिक्षा दी है । ६. ज्ञान, ध्यान और संयम का कार्य निर्देश करते हुए इन तीनों का संयोग ही मोक्ष का कारण है ऐसा निर्देश किया । ७. पुनः व्रतादिक के लिये सम्यग्दर्शन ही मूल है । ८. मुनिको ज्ञानकी अपेक्षा चारित्र्यको प्रधान माननेकी प्रेरणा दी है ।

चार लिंग कल्प—१. पूर्ण रूप से नग्नता धारण करना । २. वैराग्य को बढ़ाने वाला केश-लींच करना । ३. संस्कारों से रहित शरीर में निर्ममता धारण करना । ४. प्रतिलेखन के लिये पीछी धारण करना ये चार लिंग कल्प कहे हैं । ५. पुनः मयूर पिच्छ की पीछीके पांच गुणों का वर्णन किया है । ६. जो मुनि बिना शुद्ध किये आहार ग्रहण कर लेता है उसको प्रायश्चित्त रूप पुनः दीक्षा देना चाहिये । ७. जो मुनि कीर्ति आदि के लिये मूल गुणों को भंग करता है उसके मध्यवकाश आदि योग व्यर्थ है । ८. बिना शुद्ध आहार करने के अनेकों दोषों का वर्णन किया है । ९. जो अष्टकर्म नामके दोष से दूषित आहार करते हैं । उनके तपादिक व्यर्थ हैं । १०. जो मुनि पंच पापों से नहीं डरते एवं

त्रियोग से अन्न के पकवाने आदि की अनुमोदना में प्रवर्तित हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं । ११. निर्दोष आहार प्रतिदिन कर लेना अच्छा है परन्तु मासोपवास के पारण के दिन भी सदोष आहार लेना अच्छा नहीं । १२. पुनः आचार्य श्री ने बाह्य एवं अभ्यन्तर जुगुप्सा का वर्णन किया । १३. जहां रागद्वेष उत्पन्न हो, व्रतों का भंग हो, ध्यान-अध्ययनादि में विघ्न उपस्थित ऐसे क्षेत्रों को मुनियों को छोड़ देना चाहिये । १४. जहां संसर्ग की हानि हो, नीचा लेने वाले धर्मात्मा लोगों का निवास न हो । १५. जहां स्त्री राज्य करती हो ऐसे क्षेत्रों में मुनि को कभी नहीं रहना चाहिये । १६. मुनि को कायोत्सर्ग स्वाध्याय आदि के लिये भी आश्रम के आश्रम में एक क्षण भी नहीं ठहरना चाहिये क्योंकि स्त्रियों के संसर्ग से उभय प्रकार की जुगुप्सा प्रकट होती है । १७. जो मुनि नीच पुरुषों की संगति करता है वह क्रोधादि अनेक दूषणों से युक्त हो जाता है । १८. ऐसे मुनि की सदाचारी कभी संगति नहीं करें । १९. पहले आचार्य का शिष्य न बन करके आचार्य पद धारण करने के लिये घूमना है उसे घोंघाचार्य दंभाचारी समझना चाहिये । २०. मुनि को मैं बहुत दिनों का दीक्षित हूं ऐसा अहंकार नहीं करना चाहिये । २१. ध्यान अध्ययन में जीन मुनि संवर रूपी जहाज पर चढ़कर शीघ्र संसार से पार हो जाते हैं ।

२२. पुनः आचार्य श्री ने निद्रा को राक्षसी के समान अनेक दोषों को उत्पन्न करने वाली बताकर उसे जीतने की प्रेरणा दी है । २३. मुनिराज समुद्र के समान कषाय, इन्द्रिय सुखों को फेंक (दूर) करके एकाग्रचित्त से आत्मा का ध्यान करते हैं । २४. कषायों के अभाव को ही चारित्र्य कहते हैं । २५. जो मुनि कषायों के वशोभूत है वह असंयमी, कुमार्गगामी और मिथ्यादृष्टि है । २६. गण में शिष्यादिक का मोह उत्पन्न हो जाता है अतः समाधि के समय मुनि को अपने गण में नहीं रहना चाहिये । २७. मुनिराज को अनन्त संसार को बढ़ाने वाली चार-चार अंगुल प्रमाण जिह्वा इन्द्रिय एवं कामेन्द्रिय को वैराग्य रूपी मन्त्र से कील देना चाहिये । स्त्रियों का संसर्ग चारित्र्य से भ्रष्ट करने वाला है । अतः मुनिराज को जिस स्त्री के हाथ-पैर कटे हुए हो और नाक, कान भी कटे हुये हो ऐसी स्त्री यदि सौ वर्ष की भी हो तो भी व्रतियों को दूर से ही त्याग कर देना चाहिये । २८. पुनः दस ब्रह्मचर्य की घात करने के कारणों का निर्देश किया है ।

दसवां अधिकार

१. आचार्य श्री ने १८७ श्लोकों में प्रत्याख्यान संस्तर नामक अधिकार का वर्णन किया । भंगलाचरण करके आचार्य श्री ने दुर्भिक्षादि पड़ जाने पर सन्यास ग्रहण करने की प्रेरणा दी है । २. सन्यास ग्रहण करने वाले को प्रथम क्षमा मांगनी चाहिये एवं सबको क्षमा कर देना चाहिये । ३. स्व-गण का त्याग करके परगण में प्रवेश करना चाहिये । ४. पुनः अपने दोषों की आलोचना करके समाधि के लिये नियामक आचार्य बनाना चाहिये । ५. पुनः नियामकाचार्य आगमानुसार मृत्यु के

आवीचीमरणादि १७ भेदों का स्वरूप पूर्वक कथन करते हैं । ६. चार आराधना करने वाले को दुर्गति के कारण अनुभूत मरण का त्याग करना चाहिये । ७. शिष्य के द्वारा देव दुर्गति का स्वरूप एवं उनमें जाने वाले जीवों का स्वरूप पृथक् पर बहुत स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया है । ८. कैसे आचरण करने वाले मुनि संसार में भटके हैं एवं कैसे आचरण वाले मुनि संसार से पार होते हैं उसका वर्णन किया । ९. निर्यापिकाचार्य क्षपक को अनेक प्रकार से दुर्गति आदि का स्वरूप बताकर बाल-बाल मरण से विरक्त करके पंडित मरण को प्रेरणा देते हैं । १०. तदनन्तर क्षपक चार आराधना की शुद्धि को प्रारम्भ करता है । चार आराधना एवं क्षमादि गुणों को धारण कर काया एवं कषाय का सस्ते-खना करता है ।

११. समस्त गुणों का आधार एवं सारभूत आत्मा का आश्रय लेकर समस्त दोषों की निंदा गद्दी करके ३३ आसादना को नहीं लगाने की प्रतिज्ञा करता है । १२. आचार्य क्षपक को सपवासादि तप के द्वारा शरीर को कुश करने की प्रेरणा देते हैं । १३. अन्नादि के त्याग का क्रम बताकर धारण करने योग्य १० प्रकार के मुण्डन के स्वरूप का वर्णन करते हैं । १४. मोक्षदायनी दीक्षा भी इन्हीं दस मुण्डन से सफल मानी जाती है । १५. क्षपक को नरकादिक दुःखों का एवं संसार के दुःखों का चितव्य करना चाहिये । १६. क्षपक को प्रशस्त ध्यान की सिद्धि के लिये परमेश्वरी वाचक पदों का चिन्तन करने की प्रेरणा दी है । १७. योगादिक आने पर किस प्रकार चिन्तन कर अपने मन को स्थिर रखता है इसका बहुत सुन्दर वर्णन किया है । १८. यद्यपि क्षपक निरीहवृत्ति का धारक होता है फिर भी महा लोभ के लिए उद्यम करता है । १९. एक उत्तमगति, पञ्चमगति के फल की याचना करता है । २०. इस प्रकार आत्मा का ध्यान पंच परमेश्वरी वाचक पदों का चिन्तन एवं निर्यापिकाचार्य के मुख से निकले सारभूत धर्म के अक्षरों को सुनते हुए प्रशस्त ध्यान पूर्वक प्राणों का त्याग करता है । २०. समाधि के फल का निर्देश कर उसे धारण करने की प्रेरणा देते हैं । २१. अन्त में आराधना की महिमा बताकर आचार्य देव ने आराधना की प्राप्ति के लिये नमस्कार किया है ।

ग्यारहवां अधिकार

१. आचार्य श्री ने १८८ श्लोकों द्वारा शील गुण एवं दस लक्षण धर्म का निरूपण किया है । २. प्रथम मंगलाचरण किया पश्चात् ३ योग, ३ करण, ४ संज्ञा, ५ इन्द्रियां, १० प्रकार के पृथ्वीकाय जीव और १० प्रकारके उत्तम क्षमादि धर्म, इन सब योगादिकों परस्परमें गुणा कर देने से १८,००० भेद शील के होते हैं । ३. आचार्य श्री ने सरल सुबोध भाषा में योगादि का स्वरूप बताकर इनके त्याग से ग्रहाचर्य होता है । ४. शील पालन करने वालों का एक दिन जीना अच्छा परन्तु बिना शील के सैंकड़ों, करोड़ों वर्ष जीना भी व्यर्थ है । ५. तदनन्तर अनेक प्रकार से शील की महिमा बतलाकर

शील पालने की प्रेरणा दी है । ६. हिसादिक के २१ भेद, अतिक्रमणादिक के ४ भेद, पृथ्वीकायादिक के १०० भेद, ब्रह्मधर्म विराघना के दस दोष, आलोचना के दस दोष इन सब हिसादिक को परस्पर गुणा करने से मुनि के ८४ लाख उत्तरगुण होते हैं । ७. आचार्य श्री ने हिसादिक का स्वरूप बताकर इनके त्यागने की प्रेरणा दी है । ८. उत्तर गुणों की महिमा बताकर इनको पालने की प्रेरणा दी है । ९. दशधर्म—ये मुनियों के लिये सुख के समूह एवं मुक्ति नगर गमन के लिये मार्ग में पाथेय हैं ।

उत्तम क्षमा—१. आचार्य श्री ने क्षमा का स्वरूप बताकर क्रोधादिक के निमित्त आने पर किस प्रकार का चिन्तवन कर एवं क्षमा धारण कर दुष्ट दुर्वचनादि को सहना चाहिये । २. कोई भारे तो श्री मुनिराज किस प्रकार का चिन्तवन कर क्षमा धारण करते हैं । ३. मुनिराज विचार करते हैं कि मैंने पहले अनेक कष्ट सहन करके जो उपशमरूप परिणामोंका अभ्यास किया वह व्यर्थ हो जायेगा । ४. इसप्रकार क्रोध नहीं करने से अनेक गुण एवं क्रोध करने से हानियों का वर्णन प्रसिद्ध महापुरुषों का उदाहरण देकर किया एवं नित्य ही क्षमा धारण करने की प्रेरणा दी ।

उत्तम मार्दव—१. ज्ञान के आठ कारणों की उत्तमता प्राप्त होने पर भी कोमल योग को धारण कर मद का त्याग करना मार्दव धर्म है । २. मार्दव धर्म की महिमा बताकर उसे पालन करने की प्रेरणा दी है ।

उत्तम आर्जव—१. सरल बुद्धि की धारण कर मन में जो कार्य जिस रूप से चिन्तवन किया, उसको उसी रूप से कहना एवं करना उत्तम आर्जव धर्म का लक्षण है । २. मन, वचन, काय की सरलता से अद्विती भोगभूमि के जीव स्वर्ग में एवं बिल्ली, भगरमच्छादि मायाचारी जीव दुर्गति में उत्पन्न होते हैं । ३. मायाचारी से उत्पन्न अनेक हानियों का वर्णन करके आर्जव धर्म धारण करने की प्रेरणा दी है ।

सत्य धर्म—१. सिद्धान्त को जानने वाले मुनि तत्त्वों के अर्थ से सुशोभित यथार्थ, सारभूत वचन, भाषा समिति का अवलम्बन लेकर कहते हैं वह सत्य धर्म का लक्षण है ।

शौच धर्म—१. जो मुनि इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति त्यागकर मन में समस्त पदार्थों के प्रति निस्पृहता धारण करते हैं एवं लोभ को जीतकर शौच गुण को धारण करते हैं उन्हीं के शौच गुण होता है । २. लोभ चार प्रकार बताया है—(क) जीवित रहने का लोभ (ख) आरोग्य रहने का लोभ (ग) पञ्चेन्द्रिय का लोभ (घ) भोगोपभोग सामग्री का लोभ । इन लोभों को त्याग करने की प्रेरणा दी ।

संयम धर्म—१. त्रियोग की शुद्धि पूर्वक ५ इन्द्रिय, एक मन का निरोध एवं षट् काय के जीवों की विराघना नहीं करते, वही जिनेन्द्र देव कथित संयम है । २. आचार्य श्री ने उपेक्षा संयम

एक अणुसूत संयम के भेद से इस संयम के दो भेद री किये हैं एवं ३. उनके स्वरूप का कथन किया है । ४. सामायिक आदि के भेद से उत्कृष्ट संयम ५ प्रकार का है । ५. आचार्य श्री ने प्रत्येक का स्पष्ट वर्णन किया है । ६. संयम के बिना तप, ध्यान एवं अतादिक सब व्यर्थ है ।

उत्तम तप—पाँचों इन्द्रियों के विषयों में अपनी समस्त इच्छाओं का निरोध करना तप है ।

उत्तम त्याग—१. त्रियोगों से दोनों प्रकार के परिग्रहों में मूर्च्छा एवं ममत्वका त्याग कर देना त्याग है । २. ज्ञान दानादिक के भेद से त्याग के चार भेद किये हैं ।

उत्तम आर्किचन धर्म—१. जो निस्पृह मुनि त्रियोग की शुद्धता पूर्वक शरीर, परिग्रह और इन्द्रियों के सुख में ममत्व का त्याग करना आर्किचन धर्म है ।

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म—१. राग-द्वेष को त्याग करने वाले जो पुरुष अपने मनरूपी नेत्रों से समस्त स्त्रियों को माता के समान देखते हैं उनके सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मचर्य होता है । इसप्रकार आचार्य श्री ने दस धर्मों की महिमा का वर्णन करके उसको धारण करने की प्रेरणा दी है ।

भारहर्षा अधिकार

१. आचार्य श्री ने २३१ श्लोकों में अनुप्रेक्षा, परीषह एवं ऋद्धियों का वर्णन किया है । प्रथम अनुप्रेक्षा के चिन्तन करने वाले मुनिराज को नमस्कार रूप भङ्गमाचरण किया है ।

(१) अनित्य भावना—१. इन्द्रचक्रवर्ति आदि पद क्षणभंगुर हैं । २. चंचल स्त्री सांकल के समान बन्धन में डालने वाली है । ३. कुटुम्ब विडम्बना मात्र है । ४. पुत्र जाल के समान बाँधने वाले हैं । ५. घर का निवास कारागार के समान है । ६. इस प्रकार अनेक प्रकार से जगत् की अनित्यता बताकर आत्मार्थी को रत्नत्रय धारण कर अनित्य शरीरादि से नित्य मोक्ष को सिद्ध कर लेने की प्रेरणा दी है ।

(२) शरण भावना—१. जीव को जब यम रूपी शत्रु पकड़ लेता है तब उससे बचाने वाला शरणभूत तीन लोक में कोई नहीं दिखाई देता । अतः अरहन्तादिक ही शरणभूत है ऐसा जानकर उनकी शरण लेनी चाहिये ।

(३) संसार भावना—१. पञ्च परावर्तनका स्वरूप सरल भाषा में समझाया है । २. मिथ्या-त्वादि अशुभ भावों से कर्मों का उदय आता है । ३. उससे संसार में महान् दुःखों को उठाता है । ४. इस प्रकार आत्मार्थी को रत्नत्रय द्वारा भीम मोक्ष सिद्ध कर लेना चाहिये ।

(४) एकत्व भावना—१. जीव अकेला कर्म बन्ध करता है । अकेला ही सुख-दुःख को भोगता है । २. अनेक भोगोपभोग सामग्री से पोषित ये शरीर भी जीव के एक पेंड की साथ नहीं

जाता है। ९. आत्मार्यों को मोक्ष रूप एकत्व पद प्राप्त करने के लिये एकत्व भावना का चिन्तन करना चाहिये।

(५) अन्यत्व भावना—१. जहां मरने पर शरीर साक्षात् भिन्न दिखाई देता है। २. स्त्री आदि समस्त कटुस्व वर्ग भी भिन्न ही हैं, रत्नत्रय को छोड़कर कोई पदार्थ मेरा नहीं है। इसप्रकार आत्मा को अन्तरङ्ग में ही शरीर से भिन्न समझकर चिन्तन करना चाहिये।

(६) अशुचि भावना—१. नरकादि गति में अशुचिमय शरीर को प्राप्त करता है तथा जो भोग स्थियों की अपवित्र मोति से उत्पन्न हो तो भला ये भोग अशुचिमय क्यों नहीं होंगे। अतः विरक्त पुरुषों को अपवित्र शरीर से पवित्र मोक्ष को सिद्ध करना चाहिये।

(७) आसन्न भावना—१. अिन जडुष्यों ने धर्म रूपी जहाज को छोड़ दिया है। २. वे निरंतर कर्मों का आसन्न करते रहने से सैकड़ों दुःखों से भरे संसार समुद्र में डूबते हैं।

(८) संवर भावना—१. कर्मों के आसन्न का निरोध करना ही संवर है। २. क्षमादि भावों से कषायादि दुर्भावों को रोकने का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।

(९) निर्जरा भावना—१. चारित्र्य रूपी गुण को धारण करनेसे तपश्चरण के द्वारा मोक्ष को देने वाली निर्जरा होती है। २. जिस प्रकार अग्नि के द्वारा स्वर्ण पाषाण युक्ति पूर्वक शुद्ध करने से शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार तप रूपी अग्नि से संवर, निर्जरा करने वाला भव्य जीव अत्यन्त शुद्ध हो जाता है।

(१०) लोक भावना—१. आचार्य श्री ने लोक भावना का वर्णन करते हुए उर्ध्व, मध्य और अधोलोक का स्वरूप समझकर सम्यग्दर्शनादिक धारण कर शीघ्र मोह का नाश कर मोक्ष प्राप्त करने की प्रेरणा दी है।

(११) बोधि दुर्लभ—१. आचार्य श्री ने मनुष्य जन्म, आर्य क्षेत्र उत्तम कुलादि अनेक मोक्ष पुरुषार्थ की सामग्री की दुर्लभता बताई है। २. अन्त में सबसे दुर्लभ समाधिमरण है ऐसा कथन करके रत्नत्रय को धारण कर मोक्षादि का प्राप्त करना ही बोधि का फल कहा है।

(१२) धर्म भावना—१. धर्म की इच्छा रखने वाले को मुक्ति एवं मुक्ति को प्रदान कराने वाले धर्म को पालन करने की प्रेरणा दी है। २. आचार्य श्री ने बारह भावना की महिमा बताकर उसे सदा चिन्तन करने की प्रेरणा दी है।

परीषद्—१. मुनिराज चारित्र्यमार्ग अथवा मोक्ष मार्ग से क्लृप्त न होने के लिये सदा परीषद् सहन करते हैं। २. आचार्य श्री ने संसार में भ्रमण करते हुए पराधीनतावश जो वेदना सहन की

उसका जितवन करके क्षुधा, तृषा, वेदना को सहन करने की प्रेरणा दी है । ३. मुनिराज ध्यान रूपी अग्नि से जीत वेदना को जीतते हैं । ४. आचार्य श्री ने अनेक प्रकार के चिन्तवन द्वारा मुनि परीषहों को जीतते हैं । ५. इसका बहुत ही सुन्दर हृदयभाही वर्णन किया है । ६. कौनसे कर्म के उदय से कौन-कौन सा परीषह होता है एवं कौन-कौन से गुणस्थान में कितने परीषह होते हैं इसका वर्णन किया । ७. आचार्य श्री ने मुनि को कर्मोदय से प्राप्त परीषहों को कर्म नाश करनेके लिये ध्यानादि द्वारा सहन करने की प्रेरणा दी है । ८. परीषहजय से लाभ एवं परीषह नहीं जीतने से हानि का बड़ा सुन्दर वर्णन किया

ऋद्धियाँ—१. सम्पूर्ण ऋद्धियाँ तपश्चरण की शुद्धता के प्रभावसे प्रकट होती है । २. तदनंतर ऋद्धियों के बुद्धि ऋद्धि आदि आठ भेद किये हैं । ३. बुद्धि ऋद्धि के १८, क्रिया ऋद्धि के २, (चारण ऋद्धि के ६ भेद) विक्रिया ऋद्धि के ११, तप ऋद्धि के ७, बल ऋद्धि के ३, रस ऋद्धि के ६, क्षेत्रऋद्धि के २ इस प्रकार आचार्य श्री ने ८ ऋद्धियोंके भेदों का स्वरूप पूर्वक वर्णन किया । ४. जो मुनि त्रियोग की शुद्धता पूर्वक बिना किसी आकांक्षा के पाप रहित श्रेष्ठ तपश्चरण करते हैं उनके स्वतः ये ऋद्धियाँ प्रकट होती है । ५. जो मुनि दीक्षा धारण करके तपश्चरण नहीं करते उनके अनेक प्रकार के रोग होते हैं । ६. आचार्य श्री ने पुनः श्रेष्ठ तपश्चरण करने की प्रेरणा दी । ७. आचार्य श्री लिखते हैं कि मूलाचार आदि अनेक शास्त्रों का सार लेकर मुनि के लिये इस सद् ग्रन्थ की रचना की है ।

यह ग्रन्थ श्रेष्ठ आचार्यों को दिखाने वाला दीपक है. अतः इस ग्रन्थ का मूलाचार प्रदीप नाम सार्थक है । इसप्रकार अन्त में भी अहंन्तादिक की वन्दना करके रत्नत्रय आदि पदकी श्रेष्ठ याचना की है । इस प्रकार पाठकगण आद्योपांत इस ग्रन्थ को पढ़कर स्वयं अनुभव करेंगे कि आचार्य की अहंन्तादिकके प्रति कितना बहुमान था कि प्रत्येक अधिकार के आदि एवं अन्त में उनके गुणों का स्मरण पूर्वक नमस्कार किया । मुनि धर्म का सांगोपांग वर्णन किया । प्रत्येक प्रकरण का हृदयगामी वर्णन करके उसकी महत्ता दर्शाकर आत्मार्षी को उसके पालन की प्रेरणा दी है । यह ग्रन्थ मुनि एवं श्रावक दोनों को ही आत्मोत्थान में सहकारी है क्योंकि मुनि एवं श्रावक दोनों एक नदी के दो किनारे हैं । एक किनारे के तट होने पर नदी अपने आप में नदी नहीं रहती है । उसी प्रकार श्रावक मुनि भी एक दूसरे के पूरक हैं । मुनि के अभाव में श्रावक को, मोक्षमार्ग को कौन बतायेगा । श्रावकों के अभाव में मुनि की साधना में निमित्तभूत आहारादिक क्रिया भी निर्बाध रूप से इस काल में हीन संहनन के कारण नहीं हो सकती । अतः पाठकों से अनुरोध है कि पुनः पुनः इस ग्रन्थराज का स्वाध्याय कर अपनी आत्म परिणति को निर्मल बनावें ।

इत्यलम् !

विशेष :—१. समयान्तर के कारण हमें इस ग्रन्थ की मूल प्रतियों की प्राप्ति नहीं होने से मूल श्लोकों का संशोधन नहीं हो सका । कई श्लोक छूटे हुए हैं, कहीं अधूरे भी हैं । इस ग्रन्थ के

प्रत्येक अधिकार के अन्त में दिये गये श्लोकों के योग के अनुसार श्लोकों का योग ३२४८ ही आता है जबकि आचार्य स्वयं इस ग्रन्थ के अन्त में एक श्लोक के द्वारा सम्पूर्ण श्लोकों का योग ३३६५ श्लोक बताते हैं । इन श्लोकों के अनुसार कुल ११७ श्लोकों का अन्तर है । इसके विषय में अनुवादक पं० लालारामजी साहब शास्त्री ने भी कुछ निर्देश नहीं दिया है । हम भी समयाभाव के कारण इसका स्पष्टीकरण नहीं कर पाये हैं इसका हमें खेद है ।

२. पाठक वृन्द इस ग्रन्थ का अध्ययन करते समय, प्रेस की भूल के कारण, श्लोक संख्या १००३ से १७५० तक के ७४७ श्लोकों में जो कम की गलती हुई है उसे सुधार कर पढ़ने का कष्ट करें ।

—५—

शुद्धि पत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	५	कृषभदेव	कृषभसेन	२७	१९	कृतावीनिरिच्छम्	कृतावीनि निरिच्छम्
५	२	और खूब वृद्धि की है	और खूब वृद्धि की है तथा मैंने भी जिसकी पूजा स्तुति और वृद्धि की है	२८	१०	ज्वालाप्रमिताम्	ज्वालोपमगिताम्
७	३	भाषारंगों की	भाषारों की	२९	९	दुःखभाक्	दुःखभाक्
८	२	पृथ्वी कायिक जीव	पृथ्वीकायिक जीव	३१	१	सबलहारा	सबलहारा
१०	८	भेद को	भेद को	३१	२५	देखने उत्पन्न	देखने से उत्पन्न
११	४	कभी	कभी	३३	२४	मोक्षरूपा	मोक्षरूपा
११	१७	अपने पर्यन्त	अपने जीवन पर्यन्त	३७	२	कोषह से संसार के	कोषह से संसार के
१३	१२	अहंभुषा	अहंत् मुद्रा			प्राणी प्रबन्ध हुए	प्राणी पाप और
१४	७	तत्समात्	तत्समात्			जाते हैं	अशुभ ध्यान को
१४	१७	दया पालन	दया पालनी				खानि ऐसे बाण
१५	१७	और	और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्धारिण				परिग्रह करी कोषह
१६	२	विना	विना				में प्रबन्ध हुए
१७	१२	ज्ञान	ज्ञानि	३८-३९	२६	त्याग महाव्रत	त्याग महाव्रत की
१७	१३	कविद्व सुःसहा	कविद् दुःसहा				पाँच भाषना कहते
२४	१८	नृणाम्	नृपात्				हैं, परिग्रह त्याग
२५	१	छूटने	छूटने				महाव्रत
२५	५	पूजा द्रव्य	पूजा के द्रव्य	३९	३	५ धार्मिकजन	पाँचवें धार्मिकजन
२५	१३	द्रव्य भी	द्रव्य भी सज्जनों	३९	७	के लिये सूर्य के समान	के लिये ब्रह्म के
२६	१	दांत, शुद्ध	दांत शुद्ध			है	समान है वाप करी
२६	२६	शुद्धाचार्यः	शुद्धाचार्यः	३९	१३	सिद्ध करते हैं	अन्धकार को दूर
							करने के लिये सूर्य
							के समान है
							सिद्ध करते हैं अथवा
							छोमों लोकों के
							स्वामी तीर्थंकर के
							पदको सिद्ध करते हैं

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
३६	१६	नामको	नाम को	६८	१३	बैठी हो,	बा नीची जगह पर बैठी हो,
४१	१३	सेवा	सेवा	६८	१५	वायक दोष उत्पन्न होता है	वायक नामका पाप उत्पन्न करनेवाला दोष उत्पन्न होता है
४२	२६	यहाँ जा	महाँ जा	६९	२१	दध्यं	द्रव्यं
४३	२१	कामे	काय	७०	११	अदिकाहारतालादि	अदिकाहारतालादि
४३	२४	एवमेवास्मिन्मिति	एवमेवास्मिन्मिति	७१	२५	निदा	निदा
४४	२७	जनपदाभिधम्	जनपदाभिरधम्	७३	३	निर्मल	निर्मल
४५	१७	मुच्य वर्णन	मुच्यवर्णन	८१	२४-२५	गुणरत्न	गुणरूपी रत्न
४६	२४	सत्या सत्य	सत्यासत्य	८३	२०	जोम	जाम
४८	१४	एतएव	एतएव	८३	२८	स्पृष्टोत्	स्पृष्टोत्
५०	१०	यथा	यथा	८३	२८	स्वस्थ	स्वस्थ
५१	२०	पुष्प	पुष्प	८५	२३	एवोदरावय	एवोदरावय
५२	६	कामो	कार्ये	८६	२६	अधकर्म	अधःकर्म
५२	२१	समस्त शीतता	समस्त शीतता	१०२	२४	परमयत्नाच्छात्रोर्ध	परमयत्नाच्छात्रोर्ध
५५	६	उद्यम	उद्यम	१०३	२१	अत्यन्त शुभ	अत्यन्त अशुभ
५५	१७	कारणम्	कारणम्			दुःखे	दुःखे
५८	२८	य यत्	य यत्			योगिभिः	योगिभिः
६०	३	गृहा	गृहात्	१०३	२७	समेतरी	सुमेतरी
६१	१५	भेद है तथा	तथा व्यक्त और अव्यक्त के भेद है यानीश्वर अर्थात् अमुक्य वा गौड़ के दो भेद हैं इसप्रकार कर्मसे	१०५	१२	जसा	जसा
६२	५	कमेते	कमेते	१०५	१६	श्लोक न० ६५२ मूलप्रति में नहीं है	६५३ मूल में नहीं है
६२	१३	आविष	आत्रीक	१०७	२२	सर्वोत्कृष्ट	सर्वोत्कृष्ट है
६४	११	लोभ	लोभ नाम का	१०६	८	स्पृष्टु	स्पृष्टु
६४	१८	वेष्णासट	वेष्णासट	१११	१७	देते हैं	देती है
६६	५	सगता है	सगता है यह दोष महापाप उत्पन्न करने वाला है ।	१११	२१	विषय	विषय
६७	१२	साधुभ्याम्	साधुभ्यो	११३	६	घोर	घोर
				११५	३	निजित खारीयां	अतोऽनिजित खारीयां

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
११३	२१	जोते हैं	जोता है
११४	२०	हो जाती है	हो जाता है
११४	२१	मही जातने	मही जीतने
११५	१८	इन्द्रियजन्य	इन्द्रियजन्य
११७	१४	दुखे	दुःखे
१२८	२३	प्रतिमा को	प्रतिमा की
१३०	१७	आत्म	उत्तम समा
१३३	१७	साधकानिर्ग	साधकाऽनिर्ग
१३६	२४	पुरुषार्थों को सिद्धि	पुरुषार्थों को सिद्ध
१३७	५	योनिभिः	योनिभिः
१३६	१	कामहेतुकभय	कामहेतुक, भय
१४०	१	कहजाती हैं	कहजाता है
१४४	२	सिद्धि भक्ति	सिद्ध भक्ति
१४४	६	सिद्ध चेत्य	सिद्धचैत्य
१४४	२१	अचल प्रतिष्ठा	अचल प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा
१४४	२६	भक्ति	भक्ति
१४६	९	सिद्धान्त के जानकार प्राचार्य के मरण	बीरदंकर के निर्वाण के
१४६	१६	भक्त्यः	भक्त्यः
१४६	१३	कल्याण के	कल्याणक के
१४१	७	प्राचार्य	प्राचार्य
१४२	८	समाप्ति की	प्राप्ति करने
१४८	२६	निगुंणोपि	निगुंणोपि
१५०	७	गुरु बः	गुरुबः
१७५	४	रखने लिये	रखने के लिये
१८७	२२	ममत्व सर्वथा	ममत्व का सर्वथा
१९१	१२	भिन्न भिन्न	भिन्न-भिन्न
१९३	२८	प्राणिहिंसावृत्तस्तथा	प्राणिहिंसानृत्तस्तथा

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
२०३	४	सर्वबोधपरिहृन्तुम्	सर्वबोधपरिहृन्तुम्
२०३	५-८	विश्वाम्भ्यान्.....योः १२६३	रुग्धारा छन्द में बोले
२१४	१७	दाता	दाता
२१५	१०	एकदिनमूहताना	एकदिनमूहतानी
२१८	४	समजा हो	समजा हो
२१६	४	महाव्रतसमित्या- वश्यादि	महाव्रतसमित्या- वश्यादि
२१६	२२	तैलोक	तैलोक
२१६	२३	ज्ञान	ज्ञान
२२२	१६	गुरु में तत्त्वों में	गुरु में, तत्त्वों में
२२३	१२	जयते	जयते
२२४	२	अनन्तत्वपदार्थेभ्यः	अनन्तत्व पदार्थेभ्यः
२२४	१०	पदप्रक्षालन	पाद प्रक्षालन
२२८	१५	ज्वाल का प्रकाश	ज्वाला का प्रकाश
२३१	८	निकोतस्य	निगोथ तस्य
२३१	१५	निगोथ	निगोथ
२३४	१४	नय जीवों	नय से जीवों
२३४	१७	सुखदुःखादिभोगिनः	सुखदुःखादिभोगिनः
२३७	२१	ध्यानादिक	ध्यानादिक
२३८	४	बध्यन्ते	बध्यन्ते
२३८	५	बध	बध
२३८	१७	कारण आत्मा	कारणों से आत्मा
२३८	२७	तत्त्ववार से जब तक	तत्त्ववार से
२३६	१०	महन्	महान्
२३९	२४	तपोबलात्	तपोबलात्
२३९	२५	बद्धते	बद्धते
२४१	८	नायका	नायिका
२४१	२५	कर्मयो महान्	कर्मयो महान्

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
२४२	६	प्रभाव	प्रमाण	३०४	२३	सर्वतो	सर्वतो
२४३	७	मनुष्यगतिप्रयोग्या- नुपूर्वी	मनुष्यगतिप्रयोग्या- नुपूर्वी,	३०६	२१	अपना आत्मा	अपनी आत्मा
२४८	२४	आचार्यते	आचर्यते	३०८	९	बुधे:	बुधे:
२५०	१२	तपश्चरण का	तपश्चरण का मद नहीं करती थे यही समझकर प्रसन्नता पूर्वक तपके मद को छोड़ देना चाहिये	३१०	५	संयोग के	संयोग के लिये
२५३	४	प्राप्तशुभम्	प्राप्तीशुभम्	३१५	२२	युवजानां	युवजानां
२५३	१८	सम्पदार्थान् महात्म्य	सम्पदार्थान् के महात्म्य	३१५	१८	आधीन	आधीन
२५७	१२	जान जाय	जाना जाय	३१६	६	नीम	नीम काजी
२६२	१६	शास्त्रों	शास्त्रों का	३१८	१६	अन्तर्मुहूर्तकः	अन्तर्मुहूर्तकः
२६८	२१	मोहादिक	मोहादिक	३१८	७	सर्वद्वन्द्वातिर्ग	सर्वद्वन्द्वातिर्ग
२७०	८	गति	गुप्ति	३१९	२०	वितर्कध्यायीचारेण	वितर्कध्यायीचारेण
२७०	११	सर्वथा	सर्वदा	३२०	६	संयोगी	संयोगी
२७१	७-८	इस संसार में एक मनोगति का परम पालन करना चाहिये	इस संसार में एक मनोगति का ही पालन करना चाहिये	३२५	८	पुरुषों	पुरुषों
२७६	१८	निमज	निर्मल	३२५	१६	रसाहारोषधाव	रसाहारोषधाव
२७८	१९	इहोजितः	इहोजितः	३२६	१	प्राणिसंयम	प्राणी संयम
२८१	२३	अममोदयं	अममोदयं	३२६	२६	सम्मुखन	सम्मुखन
२८२	२६	या	या	३२७	६	अचलात्मनाम्	अचलात्मनाम्
२८३	४	यत्ततः	यत्ततः	३३०	२२	सन्निमन्त्रण	सन्निमन्त्रण
२८६	९	दश रसकम्	दशरसकम्	३३१	८	उवसम्पद्	उवसम्पद्
२८७	१३	प्राकृतिक	प्राकृतिक	३३३	६	वध	वध
२९३	२८	प्रतिबन्धना सहासिलम्	प्रतिबन्धना सहासिलम्	३३४	९	काय सिद्धये	काय सिद्धये
३०४	५	लोक	लोक	३३६	७	गुणमत्पद प्रसादेन	गुणमत्पद प्रसादेन
				३४१	८	की । बुद्धि	की बुद्धि
				३४२	१८	सचित्ताचित्तमिश्रं	सचित्ताचित्तमिश्रं
				३४४	५	आदि	आदि
				३४६	२३	अवकाश	आवास
				३४८	२१	गृहीतुं	गृहीतुं
				३५६	८	जगच्छुद्धिदायिनः	जगच्छुद्धिदायिनः
				३६१	२४	असतिका शुद्ध	असतिका शुद्धि
				३६२	२०	या पटुंच जाते हैं	या न पटुंचजाते हैं

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
३६२	२८	सर्वहितोपकरण	सर्वहितोपकरण	३९८	२४	निबिकल्पक	निबिकल्प
३६३	११	उद्योग	उद्यम	३९९	६	माक्षमार्ग	मोक्षमार्ग
३६३	२२	निर्ममत्वाय	निर्ममत्वाय	३९९	२४	संगोत्थ	संगोत्थ
३६४	१६	वेला	वेला	४००	१४	चतुरंगुल	चतुरंगुल
३६४	२६	साशुहृस्थो	सदशुहृस्थो	४०२	८	वासी	बालो घोर स्त्री
३६५	४	तथाज्ञात	तथाज्ञात	४०२	१७	करता	करता है
३६६	१६	जा आहार	जी आहार	४०५	१३	इयाँ	ईयाँ
३६७	२३	प्रसिद्ध	प्रसिद्धि	४०८	२०	बनना	बनाना
३६८	१	है अनृत के	है अमृत के	४०९	३	अवश्य	की अवश्य
३६८	६	अर्थों को	अर्थों का	४०९	२३	बालो	बालो
३६८	१३	प्रसिद्ध	प्रसिद्धि	४११	६	संसार	संभारी
३६९	१२	ऐसे ही ऐसे	ऐसे	४१४	२	बंध	बन्धम्
३६९	१५	पाप हानये	पाप हानये	४१६	४	हंसी	हंसी
३७०	२	सेवन नहीं	सेवन ही	४१६	१५	हंसी	हंसी
३७०	८	शुक श्रोणित	शुक श्रोणित	४१७	२६	बाँधि	बाँधि
३७१	८	पापबीजे	पाप बीज	४१९	५	त्रिसंस्थावरा	त्रिसंस्थावरा
३७१	१३	छुड़िरुज्जम्बाह्या	छुड़िरुज्जम्बाह्या	४२०	३	जानाराधना	जानाराधना की
३७१	१६	बयले सारं	अमृतसारं	४२१	१७	शेपामेंगादयो भावा	शेपामेंगादयोभावा
३७७	७	लिये की	लिये	४२२	२	मुलने	मुलेन
३७९	५	जिनज्ञा	जिनाज्ञा	४२३	२	भासादनाओं का	भासादनाओं की
३७९	७	पचाक्ष	पंचाक्ष	४२३	१०	मुनि का	मुनि को
३७९	२८	भात्र	भात्र	४२८	१०	मूलकरण	मूलकरण
३८३	२६	जानकार	जानकर	४३०	३	जाने	जाने देना
३८४	२६	सकती है	सकता है	४३४	१	प्रमाद से	प्रासाद से
३८७	१२	बहु	बहु	४३७	१६	पृच्छातू	पृच्छातू
३८७	१३	रखेगा	रखेगा	४३८	२५	सेवन के	सेवन के
३८३	४	धूप	धूप	४३९	२४	प्रतिक्रमण मेवैकं	प्रतिक्रमण मेवैकं
३९८	७	परिवर्तनम्	परिवर्तनम्	४४०	७	इकईस	इकईस

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
४४०	१३	प्रकुर्वते	प्रकुर्वते	४७२	४	मोह	मोह के कारण
४४३	२६	मुक्तिपरी	मुक्तिपूरी	४७६	३	वाले की	वाले की
४४४	१८	क्षमा	क्षमा	४७७	११	दु	दुर्लभ
४४४	१८	रत्नखानी	रत्नखानी	४८१	२३	ध्यातृचक्षेत्र	ध्यातृचक्षेत्र
४४७	४	अकल	आकाल	४८४	१३	वध बंधन	वध बंधन
४४८	२७	क्षमम्	क्षमम्	४८४	१३	वध परिपह	वध परिपह
४४९	६	परीरक्षागस्तैजसेन	परीरक्षागस्तैजसेन	४८९	१७	यध	यध
४५०	१०	शुभकरा	शुभकरा	४९०	६	हंसी	हंसी
४५२	७	धर्म लक्षणम्	धर्म लक्षणम्	४९१	५	संमिक्ष	संमिक्ष
४५२	१४	मृजुचितो	मृजुचितो	४९२	८	विक्रियद्वि	विक्रियद्वि
४५६	२५	अतिचार	अतिचार का	४९२	१०	अन्तर्धान	अन्तर्धान
४६१	२५	हृष्यद्वया	हृष्यद्वया	४९४	१३	प्राप्त करें	प्रदान करें
४६२	९	क्षमादि लक्षण	क्षमादि लक्षणी	४९५	१८	रत्नों का	रत्नों की
४६५	६	संकल	संकल	४९८	२२	तीर्थनाथा	तीर्थनाथा
४६६	१४	जीवात्पंचेन्द्रिया	जीवात्पंचेन्द्रिया				



विषयानुक्रमिका



प्रथम अधिकार

विषय	पृष्ठ संख्या	पृष्ठ
मङ्गलाचरण	१-३६	१-६
प्रतिज्ञा	३७-४५	६-७
भूलगुण का वर्णन	४६-४९	७
महाव्रत का लक्षण	५०-५१	८
अहिंसा महाव्रत	५२-१२१	८-१८
सत्य महाव्रत	१२२-१६०	१८-२४
अचोय महाव्रत	१६१-१७६	२४-२६
ब्रह्मचर्य महाव्रत	१७७-२२६	२६-३४
आकिञ्चन्य महाव्रत	२२७-२४२	३४-३६
प्रथम अध्याय का उपसंहार	२६३-२६४	३६-४०

दूसरा अधिकार

मङ्गलाचरण	२६५	४१
समिति का लक्षण और भेद	२६६-२६८	४१
दीर्घा समिति	२६९-२८४	४१-४४
मध्या समिति	२८५-३४८	४४-५३
ऐषणा समिति	३४९-३५०	५३
ऐषणा के आठ प्रकार के दोष	३५१-३५८	५३-५४
४६ दोषों का वर्णन	३५९-४६४	५४-७२
भोजन स्थापन व ग्रहण करने के हेतु	४६७-४८६	७२-७६
भुति के ग्रहण योग्य भोजन	४८७-४८८	७६
१४ भोजनों का वर्णन	४८९	७६
आहारधर्म सम्बन्धित विशेष वर्णन	४९०-५७३	७६-९०

विषय	श्लोक संख्या	पृष्ठ
आदान निक्षेपण समिति	५७४-५८५	६०-६४
प्रतिष्ठापन समिति	५८६-५८७	६४-६५
समितियों की महिमा	५८८-६०१	६५-६६

तीसरा अधिकार

मङ्गलाचरण	६०२	६७
प्रतिष्ठा	६०३	६७
धृष्ट इन्द्रिय का निरोध	६०४-६२२	९७-१००
श्रोत्र इन्द्रिय का निरोध	६२३-६३६	१००-१०३
घ्राणेन्द्रिय का निरोध	६३७-६४५	१०३-१०४
जिह्वा इन्द्रिय का निरोध	६४६-६६१	१०४-१०७
स्पर्श इन्द्रिय का निरोध	६६२-६७५	१०७-१०८
पांशु इन्द्रियों का स्वरूप	६७५-७१३	१०९-११६
आवश्यकों का स्वरूप और भेद	७१४-७१५	११७
सामायिक आवश्यक	७१६-७७८	११७-१२७
स्तवन आवश्यक	७७९-८३१	१२७-१३५
वन्दना आवश्यक	८३२-८४५	१३६-१३७
वन्दनातर्गत कृतिकर्म, चित्तिकर्म		
पूजाकर्म, विनयकर्म, लोकानुवृत्ति	८४६-८५१	१३७-१३८
विनय के भेद	८५२-८५७	१३८-१३९
मोक्ष विनय के भेद	८५८-८७१	१३९-१४२
कृतिकर्म	८७२-८८३	१४२-१४४
पारमार्थ्य आदि त्याग्य भूतियों का		
स्वरूप	८८४-९८०	१४५-१४९
भूतियों की वन्दना कब करना चाहिये	९८१-९८५	१४९-१५१
वन्दना के बत्तीस दोष	९८६-१०३७	१५१-१६७
उपसंहार	१०३८	१६८

चौथा अधिकार

मङ्गलाचरण	१०३८	१६८
प्रतिष्ठापण	१०४०-१०८५	१६८-१७७
प्रत्याख्यान	१०९६-१११५	१७७-१८०
प्रत्याख्यात के १० भेद	१११६-११४६	१८०-१८५

विषय	श्लोक संख्या	पृष्ठ
कामोत्सर्ग और उसके भेद	११५०-११११	१५५-१६५
कामोत्सर्ग के ३२ दोषों के नाम	१२१२-१२४६	१६५-२००
आवश्यक की महिमा	१२४७-१२६३	२००-२०३
१३ क्रियाओं में सारभूत क्रिया	१२६४-१२७०	२०३-२०४
केसलाँच का स्वरूप	१२७१-१२८०	२०४-२०६
अचेलकटव का स्वरूप	१२८१-१२८८	२०६-२०७
उपसंहार	१२८९-१३००	२०७-२०८
महान मूलगुण	१३०१-१३१३	२०८-२११
भूमिशयन मूलगुण	१३१४-१३२४	२११-२१३
अदन्त जीवन मूलगुण	१३२५-१३५१	२१३-२१४
स्थिति भोजन मूलगुण	१३३२-१३४४	२१४-२१६
एक मत्त मूलगुण	१३४५-१३५०	२१६-२१७
मूलगुण की महिमा	१३५१-१३७०	२१७-२२०

पाँचवां अधिकार

मञ्जलाचरण	१३७१-१३७५	२२१
प्रतिज्ञा	१३७६-१३७७	२२१
पञ्चाचार के भेद	१३७८-१३७९	२२२
दर्शनाचार	१३८०	२२२
सम्यग्दर्शन के भेद	१३८१-१३९२	२२२-२२४
सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का स्वरूप	१३९३-१३९९	२२४-२२५
सत्त्वों का स्वरूप	१४००-१४२६	२२५-२४३
सम्यग्दर्शन के अंगों का वर्णन	१४३०-१४६५	२४३-२४८
सम्यग्दर्शन के मलों का स्वरूप	१४६६-१४८८	२४८-२४९
निर्मल सम्यग्दर्शन की महिमा	१४८९-१४९२	२४९-२५६

छठा अधिकार

मञ्जलाचरण और प्रतिज्ञा	१४९३-१४९४	२५७
ज्ञानाचार का स्वरूप उसके भेद	१४९५-१४९६	२५७-२५८
ज्ञानाचार की महिमा	१४९७-१४९८	२५८-२५९
चारित्र्याचार का स्वरूप	१४९९	२५९
चारित्र्याचार के भेद	१५००	२५९
रात्रिवर्मा का निषेध	१५०१-१५०४	२५९-२६७

विषय	श्लोक संख्या	पृष्ठ
समिति के भेद	१७०५-१७०६	२६७
गुप्ति के भेद, मनोगुप्ति का स्वरूप	१७०७-१७२६	२६७-२७०
मनोगुप्ति की महिमा व फल	१७२७-१७३२	२७०-२७१
वचनगुप्ति का स्वरूप	१७३३-१७४३	२७१-२७२
मौन की महिमा	१७४४-१७४६	२७२-२७३
वचनगुप्ति की महिमा	१७४७	२७३
कायगुप्ति का स्वरूप	१७४९-१७५७	२७३-२७५
त्रिगुप्ति की महिमा	१७५८-१७६१	२७५
षष्ठ प्रवचनमातृका का स्वरूप	१७६२-१७६७	२७५-२७६
चारित्र्य की महिमा	१७६८-१७८१	२७६-२७८
तपाचारका स्वरूप व उसके भेद	१७८२-१७८७	२७८-२७९
अतपन तपका स्वरूप व उसके भेद	१७८८-१७९७	२७९-२८०
अतपन तप की महिमा	१७९८-१८०४	२८०-२८१
अशमोदय तप का स्वरूप	१८०५-१८०६	२८१-२८२
अशमोदय तप की महिमा	१८०७-१८०८	२८२
वृत्तिपरिसंख्यान तप का स्वरूप	१८०९-१८१०	२८२
रस परित्याग का स्वरूप	१८११-१८१६	२८२-२८३
रस परित्याग का फल	१८१७-१८१८	२८३
विविक्त शय्यासन तप का स्वरूप	१८१९-१८२०	२८३-२८४
विविक्त शय्यासन तप का फल	१८२१-१८२२	२८४
काय क्लेश तप का स्वरूप	१८२३-१८२४	२८४
काय क्लेश तप का फल	१८२५-१८२६	२८४
बाह्य तप का स्वरूप	१८२७-१८३०	२८४
आभ्यन्तर तप का स्वरूप	१८३१-१८३२	२८४
आभ्यन्तर तप के भेद	१८३३-१८३४	२८४-२८५
आध्यात्मिक तपका स्वरूप व उसके भेद	१८३५-१८३७	२८५
आलोचना का स्वरूप	१८३८-१८३९	२८५
आलोचना के १० दोष	१८४०-१८६१	२८५-२८६
आध्यात्मिक लेख में प्रमादका निषेध	१८६२-१८६६	२८६-२८९
प्रतिक्रमणाविका स्वरूप	१८७०-१८९०	२८९-२९७
विनय और उसके भेदों का स्वरूप	१८९१-१८९७	२९७-२९८

विषय	श्लोक संख्या	पृष्ठ
वैद्यावृत्य तपका स्वरूप व उसके भेद	१६६८-१९८४	३०४-३०६
स्वाध्याय तप और उसके भेद	१९८५-१९९२	३०६-३०८
स्वाध्याय तप का फल	१९९३-१९९७	३०८
कायोत्सर्ग का स्वरूप	१९९८-१९९९	३०८
ध्यान का स्वरूप व उसका फल	२०००-२०६२	३०९-३२१
ध्यान की महिमा	२०९३-२०९६	३२१-३२२
तप की महिमा	२०९६-२१२१	३२२-३२५
धीर्याचार का स्वरूप	२१२२-२१२४	३२५
संयम के भेद	२१२५-२१४४	३२५-३२८
पंचाचार की महिमा व फल	२१४५-२१४८	३२८-३२९

सातवां अधिकार

भङ्गसाधरण	२१४९	३३०
समाचार नीति और उसके भेद	२१५२	३३०
श्रीविक समाचार के भेद	२१५४-२१६३	३३०-३३६
पद विभागी समाचार के लक्षण	२१९४-२१९७	३३६
एकल बिहारी का निषेध	२१९८-२२४१	३३६-३४१
भासतुक्त मुनि की पराण में कौसी प्रवृत्ति करें ।	२२४२-२२६९	३४१-३४०
श्रमिका समाचार नीति	२२६०-२३१४	३४०-३४४
समाचार की महिमा	२३१५-२३१७	३४५

आठवां अधिकार

भङ्गसाधरण	२३१८-२३२०	३४६
प्रतिज्ञा	२३२१-२३२३	३४६
मुनियों की भावना का फल	२३२३-२३२४	३४७
यस प्रकार की बुद्धि के नाम	२३२५-२३२६	३४७
लिय बुद्धि का स्वरूप	२३२७-२३३७	३४७-३४८
प्रत बुद्धि का स्वरूप	२३३८-२३४५	३४८-३४९
वसतिका बुद्धि का स्वरूप	२३४६-२३४७	३४९-३४९
उत्तम बिहार बुद्धि का स्वरूप	२३४८-२३४९	३४९-३४९
मिक्षा बुद्धि का स्वरूप	२३५०-२३५१	३४९-३५०
ज्ञान बुद्धि का स्वरूप	२३५२-२३५३	३५०-३५०

विषय	श्लोक संख्या	पृष्ठ
उत्तम बुद्धि का स्वरूप	२४११-२४२८	३६८-३७१
माध्य बुद्धि का स्वरूप	२४२९-२४४४	३७१-३७३
तम बुद्धि का स्वरूप	२४४५-२४६२	३७३-३७६
ध्यान बुद्धि का स्वरूप	२४६३-२४८१	३७६-३७८
दशों श्रुतियों की महिमा	२४८२-२४९०	३८०-३८१

नवी अधिकार

मङ्गलाचरण	२४९१	३८२
प्रतिज्ञा	२४९२-२४९३	३८२
समयसार की भावना	२४९४-२५१८	३८२-३८६
जिन लिय के चित्त निर्देश	२५१९-२५२०	३८६-३८६
मयूर पिच्छी के ५ गुण	२५२१-२५२२	३८६-३८७
प्रतिलेखन के गुण	२५२३-२५२४	३८७-३८८
हिंसा का निषेध	२५२५-२५३८	३८८-३८९
अध.जन्य आहार का निषेध	२५३९-२५४९	३८९-३९१
मुनियों का विशेष आचरण	२५५०-२५५७	३९१-३९७
स्वाध्याय	२५५८-२५६०	३९७
निद्रा के दोष	२५६१-२५६२	३९७
ध्यान	२५६३-२५७०	३९८-३९९
समाधिमरण में स्वर्गण का निषेध	२५७१-२५७६	३९९-४००
इन्द्रिय के बंध का निषेध	२५७७-२५८७	४००-४०१
ब्रह्मचर्य धार के १० कारण	२५८८-२५९१	४०२
अभय का स्वरूप	२५९२-२५९४	४०२-४०६

वसवी अधिकार

मङ्गलाचरण	२६४३	४०७
समाधिमरण की विधि	२६४४-२६५४	४०७-४१०
मरण के भेद और उसका स्वरूप	२६५५-२६६४	४१०-४१०
अध्याय सहेलभा की विधि	२६६५-२६७०	४१०-४११
अपक का चिन्तन	२६७१-२६७४	४११-४१३
अपक शरीर को कैसे कृपा करें	२६७५-२६८६	४१३-४१४
पण्डितमरण का फल	२६८७-२६८८	४१४
आराधना की महिमा	२६८९	४१४-४१५

विषय	श्लोक संख्या	पृष्ठ
बारहवीं अधिकार		
मंगलाचरण	२८३०	४३६
शील का स्वरूप और उसके भेद	२८३१-२८५१	४३६-४३८
उत्तर गुणों का स्वरूप और		
उसके भेद	२८५२-२८७५	४३९-४४२
शील और गुणों की महिमा	२८७६-२८८५	४४२-४४३
धर्म का स्वरूप और उसके भेद	२८८६-२८८८	४४३-४४४
उत्तम क्षमा का स्वरूप	२८८९-२९१६	४४४-४४८
क्षमा की महिमा	२९२०	४४८
क्रोध से हानि	२९२१-२९२५	४४९
क्षमा धारण करने की प्रेरणा	२९२६-२९३३	४४९-४५१
मार्धव्य धर्म का स्वरूप	२९३४-२९४३	४५१-४५२
भार्जव धर्म का स्वरूप	२९४४-२९५०	४५२-४५३
सत्य धर्म का लक्षण और		
धारण करने का फल	२९५१-२९५६	४५३-४५४
शौच धर्म का लक्षण	२९५७-२९६३	४५५
सयम धर्म का लक्षण	२९६४-२९६५	४५५
सयम धर्म के भेद	२९६६-२९८८	४५५-४५८
तप का स्वरूप और उसके भेद	२९८९-२९९०	४५८-४५९
त्याग धर्म का स्वरूप और		
उसके भेद	२९९१-२९९४	४५९
आकिंचन धर्म	२९९६-३००५	४५९-४६१
अस्कण्ड ब्रह्मचर्य का लक्षण	३००६-३००६	४६१-४६२
धर्म की महिमा	३०१०-३०१७	४६२-४६३

बारहवीं अधिकार

मङ्गलाचरण	३०१८	४६४
अनुप्रेक्षा का स्वरूप और		
उसके भेद	३०१९-३०२१	४६४
अनित्य अनुप्रेक्षा का स्वरूप	३०२२-३०२६	४६४-४६५
अशरणा अनुप्रेक्षा का स्वरूप	३०३०-३०३७	४६५-४६६
संसार अनुप्रेक्षा का स्वरूप	३०३७-३०४९	४६६-४६८

विषय	श्लोक संख्या	पृष्ठ
एकत्व भावना का स्वरूप	३०५०-३०५७	४६८-४६९
अन्यत्व भावना का स्वरूप	३०५८-३०६३	४६९-४७०
अशुचि भावना का स्वरूप	३०६३-३०७२	४७०-४७१
आत्मत्व भावना का स्वरूप	३०७३-३०८५	४७१-४७३
संवर अनुप्रेक्षा का स्वरूप	३०८६-३०९३	४७३-४७४
निर्जरा अनुप्रेक्षा का स्वरूप	३०९४-३१०१	४७४-४७५
लोक अनुप्रेक्षा का स्वरूप	३१०२-३१०७	४७५-४७६
बोधिदुर्लभ भावना	३१०८-३११७	४७७-४७८
अनुप्रेक्षा की महिमा	३०१८-३०२३	४७८-४७९
परीषद्दों का स्वरूप और उसके भेद	३०२३-३०२६	४७९
कैसे चिन्तन से मुक्तिराज		
परीषद्दों को जीतते हैं	३०२७-३१७६	४७९-४८७
किस कर्म से कौनसी		
परीषद् होती है	३१७८-३१८२	४८७
परीषद्दों का विशेष कथन	३१८५-३२०२	४८८-४९०
ऋद्धियों का स्वरूप और उनके भेद	३२०३-३२२७	४९०-४९३
ऋद्धियों की महिमा	३२२८-३२३२	४९३-४९४
ग्रन्थ की प्रामाणिकता	३२३३-३२३५	४९४-४९५
ग्रन्थ के पठन-पाठन का फल	३२३६-३२३८	४९५
ग्रन्थ के लिखने लिखवाने का फल	३२३९	४९६
तीर्थंकरादिक देव की स्तुति	३२४०-३२४७	४९६-४९८
शास्त्र के श्लोक संख्या का प्रमाण	३२४८	४९९



卐 श्री वोतरामाय नमः 卐

श्री ब्रह्मार्जसूत्र, सकलकीर्ति विरचित

-: मूलाचार प्रदीप :-

(भाषा टीका सहित)



मंगलाचरण संस्कृत आचार्यकृत—

श्रीमंतं मुक्तिभर्तारं, वृषभं वृषनायकं । धर्म-तीर्थकरं ज्येष्ठं, वंदेऽनंतगुणार्णवम् ॥१॥

भाषा टीकाकार कृत मंगलाचरण—

परमेष्ठी पांशों नभूँ, जिनवाणी उर लाय । मूलाचार-प्रदीप की, टीका लिखूँ बताय ॥

अर्थ—जो भगवान् श्री वृषभदेव स्वामी अंतरंग, बहिरंग लक्ष्मी से सुशोभित हैं, जो मुक्तिरूपी स्त्री के स्वामी हैं, धर्म के नायक हैं, धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति करने वाले हैं, इस युगके तीर्थकरों में प्रथम तीर्थकर हैं और अनंतगुणों के समुद्र हैं, ऐसे भगवान् वृषभदेव की वंदना करता हूँ ।

आचारांग वभाषे यो, यत्नाचार निरूपकम् । आवौ चतुर्थकालस्यात्राद्य, मोक्षाप्तये सताम् ॥

तमादितीर्थकर्तारं यथाचार्यपरायणम् । आचार शुद्धये स्तौमि, धर्मतीर्थप्रवर्त्तकम् ॥३॥

अर्थ—सज्जन पुरुषों को इस भरतक्षेत्रमें आज भी मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस चतुर्थ कालके प्रारंभ में ही जिन्होंने मुनियों के आचरणों को निरूपण किया था तथा जो मुनियों के आचरण पालन करने में स्वयं तत्पर हुए थे और जिन्होंने इस युग में धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति की है, ऐसे प्रथम तीर्थकर भगवान् वृषभदेव को मैं आचार्य (सकलकीर्ति) अपने आचरण शुद्ध करने के लिये स्तुति करता हूँ ॥२-३॥

येन प्रकाशितं लोकेऽस्मिन्नाचारांगमूर्जितम् । हीयमानमपि स्थास्यति, यावदंतिसं दिनम् ॥४॥

कालस्य पंचमस्यावौ, तं नौम्याचारपारगम् । श्री बद्धमाननामानं, मिथ्याज्ञानतमोपहम् ॥५॥

अर्थ—जो भगवान् वर्धमान स्वामी मिथ्याज्ञान रूपी अंधकार को दूर करने के लिये सूर्यके समान हैं और जिन्होंने इस संसारमें अत्यंत देदीप्यमान आचारांग को प्रकाशित किया है तथा उन वर्धमान स्वामी का कहा हुआ जो आचारांग इस पंचम कालमें बिनो दिन घटता हुआ भी इस पंचमकाल के अंत तक बराबर बना रहेगा ऐसे आचारांग को निरूपण करने वाले और आचार पालन करने में पारंगत भगवान् वर्धमान स्वामी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥४-५॥

शेषा ये तीर्थकर्तार, आचारांगप्रवर्त्तिनः । आचारभूषिता वंद्यास्त्रि जगत् स्वाभिभिः स्तुताः ॥६॥
अजिताद्या जिनाधीशाः, विश्वभण्डहितोद्यताः । संतु ते मे स्वभूत्याप्त्यै, वंदिता संस्तुता मया ॥७॥

अर्थ—भगवान् अजितनाथ से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ तक मध्यके तीर्थकर भी आचारांग की प्रवृत्ति करने वाले हैं, आचार से विभूषित हैं, तीनों लोकों के स्वामी जिनकी वंदना करते हैं; स्तुति करते हैं तथा जो समस्त भव्यजीवों के हित करने में उद्यत रहते हैं और मैंने भी जिनकी वंदना और स्तुति की है, ऐसे वे तीर्थकर परमदेव अपनी अनंत चतुष्टयरूपी विभूति मुझे भी प्रदान करें ॥६-७॥

विदेहे पूर्व संज्ञे यः, प्रवर्त्तयति मुक्तये । अद्यापि भव्यजीवानां, आचारांगं सुवृत्तवम् ॥८॥
तस्मै तीर्थकृते श्री सीमंथर स्वामिने नमः । तद्गुणाय जिनेन्द्राय, ह्यनन्तगुणसिधवे ॥९॥

अर्थ—जो भगवान् सीमंथर स्वामी पूर्व विदेह क्षेत्रमें भव्य जीवों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये आज भी निर्मल चरित्र को बतलाने वाले आचारांग की प्रवृत्ति कर रहे हैं, जो अनंत गुणों के समुद्र हैं और जिनेन्द्र हैं ऐसे भगवान् सीमंथर स्वामीको उनके गुण प्राप्त करने के लिये मैं नमस्कार करता हूँ ॥८-९॥

येऽत्राधिक सङ्क्षेपद्वये सञ्ज्ञि जिनाधिपाः । आचारवर्त्तिनः पुंसां, दिव्येन ध्वनिना भुवि ॥१०॥
आचारभूषणा अन्तातीताः कालत्रयोद्भवाः । वंद्याः स्तुत्याः सुरेन्द्रार्थस्ते ये सन्त्वस्य सिद्धये ॥

अर्थ—इस ढाई ढोपमें भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालोंमें होनेवाले जिन तीर्थकर वा सामान्य केवलियों ने अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा इस संसार में भव्य जीवों के लिये आचारांग की प्रवृत्ति की है, जो आचार से विभूषित हैं और इन्द्रादिकदेव भी जिनकी वंदना और स्तुति सदा किया करते हैं, ऐसे अनंत तीर्थकर वा सामान्य केवली भगवान् मेरे इस कार्यकी सिद्धि करें ॥१०-११॥

आचारांगोक्तभाग्यसाराध्य रत्नत्रयं द्विधा । तपसाहृत्य कर्माणि, येऽगुनिर्वाणसद्भूतम् ॥१२॥

आचारफलमाप्तस्तान्, सिद्धान् लोकायवासिनः । दिव्याष्टगुणशर्माब्धीन्, वंदेऽनंतान् शिष्यान्तये ॥

अर्थ—जिन्होंने आचारांगमें कही हुई विधिके व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकारके रत्नत्रय का आराधन कर, तपश्चरणाके द्वारा समस्त कमोंका नाश किया है और इसप्रकार अद्भुत मोक्षपद प्राप्त किया है तथा जो इसप्रकार आचार पालन करने के फलको प्राप्त हुये हैं, जो लोक शिखरपर विराजमान हैं और दिव्य आठ गुण रूपी कल्याणके समुद्र हैं ऐसे अनंत सिद्धों को मैं मोक्ष प्राप्त कराने के लिये वंदना करता हूँ ॥१२-१३॥

आचरन्ति स्वयं साक्षात् पंचाचारं मुखाकरम् । आचारशास्त्रयुक्त्या ये, शिष्याणां चारयन्ति च ॥
स्वर्गमुक्त्यादिसौख्याय, सूरयो विश्ववन्दिताः । तेषां पादाम्बुजान् नीमि, पंचाचारविशुद्धये ॥१४॥

अर्थ—जो आचार्य, सुखकी खान हैं, ऐसे पाँचों आचारों को स्वयं साक्षात् पालन करते हैं, जो आचार शास्त्रों से सदा सुशोभित रहते हैं, जो शिष्यों को स्वर्ग-मोक्षके सुख प्राप्त कराने के लिये, उन्हीं पंचाचारों को उन शिष्योंसे सदा पालन कराते हैं और समस्त संसार जिन्हें वंदना करता है ऐसे आचार्य परमेष्ठी के चरण कमलों को मैं अपने पंचाचारकी विशुद्धिके लिये सदा नमस्कार करता हूँ ॥१४-१५॥

आचारप्रमुखांगानि, निष्प्रमादाः पठन्ति ये । पाठयन्ति विनेयानां, ज्ञानायाज्ञान हानये ॥१६॥
पाठकास्त्रिजगद्बन्धाः महामति विशारदाः । विश्वदीपाश्च ये तेषां, क्रमाब्जानंगहेतवे ॥१७॥

अर्थ—जो उपाध्याय अपनी ज्ञान बढ़ाने के लिये या अज्ञान को दूर करनेके लिये प्रमाद रहित होकर आचारांग आदि अंगों को सदा पढ़ते रहते हैं और शिष्यों को पढ़ाते रहते हैं तथा जो तीनों लोकों के द्वारा वंदनीय हैं, महाबुद्धि को धारण करनेसे जो अत्यंत चतुर हैं, और जो संसारके समस्त पदार्थों का स्वरूप दिखलाने के लिये दीपक के समान हैं, ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी के चरण कमलों का मैं उन समस्त अंगों की प्राप्ति के लिये आश्रय लेता हूँ ॥१६-१७॥

ज्ञानाचाराविसर्वांगास्, त्रिकालयोगधारिणः । उग्रदीप्तमहाघोर, तपोलंकृतविग्रहाः ॥१८॥
साधवो ये त्रिलोकाधर्या, निष्प्रमादाः जितेन्द्रियाः । गुहाप्रद्याविकृतावासास्तेभ्यः सुतपसे नमः ॥

अर्थ—जो साधु आचार आदि समस्त अंगों को जानते हैं, जो तीनों काल योग धारण करते हैं, जिनका शरीर उग्रतप, दीप्ततप, महातप और घोरतप आदि तपों से अलंकृत है, जो तीनों लोकोंके द्वारा पूज्य हैं, प्रमादरहित हैं, जितेन्द्रिय हैं और जो

गुफा वा पर्वतों में निवास करते हैं, उन साधु परमेष्ठियों के लिये मैं तपश्चरण की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूँ ॥१८-१९॥

प्रारंभे तुर्यकालस्य, रचितं येन धीमता । आचारांगं शिवाप्त्यर्थं च, वृषभसेन गरुडशिना ॥२०॥

गुरोस्तदर्थमावाय तं सप्तद्वि विभूषितम् । चतुर्ज्ञानधरं स्तौमि, कवीन्द्रं तद्गुणाप्तये ॥२१॥

अर्थ—जिन श्री ऋषभदेव महाचतुर गणधरने चौथे कालके प्रारम्भ में मोक्ष प्राप्त करने, कराने के लिए अपने गुरु भगवान् वृषभदेव से उस अंग का अर्थ लेकर आचारांग की रचना की है, तथा जो सप्त ऋद्धियों से विभूषित हैं और चारों ज्ञानों को धारण करने वाले हैं ऐसे कवियों के इन्द्र भगवान् वृषभसेन गणधर की मैं उनके गुणों की प्राप्ति के लिए स्तुति करता हूँ ॥२०-२१॥

पदरूपेण येनाचारांगं रचितं परम् । आचारवृत्तयेनाचारनिषेधाश्च योगिनाम् ॥२२॥

तस्यांशं वर्ततेऽद्यापि, स्थास्यत्यग्रे न संशयः । स्तुवेऽहं तं गणाधीशं, गौतमं गुणवारिधिम् ॥२३॥

अर्थ—जिन भगवान् गौतम गणधर ने मुनियों के आचार की प्रवृत्ति करने के लिये तथा अनाचार का निषेध करने के लिये पद रूपसे आचारांग की उत्कृष्ट रचना की है तथा उसी आचारांग का अंश आज भी विद्यमान है और आगे भी अवश्य निःसंदेह बना रहेगा ऐसे गुणोंके समुद्र भगवान् गौतम गणधर की मैं स्तुति करता हूँ ॥२२-२३॥

शेषा गणधराः, आचारांगादि रचने क्षमाः । चतुर्ज्ञानाखिलार्थज्ञा, ये महाचारमूषिताः ॥२४॥

मोक्षमार्गं प्रणेतारो, महान्तो मुक्तिगामिनः । तान् सर्वान् शिरसा वन्दे, तत्समस्तगुणाप्तये ॥

अर्थ—बाकी के जितने गणधर हैं जो कि आचारांगादिक की रचना करनेमें समर्थ हैं; जो अपने चारों ज्ञानोंसे समस्त पदार्थों के जानकार हैं, जो महा आचारों से विभूषित हैं । मोक्षमार्ग को निरूपण करने वाले हैं, जो महापुरुष हैं और मोक्षगामो हैं, ऐसे समस्त गणधरों को मैं उनके समस्त गुण प्राप्त करने के लिये मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ ॥२४-२५॥

यत्प्रसादेन मेऽब्रामूत, रागवृद्धा महामतिः । समर्थनिकशास्त्राणां, रचने शुभवाञ्छया ॥२६॥

सा जिनेन्द्रमुखोत्पन्ना, भारती पूजिता स्तुता । वर्द्धिता श्री गरुडाक्षं, मया चास्तु चिदे मम ॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव के मुखसे उत्पन्न हुई जिस सरस्वती के प्रसाद से मेरी यह महाबुद्धि रागरहित होकर अनेक शास्त्रों की रचना करनेमें समर्थ हुई है तथा

जो शुभ देनेवाली है, पाप रहित है, गणधरदेवी ने जिसकी पूजा की है, स्तुति की है और खूब वृद्धि की है, ऐसी सरस्वती देवी मेरे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति करो ॥२६-२७॥

अंग पूर्व प्रकीर्णविनामाचाराद्यर्थसूचकान् । त्रिजगद्दीपकान् सर्वान् तदर्थार्थ्यं भजेन्वहम् ॥२८॥

अर्थ—इसप्रकार अंग, पूर्व और प्रकीर्ण आदि में कहे हुये आचार आदि के अर्थ को सूचित करनेवाले और तीनों जगत् के पदार्थों को प्रकाशित करनेवाले जितने भी महापुरुष हैं उन सबकी मैं उन अंगपूर्व और प्रकीर्णक का अर्थ जानने के लिये प्रति दिन सेवा करता हूँ ॥२८॥

सुधर्म सूरिजम्बू स्वामिनी केवललोचनौ । शुद्धाचारोन्वितौ नौमि, स्वाचारांगप्ररूपकौ ॥२९॥

अर्थ—केवल ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले, शुद्धाचार को पालन करने वाले और अपने आचारांग को निरूपण करनेवाले सुधर्मा गणधर और जम्बू स्वामी को भी मैं नमस्कार करता हूँ ॥२९॥

विष्णुश्च नंदिमिश्राख्योऽपराजितो मुनीश्वरः । गोवर्द्धनो मुमुक्षुश्च भद्रबाहुर्जगन्नुतः ॥३०॥

श्रुतकेवलिनोऽप्राप्ते, पञ्चाचारादि देशिनः । परमाचार सम्पन्नाः, कीर्तिताः संतु मे चिदे ॥३१॥

अर्थ—(१) विष्णु (२) नंदिमिश्र (३) मुनिराज अपराजित (४) भोक्ष को इच्छा करने वाले गोवर्द्धन और समस्त संसार जिनको नमस्कार करता है ऐसे भद्रबाहु ये पांच इस पंचम कालमें श्रुतकेवली हुये हैं; ये पांचों ही श्रुतकेवली पञ्चाचार का उपदेश देनेवाले हैं और परमोत्कृष्ट आचार को पालन करनेवाले हैं; इसलिए मैं उनकी स्तुति करता हूँ जिससे कि मुझे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति हो ॥३०-३१॥

विशाखाचार्यमुख्या मे, सूरयो बहवो भुवि । आचारांगादिशास्त्रज्ञाः, दण्डस्ते मे स्तुताः श्रुतम् ॥

अर्थ—इस संसार में विशाखाचार्य को आदि लेकर और भी अनेक आचार्य हुये हैं जो कि आचारांगादि शास्त्रों के जानकार हैं; उनकी मैं स्तुति करता हूँ; वे सब मुझे श्रुतज्ञानको प्रदान करें ॥३२॥

कवीन्द्रा धादिनो ये श्री कुंदकुंदावि सूरयः । तान् स्तुवे सत्कवित्वाथ, स्वाचारश्रुतसूचकान् ॥

अर्थ—आचार प्ररूपक श्रुतज्ञान को निरूपण करनेवाले और भी जो कविराज या वादी मुनि हुये हैं अथवा कुंदकुंदादिक आचार्य हुये हैं उन सबकी मैं श्रेष्ठ कवित्व प्राप्त करने के लिये स्तुति करता हूँ ॥३३॥

बाह्यान्तर्ग्रन्थ निरुक्तान् दिग्बन्धानलङ्घितान् परान् । मदीयांश्च गुरुब्रूहि, विश्वान् गुरुगुणान्तये ॥

अर्थ—जो बाह्य और अंतरंग परिग्रहसे सर्वथा रहित हैं, जो दिशारूपी बन्धनों से ही सुशोभित हैं अर्थात् दिग्बन्धन हैं और इसलिये जो उत्कृष्ट हैं ऐसे अपने समस्त गुरुओं के लिये भी मैं उनके श्रेष्ठ गुण प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूँ ॥३४॥

इति तद्विघ्नहान्यै च, मांगल्यार्थं प्रसिद्धये । स्तुता ये वंदिता ग्रन्थारम्भेऽहं नष्ट, तयोगिनः ॥३५॥

इष्टा इष्टान्तये संतु, मंगलार्थं प्रसिद्धये । कुर्वेत्तु मंगलं ते ये, विश्वमांगल्यकारिणः ॥३६॥

अर्थ—इसप्रकार ग्रन्थके प्रारम्भ में इसकी रचना में होनेवाले विघ्नों को दूर करने के लिये तथा मंगलमय पदार्थों की प्राप्ति के लिये जिन अरहंत, शास्त्र और मुनियों की वंदना की है; या उनकी स्तुति की है, ऐसे वे समस्त संसार में मंगल करने वाले देव, शास्त्र, गुरु, इष्ट या पंचपरमेष्ठी मुझे इष्ट की प्राप्ति करें । अर्थात् मेरे ग्रन्थको पूर्ण करें; उसमें होने वाले विघ्नों को नष्ट करें, और मेरे लिये मंगल करें । ॥३५-३६॥

इष्टदेवान् प्रणम्येति, विज्ञायार्थान् परान् शुभान् । मूलाचाराधि सव्यग्रन्थानामाचार प्रवर्तये ॥३७॥

महाग्रन्थं करिष्येऽहं, श्री मूलाचार दीपकम् । हिताय मे यतीनां च, शुद्धाचाराथं वेशकम् ॥३८॥

अर्थ—इसप्रकार मैं अपने इष्ट देवों को नमस्कार कर तथा शुभ और श्रेष्ठ अर्थों को जानकर, मूलाचार आदि श्रेष्ठ ग्रन्थों में कहे हुये आचारों की प्रवृत्ति करने के लिये तथा अपना और मुनियों का हित करने के लिए, शुद्धाचारके स्वरूप का निरूपण करने वाले 'मूलाचार-प्रदीपक' नामके महाग्रन्थ की मैं रचना करता हूँ ॥३७-३८॥

आचारांग का वर्णन—

आचारांगं षष्ठ्यादशसहस्रपदान्वितम् । श्रुतकेवलिभिः प्रोक्तम्, ह्यर्थगम्भीरमन्धिवत् ॥३९॥

अर्थ—आचारांग नामके अंग में, अठारह हजार पद हैं । वह श्रुतकेवलियों के द्वारा कहा हुआ है तथा समुद्र के समान अर्थों से महा गंभीर है ॥३९॥

शत षोडश कोट्याभा, चतुस्त्रिंशच्च कोटयः । अशोति रथलक्षण्यष्टासप्तति शतान्यपि ॥४०॥

अष्टाशीतिश्च सदृशा, इति संख्या जिनोदिता । आगमेक्षर संख्याभिः, पदेकस्थ न चाग्यथा ॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने अपने कहे हुए आगम में एक-एक पदके अक्षरों की संख्या सोलह अरब, चौतीस करोड़, तिरासी लाख, सात हजार, आठ सो, अठ्ठासी बतलाई है ॥४०-४१॥

एतदंगमहाग्रंथं, समस्ताचारदीपकम् । मया प्रोक्तम् कथं शक्यं, कविना स्वल्पबुद्धिना ॥४२॥

तथापि पूर्वसूर्यादि, प्रणामाजितपुण्यतः । स्तोत्रं सारं करिष्यामि, ग्रंथमाचारसूत्रकम् ॥४३॥

अर्थ—समस्त आचारांगों को प्रकाशित करने वाले दीपक के समान यह आचारांग नामका बड़ा ग्रंथ है । यह इतना बड़ा महाग्रंथ भला अत्यंत थोड़ी सी बुद्धि को धारण करने वाले मुझ ऐसे कविसे कैसे कहा जा सकता है ॥४२॥ तथापि पहिले के आचार्यों को प्रणाम करने से उत्पन्न हुए पुण्य के प्रभाव से आचार को सूचित करने वाले बहुत ही स्वल्प और सरल ग्रंथ ही रचना में करूंगा ॥४३॥

तस्याद्यै ये जिनैः प्रोक्ता, अष्टाविंशति संख्यकाः । परा मूलगुणाः साराः, मूलसूताः सुयोगिनाम् ॥

गुणानां चात्र दीक्षाया, आचारस्य शिवंकरान् । तान् प्रवक्ष्ये स्वशक्त्याहं, सर्वान् सर्वार्थसाधकान् ॥

अर्थ—इस ग्रंथके प्रारंभ में भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए और श्रेष्ठ मुनियों के मूलभूत २८ मूलगुणों को कहूंगा; ये मूलगुण सर्वोत्कृष्ट हैं, मुनियों के गुण बीजा और आचार को मंगल करने वाले हैं और समस्त अर्थों की सिद्धि करने वाले हैं उन्हीं सबको मैं अपनी शक्ति के अनुसार कहूंगा ॥४४-४५॥

२८ मूलगुणों का संक्षिप्त में वर्णन—

महाव्रतानि पञ्चैव, परा समित्यस्तथा । पञ्चेन्द्रियनिरोधारच, लोचन्यावश्यकानि च ॥४६॥

अवेतत्वं, ततोऽस्नानम् धराशयनमेवहि । अवन्तघर्षणं रागद्वारं च स्थिति भोजनम् ॥४७॥

एकभक्तं समासेनामी, सन्मूलगुणावृधैः । विज्ञेयाः कर्महन्तारः, शिवशर्मसुखाकराः ॥४८॥

पुनरेतान् प्रवक्ष्यामि, विस्तरेण पृथक् पृथक् । विस्ताररुचिशिष्याणामनुग्रहायसिद्धये ॥४९॥

अर्थ—५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इंद्रियों का निरोध, ६ आवश्यक, (१) केशलोच (२) नग्नत्व धारण करना (३) स्नान नहीं करना (४) दंत-धावन नहीं करना (५) रागरहित खड़े होकर भोजन करना (६) दिन में एकबार ही भोजन करना और (७) भूमिपर शयन करना ये संक्षेप में २८ मूलगुण हैं । ये समस्त मूलगुण कर्मों को नाश करनेवाले हैं और मोक्षके सुख तथा सिद्धों में होनेवाले समस्त गुणों को देनेवाले हैं । विद्वानों को यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए ॥४६-४८॥

‘पुनरेतान् प्रवक्ष्यामि’ के अन्तर्गत प्रतिज्ञा-कथन । अर्थ—विस्तार के साथ समझने वाले शिष्यों का उपकार करने के लिए तथा सिद्ध अवस्था प्राप्त करने के लिए आगे हम इनका अलग-२ स्वरूप विस्तार के साथ कहते हैं ॥४९॥

महाव्रतों की परिभाषा—

हिंसाया अनृतास्तेषादब्रह्मतः परिग्रहात् । कृत्स्नान्मनोवचः कार्यैः, कृतकारित्तमानसैः ॥५०॥

सर्वथा विरतिर्या च क्रियते मुनिपुंगवैः । महाव्रतानि तान्यत्र, कथ्यन्ते योगिनां जिनेः ॥५१॥

अर्थ—श्रेष्ठ मुनिराज अपने मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से जो (१) हिंसा (२) झूठ (३) चोरी (४) कुशील और (५) परिग्रह इन ५ पापों का पूर्ण रूपसे सर्वथा त्याग कर देते हैं उनको भगवान् जिनेन्द्रदेव मुनियों के महाव्रत कहते हैं ॥५०-५१॥

(१) अहिंसा महाव्रत का लक्षण—

हृदा च वपुषा वाचा, कृतेन कारितेन च । स्वानुमत्या प्रयत्नेन, रक्षा यात्र विधीयते ॥५२॥

मत्वात्मसदृशान् जीवान्, नवभेदैः षडंगिनाम् । मूलं सर्वव्रतानां स्यात् पंचमं तन्महाव्रतम् ॥५३॥

अर्थ—इन्हों कायके समस्त जीवों को अपने आत्मा के समान समझकर मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना के ६ भेदों से प्रयत्न पूर्वक रक्षा करना पहला अहिंसा महाव्रत कहलाता है । इस अहिंसा महाव्रत को समस्त व्रतों का मूल समझना चाहिए ॥५२-५३॥

कायेन्द्रियगुणस्थान, मार्गणाश्च कुलान्यपि । योनीश्च सर्वजीवानां, ज्ञात्वा सम्यग् जिनागमे ॥

तेषां विविध जन्तूना, भित्तिरक्षा प्रयत्नतः । कर्त्तव्या मुनिभिर्नित्यं, सर्वथा च कृतादिभिः ॥५४॥

अर्थ—मुनियों को सबसे पहले जिनागम के अनुसार समस्त जीवों की काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल और योनियों को समझ लेना चाहिए और फिर उन अनेक प्रकारके जीवों की रक्षा सब तरहसे, बड़े प्रयत्नसे, मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से करनी चाहिए ॥५४-५५॥

शिलात्रि धातुरत्नादि, खरपृथ्व्यंगिनो बहून् । मृदाश्च मृदुपृथ्वीकायाश्च, सूक्ष्मेतरान् सदा ॥५६॥

हस्तपादांगुलि काष्ठ, शलाका खर्परादिभिः । न खमेत् स्नानयेन्नैव, न लिखेन्नैव लेखयेत् ॥५७॥

न भञ्ज्यान् भञ्जयेन्नैव, न हन्यान् घातयेत् च । जातु संघटयेन्नैव, पीडयेन्न दयासधीः ॥५८॥

खनंतं च लिखन्तं वा, भक्तवन्तं परं जनम् । निघ्नन्तं घट्टयन्तं वा, पीडयन्तं धरात्मनः ॥५९॥

नानुमन्येत योगीऽन्यार्थः । प्रकारैर्विराधना । न कार्या मुनिभिस्तेषां योगीराद्यव्रताप्लवे ॥६०॥

अर्थ—शिला, पर्वत, धातु, रत्न आदि में बहुतसे कठिन पृथ्वी कायिक जीव रहते हैं तथा मिट्टी आदि में बहुतसे कोमल पृथ्वी कायिक जीव रहते हैं तथा उनके भी

स्थूल, सूक्ष्म आदि अनेक भेद हैं । इसलिए मुनिराज अपने हाथ से, पैर से, उंगली से, लकड़ी से, सलाई से, या खप्पर से पृथ्वी कायिकजीव सहित पृथ्वी को न खोदते हैं, न खुदवाते हैं, न उस पर लकीरें करते हैं, न कराते हैं, न उसे तोड़ते हैं, न तुड़वाते हैं न उस पर चोट पहुंचाते हैं, न चोट पहुंचवाते हैं तथा अपने हृदयमें दया बुद्धि धारण कर न उस पृथ्वीको परस्पर रगड़ते हैं न उसको किसी प्रकार की पीड़ा देते हैं । यदि कोई अन्य भक्तपुरुष उस पृथ्वी को खोदता है या उस पर लकीरें करवाता है, उस पर चोट मारता है; रगड़ता है; या अन्य किसी प्रकारसे उन जीवों को पीड़ा पहुंचाता है तो वे योगी उसकी अनुमोदना भी नहीं करते । इसप्रकार वे मुनिराज अहिंसा महाव्रतको प्राप्त करने के लिए उन पृथ्वीकायिक जीवोंकी विराधना कभी नहीं करते ॥६६-६०॥

ये पृथ्वीकायिका जीवाः, ये पृथ्वीकायमाधिताः । पृथ्वीकायसमारंभात् प्रुवं तेषां विराधना ॥
तस्मात् पृथ्वीसमारंभो, द्विविधस्त्रिविधेन च । यावज्जीवं योग्योत्र, जिनमार्गानुचारिणाम् ॥६२॥

अर्थ—पृथ्वीकाय का समारंभ करने से, पृथ्वीकायिक जीवों की तथा पृथ्वी-काय के आश्रय रहने वाले जीवों की विराधना अवश्य होती है । इसलिए जिनमार्ग के अनुसार चलने वाले मुनियों को अपने जीवन पर्यंत मन, वचन, काय और कृत, कारित अनुमोदना से दोनों प्रकार का पृथ्वी का समारंभ कभी नहीं करना चाहिए ॥६१-६२॥

न श्रद्धधातियोजीवान्, पृथ्वीकायगतानिमान् । समवेदीर्घसंसारी, लिंगस्थोऽप्यति दुर्मतिः ॥६३॥

अर्थ—जो दुर्बुद्धि जिन लिंग धारण करके भी पृथ्वी कायमें प्राप्त हुए जीवों का श्रद्धान नहीं करता है, उसे दीर्घ संसारी ही समझना चाहिये ॥६३॥

मत्वेति तत्समारंभो, ज्ञातुं कार्यो न योगिभिः । स्वेन वाग्येनमुक्त्याभ्यै, चैत्यगोहादि कारणैः ॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये स्वयं वा दूसरे के द्वारा जिनालय आदि बनवाकर भी पृथ्वी का समारंभ नहीं करना चाहिए ॥६४॥

जलकायिक जीवों का रक्षण—

स्थूलाणुबिबुमेघावश्याद्विजलवेहिनाम् । न कुर्यात्कारयेत्त्रैव, स्पर्शसंघट्टनादिकम् ॥६५॥

अर्थ—मेघ वा बरफ की बूंदों में रहने वाले जलकायिक जीवों का स्पर्श व संघट्टन न कभी करना चाहिए और न कराना चाहिए ॥६५॥

बाधां चान्यं च कुर्वन्तं, मनसा नानुमन्यते । बाधांगेन यतिः शौच, पावप्रक्षालन्यादिभिः ॥६६॥
जीवा अप्कायिका येऽत्र, ये चाप्यकार्यं समाश्रिताः । अप् कायांगिसमारम्भात्स्फुटं तेषां परित्यक्तः ॥
तस्मादपि समारम्भो, द्विधावाक्कायमानसैः । यावज्जीवं मनाक् योग्यो नात्राहिष्ठेष्वारिणाम् ॥

अर्थ—इसीप्रकार शौच, पाद प्रक्षालन आदि के द्वारा उन जीवों को बाधा देनेवाले अन्य पुरुषोंको मन-वचन-कायसे कभी अनुमोदना नहीं करनी चाहिये ॥६६-६७॥

क्योंकि जलकायिक जीवोंसे भरे हुए जलका समारंभ करने से (जलको काम में लाने से) जलकायिक जीव और जल काय के आश्रय रहने वाले जीवों का नाश अवश्य ही होता है । इसलिये अरहन्त के भेदको धारण करने वाले मुनियों को मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से जीवन पर्यन्त दोनों प्रकार के जलका समारंभ कभी नहीं करना चाहिये ॥६८॥

न श्रद्धधातियोऽत्रैतान्, प्राणिनोऽप्यकायतामिताम् । स भवेद् दीर्घसंसारं, लिंगस्थोऽपि कुमारंगः ॥
ज्ञात्वेति जल कायानां, कार्या हिंसा न जातुचित् । शौचादि कारणैर्दक्षै, मनोवाक्काय कर्मभिः ॥

अर्थ—जो मुनि अप्कायमें प्राप्त हुए इन जीवों का श्रद्धान नहीं करता है, वह कुमारंगभी बहुत दिन तक संसारमें परिभ्रमण करता है । इसलिये चतुर मुनियों को शौचादि कार्यों में जलकायिक जीवों की हिंसा, मन-वचन-कायसे कभी नहीं करनी चाहिये ॥६९-७०॥

(अग्निकायिक जीवों का रक्षण)

ज्वालांगारार्त्तं शुद्धाग्न्यादितैजः कायिकात्मनाम् । शीतज्वरादिके जाते, सति कार्यं न संयतैः ॥

अर्थ—मुनियों को शीतज्वरादि के उत्पन्न होने पर भी ज्वाला, अंगार, अग्नि की शिखा, शुद्ध अग्नि आदि तेजस्कायिक जीव सहित अग्नि को कभी काम में नहीं लाना चाहिये ॥७१॥

विध्यापलं कराद्यैः, प्रजालसं च विराधनम् । संघटनं क्वचिद्धातं, प्रच्छादनं कदर्थनम् ॥७२॥

अर्थ—मुनियों को अपने हाथ से, या अन्य किसी उपाय से न तो अग्नि को बुझाना चाहिये, न जलाना चाहिये, न उसका धात करना चाहिये ॥७२॥

अथश्चोष्णी चतुर्विधु, ह्यनिलोऽखिलान् । भस्मसात् कुरुते जीवान्, षड्विधान् स्वोष्णनापतः ॥

अर्थ—यह अग्नि अपनी उष्णता के संताप से ऊपर, नीचे चारों विदिशाओं

में वृहो प्रकारके समस्त जीवों को भस्म कर देती है ॥७३॥

तस्य घोरेऽतिपापादधे, नेकसत्त्वक्षयंकरे । ईहते न यमी स्थातु, कदापि सति कारणे ॥७४॥

अर्थ—इस अग्नि का उद्योत या प्रकाश जीवों का नाश करनेवाला और पाप रूप है इसलिये मुनिराज कारण मिलने पर भी उसके प्रकाश में कमी रहने की इच्छा नहीं करते ॥७४॥

धेरक श्लोक—(दशबौकालिक ग्रंथे)

पाचीणं पच्छिम वाचि, मुक्षींश्च वाहिणं तथा । अधो दहवि उद्धं, च दिसासु विविमा सुय ॥१॥

अर्थ—यही बात दशबौकालिक ग्रंथमें लिखी है वह अग्नि—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे, दिशा, विविशा में सब जीवों को जला देती है ॥१॥

धेरक गाथा नं० २

एसो जीवोत्ति भवत्वादा, हव्ववाहो ए संसओ । तमुज्जीवपदा वद्धं, मणसावि ए पच्छए ॥२॥

अर्थ—अतएव अपने मन से अग्नि के प्रकाश की कभी इच्छा नहीं करनी चाहिये ॥२॥

ये तेजस्कायिकाजीवायेऽत्र तेजोऽगमाधिताः । तेजः काय समारंभाद्, मुंक्षु तेषां विहितिनम् ॥

अर्थ—इसलिये अग्नि का समारंभ करने से तेजस्कायिक जीवों की तथा तेजस्काय के आश्रित रहने वाले जीवों की हिंसा अवश्य होती है ॥७५॥

तस्मात्तेजः समारंभास्त्रियोगोद्विविधः क्वचित् । निर्ग्रथ संयतानां च, यावज्जीवं हि नोचितः ॥

अर्थ—इसलिये निर्ग्रथ मुनियों को अपने पर्यंत मन, वचन, काय से दोनों प्रकारकी अग्निका समारंभ कभी नहीं करना चाहिये ॥७६॥

एतान् यो मन्यते नैवाप्तान्, तेजोऽगं च वेहिनः । मिथ्यादृष्टिः स विज्ञेयो, लिङ्गस्थोप्यतिपायभाक् ॥

अर्थ—जो मुनि तेजस्काय में प्राप्त हुए जीवों को नहीं मानता वह मुनि होकर भी अत्यंत पापी मिथ्यादृष्टि है ॥७७॥

जात्वेत्यग्निं समारंभोऽनंतजीवक्षयंकरः । अनंगवचनेर्जातु, न कार्यः प्रेक्षणादिभिः ॥७८॥

अर्थ—इसलिये अग्निके समारंभको, अनंत जीवोंके नाश करनेवाला समझकर देखने आदि कार्योंके लिये भी मन-वचन-कायसे उसका समारंभ नहीं करना चाहिये ॥७८॥

(वायुकायिक जीवों का रक्षण)

उत्तिकल्युभ्रमगुंजादि, वातकायिक जन्मिनां । वधोत्पत्तिकरं वातं, कुर्याज्जातु न संयतः ॥७६॥

अर्थ—मुनियों को अनेक प्रकार की वायु में रहने वाले वायुकायिक जीवों का घात करनेवाली वायु कभी उत्पन्न नहीं करनी चाहिये ॥७६॥

कारयेन्न च वस्त्रेण, व्यजनेन करेण वा । वस्त्रकोणेन पत्रेण, सति दाहे परेण वा ॥७७॥

अर्थ—मुनियों को अधिक दाह होनेपर भी, वस्त्रसे, पत्रेसे, हाथसे, वस्त्र के कोने से, या पत्ते से, दूसरे के द्वारा भी कभी वायु उत्पन्न नहीं कराना चाहिये ॥७७॥

ये वातकायिका जीवा, वातकायं च ये श्रिताः । वातकायसमारंभात्, हिंसा तेषां न भान्यथा ॥

अर्थ—वायु का सारम्भ करने से वायुकायिक जीवों की या वायुकाय के आश्रित रहने वाले जीवों की हिंसा अवश्य होती है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥७८॥

तस्माद्वातसमारंभो, द्विधा योगत्रयैरपि । जिनमार्गानुलम्बनानां, यावज्जीवं न युज्यते ॥७९॥

अर्थ—इसलिये जिनमार्ग में लगे हुए मुनियों को अपने जीवन पर्यंत मन, वचन, कायसे दोनों प्रकार की वायुकाय सारम्भ कभी नहीं करना चाहिये ॥७९॥

न श्रद्दधाति षोडशमून्, जीवान् वातांगम मिश्रितान् । संसारसागरेमग्नो, द्रव्यलिङ्गो स केवलम् ॥

अर्थ—जो मुनि इन वातकाय के आश्रित रहनेवाले जीवों का श्रद्धान नहीं करता है वह संसार सागर में डूबता है; उसे केवल द्रव्यलिङ्गी ही समझना चाहिये ॥८०॥

सखेति स्वशरीरादी, वातः कार्यो न जातु चित् । वातांगिवध कृद्दर्शं मुखाद्यै रक्षणपोडितः ॥

अर्थ—यही समझकर चतुर मुनियों को उष्णता से पीड़ित होनेपर भी वातकायिक जीवों को नाश करने वाली वायु अपने मुख आदि से भी कभी उत्पन्न नहीं करनी चाहिये ॥८१॥

हरितांशुर बीजानां, पत्रपुष्पादि कागिनाम् । वनस्पतिसरीराणां, मुनिर्जातु करोति न ॥८२॥

कारयेन्न त्रिशुष्यात्, धेवनं भेदनं क्वचित् । प्रमोडनं बध्नं वाधां, स्पर्शनं च विराधनाम् ॥८३॥

अर्थ—मुनिराज मन-वचन-काय की शुद्धता धारण करने के कारण हरित

अंकुर, बीज, पत्र, पुष्प आदि के आश्रित रहने वाले वनस्पति कायिक जीवोंका छेदन, भेदन, पीडन, वध, बाधा, स्पर्श और विराधना आदि न तो स्वयं करते हैं और न दूसरों से कराते हैं ॥८५-८६॥

सेवालं पुष्पिकादीनां, अनंतकायदेहिनाम् । विधेया जातु हिंसा न, गमनागमनाविभिः ॥८७॥

अर्थ—मुनियोंको गमन, आगमन आदिके करने में सेवाल (काई) और पुष्पिका (फूलन अथवा बरसात में होनेवाला एक छोटा पौधा जिसके ऊपर सफेद फूलसा रहता है) आदि में रहनेवाले अनंतकाय जीवोंकी हिंसा भी कभी नहीं करनी चाहिये ॥८७॥

ये वनस्पति काया ये, वनस्पत्यंगमाश्रिताः । वनस्पतिसमारंभाद्वधस्तेषां हि वेहिनाम् ॥८८॥

अर्थ—वनस्पति का समारंभ करने से, वनस्पति कायिक जीव और वनस्पति कायके आश्रित रहनेवाले जीवों की हिंसा अवश्य होती है ॥८८॥

तस्मात्तेषां समारंभो विधा योऽधिकः अपश्चित् । गच्छांतं न योऽहंमुद्रा स्वीकृतयोगिनाम् ॥

अर्थ—इसलिये अहंमुद्रा या जिनलिंग को स्वीकार करने वाले मुनियों को अपने जीवन पर्यंत मन बचन कायसे इन दोनों प्रकारकी वनस्पति का समारंभ नहीं करना चाहिए ॥८९॥

न रोक्षतेऽत्रयो ह्येतान्, जीवाम् वनस्पति गतान् । जितधर्मबहिर्भूतो, मिथ्यादृष्टिः स पापवीः ॥

अर्थ—जो मुनि वनस्पति में प्राप्त हुए इन जीवों को नहीं मानता उसे जिन धर्म से बाहर मिथ्यादृष्टि और पापी समझना चाहिये ॥९०॥

विज्ञायेति न कर्षव्या, वनस्पति विराधना । हस्तपादादिभिर्जति, ह्यनन्तं सखनाशवा ॥९१॥

अर्थ—यही समझकर अपने हाथ, पैर आदि के द्वारा अनंत जीवों का नाश करनेवाली वनस्पति की विराधना कभी नहीं करनी चाहिये ॥९१॥

अस जीवों की विराधना का निषेध—

द्वित्रितूर्येन्द्रियाणां च, पञ्चाक्षाणां त्रिसात्मनाम् । बाधानेव विधातव्या, मुनिभिर्यत्नतत्परैः ॥

अर्थ—प्रयत्न करने में तत्पर रहने वाले मुनियों को दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय अस जीवों की बाधा कभी नहीं करनी चाहिये ॥९२॥

गमने चासने स्थाने, रात्रौ वा दृष्टिगोचरे । सर्वथा च दया कार्या, मृदु पिच्छिकयेक्षणात् ॥९३॥

अर्थ—मुनियों को चलने में बैठने में शय्यासन करने में रात्रि वा दिन में कोमल पीछी से का देखकर जीवों पर सर्वथा दया करनी चाहिये ॥६३॥

वस कायाश्च ये जीवा वसकायं हि ये श्रिताः । वसकायसमारंभां लोषा बाधा वधोऽथवा ॥६४॥

अर्थ—वस कायिक जीवोंका समारंभ करने से (वस जीव विशिष्ट वस्तुओं को काम में लाने से) वस जीवों को और वस जीवोंके आश्रित रहने वाले जीवों की बाधा अथवा उनका वध अवश्य होता है ॥६४॥

तस्मात् वससमारंभो, द्विधा योगैः कृतादिभिः । योग्यो न मृत्युपर्यंत, जिनवेषधृतात्मनाम् ॥६५॥

अर्थ—इसलिये जिनलिंग धारण करनेवाले मुनियों को अपने जीवन पर्यंत मन-वचन-काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे दोनों प्रकारके वस जीवों का समारंभ कभी नहीं करना चाहिये ॥६५॥

न मन्यते गिनोऽर्कान्, यस्त्वसत्वगतान् बहून् । लिंगस्थोऽपि स पापात्मा, भ्रमेद घोरां भवाटवीम् ॥

अर्थ—जो मुनि वस पर्याय को प्राप्त हुए अनेक प्रकार के जीवों को नहीं मानता है; वह पापी, जिन लिंग धारण करता हुआ भी संसाररूपी घोर वनमें परिभ्रमण करता है ॥६६॥

विचित्येति प्रयत्नेन, वयाग्रलांगिनां सदा । अनुष्ठेया न बाधा, चावाप्रमत्तोऽस्तपोधनैः ॥६७॥

अर्थ—इसप्रकार प्रमाद का त्याग करनेवाले मुनियों को प्रयत्न पूर्वक वस जीवों की दया पालना चाहिये तथा उनकी बाधा कभी नहीं करना चाहिये ॥६७॥

त्रिशुद्धयेत्यनिशं योऽथ, रक्षां कुर्यात्त्रिङ्गिनाम् । अप्रमत्तो भवेत्, तस्याद्यं सम्पूर्णमहाव्रतम् ॥

अर्थ—यही समझकर जो मुनि अप्रमत्त होकर तथा मन, वचन, कायकी शुद्धता पूर्वक छहों प्रकार के जीवों की रक्षाके लिये पूर्ण प्रयत्न करता है उसके पहला ग्रहिसा महाव्रत पलता है ॥६८॥

महाव्रती की शोभा—

सर्वजीवकृपाकांत, मना योऽखिल देहिनाम् । यस्माच्चाशी सुरक्षायै, महाव्रती स नापरः ॥६९॥

अर्थ—जो मुनि अपने मनमें समस्त जीवों की दया धारण कर, समस्त जीवों की रक्षाके लिये पूर्ण प्रयत्न करता है; उसे ही महाव्रती समझना चाहिये; उसके

सिवाय, अन्य कोई महाव्रती नहीं हो सकता ॥६६॥

यतो जीवे मृते वा न, कर्मबंधः पदे पदे । अयत्नचारिणां नूनं, व्रतभंगोऽशुभा गतिः ॥१००॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जो मुनि यत्नाचारका पालन नहीं करता उससे जीव मरे या न मरे; फिर भी उसके क्षण क्षणमें कर्मों का बंध होता ही है । इसके सिवाय, उनके व्रतों का भंग होता है और उससे अशुभ गति की प्राप्ति होती है ॥१००॥

वचचिन्मृतेऽप्यहो जीवोयत्नाधारिमुनीशिताम् । न बंध कर्मणां किमु, शुद्धिः स्याद्योगशुद्धितः ॥

अर्थ—जो मुनि, अपनी प्रवृत्ति यत्नाचार पूर्वक करते हैं उनसे यदि कोई जीव मर भी जाय; तो भी उनके कर्मोंका बंध नहीं होता तथा उनके मन-वचन-काय की शुद्धि होने से उनके आत्माकी शुद्धि और बढ़ जाती है ॥१०१॥

तस्माद् व्रतार्थिनो दक्षा, यत्नं कुर्वन्तु सर्वथा । सर्वजीव दयासिद्धये, विशुद्ध्या सद्ब्रताय च ॥

अर्थ—इसलिये अपने व्रतों की रक्षा की इच्छा करने वाले चतुर मुनियोंको मन-वचन-कायकी शुद्धता पूर्वक अपने श्रेष्ठ व्रतोंकी रक्षाके लिये और समस्त जीवोंकी दया पालन करने के लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये ॥१०२॥

अहिंसा का गौरव

अहिंसा जननी प्रोक्ता, सर्वेषां च व्रतात्मनाम् । वृक्षानवृक्षरत्नानां, खनी विश्व हितंकरा ॥१०३॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने इस अहिंसा को समस्त व्रतों की माता बतलाई है और समस्त रत्नत्रयकी खान बतलाई है तथा समस्त जीवों का हित करने वाली बतलाई है ॥१०३॥

सूत्राधारेण तिष्ठन्ति, वाम हारावयो यथा । कृपाधारेण सर्वे च योगिनां सद्गुणास्तथा ॥१०४॥

अर्थ—जिसप्रकार सूतकी गांठसे बनने वाले हार सूत के ही आधार से ठहर सकते हैं उसी प्रकार मुनियों के समस्त सद्गुण जीवोंको कृपा के आधार से ही ठहरते हैं ॥१०४॥

शेषव्रतसमित्यादीन्, बुधन्ति श्री जिनाधिपाः । आद्यव्रतविशुद्ध्यर्थं, केवलं च तपः क्रिया ॥१०५॥

अर्थ—इस अहिंसा महाव्रत के अतिरिक्त जितने भी व्रत, समिति और तप-श्चरण आदि हैं वे सब केवल एक इसी अहिंसा महाव्रतकी विशुद्धिके लिये ही भगवान्

जिनेन्द्रदेव ने कहे हैं ॥१०५॥

विना तेन व्रतेनास्मात्, सर्वाशेषतद्रजम् । व्यर्थं स्याच्च तपो घोरं, यतीनांतुष खंडनम् ॥१०६॥

अर्थ—इस अहिंसा महाव्रत के बिना, बाकी के जितने व्रतों का समुदाय है अथवा जितना भी मुनियों का घोर तपश्चरण है वह सब व्यर्थ है; भूसीको कूटने के समान असार है ॥१०६॥

दयापूर्वमनुष्ठानं, तपो योगादिभिः कृतम् । भवेन्मोक्षतरोर्बीजं, सतां विश्वधिकारणम् ॥१०७॥

अर्थ—यदि तपश्चरण, योग आदि के द्वारा किया हुआ अनुष्ठान, दया पूर्वक किया जाता है तो वह सज्जनों की मोक्षरूपी वृक्षका बीज माना जाता है तथा समस्त ऋद्धियों का कारण बन जाता है ॥१०७॥

कृत्स्नसत्त्वकृपाक्रांतं, यस्यासीन्मानसं शुभं । सिद्धं समोहितं तस्य, संवरो निर्जरा शिवम् ॥

अर्थ—जिस मुनि का शुभ हृदय समस्त जीवों की कृपासे भरा हुआ है उसके संवर, निर्जरा और मोक्ष आदि समस्त इष्ट पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं ॥१०८॥

क्रियते स्वगृहत्यागो, दीक्षा च गृह्यते बुधैः । केवलं करुणासिध्यं, तां विना तौ निरर्थकौ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् लोग जो अपने घरका त्याग करते हैं और दीक्षा ग्रहण करते हैं वह केवल दया की सिद्धि के लिये ही करते हैं; यदि दया नहीं है तो घरका त्याग और दीक्षा दोनों ही व्यर्थ हैं ॥१०९॥

विज्ञायेति विधायोच्चैः, सर्वे जीव कवम्बकम् । समानं स्वात्मनश्चिह्नो, रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥

अर्थ—यही समझकर तथा समस्त जीवों के समूह को अपने हृदय में, अपनी आत्मा के समान मानकर, बड़े प्रयत्न के साथ अच्छी तरह उनकी रक्षा करनी चाहिये ॥११०॥

गमनागमनोत्सर्गं, प्रावृत्कालेऽंगि संकुले । अहोरात्रे यतीर्ब्रह्मावाप्त निक्षेपणाविना ॥१११॥

ये यत्नचारिणोऽत्रा हो पालयन्ति अतोऽसमम् । तेषां सर्वं व्रतान्येव, यांति सम्पूर्णतां लघु ॥११२॥

अर्थ—वर्षाकाल में बहुतसे जीवों का समुदाय उत्पन्न हो जाता है; इसीलिये मुनिराज उन दिनों में गमन, आगमन का त्याग कर देते हैं । उन दिनोंमें जो मुनिराज रात दिन के किसी पदार्थ के ग्रहण करने या रखने आदि के द्वारा, यत्नाचार पूर्वक

इस अहिंसा महाव्रत रूपी उत्तम वृत्तको पालन करते हैं; उनके अन्य समस्त वृत्त बहुत ही शीघ्र पूर्ण हो जाते हैं ॥१११-११२॥

यदि कश्चिदहो दत्तो, मृत्यर्थं कस्यचिन्महीम् । सर्वा रत्नादिपूर्णा स, तथापीच्छति नो मृतिम् ॥

अतो विश्वाग्निनां लोकेऽभयदानात्परं न च । विद्यते परमं दानं, वृथा दानं दयां विना ॥११४॥

अर्थ—यदि किसीसे यह कहा जाय कि हम तुझे समस्त रत्नोंसे परिपूर्ण इस समस्त पृथ्वीको देते हैं; इसके बदले तू मर जा, परन्तु इतने पर भी कोई मरने की इच्छा नहीं करता, इसलिये कहना चाहिये कि इस संसार में समस्त जीवोंको अभय-दान से बढ़कर और कोई दान नहीं है । यह अभयदान सबसे उत्कृष्ट दान है । दयाके विना, अन्य दान सब व्यर्थ है ॥११३-११४॥

हिंसैव पञ्च पापानां, परं पापं निगद्यते । विश्वदुःखाकरो भूता, श्वभ्रटारि प्रतोलिका ॥११५॥

अर्थ—पाँचों पापोंमें यह हिंसा ही सबसे बड़ा पाप कहा जाता है । यह हिंसा समस्त दुःखोंकी खान है और नरक के द्वार की गली है ॥११५॥

ये केचिददुः सहा रोगाः, सर्वदुःखविधायिनः । तेऽखिला निर्दयानां च, आयतेऽप्राप्योऽशुभात् ॥

अर्थ—इस संसार में समस्त दुःखों को देने वाले जितने भी कठिन रोग हैं वे सब निर्दयी जीवोंके ही होते हैं तथा इसी निर्दयता के पाप से मानसिक व्याधियां भी होती हैं ॥११६॥

दुर्गतिं जीवधातेन, सद्गतिं जीव रक्षणात् । देहिनां च विदित्वेति, यद्विष्टं सत्त्वमाश्रयः ॥११७॥

अर्थ—इस संसार में जीवों को जीवों का घात करने से दुर्गति प्राप्त होती है तथा जीवों की रक्षा करने से उत्तम गति प्राप्त होती है । यही समझकर हे जीव, जो तुझे अच्छा लगे सो कर ॥११७॥

अहिंसा महाव्रत की ५ भावना—

एषणा समिति शिष्यगुप्तीर्या समितो परे । तथैवादाननिक्षेपणा, श्यासमिति सत्तमा ॥११८॥

दृशालोकितपानादि, भोजनं पञ्चभावनाः । इत्यार्या भाषयन्त्वाद्य, व्रतार्थैर्याथसन्वहम् ॥११९॥

अर्थ—(१) एषणासमिति (२) मनोगुप्ति (३) ईर्यासमिति (४) आदान-निक्षेपणसमिति (५) आलोकित पान भोजन । ये पाँच इस अहिंसाव्रत की भावना हैं ॥११८॥ इस अहिंसा महाव्रत को स्थिर रखने के लिये मुनियों को प्रतिदिन इन भावनाओं का चिंतन करना चाहिये ॥११९॥

भावितं भावनाभिश्च, प्रथमं सारं महाव्रतं । प्रारोहति परां कोटिं, शुद्धिं मुक्तिकरं सताम् ॥

अर्थ—सज्जनोंको मोक्ष प्रदान करनेवाली और सारभूत यह अहिंसा महाव्रत इन भावनाओं के चिंतन करने से सर्वोत्तम शुद्धता की प्राप्ति होता है ॥१२०॥

अहिंसा व्रतकी सार्थकता उपसंहार रूप में—

असमगुण निधानं, स्वर्गमोक्षहेतुम् । व्रतसकलसुमूलं, तीर्थनार्थनिवेद्यम् ।

अभयकर्मपापं, सर्वदत्तेन वक्षाः, भजत शिवसुखाप्त्यं, ह्यादिमं सद्ब्रतं भो ॥१२१॥

अर्थ—यह अहिंसा महाव्रत, सर्वोत्तम गुणों का निधान है; स्वर्ग मोक्ष का कारण है, समस्त वृत्तों का मूल है, भगवान् तीर्थकर परमदेव के द्वारा भी सेवन करने योग्य है तथा समस्त जीवों को अभय देनेवाला है और पापों से सर्वथा रहित है । इसलिये हे चतुर पुरुषों ! मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये, सब तरह के प्रयत्न कर इस महाव्रत का पालन करो ॥१२१॥

द्वितीय सत्य महाव्रत का वर्णन—

तथ्यं हितं मितं सारं, जिनसूत्रानुगं शुभम् । निष्पापं करुणाकांतं, ब्रूयते वन्मुनीश्वरं ॥१२२॥

धर्मज्ञानोपवेशाय, रागद्वेषादिवृत्तगम् । वचनं श्री जिनैः प्रोक्तं, तद्द्वितीयं महाव्रतम् ॥१२३॥

अर्थ—मुनिराज जो धर्म और ज्ञानके उपदेश के लिये रागद्वेष रहित, यथार्थ हित करने वाले परिमित सारभूत, जिन शास्त्रों के अनुसार शुभ, पाप रहित, और करुणा से भरे हुए जो वचन कहते हैं उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव दूसरा सत्य महाव्रत कहते हैं ॥१२२-१२३॥

वचः सत्यमसत्यं चो, भयं ह्यनुभयं परम् । चतुर्वेति गणाधीश, वक्तं वचनं मंजसा ॥१२४॥

अर्थ—भगवान् गणधर देवों ने वचन के चार भेद बतलाये हैं—(१) सत्य-वचन (२) असत्यवचन (३) उभयवचन और (४) अनुभयवचन ॥१२४॥

असत्योभयनामात्र, द्विधा वाक्यं शुभालिगम् । सर्वपापकरं त्याज्यं, दूरतो वृत्तकांक्षिभिः ॥१२५॥

अर्थ—इनमें से (१) असत्य और (२) उभय दोनों प्रकार के वचन अशुभ हैं और समस्त पापों के करने वाले हैं इसलिये वृत्त धारण करने की इच्छा करनेवालों को इन दोनों को दूर से ही त्याग देना चाहिये ॥१२५॥

सत्यानुभयसद्वाणी, जगच्छर्मविधायिनी । निष्पापा धर्मदा वाक्या, सारा धर्माय योगिभिः ॥

अर्थ—सत्य और अनुभव वचन संसार का कल्याण करनेवाले हैं; पापरहित हैं, धर्मकी वृद्धि करनेवाले हैं; कहने योग्य हैं और सारभूत हैं इसलिये मुनियों को ये ही दो प्रकार के वचन कहने चाहिये ॥१२६॥

प्रियं हितं वचः किञ्चित्परं किञ्चिद्विज्ञाप्रियं । अप्रियाहितमेवान्यच्चतुर्धति वचो नृणाम् ॥१२७॥

अर्थ—कोई वचन प्रिय होकर भी हित करने वाले होते हैं; कोई हित करनेवाले होकर भी अप्रिय होते हैं तथा कोई प्रिय भी नहीं होते और हित करनेवाले भी नहीं होते, इन तीनों के अतिरिक्त जो वचन हैं वे सब चौथे भेद में शामिल हैं । ॥१२७॥

अप्रियाहितमेवैकं, स्थान्ययोः पापदुःखदम् । यत्नेन परिहर्ष्यं, संयतधर्मसिद्धये ॥१२८॥

अर्थ—इनमें से अप्रिय और अहित करने वाले वचन अपने और दूसरे दोनों को दुःख देने वाले तथा पाप उत्पन्न करने वाले हैं इसलिये मुनियों को धर्मकी सिद्धि के लिये ऐसे वचन बोलने का प्रयत्न पूर्वक त्याग कर देना चाहिये ॥१२८॥

क्वचिद् धर्मवशाद् ग्राह्यं, हिताप्रियं महात्मभिः । वचनं धर्मसिद्ध्यर्थं, विपाके केवलं हितम् ॥

अर्थ—महात्मा लोग कभी-२ धर्म के निमित्तसे होने वाले हितकारी किन्तु अप्रिय वचनों को धर्मकी सिद्धि करने वाले और ग्रहण करने योग्य समझते हैं क्योंकि ऐसे वचनों का अंतिम फल आत्मा का हित ही होता है ॥१२९॥

हितं प्रियं च वक्तव्यं, वचः सर्वार्थसिद्धये । प्रस्पष्टं निर्मलं दक्षं धर्मोपदेशनाय च ॥१३०॥

अर्थ—चतुर पुरुषों को समस्त पदार्थों की सिद्धि के लिये और धर्म का उपदेश देनेके लिये निर्मल और स्पष्ट ऐसे हितकारी प्रिय वचन ही कहने चाहिये ॥१३०॥

चौरस्य चौर एवायं, ह्यंधस्यांधोऽपि पापिनः । पापी धंडस्य धंडो, रंडाया रंडेति दुर्वचः ॥१३१॥

अर्थ—चोर को चोर कहना, अंधे को अंधा कहना, पापी को पापी कहना, नपुंसक को नपुंसक कहना और रांड को रांड कहना, 'दुर्वचन' कहलाते हैं ॥१३१॥

सत्यं चापि न वक्तव्यं, परं क्रोधादिकारणम् । निष्ठुरं कटुकं निघ्नं, वचः पीडाकरं नृणाम् ॥

अर्थ—यद्यपि ये वचन सत्य हैं; तथापि दूसरों को क्रोध उत्पन्न करने वाले हैं, इसलिये ऐसे वचन कभी नहीं कहने चाहिये; इनके अतिरिक्त कठोर, कटु, निंदनीय और मनुष्योंको दुःख उत्पन्न करनेवाले वचन भी कभी नहीं कहने चाहिये ॥१३२॥

वचसा येन जायेत, बाधा पीडा च देहिनाम् । तत्सत्यमपि लोकेऽस्मिन् न सत्यं गवितं बुधैः ॥

अर्थ—जिन वचनों से जीवों को पीडा या बाधा पहुँचती हो, ऐसे वचन यद्यपि सत्य हों तथापि बुद्धिमान लोग इस संसार में ऐसे वचनों को 'सत्य' कभी नहीं कहते ॥१३३॥

असत्यमपि सत्यं स्यात्, परार्थेन शुभप्रदम् । जीवरक्षा हिताद्यर्थं, वचो मृतं क्वचिद् बुधैः ॥

अर्थ—बुद्धिमान् मनुष्यों को जीवोंकी रक्षा और किसी आत्माका हित करने के लिये कभी कभी 'असत्य वचन' भी कहने पड़ते हैं; परन्तु ऐसे असत्य वचन दूसरे का कल्याण करने के कारण सत्य और शुभप्रद या कल्याण करने वाले ही माने जाते हैं ॥१३४॥

येन संतप्यते लोकः, क्रोधलोभादयोऽस्विताः । वधबंधान्यपीडाद्याः, स्मरादीन्द्रिय विद्विषः ॥

जायन्ते चोत्कटाः पुंसः, जालु वाक्यं न तद्वधः । रागद्वेषमवोन्मादः, प्राणनाशेऽपि संयतः ॥

अर्थ—जिन वचनों से लोगों को संताप हो; क्रोध, लोभादि विकार उत्पन्न हो; वध, बंध या दूसरों को पीडा हो; काम आदि इंद्रियों के विकार उत्पन्न हो; तीव्रता बढ़ जाय ऐसे राग, द्वेष, मद और उन्माद से उत्पन्न होने वाले वचन कभी नहीं कहने चाहिये । मुनियों को अपने प्राण नष्ट होने पर भी ऐसे वचन कभी नहीं कहने चाहिये ॥१३५-१३६॥

स्थिरं जायेत वराम्यं, वर्द्धन्ते सद्गुणाः सताम् । विलीयन्ते च रागाद्याः, साम्यन्त्यत्र स्मरादयः ॥

वुर्ध्मानानि च येनाशु, शुभो भावोऽस्ति धीधनः । वक्तव्यं तद्वचो मिष्टं, धर्मतत्त्वादिदर्शकम् ॥

अर्थ—जिन वचनों से वराम्य की स्थिरता हो; सज्जनों के गुण वृद्धि को प्राप्त होते रहें; राग, द्वेष नष्ट हो जाय, कामादिक विकार तथा आर्त्ता, रौद्र, ध्यान नष्ट हो जाय तथा जिन वचनों से शुभ भाव प्रगट हो जाय, जो वचन मिष्ट हों और धर्म या तत्त्वों का उपदेश देने वाले हों; ऐसे ही वचन, बुद्धिमानों को बोलने चाहिये ॥१३७-१३८॥

उक्तेनान्येनमेऽन्येषां, शुभं किंवाऽशुभं भवेत् । यशोऽथवाऽअयशः स्वास्थ्यं, श्रेयोऽश्रेयोऽय संप्रति ॥

पूर्वं वित्ते विचार्यति, पञ्चाद्वक्तुं योगिनः । शश्वद्धर्मोपदेशाय, स्वांग भानिदितं वचः ॥१४०॥

अर्थ—मुनियों को बोलने के पहले यह विचार कर लेना चाहिये कि इन वचनोंके कहने से मेरा या दूसरे का शुभ होगा या अशुभ होगा, यश होगा या अयश

होगा, तथा कल्याण होगा या अकल्याण होगा; यह सब विचार कर, मुनियों को बोलना चाहिये तथा निरन्तर धर्मोपदेश देनेके लिये अपने आगम के अनुसार, अनिदित वचन ही कहने चाहिये ॥१४०॥

नो चेन्मीनं प्रकुर्वन्तु चारं, सर्वार्थसिद्धिदम् । धर्मशुक्ला गमात्मजाः, सर्वबोधापहं परं ॥१४१॥

अर्थ—यदि ऐसे वचन (आगमानुकूल वचन) कहने का समय न हो तो धर्म-ध्यान शुक्लध्यान और आगम को जानने वाले मुनियों को समस्त दोषों को दूर करने वाला समस्त पदार्थों की सिद्धि करने वाला सर्वोत्कृष्ट और सारभूत मौन धारण लेना चाहिये ॥१४१॥

सत्येन वचसा कीर्तिः परमा शशिनिर्मला । भ्रमे त्लोकत्रये सर्वे बद्धंते सद्गुणाः सताम् ॥१४२॥

अर्थ—सत्य वचन कहने से सर्वोत्कृष्ट और चंद्रमा के समान निर्मल कीर्ति, तीनों लोकों में भर जाती है तथा सज्जनों के समस्त श्रेष्ठ गुण बद्धि को प्राप्त हो जाते हैं ॥१४२॥

सत्य मंत्रेण योग्यं वा, भारती विश्वदीपिका । सद्बुद्ध्यावतरत्येवामा, मुखे सत्यवाचिनां ॥

अर्थ—इस सत्यरूपी मंत्रके प्रभाव से संसार के समस्त पदार्थों को दिखलाने वाली सरस्वती श्रेष्ठ बुद्धि के साथ साथ सत्यवाचियों के मुख में हो आकर अवतार लेती है सो योग्य ही है ॥१४३॥

सम्पद्यते परा बुद्धिः निकषप्रायः सन्निभा । विश्वतत्त्वपरीक्षायां, सुधियां सत्यवाक्यतः ॥१४४॥

अर्थ—इस सत्यवचन के प्रभाव से बुद्धिमान् पुरुषों की श्रेष्ठ बुद्धि, समस्त तत्त्वों की परीक्षा करने के लिए कसौटी के समान हो जाती है ॥१४४॥

वाक्येन मधुरेणात्र, तुष्यन्ति प्राणिनो यथा । न तथा वस्तुवानार्थं वाक्येऽहो का वरिद्रता ॥

अर्थ—इस संसार के प्राणी, जिस प्रकार मधुर वचनों से संतुष्ट होते हैं; उसप्रकार अन्य पदार्थों के देने से संतुष्ट नहीं होते; इसलिये वचनों से कभी वरिद्रता नहीं रखनी चाहिए ॥१४५॥

मत्वेति मधुरं वाक्यं, हितं कर्णसुखायहम् । कटुकं निष्ठुरं त्यक्त्वा, वक्तव्यं धर्मसिद्धये ॥१४६॥

अर्थ—यही समझकर, धर्मकी सिद्धि के लिये, कठोर और कड़वे वचनों का

त्याग कर, मधुर एवं हित करने वाले और कानों को सुख देने वाले वचन कहने चाहिये ॥१४६॥

सत्ये च मधुरे वाक्ये, जगत्पूज्ये शुभाकरे । सत्यसत्यं जगन्निष्ठं, वदेत्कः कटुकं सुधीः ॥१४७॥

अर्थ—सत्य और मधुर वचन जगत्पूज्य हैं और शुभकी खान हैं; फिर भला ऐसा कीन बुद्धिमान् है जो ऐसे वचनों को छोड़कर असत्य, जगत् में निष्ठ और कड़वे वचनों को कहेगा अर्थात् कोई नहीं ॥१४७॥

इन्द्रादयो न प्रत्यूहं, कर्तुं शक्ताश्च भीमताम् । खादितुं कूरुसर्पाद्याः, सत्यसीमावलं विनाम् ॥

अर्थ—सत्य वचन कहने वाले, बुद्धिमानों के कार्यों में, इन्द्र भी कोई धिघ्न नहीं कर सकता; तथा और सर्पवर्गिक भी उसे नहीं काट सकते ॥१४८॥

अनयो न वहन्यत्र, नागा खादन्ति जातु न । सुसत्यवादिनो लोके, प्रत्येक्षेति दृश्यते ॥१४९॥

अर्थ—इस संसार में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि सत्यवादी लोगों को न तो अग्नि जलाती है और न सर्प ही काटते हैं ॥१४९॥

असत्यवादिनस्तेऽपि, न सहन्तेऽनलावयः । मुखरोगावयः सर्वे, जायन्तेऽनृतभाषिणाम् ॥१५०॥

अर्थ—वे अग्नि, सर्प आदि असत्यवादियों को कभी सहन नहीं कर सकते; असत्यवादियों के मुख रोग या कुष्ठ आदि समस्त रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥१५०॥

मूषाबाबोत्थपापेन, मूर्खता जायते नृणाम् । होयते परमा बुद्धि रकीर्तिः स्याज्जगत्त्रये ॥१५१॥

अर्थ—मिथ्या भाषण से उत्पन्न हुए पाप के द्वारा मनुष्यों में मूर्खता उत्पन्न होती है । श्रेष्ठ बुद्धि भी नष्ट हो जाती है और तीनों लोकों में अपकीर्ति फैल जाती है ॥१५१॥

गूथभक्षणमेवाहो, वरं वा विषभक्षणम् । नासत्यभाषणं धर्म, विरोधि वा शुभाकरम् ॥१५२॥

अर्थ—यह असत्य भाषण, धर्म का विरोधी है और दुर्गंतियों को देने वाला है; इसलिये विष खा लेना अच्छा; अथवा बिष्ठा खा लेना अच्छा; परन्तु असत्य भाषण करना अच्छा नहीं ॥१५२॥

चिरंप्रवर्जितो योगी, महाश्रुततपोऽकितः । यः सोप्यत्र मूषावादात्, निष्ठः स्यादंत्यजादपि ॥

अर्थ—जो मुनि चिरकाल का दीक्षित है, महाश्रुतज्ञानी है तथा महा तपस्वी है; वह भी असत्य भाषण करने से चांडाल से भी निष्ठ समझा जाता है ॥१५३॥

विज्ञायेति न वक्तव्यं, कश्चिच्च विलभं वचः । परपीडाकरं वक्षः, सत्सुकार्यविकोष्ठिषु ॥१५४॥

अर्थ—यही समझकर करोड़ों श्रेष्ठ और अच्छे कार्य होने पर भी, चतुर पुरुषों को पीड़ा उत्पन्न करने वाले, असत्य वचन कभी नहीं कहने चाहिये ॥१५४॥

अनिष्टं यद्वेदाभ्यं, परुषं कर्णदुल्लसम् । न वाच्यं तत्परस्परतन्मूलं, धर्मवतात्मनाम् ॥१५५॥

अर्थ—जो वचन दूसरों की अनिष्ट हो; जो कठोर हो और कानों को दुःख देने वाले हों ऐसे वचन धर्मात्मा और धर्मी पुरुषों को कभी नहीं कहने चाहिये ॥१५५॥

भौन की उपयोगिता—

मौनमेवोचितं सारं, सर्वालवनिरोधकम् । मुनीनां समया जाते, कार्ये धर्मनिबन्धिनि ॥१५६॥

वदन्तु मुनियः सत्यं, मितं स्वल्पाक्षरं शुभम् । बह्वर्थं धर्मं संसिध्यं, व्यक्तं चागमसंभवम् ॥१५७॥

अर्थ—प्रायः मुनियों को मौन धारण करना चाहिये, यह मौन ही समस्त आश्रय को रोकने वाला है और सारभूत है । यदि किसी धर्म कार्य के लिये बोलना पड़े तो मुनियों को धर्म की सिद्धि के लिये सत्य, परिमित, शुभ, थोड़े से श्रद्धाओं में बहुत से अर्थ को सूचित करने वाला, व्यक्त और आगम के अनुकूल बोलना चाहिये ॥१५६-१५७॥

सत्य महाव्रत की ५ भावना—

क्रोधलोभभयत्यागाः, हास्यवर्जनमेव च । सामस्त्येन विचार्योर्ध्वरागभोक्तुमुभाषणम् ॥१५८॥

इमाः सद्भावनाः पञ्च, भाषयन्तु तपोधनाः । सत्यव्रतविशुद्ध्यर्थं, प्रत्यहं व्रतकारिणीः ॥१५९॥

अर्थ—(१) क्रोध का त्याग (२) लोभका त्याग (३) भय का त्याग (४) हास्य का त्याग और (५) सब बातों का विचार कर आगम के अनुसार भाषण करना ये पांच इस सत्य महाव्रत की भावना हैं । ये भावना ही व्रतों को स्थिर रखती हैं इसलिये मुनियों को अपना सत्यव्रत विशुद्ध रखने के लिये प्रतिदिन इन भावनाओं का चिंतन करते रहना चाहिये ॥१५८-१५९॥

सत्यव्रत की महिमा उपसंहार रूपमें—

भुतसकल विधातारं, महाधर्मबीजम् । शिवसुरगति हेतुं, विश्वकीर्त्याधिहर्तुम् ॥

दुरितक्षित्तिमिरभामुं, सर्वकल्याणमूलम् । मिथमपगतदोषाः सद्ब्रतं पालयन्तु ॥१६०॥

अर्थ—यह सत्य महाव्रत समस्त भुतजानको देनेवाला है, धर्म का श्रेष्ठ बीज

है, मोक्ष तथा स्वर्ग गति का कारण है; संसार भर में कीस्तिको फैलाने वाला है, पाप रूपी अंधकार को दूर करने के लिये सूर्यके समान है, समस्त कल्याणों का मूल है अतएव समस्त दोषों से रहित मुनियों को इसका पालन करना चाहिये ॥१६०॥

अर्चीर्य महाव्रत का स्वरूप—

आम खेटाटयी शैल, गृहारण्यपथादिषु । पतितं विस्तृतं नष्टं, स्थापितं वान्य वस्तु च ॥१६१॥
सूक्ष्मं स्थूलं महद्वाक्पं, गृह्यते यन्न जातुचित् । कृष्णाहिरिब विजेयं, तत् तृतीयं महाव्रतम् ॥

अर्थ—किसी गांध, खेट, वन, पर्वत, घर, जंगल या मार्ग आदि में पड़ी हुई, भूली हुई, खोई हुई या रक्खी हुई छोटी, बड़ी बहुत या कम दूसरे की वस्तु को कभी ग्रहण नहीं करना है । उसे काले सर्प के समान समझकर अलग हट जाना है उसको तीसरा 'अर्चीर्य महाव्रत' कहते हैं ॥१६१-१६२॥

अहो ! ये मुनयो बंधाः, निर्लोभाः स्वतनावपि । वत्तं जातु न गृह्णन्ति, आमण्यायोग्यमेव यत् ।
कथं गृह्णन्ति ते निदां, परं स्व स्वधकारणम् । अवसं स्वान्ययो घोर, दुःखक्लेशा शुभादिमम् ॥

अर्थ—देखो ! जो मुनि बंधनीय हैं; जो अपने शरीर में भी लोभ या ममत्व नहीं रखते; जो मुनियों के अयोग्य पदार्थों को देने पर भी ग्रहण नहीं करते, वे भला दूसरे के द्वारा बिना दिये हुए निबन्धीय परधन को कैसे ग्रहण कर लेंगे; क्योंकि बिना दिया हुआ दूसरेका धन, नरक का कारण है तथा अपने और दूसरों के लिये घोर दुःख, घोर क्लेश और अनेक दुर्गतियों को देनेवाला है ॥१६३-१६४॥

अवसादानबोधेण, बंधधधादयो नृणाम् । लभ्यन्तेऽत्रैव चौरैश्च, परत्र नरकादयः ॥१६५॥

अर्थ—बिना दिये हुए धनको ग्रहण करने के दोष से चोरों को राजा से इसी लोकमें अनेक प्रकार के वध, बंधन आदि के दुःख प्राप्त होते हैं तथा परलोक में नरकादि दुर्गतियां प्राप्त होती हैं ॥१६५॥

क्षणमात्रं न चेहन्ते, संसर्गं तस्करस्य भो । यतयः स्वजना जात्र, वध बंधाविसंकया ॥१६६॥

अर्थ—हे मुनिराज ! देखो चोर के कुटुम्बी लोग भी वध, बंधन आदि की आशंका से क्षण भर भी चोर का संसर्ग नहीं चाहते ॥१६६॥

अवसादानमात्रेण, क्लृप्तं दुस्त्यजं भुवि । जायते प्राणसन्वेहः, कुलस्य दुधिया क्षणात् ॥१६७॥

अर्थ—बिना दिए हुए, धनको ग्रहण करने मात्र से इस संसार में कभी न

छटने वाला कलंक लग जाता है तथा वह कलंक उन धूर्तोंके समस्त कुलमें लग जाता है और क्षण भर में ही उनके प्राणों में संदेह हो जाता है ॥१६७॥

अहंतां याष्टथा पूजा, केनचिद्धोमता कृता । तामावत्तेऽत्रयो लुब्धो, महाचोरः स कथ्यते ॥१६८॥

अर्थ—किसी भी बुद्धिमान् के द्वारा, जो अष्टद्रव्य से भगवान् अरहंतदेवकी पूजा की जाती है; उस चढ़ी हुई पूजा द्रव्यको जो ग्रहण करता है उसे भी लोभी और महा चोर समझना चाहिये ॥१६८॥

श्री जिनेन्द्रमुखोत्पन्ने, शास्त्रेकेनापि पूजिते । तत्पूजावस्तु नावेयं, जात्यचौर्यव्रताप्तये ॥१६९॥

अर्थ—जिस किसी भी पुरुष ने भगवान् जिनेन्द्रदेव के मुख से उत्पन्न हुई सरस्वती की पूजा की है और उसमें जो द्रव्य चढ़ाया है; वह भी अचौर्य व्रत पालन करने के लिये कभी नहीं लेना चाहिये ॥१६९॥

रत्नत्रयं समुच्चार्य, गुरुपादौ प्रपूजितौ । अर्घथा सान् चादेया, सद्द्रव्या जातुचिज्जनैः ॥१७०॥

अर्थ—जिस द्रव्यसे रत्नत्रय का उच्चारण करते हुए आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेश्वरी की पूजा की है; वह द्रव्य भी कभी नहीं लेना चाहिये ॥१७०॥

किमिव बहुतोक्तेन, निर्माल्यं दुरिताकरम् । देवशास्त्रगुरुणां च, नावेयं धर्मकांक्षिभिः ॥१७१॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या लाभ है थोड़े से से इतना समझ लेना चाहिये कि देव, शास्त्र, गुरुओं पर चढ़ाया हुआ निर्माल्य द्रव्य धर्मात्मा पुरुषों को कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये क्योंकि उसको ग्रहण करनेसे अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न होते हैं ॥१७१॥

यदि स्वर्गं व्रजेत्, पूजा कर्त्ताहं दज्ञान योगिनाम् । तन्निर्माल्यात्त चित्तानां, श्वश्रुकेन निवार्यते ॥

यदि देव शास्त्र गुरु की पूजा करनेवाला स्वर्ग को जाता है तो उस निर्माल्य द्रव्यको ग्रहण करने वाले को नरक में जाने से कौन रोक सकता है अर्थात् कोई नहीं ॥१७२॥

अवत्तमथवा वत्तं, यत्संयमादि हानिकृत् । तत्सर्वथा न च प्राह्यं, प्राणैः कंठगतरपि ॥१७३॥

अर्थ—जो द्रव्य दिया हो या न दिया हो; यदि वह संयम की हानि करने वाला है तो कंठगत प्राण होने पर भी मुनियों को कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥१७३॥

इति मत्वा न चावेयं, संयतं वंत्तशुद्धये । अवत्तं तृणमात्रं भो, का कथा पर वस्तुषु ॥१७४॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को अपने दांत, शुद्ध करने के लिये बिना दिया हुआ तृण भी ग्रहण नहीं करना चाहिये; फिर भला पर पदार्थों की तो बात ही क्या है ॥१७४॥

अर्चौर्य व्रतकी सफलता—

परस्वं येन गृह्णन्ति, ग्राह्यन्ति न जानुचित् । गृह्णन्तं नानुमन्थन्ते, ऽत्राणुमात्रेतर ब्रूयाः ॥१७५॥

कालाहिभिश्च कायेन, वचसा मनसा भुवि । संपूर्णं जायते तेषां, ज्ञानिनां तन्महाव्रतम् ॥१७६॥

अर्थ—जो बुद्धिमान् पुरुष अणु मात्र या बहुत सी पर वस्तु को काले सर्पके समान समझकर, मन-वचन-काय से न तो स्वयं ग्रहण करते हैं; न कभी दूसरों से ग्रहण कराते हैं और न कभी ग्रहण करने वाले की अनुमोदना ही करते हैं; उन ज्ञानी पुरुषों के इस संसार में तीसरा अर्चौर्य महाव्रत पूर्ण प्रकट होता है ॥१७५-१७६॥

अर्चौर्यव्रतकी ५ भावना—

याचाख्या समनुज्ञापना, नात्मभाव एव हि । तथैव निरवद्यं, प्रति सेवनं सुभाषनाः ॥१७७॥

सधर्म्युपकरणस्यानु वीची सेवनं त्विमाः । अस्तेयव्रत शुद्धयर्थं, भावनीयाः सुभाषनाः ॥१७८॥

अर्थ—(१) कभी किसी से याचना नहीं करना (२) किसीको कुछ आशा न देना (३) किसी भी पदार्थ से ममत्व नहीं रखना (४) सदा निर्दोष पदार्थ का सेवन करना (५) और साधर्म्य पुरुषों के साथ शास्त्रानुकूल वर्त्ताव करना ये पांच अर्चौर्य महाव्रत को शुद्ध रखनेवाली श्रेष्ठ भावनार्यें हैं ॥१७७-१७८॥

अखिलविभवहेतुं, लोभमातंगसिंहम् । शिवशुभगतिमार्गं, सारमस्तेयसंगम् ॥

व्रतवरमपदोषं, मुक्तिकामा शिवाप्त्यै, भजत परमयत्ना, लोभशत्रुं निहत्य ॥१७९॥

अर्थ—यह अर्चौर्य महाव्रत, समस्त विभूतियों का कारण है, लोभ रूपी हाथी को मारने के लिये सिंह के समान है, मोक्ष और शुभगति का मार्ग है, समस्त व्रतों में सार है, सब व्रतों में उत्तम है और समस्त दोषों से रहित है; इसलिये मोक्षकी इच्छा करने वाले को लोभ रूपी शत्रुको मारकर बड़े प्रयत्न से, केवल मोक्ष प्राप्त करने के लिये, इस महाव्रत का पालन करना चाहिये ॥१७९॥

ब्रह्मचर्य महाव्रत का स्वरूप—

स्वात्मजेषु सुकन्या, यौवनस्था भगिनीषु च । वृद्धा नारी निजाम्बेषु, वृश्यते या विरागिभिः ॥

सरागपरिणामादीन्, त्यक्त्वा शुभाशयैः सदा । निर्मलं तज्जिनैः प्रोक्तं, ब्रह्मचर्यं महाव्रतं ॥

अर्थ—शुद्ध हृदय को धारण करने वाले, वीतरागी पुरुष अपने राग रूप परिणामों का सर्वथा त्याग कर कन्या को अपनी पुत्री के समान, मानते हैं । यौवनवती स्त्रीको अपनी भगिनी के समान मानते हैं और वृद्धा स्त्रीको अपनी माता के समान मानते हैं; इसप्रकार जो निर्मल ब्रह्मचर्यको धारण करते हैं उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव 'ब्रह्मचर्य महावृत' कहते हैं ॥१८०-१८१॥

स्त्री तिरस्त्री च देवीमाः, कथ्यन्ते त्रिविधा स्त्रियः । मनोवचनकार्यस्ताः, प्रत्येकं गुणिता भुवि ॥
नवभेति विकल्पाः स्युरब्रह्मदेसवोऽखिलान् । परिहृत्य त्रिशुष्यातां नवधा ब्रह्मरक्ष्यते ॥१८२॥

अर्थ—संसार में (१) मनुष्यनी (२) तिर्यचनी और (३) देवी ये तीन प्रकार की स्त्रियाँ हैं; यदि इन तीनों को मन, वचन, काय इन तीनों से सेवन करने की इच्छा की जाय तो 'अब्रह्मचर्य' के ६ भेद हो जाते हैं; इसलिये मन, वचन, काय की शुद्धता पूर्वक इन सबका त्याग कर नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिये ॥१८२-१८३॥

मनो वाक् काययोः, कृतकारितानुमोदनैः । प्रत्येकं गुणिता रामा, नवभेदा भवन्ति वा ॥१८४॥
सर्वथा वाक् मनः कायान्, कृतादीनिरिह्य च । नवधा ब्रह्मचर्यं हि, पालयंतु जितेन्द्रियाः ॥

अर्थ—अथवा मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना को सर्वथा रोककर, जितेन्द्रिय पुरुषों को ६ प्रकार से पूर्ण ब्रह्मचर्य को पालना चाहिये क्योंकि प्रत्येक स्त्री के संबंध से ६ भेद हो सकते हैं ॥१८४-१८५॥

स्त्री शृंगारकथालापाः, कामोद्रेक निबन्धनाः । न श्रोतव्या न कर्तव्या, त्रिशुष्या ब्रह्मचारिभिः ॥

अर्थ—स्त्रियों के शृंगार की कथा कहना भी कामोद्रेकका कारण है इसलिए ब्रह्मचारियों को अपने मन वचन कायको शुद्ध रखकर स्त्रियों के शृंगार की कथा न कभी सुननी चाहिये और न कभी कहनी चाहिये ॥१८६॥

विलासकार शृंगार, गीतनृत्यकलादिकान् । योषितां नैव पश्यन्ति, बहून् रागकरान् वृषाः ॥

अर्थ—स्त्रियों के विलास, हास, शृंगार, गीत, नृत्य, कला आदि सब बहुत ही राग उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिये बुद्धिमान् लोग इनको कभी नहीं देखते हैं ॥१८७॥

क्षणमात्रं न कर्त्तव्यं, संसर्गं योषितां क्वचित् । कलंककारिणं निघ्नं, ब्रह्मचर्यपरायणः ॥१८८॥

अर्थ—स्त्रियों का संसर्ग कलंक लगाने वाला, अत्यंत निघ्न है इसलिये ब्रह्म-

चारी पुरुषों को, स्त्रियों का संसर्ग क्षणमात्र भी कभी नहीं करना चाहिये ॥१८८॥

यतः संसर्गमात्रेण, स्त्रीणां संजायते सताम् । कलंकं दुस्त्यजं लोके, प्राणसन्देह एव च ॥१८९॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि इस संसारमें स्त्रियोंका संसर्ग करने मात्रसे सज्जन पुरुषों को कभी भी न छूटने वाला कलंक लग जाता है तथा उनके प्राणों में भी संदेह हो जाता है ॥१८९॥

चित्रादि निर्मिता नारी, मनः क्षोभं करोति भो । साक्षात्पुंसां सुरुषा स्त्री, किमनर्थं करोति न ॥

अर्थ—अरे ! देखो । चित्र की बनी हुई स्त्री भी पुरुषों के मन में क्षोभ उत्पन्न कर देती है फिर भला, अत्यंत रूपवती साक्षात् स्त्री क्या क्या अनर्थ नहीं कर सकती ? अर्थात् सब कुछ कर सकती है ॥१९०॥

नवनीतनिभं चित्तं, ह्यग्निज्वालासंगिनाम् । किं नकृत्यं नृणां कुर्यात्तयोः संसर्ग एव च ॥१९१॥

अर्थ—पुरुष का हृदय, मकलन के समान है; और स्त्री का हृदय अग्निकी ज्वालाके समान है; फिर भला, इन दोनों का संसर्ग क्या २ अनर्थ नहीं कर सकता; अर्थात् सब तरह के अनर्थ कर सकता है ॥१९१॥

वरं व्याध्वादि चौराणां, संसर्गः प्राणनाशकृत् । न च स्त्रीणां जगन्निधो, व्रतघ्नो नरक प्रदः ॥

अर्थ—सिंह, सर्प और चोर आदि का संसर्ग यद्यपि प्राणों को नाश करने वाला है तथापि वह तो श्रेष्ठ है परन्तु संसार भर में निदनीय, वृत्तों को नाश करने वाला और नरक में डकेलने वाला स्त्रियों का संसर्ग कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता ॥१९२॥

नारीसंसर्गमात्रेण, बहवो योगिनो भुवि । नष्टाः स्वभ्रं गताः केचिच्छ्रूयन्ते श्री जिनारामे ॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव के आगम से जाना जाता है कि इस संसार में स्त्रियों का संसर्ग करने मात्रसे अनेक योगी नष्ट हो गये हैं और कितने ही योगी नरक में पहुंचे हैं ॥१९३॥

मत्वेति सर्वयत्नेन, संसर्गोऽनर्थकृद्बुधैः । त्याज्यः स्त्रीणां च सर्वासां, कलंकं शंकातराम् ॥

अर्थ—यही समझकर, बुद्धिमान् पुरुषों को कलंक लगाने की शंका से, पूर्ण प्रयत्न के साथ, समस्त स्त्रियों का संसर्ग छोड़ देना चाहिये; क्योंकि स्त्रियों का संसर्ग अनेक अनर्थ उत्पन्न करने वाला है ॥१९४॥

न केवलं बुधस्याज्यः, संसर्गो योषितामिह । किन्तु निःशीलपुंसां च, संयो लोकद्वयान्तकृत् ॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुषों का कार्य, केवल स्त्रियों के संसर्ग के त्याग करने से ही पूर्ण नहीं होता, किन्तु उन्हें शील रहित पुरुषों के संसर्ग का भी त्याग कर देना चाहिये क्योंकि शील रहित पुरुषों का संसर्ग भी दोनों लोकों को नाश करने वाला है ॥१६५॥

ब्रह्मचर्यं च सर्वेषां, वृत्तानां शुद्धिकारणम् । ब्रह्मचर्यविनाशेन, सर्वे नश्यन्ति सद्वृत्ताः ॥१६६॥

अर्थ—यह ब्रह्मचर्य, समस्त वृत्तों की शुद्धि का कारण है; तथा इस ब्रह्मचर्य का नाश होने से समस्त श्रेष्ठ वृत्त नष्ट हो जाते हैं ॥१६६॥

ब्रह्मचर्यच्युतः श्वेव, सर्वत्र चापमान्यते । मुनिभिः सुजनैः प्राणी, ईहामुत्रेति दुःखभाक् ॥१६७॥

अर्थ—जो प्राणी ब्रह्मचर्यसे च्युत हो जाता है, उसका अपमान, मुनि वा अन्य सज्जन सर्वत्र करते हैं तथा वह प्राणी इस लोक और परलोक दोनों लोकों में दुःख पाता है ॥१६७॥

गौरं चमद्वितं कान्तं, वस्त्राभरणमंडितम् । स्त्रीरूपं त्वं मुने वीक्ष्य, तस्यान्तःस्थं विचारय ॥

अर्थ—हे मुनिराज, गौर वर्ण के चमड़े से ढके हुये, अत्यन्त मनोहर और वस्त्राभूषणों से सुशोभित ऐसे स्त्रीके रूपको देखकर, तू उसके भीतर भरे हुए पदार्थों का चिंतन कर ॥१६८॥

अहो ! घृणास्पदं निन्धा, लालाभ्युर्ध्वमीकृतम् । श्लेष्मागारं च दुर्गन्धं, स्त्रीमुखं कः प्रशस्यते ॥

अर्थ—देखो, स्त्रियों का मुख, अत्यन्त घृणित और निन्दनीय है; भूक के पानी की बनी हुई कीचड़ से वह भर रहा है, कफ का वह घर है और अत्यन्त दुर्गन्धमय है; भला ऐसे स्त्री के मुखकी प्रशंसा कहाँ की जा सकती है अर्थात् कहीं नहीं ॥१६९॥

मांसपिण्डौ कुचौ स्त्रीणां, धातुभोरणितसंभृतौ । विष्ठादिनिचितं चास्ति, पंजरं जठरं परम् ॥

अर्थ—और देखो, स्त्रियों के कुच मांसके पिण्ड हैं; धातु और रुधिर से भरे हुए हैं । इसीप्रकार स्त्रियों का उबर विष्ठा से भरा हुआ है और हड्डी पसलियों से परिपूर्ण है ॥१७०॥

अथन् मूत्रादि दुर्गन्धं, योनिरंध्रं घृणास्पदं । श्वभ्रागारमिवासारं, कथं स्याद् रतये सताम् ॥

अर्थ—स्त्रियों की योनिसे, सदा रुधिर, मूत्र बहता रहता है; इसलिये वह

दुर्गन्धमय अत्यन्त घृणित और नरक के घरके समान असार समझी जाती है । उसमें भला सज्जन लोग कैसे अनुराग कर सकते हैं अर्थात् कभी नहीं ॥२०१॥

सूक्ष्मा अलब्ध पर्याप्ता, जायन्तेमानवाः सदा । योनौ नाभौ च कक्षायाम्, विश्वस्त्रीणां स्तनान्तरे ॥

अर्थ—कर्मभूमि की समस्त स्त्रियों की योनि में, नाभि में, कक्ष में और दोनों स्तनों के मध्य भाग में सूक्ष्म और अलब्ध पर्याप्तक मनुष्य सदा उत्पन्न होते रहते हैं ॥२०२॥

तेषु सर्वे प्रवेशेषु, त्रियन्ते जन्तुराण्यः । लिंगह स्तादिसंस्पर्शादिस्पृक्तस्वागमे जिर्नः ॥२०३॥

अर्थ—उन समस्त प्रवेशों में लिंग अथवा हाथका स्पर्श होता है । उस स्पर्श से वह सब जीवों की राशि मर जाती है । ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेवने अपने आगम में बतलाया है ॥२०३॥

अतो मुनीश्वरनिन्द्यं, स्वध्वं दुःखनिबन्धनम् । सर्वपापकरो भूतं, मैथुनं स्यात्कुमार्गगम् ॥२०४॥

अर्थ—इसलिये कहना चाहिये कि यह मैथुन कर्म मुनीश्वरोंके द्वारा निन्दनीय है, नरक के दुःखों का कारण है, समस्त पापों की खान है और कुमार्ग में ले जाने वाला है ॥२०४॥

कामदाहाविशान्तर्यं, सेवन्ते येऽत्र मैथुनम् । वृषभास्तेऽनलं दीप्तं, तैलेन वारयन्ति भोः ॥२०५॥

अर्थ—जो लोग केवल काम के संताप को शांत करने के लिये, मैथुन सेवन करते हैं, उन्हें 'बैल' समझना चाहिये; वे लोग जलती हुई अग्नि को तेल से बुझाना चाहते हैं ॥२०५॥

कार्यं न शयनं जातु, कोमले संस्तरे क्वचित् । आसने चासने ब्रह्म, घातकं ब्रह्मचारिभिः ॥२०६॥

अर्थ—ब्रह्मचारियों को 'कोमल बिछौने' पर कभी नहीं सोना चाहिये और न कोमल आसनपर बैठना चाहिये, क्योंकि ब्रह्मचारियों को कोमल आसन भी ब्रह्मचर्य का घात करनेवाला है ॥२०६॥

सर्वः शरीरसंस्कारः, कामरागाविषर्धकः । न विधेयो बुधैर्निन्द्यो, ब्रह्मरक्षात्तमानसः ॥२०७॥

अर्थ—शरीर का सब तरह का संस्कार, काम और रागको बढ़ाने वाला है तथा निन्दनीय है; इसलिये ब्रह्मचर्यकी रक्षा करने में जिनका मन लगा हुआ है ऐसे बुद्धिमान् पुरुषोंको किसी भी प्रकार का शरीर का संस्कार नहीं करना चाहिये ॥२०७॥

दुग्धाद्याः सबलाहाराः, सुस्वादा मोदकादयः । कामाग्निदीपिका ग्राह्या न क्वचित् बह्वर्काक्षिभिः ॥

अर्थ—ब्रह्मचर्यके रक्षा करने की इच्छा करने वाले पुरुषों को न तो दल देने वाला दूध आदि का आहार करना चाहिये, न लड्डू आदि स्वादिष्ट पदार्थों का आहार करना चाहिये, क्योंकि ये सब पदार्थ कामरूपी अग्निको प्रज्वलित करनेवाले हैं ॥२०८॥

यथा कृणादिसंयोगः, प्रायुर्भवेदगृहेऽनलः । तथा काये च कामाग्निः, सबलाहार सेवनेः ॥२०९॥

अर्थ—जिसप्रकार घास फूसके संयोग से घर में अग्नि उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार 'पौष्टिक आहार' के सेवन करने से शरीर में 'कामाग्नि' उत्पन्न हो जाती है ॥२०९॥

अभ्यानासना, छिंश्च, रक्षणीयो न गर्जन्तः । कासनागालयः कण्ठः, मसृच्छिन् तज्जुग्मिषुद्धये ॥

अर्थ—यह शरीर 'काम रूपी सर्प का घर है' इसलिये अपने ब्रह्मचर्य को विशुद्ध रखने के लिये, अभ्यास, पान, आसन आदि से कभी इसकी रक्षा तो करनी चाहिये किन्तु इंद्रिय भोगों के लिये नहीं करनी चाहिये ॥२१०॥

यतः कामप्रकोपेन, शरीरसुखकाक्षिणाम् । सार्धं सर्वव्रतैः शीघ्रं, ब्रह्मचर्यं पलायते ॥२११॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि 'शरीर के सुख की इच्छा' करने वालों के शरीर में 'कामका प्रकोप' उत्पन्न हो जाता है और फिर समस्त व्रतोंके साथ उसका ब्रह्मचर्य भी शीघ्र ही भाग जाता है ॥२११॥

मत्वेति सर्वथा त्याज्यं, वपुः सौख्यं विषाग्रवत् । सबलास्रं मुखाद्यंग, संस्कारं शयनादि च ॥

अर्थ—यही समझकर शरीरके सुख को 'विष मिले हुए अन्नके समान' सर्वथा त्याग कर देना चाहिये तथा इसी प्रकार 'पौष्टिक आहार' मुख आदि, शरीर के 'अंगों का संस्कार' और 'अधिक शयन' आदि का भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥२१२॥

निरीक्षणं न कर्तव्यं, स्त्रीणां हावैऽनिते मुखे । यतस्तल्लोकमादेते, जायन्तेऽमर्धकारिणः ॥२१३॥

अर्थ—हाव भावसे भरे हुये, स्त्रियों के मुख को, कभी नहीं देखना चाहिये क्योंकि स्त्रियों का मुख देखने से नीचे लिखे अनुसार अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जाते हैं ॥२१३॥

स्त्रियों का मुख देखने उत्पन्न अनर्थ —

'दष्टिपातो' भवेदावी, 'व्यापुहति मनस्ततः' 'सरागः' कुरुते पश्चात्, तत्कथापुराकीर्तनम् ॥

ततः प्रेमानुबंधः, प्रवर्धते ह्यभयोस्ततः । उत्कण्ठते शुभं वैतः कामभोगावि केवलम् ॥२१५॥
'वामदाक्षिण्यवार्त्ताद्यं', रमयोः वर्धते स्मरः । तत्रः कामाभिजाषेण, परा प्रीतिश्च जायते ॥

अर्थ—वैयो, (१) सबसे पहले तो 'दृष्टिपात' होता है तदनन्तर (२) मन मोहित होता है (३) फिर वह मनुष्य उससे प्रेम करने लगता है (४) फिर वह उसकी कथा कहता है (५) फिर उसके गुणों का वर्णन करता है (६) तदनन्तर उन दोनों के प्रेम का सम्बन्ध बढ़ता है (७) फिर उन दोनों का मन उत्कण्ठित होता है अथवा काम सेवन आदि की उत्कण्ठा करता है (८) तदनन्तर परस्पर देने लेने व चतुरता की बातचीत से अग्नि और भी ऐसी ही बाणों से दोनों का कामदेव बढ़ता जाता है । (९) तदनन्तर काम सेवन की इच्छा से दोनों में प्रेम की मात्रा खूब बढ़ जाती है । ॥२१४-२१६॥

तथा मिलति चाग्न्योन्यं, मानसं कामलालसम् । प्रणश्यति ततो लज्जा, कंदर्पशरताडिता ॥२१७॥

अर्थ—फलस्वरूप 'काम सेवन' की लालसा करने वाला उन दोनों का मन परस्पर मिल जाता है और (१०) फिर कामदेव के बाणों से ताडित हुई लज्जा शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥२१७॥

निलज्जः कुस्ते कर्म, रहोजल्पनमन्वहम् । तयोस्ततश्च कामाग्नि, बुनिवारो विजृम्भते ॥२१८॥

अर्थ—तदनन्तर निलज्ज होकर वे दोनों एक दिन एकांत में बैठकर बातचीत करने का कार्य करते रहते हैं और फिर उन दोनों की कामरूपी अग्नि ऐसी बढ़ जाती है जो किसी से रोकी नहीं जा सकती ॥२१८॥

इष्टमानस्ततस्तेन, बहिरन्त स्मराग्निना । अविचार्यतया वायु, वर्त्तते निश्च कर्मणि ॥२१९॥

अर्थ—उस कामदेव रूपी अग्नि से वे बाहर और भीतर जलते रहते हैं; जिससे उनका विचार सब नष्ट हो जाता है और विचार तथा बुद्धि नष्ट हो जाने के कारण वे दोनों शीघ्र ही निश्च कर्म में प्रवृत्ति करने लग जाते हैं ॥२१९॥

फलतः सर्वगुणों का नाश—

तेन श्रुतं तपः शीलं, कुलं च वृत्तमुत्तमम् । इंधनीकुशले मूढः, प्रविश्य स्त्री विसानले ॥२२०॥

अर्थ—उस निश्च कर्मके करने से वह मूर्ख स्त्री रूपी अग्निकुंडमें, पड़कर अपने उत्तम श्रुतज्ञानको, तपश्चरणको, शीलको, कुलको और चारित्र्यको जला डालता है ॥२२०॥

ततोऽपमानमग्रैव, वधबंधकद्वयमम् । लभते स परब्राह्मो, नरकं सप्तमं कुधो ॥२२१॥
विधित्वेति न पश्यन्ति, कामिनीं ब्रह्मचारिणः । क्वचिद् दृष्टिविषाहि, भिवाखिलानर्थं कारिणीम् ॥

अर्थ—श्रुत, शील, तप आदि के नष्ट हो जाने से, इस लोक में ही, उसका भारी अपमान होता है और वध बंधन के द्वारा वह भारी तिरस्कृत होता है तथा परलोक में उस मूर्ख को सातवां नरक प्राप्त होता है ॥२२१॥

यही समझकर ब्रह्मचारी पुरुषों को दृष्टि विष (जिसको देखने मात्र से विष चढ़ जाय) ऐसे सर्प के समान समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाली स्त्रियां कभी नहीं देखनी चाहिये ॥२२२॥

वे पुरुष ही धन्य हैं—

धन्यास्ते एव लोकेऽस्मिन्, यैर्ब्रह्म निर्मलं क्वचित् । स्वप्नेष्युपव्रितैः स्त्रीभिः, न भीतं मलसन्निधौ ॥

अर्थ—संसार में वे ही लोग धन्य हैं; जो स्त्रियों के द्वारा उपद्रव किये जाने पर भी, स्वप्न में भी अपने निर्मल ब्रह्मचर्यको कभी मलिन नहीं होने देते हैं ॥२२३॥

शीलालंकरिणां पादाक्षमन्त्राज्ञाविधायिनः । देवेशाः समराश्चाहो, का कथा परभूभुजाम् ॥

अर्थ—समस्त पृथ्वी पर आज्ञा करनेवाले, इन्द्र भी अपने अनुचर देवों के साथ, शील पालन करने वाले मनुष्यों के चरणों को नमस्कार करते हैं; फिर भला राजाओं की तो बात ही क्या है । वे तो नमस्कार करते ही हैं ॥२२४॥

विज्ञायेति जगत्सारं, शीलरत्नं सुदुर्लभम् । स्त्रीकटाक्षादि चोरेभ्यो, रक्षणाय प्रयत्नतः ॥२२५॥

अर्थ—यही समझकर, तीनों लोकों में सारभूत और अत्यन्त दुर्लभ ऐसे इस शील रत्न को प्रयत्न पूर्वक स्त्रियों के 'कटाक्ष आदि चोरों से' रक्षा करनी चाहिये ॥२२५॥

ब्रह्मचर्य व्रतकी ५ भावना—

स्त्रीरूपमुखशृंगार, विलासाद्यनिरोक्षणम् । पूर्वनिभूतसद्भोग, रस्थादि स्मरणोज्झनम् ॥२२६॥

स्त्रीशृंगारकथात्यागः, सरसाग्राद्यसेवनम् । कामिनीजनसंसक्त, वसति त्यजनं सदा ॥२२७॥

पंचेमा भावनाः शुद्धाः, ब्रह्मव्रतविशुद्धिदाः । न भोक्तव्या हवो जातु, मुनिभिर्ब्रह्मशुद्धये ॥२२८॥

अर्थ—(१) स्त्रियों के रूप, मुख, शृंगार, विलास आदि को नहीं देखना
(२) पहले भोगे हुए भोग और रति क्रीड़ा आदि के स्मरण करने का भी त्याग कर

देना, (३) स्त्रियों के भ्रूंगार की कथा का भी त्याग कर देना (४) रसीले पौष्टिक आहार के सेवन का त्यागकर देना चाहिये (५) और स्त्रियोंके रहने, सोने, बैठने आदि के स्थान का भी सदा के लिये त्याग कर देना । ये पांच ब्रह्मचर्य व्रतको विशुद्ध करने वाली शुद्ध भावना हैं । भुनियों को अपना 'ब्रह्मचर्य' शुद्ध रखने के लिये अपने हृदयसे इन भावनाओं को कभी अलग नहीं करना चाहिये अर्थात् इनका चिंतन सदा करते रहना चाहिये ॥२२६-२२८॥

ब्रह्मचर्य व्रतकी महिमा—

नरसुरपति मंद्यं, स्वर्गसोपानमृतम् । सकलगुणसमुद्रं, धीरवीर्यनिषेव्यम् ।

शिवसुखं शुभखानि, सर्वयत्नेन पूतम् । भजत गतविकारं, ब्रह्मचर्यं सदाचर्या ॥२२९॥

अर्थ—यह ब्रह्मचर्य महाव्रत, इन्द्र, नरेन्द्र आदि सबके द्वारा वंदनीय है; स्वर्ग के लिये सीढ़ी के समान है; समस्त सद्गुणों का समुद्र है; धीर वीर पुरुष ही इसका सेवन कर सकते हैं; अत्यन्त शुभ ऐसे मोक्ष सुख की यह खान है; अत्यन्त पवित्र है और विकार रहित है । इसलिये पूज्य पुरुषों को बड़े प्रयत्नसे सदा इसका पालन करते रहना चाहिये ॥२२९॥

परिग्रह महाव्रतका स्वरूप—

त्यजन्ते निखिला यत्र, बाह्यान्तः स्थाःपरिग्रहाः । जीवावद्धनिबद्धाश्चसमंतान् मूर्च्छंया बुधैः ॥

कृत-कारित-संकल्पं मनोवाक्कायकर्मभिः । तत्प्रणीतं जितैः पूज्य, मार्किञ्चन्यमहाव्रतम् ॥२३१॥

अर्थ—जहां पर बुद्धिमान् लोग, शरीर, कषायवि संसारी जीवों के साथ, रहने वाले और वस्त्रालंकार आदि जीव के साथ न रहने वाले, समस्त परिग्रहों का त्याग कर देते हैं तथा मन-वचन-काय और कृत-कारित अनुभूति से उन परिग्रहों में होने वाली मूर्च्छा व ममत्वका भी त्याग कर देते हैं उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव ने पूज्य 'मार्किञ्चन्य' महाव्रत कहा है ॥२३०-२३१॥

क्षेत्रं वास्तु घनं धान्यं, द्विषदं पशुसंचयम् । आसनं शयनं वस्त्रं, भांडं बाह्याः परिग्रहाः ॥२३२॥

दशमी सर्वथा त्याज्याः, पृथग्भूतानिजात्मनः । जीवावद्धास्त्रिशुध्यान्, यतिभिः सहमूर्च्छंया ॥

अर्थ—(१) क्षेत्र (२) घर (३) घन (४) धान्य (५) दास (६) पशु (७) आसन (८) शयन (९) वस्त्र और (१०) बर्तन ये दस प्रकार के बाह्य परिग्रह कहलाते हैं । परिग्रह 'जीवावद्ध' या जीव से भिन्न कहलाते हैं क्योंकि ये सब

आत्मा से भिन्न हैं । मुनियों को इनमें रहने वाली मूर्च्छा के साथ-साथ मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक इन सबका त्याग कर देना चाहिये ॥२३२-२३३॥

मिथ्यात्वं च त्रयोवेदा, रागा हास्यादयोऽत्रषट् । चत्वारोऽपि कषाया हि, चतुर्विंश परिग्रहाः ॥

अन्मंतरा इमे जीव, निबद्धा बुस्त्यजा बुधेः । विश्वदोषाकरा हेयाः, सर्वथा जीवतन्मयाः ॥२३५॥

अर्थ—(१) मिथ्यात्व (२) स्त्रीवेद (३) पुंवेद (४) नपुंसकवेद (५) राग (६) हास्य (७) अरति (८) शोक (९) भय (१०) जुगुप्सा (११) क्रोध (१२) मान (१३) माया (१४) लोभ ये चौदह अंतरंग परिग्रह कहलाते हैं । ये १४ परिग्रह 'जीव-निबद्ध' हैं अर्थात् जीव के साथ लगे हुए हैं और इसीलिये कठिनता से त्याग किये जाते हैं । ये जीव से तन्मय होकर रहते हैं और समस्त दोषों को उत्पन्न करने वाले हैं । इसलिये बुद्धिमानों को इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये । ॥२३४-२३५॥

चेतनास्तेऽथवा दासी, दासगोऽश्वादयो भुवि । मणिमुक्तासुवर्णाशुक्ल, गेहाद्या अचेतना ॥२३६॥

अर्थ—अथवा दासी, दास, गाय, घोड़ा आदि इस संसार में 'चेतन परिग्रह' कहलाते हैं तथा मोती, मणि, सुवर्ण, वस्त्र, घर आदि 'अचेतन परिग्रह' कहलाते हैं ॥२३६॥

चेतनाचेतना सर्व, बाह्यासंगाः अधार्णवाः । ज्ञानसंयम शौचोप, करणेन विना बुधेः ॥२३७॥

न ग्राह्याश्च स्वयं श्रामण्यायोग्या, हि परस्वभोः । न दातव्या न कार्योऽनुमोदस्तद्ग्रहणं परं ॥

अर्थ—चेतन, अचेतन, बाह्य-आभ्यन्तर सब परिग्रह पापों के समुद्र हैं और मुनिधर्म के अयोग्य हैं; इसलिये ज्ञान, संयम और शौच के उपकरणों को छोड़कर बुद्धिमानों को बाकी के सब परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिये; न तो उन्हें स्वयं ग्रहण करना चाहिये; न दूसरों को देना चाहिये और अन्य कोई ग्रहण करता हो तो उसकी अनुमोदना भी नहीं करनी चाहिये ॥२३७-२३८॥

मूर्च्छा तेषु न कर्तव्या, क्षतिः सर्वेनसां बुधेः । यतो मूर्च्छा सिद्धांते, संगः प्रोक्तो गणाधिपः ॥

अर्थ—बुद्धिमानोंको इन परिग्रहोंमें कभी ममत्व भी नहीं रखना चाहिये; क्योंकि इनमें ममत्व रखना भी समस्त पापों को उत्पन्न करने वाला है; इसका भी कारण यह है कि भगवान् गणधर देवने सिद्धांत शास्त्रों में मूर्च्छा या ममत्व को ही 'परिग्रह' बतलाया है ॥२३९॥

असंयत अनच्छात्रो, वासुश्रूषादि हेतवे । असंयमकरः स्वांते, रक्षणीयो न संयतं ॥२४०॥

अर्थ—मुनियों को अपनी सेवा, सुश्रूषा करनेके लिये भी, असंयम को बढ़ाने वाला असंयमी मनुष्य या विद्यार्थी अपने समीप नहीं रखना चाहिये ॥२४०॥

वस्त्यादौ विधेयं न, स्वामित्वं संगकारणम् । पूजा द्रव्यांगक्षेत्रेषु, चान्यत्र परवस्तुनि ॥२४१॥

अर्थ—इसीप्रकार 'वसतिका' आदि में भी अपना स्वामित्व नहीं रखना चाहिये; क्योंकि उसमें 'स्वामित्व' रखना भी परिग्रह का कारण है तथा पूजा द्रव्यके अंगभूत वस्त्र आदि पर वस्तुओं में भी अपना 'स्वामित्व' कभी नहीं रखना चाहिये । ॥२४१॥

बहुनोक्तेन किं साध्य, मन्त्रादेयो न योगिभिः । बालग्नः कोटिमात्रः, आमण्यायोग्यः स जातुचित् ॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या लाभ है ? इतने में ही समझ लेना चाहिये कि मुनियों को, मुनिधर्म के अयोग्य पदार्थ का 'एक बाल के अग्रभाग का करोड़वां भाग' भी कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥२४२॥

परिग्रहार्जनेनात्र, पराचिता च जायते । तस्याप्ते परमोररागो, रौद्रध्यानं च रक्षणे ॥२४३॥
तन्नाशे शोककोपाद्याः, सर्वे प्रादुर्भवन्ति भोः । तैश्च पापानि घोरानि, पार्ष्णुगमयोऽक्षिलाः ॥
तामु दुःखानि तीव्रानि, लभन्ते संगिनः शठाः । इतिमत्त्वा बुर्यह्यः, संगः सर्वोऽपि सर्वथा ॥

अर्थ—इस संसार में परिग्रहको इकट्ठा करने में बड़ी चिन्ता करनी पड़ती है; उसके प्राप्त होनेपर 'परम राग' उत्पन्न हो जाता है, उसकी रक्षा करने में 'रौद्रध्यान' प्रगट हो जाता है तथा उसके नाश होने पर 'क्रोध-शोक' आदि सब विकार उत्पन्न हो जाते हैं; उन क्रोधादिक विकारों से महा पाप उत्पन्न होते हैं; उन पापों से नरकादिक समस्त दुर्गतियां प्राप्त होती हैं और उन दुर्गतियों में परिग्रह रखने वाले वे मूर्ख तीव्र दुःखों को प्राप्त होते हैं; यही समझकर, बुद्धिमानों को सब तरह के परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥२४३-२४५॥

ग्रंथा येऽभ्यन्तराः, विश्वे दुस्त्याज्याः कातरांगिना । महायत्नेन तेत्याज्याः, कृत्स्नादोषविधायिनः ॥

अर्थ—अंतरंग परिग्रह कातर पुरुषों से कभी नहीं छोड़े जाते तथा वे अंतरंग परिग्रह अनेक दोषों को उत्पन्न करने वाले हैं; इसलिये महान् प्रयत्न करके उन सब परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिए ॥२४६॥

यतोऽतः संगमाकेन, मज्जन्ति प्राणिनोऽस्त्रिणाः । बाह्येषु संगमकेषु, पापकुर्वानस्त्रिणाः ॥२४७॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि इस अंतरंग परिग्रह रूपी कीचड़ से संसार के प्राणी अलग हो जाते हैं ॥२४७॥

अतस्तपो व्रतः सार्धं, प्रवक्ष्या निष्फलासता । वृथा वस्त्रपरित्यागोऽत्रान्तर्ग्रहोऽप्युत्तमात्मनाम् ॥

अर्थ—बाह्य परिग्रहों में डूब जाने से सज्जन पुरुषों के व्रत, तपश्चरण आदि भी सब निष्फल हो जाते हैं; और उनके साथ-साथ वीक्षा भी निष्फल हो जाती है; इसलिये जिन लोगों ने अंतरंग परिग्रहों का त्याग नहीं किया है उनका वस्त्रों का त्याग करना भी व्यर्थ है ॥२४८॥

यथा मुंषति कृष्णाहि निर्मोकं च विषं न भोः । तथा कश्चित्कुधीः शस्त्रा, दोनिनान्तः परिग्रहान् ॥

अर्थ—जिस प्रकार काला सर्प, अपनी कांचली तो छोड़ देता है; परन्तु विषको नहीं छोड़ता; उसीप्रकार कोई कोई मूर्ख वस्त्रों का तो त्याग कर देते हैं परन्तु अंतरंग परिग्रहों का त्याग नहीं करते ॥२४९॥

अतो मिथ्यात्ववेदांश्च, कषायान् सकलेतरान् । त्यक्तुं येऽत्राक्षमास्तेषां, वस्त्रत्यागोऽहिवद्भवेत् ॥

अर्थ—इसलिये जो पुरुष मिथ्यात्व, वेद, कषाय और नौ कषायों के त्याग करने में असमर्थ हैं; उनका वस्त्रों का त्याग भी सर्प के समान समझना चाहिये । ॥२५०॥

महायत्नेन मत्वेति, मिथ्यावेदोदयान् बुधाः । हास्यावोश्च कषायारोन्, घ्नतु शत्रूनिवास्त्रिणाः ॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमानों को बड़े प्रयत्न से मिथ्यात्व, वेद, कषाय और नौकषाय रूप समस्त शत्रुओं को अच्छी तरह नाश कर देना चाहिये । ॥२५१॥

बाह्यान्तर्ग्रहसंत्यागाच्चित्त शुद्धिः परासताम् । जायते च तथा ध्यानं, कर्मरिष्यवदानलम् ॥

अर्थ—अंतरंग और बाह्य परिग्रहों का त्याग कर देने से सज्जनों का हृदय परम शुद्ध हो जाता है तथा कर्मरूपी वृत्त को जलाने के लिये, दावानल अग्निके समान, उत्तम ध्यान प्रगट हो जाता है ॥२५२॥

ध्यानाच्च कर्मणां नाशस्ततो मोक्षोऽसुखातिगः । बाह्यान्तर्ग्रहसंत्यागं, नित्यं तत्र भजन्ति ये ॥

अर्थ—ध्यानसे कर्मों का नाश हो जाता है; कर्मों के नाश होने से समस्त

दुःखों से रहित, मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है और मोक्ष में उनको बाणी के अगोचर ऐसा नित्य सुख प्राप्त हो जाता है ॥२५३॥

द्रव्यादीनुपधीन् बाह्यान्, यः क्लीबस्त्यक्तुमक्षमः ।

सोऽन्तः स्थान् च कषायादीन्, रिपून् हन्ति कथं बहून् ॥२५४॥

अर्थ—जो नपुंसक मनुष्य, (कुछ न करने वाला) धन, धान्य आदि बाह्य परिग्रहों का ही त्याग नहीं कर सकता; वह भला अंतरंग कषाय रूपी अनेक शत्रुओं को कैसे मार सकता है ? अर्थात् कभी नहीं ॥२५४॥

पूर्वं त्यक्त्वाखिलान् संगान्, कटिसूत्रादिकान् ततः ।

दृष्टवस्तूनि गृह्णाति, यः सोऽहो किं न लभ्यते ॥२५५॥

अर्थ—जो मुनि पहले तो करधनी आदि समस्त परिग्रहों का त्याग कर देता है; और फिर वह दृष्ट पदार्थों को ग्रहण करता है आश्चर्य है कि यह फिर भी लज्जित नहीं होता ॥२५५॥

धन्या पूज्यास्त एवात्र, विरक्ता ये मुमुक्षवाः । शरीरादिषु निहन्ते, संगं स्वल्पं सुखादि वा । २५६॥

अर्थ—इस संसार में मोक्ष की इच्छा करने वाले जो दीतरागी पुरुष हैं वे ही धन्य और पूज्य हैं; क्योंकि वे शरीरादिक के लिये भी कुछ परिग्रह नहीं चाहते और न कभी सुख की इच्छा करते हैं ॥२५६॥

विज्ञायेति द्विधा संगान्, त्यजंतु मुक्तिकाक्षिणः । सौख्यैर्बल्यिकैः सार्धं, हत्वा सोभाक्षविद्विषः ॥

अर्थ—यही समझ कर, मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को लोभ और इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को नाश कर, विषय जन्य सुखों के साथ साथ दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिये ॥२५७॥

शब्दरूपरसस्पर्श, गंधेषु विषयेषु च । सुमनोज्ञामनोज्ञेषु, पञ्चाक्षरामिहाखिलाः ॥२५८॥

रागद्वेषादयो दक्षैस्त्यज्यन्ते ये सुभाषणाः । ताः पञ्च सर्वदा ध्येयाः, पञ्चमव्रत शुद्धये ॥२५९॥

अर्थ—इन्द्रियां ५ हैं तथा उनके विषय भी शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गंध ये पांच हैं, ये पांचों विषय मनोज्ञ भी होते हैं और अमनोज्ञ भी अथवा अनिष्ट भी होते हैं; इन सबमें चतुर पुरुषों को राग, द्वेष छोड़ देना चाहिये; मनोज्ञ विषयों में राग और अमनोज्ञ विषयों में द्वेष छोड़ देना चाहिये । इन्हीं को परिग्रह त्याग महाव्रत

को शुद्ध रखने के लिये इन पाँचों भावनाओं का सदा चितवन करते रहना चाहिये ।
॥२५८-२५९॥

५ आकिंचन्य महाव्रत की सफलता—

त्रिभुवनपतिपूज्यं, लोभतृष्णाद्विषज्ज' । दुरिततिमिर सूर्ये, श्री जिनेशादि सेव्यं ॥
शिवशुभगतिमार्गं, सौख्यखानि गुणाब्धि । अयत विव इहाकिंचन्यसारं प्रयत्नात् ॥२६०॥

अर्थ—यह आकिंचन्य महाव्रत, तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर देवोंके द्वारा भी पूज्य हैं; लोभ, तृष्णा रूपी पर्वत को चूर करने के लिये सूर्यके समान हैं; भगवान् जिनेन्द्र देव भी इसको सेवन करते हैं, यह मोक्ष और शुभगति का मार्ग है; सुख की खान है, गुणों का समुद्र है; इसलिये बुद्धिमानों को बड़े प्रयत्न से इस परिग्रह त्याग महाव्रत को धारण करना चाहिये ॥२६०॥

सहार्थं मोक्षमेवाहो, वा तिलोकीपतेः पदम् । साधयन्ति महेंद्रिःवा चरितानि जिनादिभिः ॥
महान्ति वा स्वयं यामि, महाव्रतान्यतोषुर्धः । सार्थनामानि नान्यत्र, कीर्तितानि शिवास्तये ॥

अर्थ—ये महाव्रत सर्वोत्कृष्ट मोक्ष पुरुषार्थको सिद्ध करते हैं; इसलिये इनको 'महाव्रत' कहते हैं अथवा तीर्थंकर आदि महापुरुष इनका पालन करते हैं इसलिये भी ये 'महाव्रत' कहलाते हैं अथवा ये स्वयं ही महान् हैं इसलिए भी इनको 'महाव्रत' कहते हैं । इसप्रकार विद्वानों के द्वारा सार्थक नामको धारण करने वाले महाव्रत मोक्ष प्राप्त करने के लिए ही मैंने यहां पर निरूपण किए हैं ॥२६१-२६२॥

प्रथम अध्याय का उपसंहार—

एतान्यत्र महाव्रतानि महतां, योग्यानि साराणि च ।
स्वमोक्षैक निबन्धनानि विदुषा । ये पालयन्त्यन्वहम् ।
ते संप्राप्य महत्सुखं त्रिभुवने सर्वार्थसिध्धाविजं ।
हत्वा कर्मरिपून् व्रजन्तमखिरतो मोक्षं सुशर्माकरम् ॥२६३॥

अर्थ—ये महाव्रत महापुरुषों के ही योग्य हैं; सारभूत हैं; और स्वर्ग मोक्ष के कारण हैं; जो विद्वान् इनको प्रति दिन पालन करते हैं वे तीनों लोकों में उत्पन्न होनेवाले सर्वार्थसिद्धि आदि के महा सुखों को पाकर फिर मनुष्य पर्याय में कर्मरूपी समस्त शत्रुओं को नाश कर, अनंत सुख देने वाले मोक्ष में शीघ्र ही जा विराजमान होते हैं ॥२६३॥

महाव्रतधारियों का शुभाशीर्वाद

ये पालयन्ति यमिनोऽत्र, महाव्रतानि येः पालितानि जिनदेवगणाधिपार्हः ।

ते मे स्तुताश्च महिता, गणिनो जिनेशाः सर्वार्थसिद्धि मञ्जिलां स्वयमादिशन्तु ॥२६४॥

अर्थ—जो मुनिराज इन महाव्रतों का पालन करते हैं अथवा जिन तीर्थंकर या गणधर देवों ने इनका पालन किया है; वे पूज्य तीर्थंकर वा गणधर देव मेरे हृदय में विराजमान हों तथा मेरे लिए समस्त मोक्ष आदि सर्वोत्कृष्ट पदार्थों की सिद्धि प्रदान करें ॥२६४॥

प्रथमाधिकार समाप्त ॥



अथ द्वितीयोऽधिकारः

मंगलाचरणा पूर्वक समिति वर्णन—

श्रीमद्विष्णुः परमेष्ठिभ्यो मोक्षगामिभ्य एव च । महासमिति युक्तेभ्यो नमः समितिसिद्धये ॥२६५॥

अर्थ—जो परमेष्ठो अंतरंग बहिरंग लक्ष्मी से सुशोभित हैं जो मोक्षगामी हैं और महासमितियों से सुशोभित हैं उनको मैं समितियों की सिद्धि के लिये नमस्कार करता हूँ ॥२६५॥

५ समितियों के नाम—

ईर्याभार्षणादान, निक्षेपण समाह्वया । प्रतिष्ठापन संज्ञाः समितयः पञ्च चेति च ॥२६६॥

अर्थ—(१) ईर्यासमिति (२) भाषासमिति (३) एषणासमिति (४) आदान निक्षेपण समिति और प्रतिष्ठापन समिति ये पांच समितियां कहलाती हैं ॥२६६॥

ईर्यासमिति का लक्षण—

विश्वसे प्रासुके मार्गे, गोखरोष्ट्ररथादिभिः । प्राणिस्तुतार्तिगेषुद्धे जनार्द्धचपमदिते ॥२६७॥

कार्यार्थं गमनं यच्च, क्रियते संयतैः शमैः । यस्माद् युगान्तरं प्रेक्षिभिः सेवासमितिर्नृणां ॥२६८॥

अर्थ—जो यत्नपूर्वक ४ हाथ भूमिको देखकर, गमन करने वाले मुनि अपने किसी काम के लिये, गाय, गधा, ऊंट, रथ आदि से मण्डित या मनुष्यों से उपमण्डित शुद्ध प्रासुक मार्ग में, दिन में ही धीरे धीरे गमन करते हैं उसको 'ईर्यासमिति' कहते हैं ॥२६७-२६८॥

ईर्यासमिति का विशेष विवरण—

कार्यादृते न गन्तव्यं, जातुग्रामगृहादिषु । वृथा पर्यटनं मूर्खैः, न कार्यं वा शुभप्रदम् ॥२६९॥

अर्थ—मुनियों को बिना काम के किसी गांव या घर में, कभी नहीं जाना चाहिये; और न पृथ्वी पर व्यर्थ घूमना चाहिये क्योंकि इससे अशुभ वा पाप ही उत्पन्न होता है ॥२६९॥

कब गमन नहीं करना चाहिये—

अस्तं गते दिवानाथे, ऽथवा भानूदयावृते । विषेयं गमनं जातु, न सत्सुकार्यराशिषु ॥२७०॥

अर्थ—यदि कंसा हो और कितना ही श्रेष्ठ कार्य आ जाय; तथापि सूर्य अस्त होनेपर, अथवा सूर्य उदय होने के पहले कभी गमन नहीं करना चाहिये ॥२७०॥

मुनिराज रात्रि में गमन क्यों नहीं करते ?

यतो रात्रौ म्रियन्ते, व्रजनेनादृष्टिगोचरे । पंचाक्षा बहवस्तस्मात्प्रशयेदाद्य महाव्रतम् ॥२७१॥

अर्थ—क्योंकि रात्रिमें गमन करने से, दृष्टि के अगोचर, ऐसे अनेक पंचैद्रिय जीव मर जाते हैं; जिससे अहिंसा महाव्रत सर्वथा नष्ट हो जाता है ॥२७१॥

महाव्रत के नाश होने से दुर्गति गमन—

व्रतनाशेन जायते, महत्पापं प्रभाविनाम् । पापाद् घोरतरं दुःखं, दुर्गतौ च न संशयः ॥२७२॥

अर्थ—अहिंसा महाव्रत के नाश होने से प्रमादी पुरुषों को महा पाप उत्पन्न होता है और पापसे अनेक दुर्गतियों में अत्यन्त घोर दुःख प्राप्त होता है; इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥२७२॥

चतुर्मास में गमन का निषेध क्यों ?

महीं सत्त्वाकुलेजाते, चातुर्मासे मुसंयतैः । पापभीर्तर्न गंतव्यं, प्रयोजनशतैः क्वचित् ॥२७३॥

अर्थ—चतुर्मास में जब पृथ्वी अनेक जीवों से भर जाती है तब पापोंसे डरने वाले मुनियों को संकड़ों आवश्यक कार्य होने पर भी कहीं गमन नहीं करना चाहिये । ॥२७३॥

प्रेषणं नात्रदातव्यं, सति कार्यं व्रतात्मनाम् । गमने प्रेरणं बाहो, बूर्ध्वर्जोवश्यकम् ॥२७४॥

अर्थ—विद्वानों को चतुर्मास में आवश्यक कार्य होने पर भी किसी व्रती को बाहर नहीं भेजना चाहिये; क्योंकि जाने के लिये प्रेरणा करना, अनेक जीवों का घात करने वाला है ॥२७४॥

विधेयानुसृतिर्बाधुः, गमनादौ न पायदा । प्रयोजनवशात्पुंसां, मुक्तिभिर्यत्नचारिभिः ॥२७५॥

अर्थ—यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले मुनियों को किसी प्रयोजन के निमित्त से भी गमनागमन कार्यों में पाप देने वाली सम्मति कभी नहीं देनी चाहिये । ॥२७५॥

आगच्छ, गच्छ, तिष्ठेह, कुरु कार्यं च भोजनम् । इति जातु न वक्तव्यं, व्रतिभिः पापकारणम् ॥

अर्थ—यहां आ, यहां जा, यहां बैठ, इस कार्य को कर, या भोजन कर, इस

प्रकार कहना भी पापका कारण है । इसीलिये व्रती पुरुषों को इस प्रकार भी कभी नहीं कहना चाहिये ॥२७६॥

धनुर्हस्तस्तिरालस्या, महीं वीक्षयाति यत्नतः । शनैः पादोऽत्र दातव्यः, पथोर्यागमनोद्यतः ॥२७७॥

अर्थ—ईर्ष्या असमिति से ग्रस्त कर्मों की इच्छा करने वाले मुनियों को बड़े प्रयत्न से, ४ हाथ पृथ्वी देखकर धीरे धीरे पैर रखना चाहिये ॥२७७॥

पूर्व स्थित्वा शरी वीक्ष्य, दूरस्थां प्रासुकां बुधाः । कुर्वन्तु गमनं परस्वात्, संकोच्यावयवान् सदा ॥

अर्थ—पहले खड़े होकर, दूर तक की प्रासुक भूमि देख लेनी चाहिये और फिर विद्वानों को, अपने शरीर के अवयवों को संकोच कर गमन करना चाहिये ॥२७८॥

काष्ठं पाषाणमन्यहा, ज्ञात्वा जलाचलं बुधैः । तेषु पापं विधायाशु, न गंतव्यं दयोद्यतैः ॥२७९॥

अर्थ—वया धारण करने वाले विद्वानों को काष्ठ या पाषाण को हिलता हुआ समझ कर, उन पर पैर रखकर गमन नहीं करना चाहिये ॥२७९॥

शीघ्रं गमनं कार्यं, तस्मिन् च संयतेः । सहसाधिनं दातव्यः, स्थित्वा मार्गं च जल्पनम् ॥२८०॥

अर्थ—मुनियों को न तो शीघ्र ही गमन करना चाहिये; न धीरे ही गमन करना चाहिये; न अकस्मात् किसी पर पैर रखना चाहिये और न मार्ग में खड़े होकर बातचीत करनी चाहिये ॥२८०॥

इतीर्यागमनस्याहो, विधिं ज्ञात्वा कर्जंति ये । स्वकार्येऽत्र भवेत्तेषां, परैर्या समितिः सताम् ॥

अर्थ—इसप्रकार ईर्यागमन की विधि समझकर जो अपने कार्य के लिये गमन करते हैं; उन सज्जनों के उत्कृष्ट ईर्यासमिति होती है ॥२८१॥

सां विना स्वेच्छया येऽत्र गमनं कुर्वन्ते बुधाः । तेषां षडंगघातेन, नश्येदाद्यं सतोसमम् ॥२८२॥

अर्थ—जो विद्वान् इस ईर्या समिति के बिना, स्वच्छंद गमन करते हैं; वे छहों कार्य के जीवों का घात करते हैं और इसीलिये उनका 'अहिंसा महाव्रत' नष्ट हो जाता है ॥२८२॥

मुख्यधन स्वरूप ईर्यासमिति—

मत्वेति धीधना जातु, मा व्रजन्तु महीतले । त्यक्तेर्यासमिति पाद्य, व्रताभ्यां व्रतशुद्धये ॥२८३॥

अर्थ—यही समझकर, बुद्धिमान् पुरुषों को अपने व्रत शुद्ध रखने के लिये,

सबसे मुख्यवृत्त स्वरूप इस 'ईर्या समिति' को छोड़कर इस पृथ्वी पर कभी गमन नहीं करना चाहिये ॥२८३॥

उपसंहार रूपमें 'ईर्यासमिति'

गुणसमुदाय खानि, स्वर्गसोपानमाला, शिवसुखजननीं हिंसादिवरां पवित्राम् ।

जिनगणधरसेव्यां, दोषदूरां भजध्वम् । समितिमिह सुखस्नादादिभिर्भुक्तिकामाः ॥२८४॥

अर्थ—यह 'ईर्या समिति' समस्त गुणों की खान है; स्वर्ग की सीढ़ी है; मोक्ष सुखको उत्पन्न करने वाली माता है; हिंसादि पापों से सर्वथा दूर है; अत्यन्त पवित्र है; तीर्थंकर और गणधर देवों के द्वारा सेवित करने योग्य है और समस्त दोषों से रहित है । इसलिये मोक्षकी इच्छा करने वाले पुरुषों को बड़े प्रयत्न से इस 'ईर्या समिति' का पालन करना चाहिये ॥२८॥

२ भाषा समिति का स्वरूप—

हास्यकर्कशपैशून्य, परमिन्दात्म शंसनात् । विकथार्थीश्च संत्यज्य, धर्ममार्गप्रवर्तये ॥२८५॥

स्वस्यान्येषां हितं सारं, मितं धर्माविरोधियत् । वचनं कूयते दशैः, साभाषासमितियथा ॥२८६॥

अर्थ—चतुर पुरुष, (१) हंसी के वचन (२) कठोर वचन (३) चुगली के वचन (४) दूसरे की निंदा के वचन (५) और अपनी प्रशंसा के वचनों को तथा (६) विकथाओं को छोड़कर, केवल धर्म मार्ग की प्रवृत्ति करने के लिए तथा अपना और दूसरों का हित करने के लिए सारभूत परिमित और धर्म से अविरोधी जो वचन कहते हैं उसको 'भाषा समिति' कहते हैं ॥२८५-२८६॥

सत्य वचन के १० भेद—

सत्यं जनपदाख्याद्यं, संमतं स्थापनाह्वयम् । नामकपं प्रतीतं संभावना सत्यसंज्ञकम् ॥२८७॥

व्यवहाराभिधं भाव, उपमासत्यमेव च । दशधेति वचो वाच्यं, सत्यं सत्यांगमोऽब्रुवम् ॥२८८॥

अर्थ—(१) आगम में निम्न लिखित सत्य वचनों के १० भेद बतलाये हैं यथा (१) जनपद सत्य (२) संमत सत्य (३) स्थापना सत्य (४) नाम सत्य (५) रूप सत्य (६) प्रतीत सत्य (७) संभावना सत्य (८) व्यवहार सत्य (९) भावसत्य और (१०) उपमा सत्य ॥२८७-२८८॥

सत्य के १० भेदों के लक्षण—

नामदेशादिभाषाभिः, कथ्यते यच्छुभाशुभम् । वस्तु तच्च विरुद्धं न, सत्यं 'जनपदाभिधम्' ॥

यथा च प्रोच्यते लोकैः, सर्वभाषाभिरोदतं । औरः द्राविडभाषाभिः, न विवादोऽत्र विद्यते ॥

अर्थ—अनेक देशों की भाषा में जो शुभाशुभ कहा जाता है और जो किसी के विरुद्ध नहीं होता; उसको (१) जनपद सत्य कहते हैं; जैसे लोग सब भाषाओं में 'ओदन' या 'भात' कहते हैं अथवा चोर भी सब भाषाओं में कहते हैं तथा द्राविड आदि किसी भाषा में उसके लिए विवाद उपस्थित नहीं होता इसको 'जनपद सत्य' कहते हैं ॥२८६-२८७॥

बहुभिः संमतं यत्तत्, सत्यं सम्मतमुच्यते । मानुष्येऽपि यथा श्लोके, महादेवी निगद्यते ॥२८८॥

अर्थ—जिसको बहुतसे लोग मानें उसको 'संमत सत्य' कहते हैं जैसे—रानी मनुष्य है तो भी उसे 'महादेवी' कहते हैं ॥२८८॥

स्थाप्यसे प्रतिबिम्बयत्, स्थापना सत्यमेव तत् । यथाहं मुनिसिद्धानां, प्रतिमार्चाप्रवृत्तये ॥२८९॥

अर्थ—किसी के प्रतिबिम्ब को स्थापन करना 'स्थापना सत्य' है; जैसे—पूजा करने के लिए अरहंत, सिद्ध या मुनियों की प्रतिमा स्थापन की जाती है ॥२८९॥

गुरोस्तथ्यमतथ्यं वा, नाम यत्क्रियते नृणाम् । नामसत्यं तदेवात्र, देववत्तु यथा पुमान् ॥२९०॥

अर्थ—जो मनुष्यों का नाम रखा जाता है; वह गुरों से सत्य भी होता है और असत्य भी होता है तथापि उसको 'नाम सत्य' कहते हैं । जैसे—किसी पुरुष का नाम 'देवदत्त' रख लिया जाता है ॥२९०॥

मुख्यवर्णनं यद्रूपं, 'रूपसत्यं' तदुच्यते । यथा श्वेता बलाकालया, सति वर्णातिरेपरे ॥२९१॥

अर्थ—जो रूप किसी मुख्य वर्णसे कहा जाता है उसको 'रूप सत्य' कहते हैं जैसे 'बमले' सफेद होते हैं । यद्यपि 'बगलों में' और भी वर्ण होता है तथापि वे सफेद ही कहलाते हैं ॥२९१॥

अन्यं ह्यपेक्ष्य सिद्धं यत्प्रतीतसत्यमेव तत् । यथा दीर्घोऽयमन्यत् ह्रस्वमपेक्ष्यात्र कथ्यते ॥२९२॥

अर्थ—जो अन्य किसी पदार्थकी अपेक्षा से सिद्ध होता है उसको 'प्रतीत सत्य' कहते हैं; जैसे यह लंबा है; यह लंबाई किसी की कम लंबाई की अपेक्षा से कही जाती है ॥२९२॥

शक्याशक्यद्विभेदान्यां, कार्यकस्तुं यदीहते । संभावना भिन्नं तद्वातुन्यां तस्तुं यथाम्बुधिम् ॥

अर्थ—यह काम हो सकता है या नहीं; इस प्रकार दोनों ओर के विकल्पसे

जो काम करने की इच्छा की जाती है उसको 'संभावना सत्य' कहते हैं । जैसे—यह समुद्र भुजाओं से पार किया जा सकता है या नहीं ॥२६६॥

व्यवहारेण कार्यादौ, प्रोच्यते यद्वचो जनैः । व्यवहाराद्यसत्यं तद्, यथा क्रूरोऽस्य पच्यते ॥

अर्थ—किसी भी कार्य में, व्यवहार से जो लोग वचन कहते हैं उसको 'व्यवहार सत्य' कहते हैं; जैसे यह भात पकाया जाता है, पके चावलों को 'भात' कहते हैं तथापि व्यवहार में भात पकाना कहते हैं ॥२६७॥

हिंसादिबोधद्वरं यत्, सत्यं वा सत्यमुच्यते । भावसत्यं च तल्लोके, दृष्टवर्त्तरी यथात्र न ॥२६८॥

अर्थ—जो हिंसादिक पापों से रहित, वचन हैं उनको 'भाव सत्य' कहते हैं; जैसे—घरमें 'चोर' रहते हुए भी कहना कि यहां नहीं है ॥२६८॥

औपम्येनान्न संयुक्तं, ब्रूयते वचनं च यत् । उपमासत्यमेवेतद्, यथा पत्न्योपमादयः ॥२६९॥

अर्थ—जो वचन किसी 'उपमा' के साथ कहे जाते हैं उन्हें 'उपमा सत्य' कहते हैं, जैसे—पत्न्य, सागर आदि ॥२६९॥

अमीभिर्दशभिर्भाषाभेदैर्धर्मप्रकृतये । आगमोक्तैः स्वतस्त्वज्ञाः, यदन्तु स्मृतं वचः ॥३००॥

अर्थ—आत्मतत्त्वकी जाननेवाले, पुरुषों को धर्मकी प्रवृत्ति करनेके लिये आगम में कहे अनुसार, भाषा भेद से जो १० प्रकार के सत्य के भेद हैं उन्हें ही बोलना चाहिये ॥३००॥

असत्य वचन का स्वरूप—

भाषा भेदेभ्य एतेभ्यो, दशभिः प्रोच्यतेऽत्रया । विपरीताऽशुभाभाषा, तदसत्यं वचोमतम् ॥३०१॥

अर्थ—भाषा के भेद से जो सत्य के १० भेद बतलाये हैं उससे विपरीत जो अशुभ भाषा है उसको 'असत्य वचन' कहते हैं ॥३०१॥

सत्यासत्यद्वयोपेता, भाषा या ब्रूयते नरैः । सात्र सत्यमूषा, भाषा भाषिता श्री जिनागमे ॥

तस्मात् सत्यमूषा वादात्, विपरीतं च भाषणम् । यस्यासत्यमूषा भाषा, नवभाषा कथिता श्रुते ॥

अर्थ—मनुष्यों के द्वारा, जो सत्य और असत्य उभय रूप भाषा बोली जाती है उसको जिनागम में 'सत्या सत्य' भाषा कहते हैं । उस 'सत्यासत्य' भाषा से जो विपरीत भाषण है उसको 'अनुभय भाषा' कहते हैं; अथवा 'असत्यासत्य' कहते हैं, वह अनुभय भाषा शास्त्रों में ६ प्रकार की बतलाई है ॥३०२-३०३॥

६. प्रकार की अनुभय भाषा के जेद—

प्रथमा मंत्रिणी भाषा, ज्ञापना याचनाभिषा । संपृच्छना तथा प्रज्ञा पता भाषा च पंचमी ॥
प्रत्याख्यानाह्वयेच्छा, मुलोमाख्या सप्तमी ततः । संशयादि वचन्यंत, भाषाष्टमी ततोऽपरा ॥
अनक्षराभिषाभाषा, सारासत्यमुघाह्वया । असत्यासत्यभाषाया, नवमेदा भवन्त्यमी ॥३०६॥

अर्थ—(१) आमंत्रणी (२) आज्ञापना (३) याचना (४) संपृच्छना (५) प्रज्ञापना (६) प्रत्याख्याना (७) इच्छानुलोमा (८) संशयवचनी (९) अनक्षरा ये ६ अनुभय भाषा के जेद हैं ॥३०४-३०५-३०६॥

आमंत्र्यते यथा लोकोऽभिमुखी क्रियते प्रति । व्यापारान्तरमेवान्यं भाषासामन्त्रणी स्मृता ॥

अर्थ—किसी को अपने सामने करने के लिये, बुलाने के लिये अथवा व्यापारान्तर करने के लिये, दूसरों के द्वारा, जो भाषा बोली जाती है उसको (१) आमंत्रणी भाषा कहते हैं ॥३०७॥

आज्ञाप्यते यथा लोके, आज्ञां तेऽहं वदामि भोः । इत्यादि वचनं यत्सा, ज्ञापना गीर्निरूपिता ॥

अर्थ—“मैं तुमको यह आज्ञा देता हूँ” इसप्रकार जो आज्ञा रूप वचन कहना है उसको (२) ‘आज्ञापनी’ भाषा कहते हैं ॥३०८॥

याचना क्रियते लोके, यथा सा याचनाख्यगीः । यथाहं याचयामि त्वां किञ्चिद्वस्तु शुभाशुभम् ॥

अर्थ—मैं तुमसे यह शुभ या अशुभ वस्तु मांगता हूँ, इसप्रकार मांगने के लिए जो भाषा बोली जाती है उसको ‘याचना नामकी’ भाषा कहते हैं ॥३०९॥

संपृच्छयते यथाग्यः सा, भाषा संपृच्छनाह्वया । यथा पृच्छाम्यहं त्वां च, किञ्चित्कार्यं हिताहितं ॥

अर्थ—मैं तुमसे कुछ ‘हित या अहित की बात पूछना चाहता हूँ’ इसप्रकार जो दूसरों के द्वारा पूछने के लिये जो भाषा बोली जाती है उसको ‘संपृच्छना’ भाषा कहते हैं ॥३१०॥

यथा प्रज्ञाप्यते लोको, भाषा प्रज्ञापनात्र सा । यथा प्रथापयामि त्वां, महं किञ्चिन्मनोगतम् ॥

अर्थ—मैं तुमको अपने मन की कुछ बात बताना चाहता हूँ इसप्रकार लोगों को कुछ सूचना देने की बात कही जाती है उसको ‘प्रज्ञापना’ भाषा कहते हैं ॥३११॥

प्रत्याख्यायते भाषया, सा भाषात्र कथ्यते । प्रत्याख्याना यथा, प्रत्याख्यानं मेदीयतामिदम् ॥

अर्थ—‘मुझे यह प्रत्याख्यान दीजिये’ इस प्रकार भाषा के द्वारा जो प्रत्या-

ध्यान किया जाता है उसको 'प्रत्याख्यान' भाषा कहते हैं ॥३१२॥

सर्वत्रानुकूलाया, स्वेच्छया प्रोच्यते जनैः । भाषा सेच्छानुलोमाख्या, यथैवं च करोम्यहं ॥

अर्थ—'मैं ऐसा करता हूँ' इसप्रकार सर्वत्र अपने अनुकूल अपनी इच्छानुसार बोलने को 'इच्छानुलोमा' नामकी भाषा कहते हैं ॥३१३॥

बालवृद्धपशूनां च, यथा नार्थः प्रतीयते । भाषया संशयाद्यन्त, वचनी सा निगद्यते ॥३१४॥

अर्थ—बालक, वृद्ध और पशुओं की भाषा से अर्थ की प्रतीति नहीं होती इसलिये उसको 'संशय वचनी' भाषा कहते हैं ॥३१४॥

अक्षरगता भाषा, याद्वोन्द्रियावि देहिनाम् । तात्रा सत्यमूषा नाम्नी, कथ्यते नवमीमुखः ॥

अर्थ—दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय आदि जीवों की जो अक्षररहित भाषा है उसको 'अक्षरा' नामकी 'अनुभय भाषा' कहते हैं ॥३१५॥

विशेषा प्रतिपत्तेर्न, मूषाभेदनवान्विता । (आगे की पंक्ति मूल पाठ में ही नहीं है ।) ॥३१६॥

अर्थ—इन ६ प्रकार की भाषाओं में पदार्थ के विशेष स्वरूप का ज्ञान नहीं होता; इसलिये ये वचन सत्य नहीं कहलाते; तथा इनसे सामान्य का ज्ञान होता है इसलिये इनको असत्य भी नहीं कहते; एतएव इन ६ प्रकार की भाषाको 'अनुभय' वचन कहते हैं ॥३१६॥

शश्वन्मौनं विधातुं ये, समर्था योगिनो भुवि । सत्यानुभयभाषाभ्यां, ते ब्रुवन्तु वचः शुभम् ॥

अर्थ—इस संसार में जो मुनि सदा काल मौन धारण करने में असमर्थ हैं उनको सत्य और अनुभय भाषा के द्वारा शुभ वचन कहने चाहिये ॥३१७॥

कर्कशा कटुका भाषा, पक्ष्वा निष्ठुराधवा । परप्रकोपिनी मध्य, कृशाभिमानिनीचगीः ॥३१८॥

तथानयंकरी छेदं, करी मूलवधंकरी । निष्केसा वशभा भाषा, त्याज्या निष्ठाधिकारिणी ॥३१९॥

अर्थ—(१) कर्कश (२) कठोर (३) कटुक (४) निष्ठुर (५) पर प्रकोपिनी (६) मध्यकृशा (७) अभिमानिनी (८) अनयंकरी (९) छेदंकरी (१०) और मूलवधंकरी ये १० प्रकार की भाषायें 'निष्ठ' कहलाती हैं; निष्ठ जीव ही इसके बोलने के अधिकारी होते हैं इसलिये इन निष्ठ भाषाओं का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये । ॥३१८-३१९॥

त्वं मूर्खस्त्वं बलीबर्बो, न किञ्चिद्वेदितरे शठ । संताप जननी त्याद्या, पागीः सा कर्कशोच्यते ॥

अर्थ—तू मूर्ख है; तू बल है, अरे शठ ! तू कुछ नहीं जानता इसप्रकार की संताप को उत्पन्न करने वाली जो भाषा है, उसको 'कर्कश' भाषा कहते हैं ॥३२०॥

कुजातिस्त्वं च निर्धर्म, इत्यादि वचनं च यत् । उद्वेगजननी भाषा, कटुका सा मतागमे ॥३२१॥

अर्थ—तू कुजाति है; तू अधर्मी है; इस प्रकार के जो वचन हैं या उद्वेग करने वाली भाषा है उसको आगम में 'कटुक भाषा' कहते हैं ॥३२१॥

अनेकदेश वृद्धीति, स्वभाषारपरांगमुखः । इत्यादि वृद्धो मर्म, चालनी परुषाश्च सा ॥३२२॥

निष्ठुर भाषा—

अर्थ—'तू बहुत अंशों में वृद्ध है; तू आचार पालन करने से परांगमुख है' इसप्रकार के मर्म छेदने वाले वचनों को 'परुष' भाषा कहते हैं ॥३२२॥

त्वामहं मारयिष्यामि, कर्त्तयिष्यामि ते शिरः । इत्यादि ब्रूयते वाक्यं, यत्सा भाषातिनिष्ठुरा ॥

अर्थ—'मैं तुझे मार डालूंगा तेरा मस्तक काट डालूंगा इस प्रकार के वचन कहना निष्ठुर भाषा है ॥३२३॥

परकोपिनी भाषा—

किं ते तयोऽत्र निर्लज्जस्त्वं रागी हसमोद्यतः । इत्यादि कोपकृद्वाक्यं, यत्सागीः परकोपिनी ॥३२४॥

अर्थ—हे निर्लज्ज, तू यह क्या तपश्चरणा करता है क्योंकि तू रागी है, सदा हंसता ही रहता है । इस प्रकार के क्रोध उत्पन्न करने वाले वचनों को 'परकोपिनी' भाषा कहते हैं ॥३२४॥

हृद्गतामध्यभागं च, यया निष्ठुरया गिरा । कृत्यते सुभतां मध्य, कृशा सा निर्वयाश्रगीः ॥३२५॥

अर्थ—जिस निष्ठुर भाषा से, हृद्दी के मध्य भाग भी कट जाय, ऐसी निर्वय भाषा को 'मध्यकृषा' भाषा कहते हैं ॥३२५॥

अभिमानिनी भाषा—

स्वगुणस्थापनं लोके परेषां दोषभाषणम् । यया च क्रियते निन्दं, निन्दागीः साभिमानिनी ॥

अर्थ—निन्द्य लोग जिस भाषा से अपने गुणों का वर्णन करते हैं और दूसरे के दोषों का वर्णन करते हैं उस भाषा को 'अभिमानिनी' भाषा कहते हैं ॥३२६॥

अनयंकरी भाषा—

या खंडनकरी शीलानां या चाद्योन्य गतस्मताम् । विद्वेषकारिणी भाषा, स्मृता सात्वतनयंकरी ॥

अर्थ—जो भाषा परस्पर एक दूसरे के शील खंडन करनेवाली है या परस्पर विद्वेष उत्पन्न करनेवाली है उसको 'अनयंकरी' भाषा कहते हैं ॥३२७॥

छेदकरी भाषा—

वीर्यशीलगुणादीनां, या निर्मूलविधायिनी । असद्भूतान्धवेषोद्भाविनी छेदकरात्र सा ॥३२८॥

अर्थ—जो भाषा वीर्य शील और गुणों को निर्मूल नाश करने वाली है; जो असत्य है और दूसरों के दोषों को कहने वाली है वह 'छेदकरी' भाषा है ॥३२८॥

भूतबन्धकरी भाषा—

प्राणनाशोऽशुभं पीडा, भूतानां जायते यथा । सर्वानिष्टकरी भूता, सा गीर्भतबन्धकरी ॥३२९॥

अर्थ—जिस भाषा से जीवों का प्राण नाश होता हो; अशुभ और पीडा उत्पन्न होती हो; जो सब तरह का अनिष्ट करने वाली हो; उसको 'भूतबन्धकरी' भाषा कहते हैं ॥३२९॥

इमा दश विधा भाषाः, सन्यः सर्वेनसां भुधि । प्राणान्तेऽपि न वक्तव्या, मुनिभिः परबुद्धयाः ॥

अर्थ—यह १० प्रकार की भाषा, समस्त पापों की खान है; और दूसरों को दुःख देनेवाली है । इसलिये मुनियों को अपने प्राण नाश होने पर भी, ऐसी भाषा कभी नहीं बोलनी चाहिये ॥३३०॥

विधेया न कथा स्त्रीणां, शृंगार रसवर्णनः । कामादि क्षीपिका जानु, व्रतिभिः ब्रह्मनाशिनी ॥

अर्थ—व्रती पुरुषों को ऐसी भाषा कभी नहीं बोलनी चाहिये; जो काम के विकार को बढ़ाने वाली हो; और ब्रह्मस्य को नाश करने वाली हो तथा ऐसी कथा भी नहीं कहनी चाहिये; जिसमें स्त्रियों के शृंगार रस का वर्णन हो ॥३३१॥

भक्तपान रसादीनामिष्टानां सुखकारिणाम् । क्वचिन्न कुकथा कार्या, हारसंज्ञाप्रवर्द्धिनी ॥३३२॥

अर्थ—आहार संज्ञा को बढ़ाने वाली, तथा मीठे और सुख देने वाले भोजन पान या रस आदि का वर्णन करने वाली कुकथा या भोजन कथा भी नहीं कहनी चाहिये ॥३३२॥

रौद्रकर्मोद्भवा निष्ठा, रौद्रसंग्रामपोषणः । भूभुक्तां कुकथा त्याज्या, रौद्रध्यानविधायिनी ॥३३३॥

अर्थ—रौद्र संग्राम का वर्णन करने से रौद्र कर्म को उत्पन्न करने वाली और

रौद्रध्यान को बढ़ाने वाली निन्दनीय राज्य कथा भी कभी नहीं कहनी चाहिये ॥३३३॥

विकथार्यों का निषेध—

घोररणा बहुदेशाणां, मिथ्यादृष्टिकुलिगिमां । अर्थार्जनं विधीनां च, भाषणं वैरिणाम् भुवि ॥
मुक्तास्मृतिशुक्लास्त्राणि, पुराणानि च या कथाः । विकथास्तान् न कर्तव्या, न श्रोतव्या अधाकराः ॥

अर्थ—(१) घोरों की कथा (२) अनेक देशों की कथा (३) मिथ्यादृष्टि कुलिगिमां की कथा (४) धन उपार्जन के कारणों की कथा (५) शत्रुओं की कथा (६) मिथ्या स्मृति शास्त्र कुशास्त्र, मिथ्या पुराणों की कथाएँ घर पाप उत्पन्न करने वाली विकथाएँ कभी नहीं कहनी चाहिये; न कभी सुननी चाहिये ॥३३४-३३५॥

किमत्र बहूनोक्तेन, जिन केवलियोगिनाम् । मुक्त्वा धर्मकथाग्रन्थाः, कार्या जातु न संयतैः ॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या ? थोड़े में इतना समझ लेना चाहिये कि मुनियों को भगवान् अरहंत देव, केवली भगवान् और मुनियों की धर्म कथाओं को छोड़कर बाकी की कोई कथा नहीं कहनी चाहिये ॥३३६॥

विकथाचारिणामत्र, यतो नश्येच्छ्रुतं मति । महान् पापाश्रयो नित्यं, मूर्खता च प्रजायते ॥

अर्थ—इसका भी कारण है कि विकथा कहने वालों की बुद्धि और श्रुतज्ञान सब नष्ट हो जाता है तथा प्रति समय तीव्र पाप कर्मों का आश्रय होता रहता है और मूर्खता भी प्रकट होती है ॥३३७॥

परनिदा न कर्तव्या, स्वान्यदुःखविधायिनी । पृष्ठमांसोपमा जातु, वृथाधातवकारिणी ॥३३८॥

अर्थ—मुनियों को पर-निंदा भी कभी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि परनिंदा अपने को तथा दूसरोंको सबको दुःख देनेवाली है; व्यर्थ ही पापाश्रय उत्पन्न करनेवाली है; और पीठ के मांस के समान (कुबड़े के कुब्ज के समान) दुःख देने वाली है । ॥३३८॥

कंसी वाणी कभी नहीं बोलनी चाहिये—

जायेतत्र यथान्यथा, पीडावधश्च देहिनां । क्लेशाद्यन्थो पतेत्स्वात्मा, सागोर्वच्यो न योगिभिः ॥

अर्थ—मुनियों को कोई भी ऐसी वाणी नहीं बोलनी चाहिये जिससे कि अन्य प्राणियों को पीड़ा या वध होता हो अथवा क्लेश होता हो अथवा अपनी आत्मा क्लेश आदि के महासागर में पड़ती हो ऐसी वाणी कभी नहीं कहनी चाहिये ॥३३९॥

चतुर्विधसुसंधानां, निर्वोषाणां निसर्गतः । जानु दोषो न वक्तव्यः, प्राणान्तेष्वयसागरः ॥३४०॥

अर्थ—चारों प्रकार का संघ स्वभाव से ही निर्दोष है; इसलिये प्राणों का अन्त समय आने पर भी संघ का दोष नहीं कहना चाहिये; क्योंकि संघका दोष कहना महापाप का कारण है ॥३४०॥

मैत्री आदि चारों भावनाओं की उपयोगिता—

सर्वसत्त्वेषु कर्तव्या, मैत्री धर्मस्वतो परा । प्रमोदः परमः कार्यो, गुणाधिकतपस्विषु ॥३४१॥

कशलाविलम्बजीवेषु, विधेयानुग्रहादिभिः । माध्यस्थ्यं मुनिभिः कार्यं, विपरीतजडात्मसु ॥३४२॥

अर्थ—मुनियों को समस्त प्राणियों में धर्म की खान ऐसा मैत्री भाव धारण करना चाहिये तथा जो तपस्वी, अधिक गुणी हैं; उनको देखकर परम प्रमोद धारण करना चाहिये । दुःखी जीवों को देखकर अनुग्रह पूर्वक कशला धारण करनी चाहिये और मिथ्यादृष्टि अज्ञानी मनुष्यों में मध्यस्थता धारण करनी चाहिये ॥३४१-३४२॥

शुभ-भावनाओं का फल—

आभिः सुभावनाभिर्धै, प्रवर्तन्तेऽन्वहं धुधाः । लोके भुक्ता इवाहो ते, रागाद्यंशं स्पृशन्ति न ॥

अर्थ—जो बुद्धिमान्, रात दिन इन भावनाओं का चिंतन करते हैं; वे इस संसार में मोती के समान रागद्वेष के अंशों को कभी स्पर्श नहीं करते ॥३४३॥

उपसंहारात्मक भाषा का प्रयोग—

विश्वदेहाक्षसौख्यादी, विरक्तिर्जायते यथा । सम्यग्बुद्धान्धारित्र, शमादि गुण शशयः ॥३४४॥

स्वान्येषां च प्रवर्धन्ते, धैर्यं सम्पद्यते तरा । तपोयोगादि सिध्यंसा भाषा वाक्या मुमुक्षुभिः ॥

अर्थ—मोक्ष की इच्छा करने वाले, मुनियों को तप और ध्यान की सिद्धि के लिये ऐसी भाषा बोलनी चाहिये जिससे कि शरीर और इंद्रियों के सुख से वैराग्य उत्पन्न हो जाय, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र और समस्त शीतता आदि अपने या अन्य लोगों के गुणों की वृद्धि हो जाय तथा सर्वोत्तम धोरता की प्राप्ति हो जाय । ॥३४४-३४५॥

भाषा समिति की उपयोगिता—

मूलभूता न जानाति, भाषासमितिसूजिताम् । जिनधर्मस्य यः सोऽत्र, कथं कर्मास्त्रिंशस्त्यजेत् ॥

अर्थ—जो मुनि जिनधर्म की मूलभूत और सर्वोत्कृष्ट ऐसी इस भाषा समिति

को नहीं जानता है वह अपने कर्मों के आलस्य को कैसे रोक सकता है ? अर्थात् कभी नहीं रोक सकता है ॥३४६॥

भाषा समिति का उपसंहारात्मक विवरण—

यत्वेति यत्नसो नित्यं, पालयंतु शिवायिनः । भाषासमितिमत्यर्थं, जिनोक्तां शिर्वासद्वये ॥३४७॥

अर्थ—यही समझकर, मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये यत्नसो जिनैन्द्रदेव की कही हुई भाषा समितिको यत्न पूर्वक प्रतिदिन अच्छी तरह पालन करना चाहिये ॥३४७॥

श्रुतसकलगुणाम्बां, विषयविज्ञानखानिम् । जिनपतिमुनिसेव्यां, पाविनीं धर्ममूलाम् ॥

शिवशुभगतिवीथीं, मोक्षफला स्वसिद्धं । प्रभञ्जसंभितिं, भाषाभिधां सर्वयत्नान् ॥३४८॥

अर्थ—यह भाषा समिति समस्त श्रुतज्ञान को देनेवाली है; समस्त विज्ञानकी खान है; भगवात् तौर्थकर परमदेव और मुनियों के द्वारा सेवन करने योग्य है, अत्यंत पवित्र है; धर्मकी मूल है तथा मोक्ष और स्वर्गगति का मार्ग है; इसलिये मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये, पूर्ण प्रयत्न के साथ, भाषा समिति का पालन करना चाहिये ॥३४८॥

(३) एषणा समिति का स्वरूप—

शीतोष्णादि यथालब्धं, भुज्यते यन्मुमुक्षुभिः । परगृहेष्णानं शुद्धं, सैवणासमिति र्मेता ॥३४९॥

अर्थ—मोक्षकी इच्छा करने वाले मुनिराज, दूसरे के घरमें जाकर, शीत या उष्ण जैसा मिल जाता है, वैसा शुद्ध भोजन करते हैं इसी को 'एषणा समिति' कहते हैं ॥३४९॥

मुक्ता ये रष्टभिर्दोषैरेषणाशुद्धि रद्भुता । निर्मला स्यात्प्रवक्ष्येतान्, पिंडशुद्धिमलप्रदाम् ॥३५०॥

अर्थ—आठ प्रकार के दोषों से रहित हो; वही 'एषणा शुद्धि' निर्मल कही जाती है । इसलिये पिंड शुद्धियों से मल उत्पन्न करने वाले उन दोषों को अब कहते हैं ॥३५०॥

एषणा के आठ प्रकार के दोष—

षोडशबोद्गमा दोषाः, षोडशोत्पादनाभिधाः । दशैवासन दोषाहि, दोषः संयोजनाह्वयः ॥३५१॥

अप्रमाणस्तथांगारो, धूमः कारणसंज्ञकः । समीभिरष्टभिर्दोषैः, समासेन विवर्जितः ॥३५२॥

अर्थ—सोलह तो 'उद्गम दोष' कहलाते हैं, १६ 'उत्पादन दोष' कहलाते हैं, १० भोजन के दोष कहे जाते हैं; १ संयोजन, १ अप्रमाण, १ अंगार, १ धूम और एक कारण । संक्षेप से इन ८ दोषों से रहित ही भोजन होता चाहिये ॥३५१॥

अथः कर्मातिगा पिङ्ग, शुद्धिः स्यादष्टधा परा । निर्मला च मुमुक्षूणां, कर्मास्त्र निरोधिनी ॥

अर्थ—इसप्रकार अधःकर्म से रहित, पिङ्गशुद्धि आठ प्रकार से मानी है । मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को ऐसी पिङ्गशुद्धि ही निर्मल और कर्मों के आस्त्र को रोकने वाली कही जाती है ॥३५३॥

एतद्विषयं हिर्भूतो, गृहि पाखंडिसंश्रितः । योषः कमबृहदोषः, यद् प्राणिवधकारकः ॥३५४॥

अर्थ—गृहस्थ और पाखंडियों के आश्रित रहने वाला तथा इन सब दोषों से भिन्न एक अधःकर्म नामका सबसे बड़ा दोष है; तथा यह दोष छहों प्रकार के प्राणियों की हिंसा करने वाला है ॥३५४॥

नीच कर्मोद्भवस्याज्यो, दूरतः सोऽत्र संयतैः । पापभीते महापापकरोऽकीर्ति निर्बन्धनः ॥३५५॥

अर्थ—पापों से डरने वाले मुनियों को, नीच कर्मों से उत्पन्न हुआ आहार दूर से ही छोड़ देना चाहिये क्योंकि ऐसा आहार, महा पाप उत्पन्न करनेवाला है और अमकीर्ति का कारण है ॥३५५॥

षट्पिष्ठांगिनिकायानां, मारणं च विराधनम् । कृत्वा निष्पन्न मग्नं, स्वयं कामेनात्रयत्कृतं ॥

कारितं वचसा वातु, मतेन सकलं च तत् । नीचकर्म करं निष्ठ, मग्नः कर्म निगद्यते ॥३५७॥

अर्थ—छहों प्रकार के जीवों को स्वयं अपने हाथ से मारने अथवा उनकी विराधना करने से या वचन के द्वारा दूसरों से मरवाने या विराधना कराने से अथवा अनुमोदना करने से जो अन्न उत्पन्न होता है ऐसे निंदनीय और नीचकर्म से उत्पन्न होने वाले अन्न को 'अधःकर्म' कहते हैं ॥३५६-३५७॥

यह अधःकर्म महा दोष है—

शास्त्रेत्ययं महादोषो, ऽत्रासंयतजनाश्रितः । सर्वयत्नेन संत्याज्यः, सदाधः कर्मसंज्ञकः ॥३५८॥

अर्थ—यह 'अधःकर्म' नामका महादोष असंयमी लोगों से उत्पन्न होता है; इसलिये इस 'अधःकर्म' नाम के दोष को अपने पूर्ण प्रयत्नों से सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये ॥३५८॥

१६ उद्गम दोषों का वर्णन—

आद्य उद्देशिको दोषो, द्वितीयोऽध्यधिनामकः । पूति मिश्राभिघो दोषः, स्थापितो बलिसंज्ञकः ॥
प्रावर्तितोऽप्यः प्राविष्कारणः कीर्त एव च । ततः प्रामिच्छदोषोऽप्य, परिवर्तकसंज्ञकः ॥३६०॥
दोषोऽभिघट उद्भिन्नो, मालारोह समाह्वयः । आच्छेद्याख्योऽप्यनीशार्थो, ऽमीदोषाः षोडशोद्गमाः ॥
नागादि देव पाखंडि, दोनाद्यर्थं च यत्कृतं । उद्दिष्यान्तं गृहस्येत, बुद्देशिकमिहोच्यते ॥३६२॥

अर्थ—अब १६ उद्गम दोषों को कहते हैं—(१) उद्देशिक (२) अध्यधि (३) पूति (४) मिश्र (५) स्थापित (६) बलि (७) परावर्तित (८) प्राविष्कारण (९) कीर्त (१०) प्रामिच्छ (११) परिवर्तक (१२) अभिघट (१३) उद्भिन्न (१४) मालारोहण (१५) आच्छेद्य और (१६) अनीशार्थ ये १६ 'उद्गम दोष' कहलाते हैं । ॥३५६-३६१॥

(१) उद्देशक दोष—

अर्थ—गृहस्थों के द्वारा जो नागादि देवों के उद्देश्य से अथवा पाखंडियों के या दोन हीन मनुष्यों के उद्देश्य से जो आहार तैयार करते हैं, ऐसे आहार को लेना (१) 'उद्देशक दोष' कहलाता है ॥३६२॥

सामान्याश्च जनान् कारिष्यत्, तथा पाखंडिनोऽखिलान् । श्वमशाश्च परिव्राजकादोऽन्येऽप्यसंयतान् ॥
उद्दिष्य यत्कृतं चाद्य, बुद्देशिकं चतुर्विधम् । तत्सर्वं मुनिभिस्त्याज्यं, पूर्वसावच्यदर्शनात् ॥३६४॥

अर्थ—एक तो अन्य सामान्य लोगों के लिये, भोजन बनाया जाता है; दूसरे बहुत से पाखंडियों के लिये बनाया जाता है तीसरे परिव्राजक साधुओं के लिये बनाया जाता है और चौथे निर्ग्रन्थ मुनियों के लिये बनाया जाता है; वह जो चारों के उद्देश्य से आहार बनाया जाता है वह चार प्रकार का 'उद्देशिक' कहलाता है । मुनियों को उस आहार के बनने के सब पापों को देख कर सबका त्याग कर देना चाहिये । ॥३६३-३६४॥

(२) अध्यधि दोष—

दानार्थं संयतान् दृष्ट्वा, निक्षेपोयः स्वसंडुले । अन्येषां संडुलानां च, दोषोऽध्यधिसमाह्वयः ॥३६५॥

अर्थ—आहार के लिये आते हुए संयमियों को देखकर पकते हुए अपने चावलों में किसी दूसरेके चावल और मिला देना (२) 'अध्यधि' नामका दोष कहलाता है ॥३६५॥

अन्नपानादिकं मिथं, यदग्रासुकवस्तुनः । पूति दोषः स एव स्यात् पंच भेदोऽधिकारकाः ॥३६६॥

अर्थ—जो अन्नपानादिक अग्रासुक वस्तु से मिला हो उसको 'पूति दोष' कहते हैं । यह 'पूति दोष' पाप उत्पन्न करने वाला है और उसके ५ भेद हैं ॥३६६॥

(३) पूति दोष—

रन्धन्युद्धखलो दर्वोभोजनं गंध एव हि । पूतिदोषो इमे ज्ञेयाः, पंच साधककारिणः ॥३६७॥

अर्थ—रंधनी (चूल्हा) उद्धखल (ओखली) दर्वो (करछली) भोजन और गंध ये ५ प्रकार के 'पूति दोष' कहलाते हैं । ये सब पाप उत्पन्न करने वाले हैं ॥३६७॥

रन्धन्या प्रवराहारं, निष्पाद्य साधवे धर्मः । वास्याम्यावो ततो न्येषां, पूतिदोषः स उच्यते ॥

अर्थ—इस चूल्हे पर सबसे उत्तम आहार बनाया है; इसे सबसे पहले किसी साधु के लिये दूंगा तबनंतर किसी दूसरे को दूंगा ऐसे आहार में 'पूति दोष' उत्पन्न होता है ॥३६८॥

घूर्णयित्वा शुभं वस्तुवृत्तले योगिने च यत् । यावद्वास्यामि नान्येभ्यस्तावत्पूतिः स कथ्यते ॥

अर्थ—किसी ओखली में अच्छी वस्तु कुटकर विचार करना कि जबतक इसमें से मुनि को नहीं दे दूंगा तब तक किसी दूसरे को नहीं दूंगा; ऐसे आहार में भी 'पूति दोष' उत्पन्न होता है ॥३६९॥

द्रव्यानंयाकृतं द्रव्यं, यावद्वास्यामि नोऽजितम् । ऋषिभ्योऽन्यस्य तावन्नपूतिदोषः स पापकृत् ॥

अर्थ—इस करछली से यह श्रेष्ठ द्रव्य बनाया है; जब तक इस करछली से ऋषियों को नहीं दे दूंगा तब तक किसी दूसरे को नहीं दूंगा इसप्रकार के अन्न में पाप उत्पन्न करने वाला 'पूति दोष' होता है ॥३७०॥

ददामि भोजनं यावत् साधुभ्यो न श्रुतावहं । इव तावन्न चान्येषां, योग्यं पूतिः स एव हि ॥

अर्थ—इस भोजन में से जब तक साधुओं को नहीं दूंगा तब तक दूसरों को नहीं दूंगा ऐसे अन्न में भी 'पूति दोष' प्रगट होता है ॥३७१॥

यतिभ्यो दीयते नार्यं, गंधो भोजनपूर्वकः । यावत्तावन्न योग्योऽत्र, स्वान्येषां पूतिरेव सः ॥३७२॥

अर्थ—इस गंध में से जब तक आहार देकर मुनियों को न चढ़ा दूंगा तब तक यह गंध दूसरों को नहीं दूंगा । इस प्रकार के अन्न में भी 'पूति दोष' होता है ॥३७२॥

प्रथमारंभ संजात, मिदमाहार संजसा । यतिभिः परिहृतं, दातृसंकल्पदोषजं ॥३७३॥

अर्थ—अभिप्राय यह है कि किसी भी पदार्थ से प्रथम आरंभ हुआ, प्रथम ही बनाया हुआ, भोजन मुनियों को ग्रहण नहीं करना चाहिये; क्योंकि उसमें दाताके संकल्प का दोष उत्पन्न हो जाता है ॥३७३॥

(४) मिश्र दोष—

मुनिभ्योऽनुमुद्दिष्टं, मिश्रं गृहस्थं च यत् । तच्छिष्टं पाण्डितागारं, मिश्रदोषोऽत्र सौघदः ॥

अर्थ—मुनियों को देने के उद्देश्य से पाण्डो गृहस्थों के साथ-साथ जो अन्न तैयार किया गया है उसमें (४) 'मिश्र' नामका दोष उत्पन्न होता है ॥३७४॥

(५) स्थापित दोष—

पाकं भाजनसोऽन्यस्मिन्, भाजनेऽस्थापितं च यत् । अन्नं स्वान्यस्य गेहेवा, स दोषः स्थापिताह्वयः ॥

अर्थ—जिस बर्तन में भोजन बनाया गया हो, उसमें से लेकर यदि किसी दूसरे बर्तन में रख दिया गया हो, चाहे वह अपने घरमें रखा हो; और चाहे दूसरों के घर में रख दिया हो ऐसे अन्न के लेने में (५) 'स्थापित' नामका दोष होता है ॥३७५॥

(६) बलि दोष—

यक्षनागादि देवानां, निमित्तं यः कृत्ते बलिः । तस्य दोषः स प्रज्ञप्तः, उपचारेण भो बलिः ॥

अर्थ—किसी यक्ष, नाग आदि देवों के लिये जो अन्न तैयार किया जाता है उसमें से उनको देकर जो दत्त रहता है उसको उपचार से (६) 'बलि' कहते हैं । ॥३७६॥

संयतागमनार्थं यद् बलिकर्म विधीयते । अर्चाम्बु क्षेपणाद्यर्वा बलिदोषः स उच्यते ॥३७७॥

अर्थ—अथवा संयमितो के आने के लिये पूजा, नल क्षेपणादि के द्वारा जो बलिकर्म किया जाता है वह भी (६) 'बलि' नामका दोष कहा जाता है ॥३७७॥

(७) परावर्तित दोष—

द्विधा प्राभृतकं बाधर सूक्ष्माभ्यां प्रकीर्तितं । बाधरं द्विविधं काल, हानिर्वृद्धि द्विभेदतः ॥३७८॥

सूक्ष्मं प्राभृतकं द्वेधोक्तं काल हानिर्वृद्धिः । अमीषां विस्तरेणेतान् भवान् भूषु ब्रूवेऽधुना ॥

अर्थ—प्राभृत दोष के २ भेद होते हैं एक बाधर और दूसरा सूक्ष्म । कालकी

हानि और वृद्धि के भेद से सूक्ष्म प्राभृतके भी २ भेद हैं । अब आगे इन्हीं सब भेदों का स्वरूप विस्तार के साथ कहते हैं तुम सुनो ॥३७८-३७९॥

परावृत्य दिनं पक्षं, मासं वर्षं च दीयते । वारं यदिवसार्धंस्तत्, स्थूलं प्राभृतकं द्विधा ॥३८०॥

बेला पूर्वाह्ण मध्याह्ण, पराह्णानां विहाय यत् । ददाति हानि वृद्धिम्यां, सूक्ष्मं प्राभृतकं च तत् ॥

अर्थ—जो दान आज देना हो; उसे कल वा परसों देना अथवा जो दान कल परसों देना हो उसको किसी मुनि के आने पर आज ही देना 'क्षिप्त परावृत्य' नामका 'स्थूल प्राभृत' दोष है । जो दान शुक्ल पक्ष में देना हो, उसे कृष्ण पक्ष में देना अथवा जो कृष्ण पक्ष में देना हो; उसको शुक्ल पक्ष में देना 'पक्ष परावृत्य' नामका स्थूल प्राभृत दोष है । इसीप्रकार जो दान चैत में देना हो उसे वैशाख में देना अथवा वैशाख में देना हो उसे चैतमें ही देना 'मास परावृत्य' नामका स्थूल प्राभृत दोष है । जो दान अगले वर्ष में देना ही, उसे इसी वर्ष में देना तथा इसी वर्ष में देना हो उसे आगे के वर्ष में देना वर्ष-परावृत्य नामका दोष है । जो दान शामको देना चाहिये उसको किसी संघमी के आ जाने पर सवेरे ही देना अथवा सवेरे देना चाहिये उसको शाम को देना या दोपहर को देना; दोपहर के देने योग्य दान को सवेरे या शामको देना, इसप्रकार किसी संघमी के आने पर सवेरे, दोपहर, शाम को देने योग्य दान को बदल कर देना, 'सूक्ष्म प्राभृत' नामका दोष है ॥३८०-३८१॥

इमं प्रावर्तितं दोषं हिता संक्लेश कारणम् । त्यजन्तु सर्वथा सर्वे, बहुभेदं सिद्धान्तः ॥३८२॥

अर्थ—इसप्रकार काल की मर्यादा के बदलने में हिता अधिक होती है और परिणामों में संक्लेशता बढ़ती है इसलिये मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनियों को अनेक प्रकार का यह 'प्राभृत' नामका दोष सर्वथा छोड़ देना चाहिये ॥३८२॥

(८) प्राविष्कार दोष—

प्राविष्कारो द्विधा संक्रमणप्रकाशनाद्भूति । भाजनानां तथा भोजनादीनां-खाद्यकारकः ॥३८३॥

अर्थ—'प्राविष्कार' नाम के दोष के २ भेद हैं जो कि 'संक्रमण' करने और 'प्रकाश' करनेसे उत्पन्न होते हैं आहार और बर्तनों को बदलने, स्थानांतर करने अथवा प्रकाशित करने में पाप उत्पन्न होता है, इसलिये इसको दोष माना है ॥३८३॥

आहारभाजनादीनां, अन्यस्मान्प्रवेशतः । अन्यत्र नयनं भस्मादिनां मार्जनं च यत् ॥३८४॥

प्रदीपज्वालयनं मंड, पादः प्रद्योतनं हि सः । प्राविष्कारो खिलो दोषः, पापरंभावि धर्मेकः ॥३८५॥

अर्थ—आहार और बर्तनों को एक प्रवेश से दूसरे प्रदेश में ले जाना, अथवा बर्तनों को भस्म से मांजना अथवा दीपक जलाकर मंडप की प्रकाशित करना या घर में प्रकाश करना 'प्राविष्कार' नामका दोष है । यह दोष पाप और आरंभ को बढ़ाने वाला है इसलिये इसका त्याग कर देना चाहिये ॥३८४-३८५॥

(९) क्रीत दोष—

स्वकीयं दत्तं वा, गृहं वेदितव्यं । एतत् प्रगृह्य आहारं पात्रेभ्यो दीयते तथा ॥३८६॥

स्वसर्वं परमं वा, दत्त्वा दायारानं च यत् । तत् सर्वं क्रीत दोषत्वं, जानीहि क्लेश पापदं ॥३८७॥

अर्थ—अपने या दूसरों के गाय, भैंस आदि चेतन पदार्थ अथवा रुपया पैसा आदि अचेतन पदार्थों को देकर, आहार लेना और फिर उसे मुनियों को देना 'क्रीतदोष' है अथवा अपनी विद्या वा मंत्रको देकर आहार लेना और फिर उसे मुनियों को देना 'क्रीत दोष' है । यह दोष भी क्लेश और पापको उत्पन्न करनेवाला है ॥३८६-३८७॥

(१०) प्रामिच्छ दोष—

शृणेनान्तीय दाता, यत्पराश्रं परगेहृतः । भक्ष्या ददाति पात्राय, दोषः 'प्रामिच्छ' एव सः ॥

अर्थ—जो दाता दूसरे के घरसे, कर्ज के रूप में दाल, चावल, रोटी आदि लाता है और उसे भक्ति पूर्वक मुनियों को देता है उसको (१०) 'प्रामिच्छ' नामका दोष लगता है ॥३८८॥

(११) परिवर्त्तिक दोष—

स्वान्नं दत्त्वा न्यगेहादानीयान्नं च यत् । भक्षिभ्यो दीयते भक्ष्या, स दोषः 'परिवर्त्तितः' ॥३८९॥

अर्थ—जो दाता अपने भात या रोटी को देकर दूसरे के घर से मुनियों को देने के निमित्त श्रेष्ठ भात रोटी लेकर भक्ति पूर्वक मुनियों को देता है उसको (११) 'परिवर्त्तिक' नामका दोष लगता है ॥३८९॥

(१२) अभिघट दोष—

द्विधाभिघटमत्रोक्तं, देश सर्व प्रभेदतः । तद्देशाभिघटं द्वेधा, योग्यायोग्यप्रकारतः ॥३९०॥

अर्थ—(१२) 'अभिघट' दोष के २ भेद हैं एक 'देशाभिघट' और दूसरा 'सर्वाभिघट' उसमें जो देशाभिघट के २ भेद हैं—एक योग्य और दूसरा अयोग्य ॥३९०॥

द्विधादि सप्तगोहेभ्यः, पंक्तिरूपेण वस्तु यत् । प्रागतं चाप्यपानादि, तद्योग्यं योगिनां मतं ॥

अर्थ—जो अन्न, पान पंक्ति रूपमें रहने वाले दो तीन आदि सात घरों से आया है वह मुनियों के लिये 'योग्य' माना जाता है ॥३६१॥

यस्मात् कस्माद् गृहात्, पक्व्या बिना बाण्टमगेहतः । आहारादि यवानीतं, ग्रहणायोग्यमेव तत् ॥

अर्थ—जो अन्न, पान बिना पंक्ति रूप से बने हुये जिस किसी घर से लाया गया है अथवा आठवें, नौवें घर से लाया गया है; वह मुनियों के ग्रहण करने के 'अयोग्य' समझा जाता है ॥३६२॥

नोट—मूल में ३९३ श्लोक छपना रह गया है उसका अर्थ
आद्य गीर्वाण विधेः अनुसार संयमना चाहिये ॥३९३॥

अर्थ—जो अन्न, पान अपने गांव से आया है अथवा दूसरे गांव से आया है या अपने देश से आया है या दूसरे देश से आया है ऐसे अन्न पानको देना 'सर्वाभिघट' नामका दोष कहलाता है ॥३६३॥

चतुर्विधं परिज्ञेयं, स्वपाटकान्यपाटकात् । श्रोतनादि यवानीतं, स्वग्रामाभिघटं हि तत् ॥३६४॥

अर्थ—इस प्रकार 'सर्वाभिघट' दोष के ४ भेद हैं (१) स्वग्रामाभिघट (२) परग्रामाभिघट (३) स्वदेशाभिघट (४) परदेशाभिघट । एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले में लाना (१) 'स्वग्रामाभिघट' है और पर ग्राम से अपने ग्राम में लाना (२) 'परग्रामाभिघट' है । अपने देश से गांव में लाना (३) 'स्वदेशाभिघट' है और परदेश से गांव में लाना 'परदेशाभिघट' है ॥३६४॥

एवं सर्वोऽपि संत्याज्यो, दोषोऽभिघटसंज्ञकः । संयतैः संयमार्थं हि, यातायाताभिबाधनात् ॥३६५॥

अर्थ—इन सब दोषों में श्राने जाने में जीवों को बाधा होती है इसलिये संयमियों को अपना संयम पालन करने के लिये सब तरह के (१२) 'अभिघट' दोषों का त्याग कर देना चाहिये ॥३६५॥

(१३) उद्भिन्न दोष—

घृतादि भाजनं कर्दं, माविना मुञ्चितं व्रतम् । उद्भिन्नं यच्चवेद्यं स, उद्भिन्नदोषनामकः ॥३६६॥

अर्थ—जो घी, गुड़, शक्कर का पात्र, किसी से ढका हो या कीचड़ आदि के जंतुओं से आच्छादित हो रहा हो, उसको उघाड़ कर मुनियोंको देना (१३) 'उद्भिन्न' नाम का दोष कहलाता है । ढके हुये में भी चींटी आदि चढ़ सकती है इसलिये यह

दोष माना है ॥३६६॥

(१४) मालारोहण दोष—

निःश्रेण्यादिकमारुह्य, द्वितीयगृहभूमितः । आनीतं खलु यद्देयं, स मालारोहणो मतः ॥३६७॥

अर्थ—जो अन्न, पान नर्सनी पर चढ़कर या उतर कर ऊंची या नीची दूसरे की भूमिपर से लाकर, मुनियों को दिया जाता है उसमें 'मालारोहण' दोष लगता है । इसमें दाता का अपाध होता है ॥३६७॥

(१५) आच्छेद्य दोष—

संबतानागमान् दृष्ट्वा, राजर्षीर्वादिजाह्नयात् । अनैर्महीयते दानमाच्छेद्य दोष एव सः ॥३६८॥

अर्थ—मुनियों के आगमन को देखकर राजा या खोरों के भय से जो लोगों के द्वारा मुनियों को दान दिया जाता है उसको 'आच्छेद्य' दोष कहते हैं (यदि दान न दोगे तो हम तुम्हारा धन लूट लेंगे या तुम्हें निकाल देंगे । इसप्रकार के डर से डर कर दान देना 'आच्छेद्य' दोष है) ॥३६८॥

(१६) अनीशार्थ नामक दोष—

सारक्षेणेश्वरेणानोश्वरेणैवा, नीश्वरेण च दीयते । व्यक्ताव्यक्तेन दानं यद्दोषोऽनीशार्थ एव सः ॥

अर्थ—व्यक्त और अव्यक्त के भेद से ईश्वर के अर्थात् स्वामी वा प्रभु के २ भेद हैं तथा (१) व्यक्त और (२) अव्यक्त ईश्वर और (१) व्यक्त या अव्यक्त 'अनीश्वर' यदि किसी के निषेध करने पर भी दान दे तो उसके 'अनीशार्थ' नामका दोष लगता है ॥३६९॥

ऐसा क्यों इसका कारण—

एकोदानं श्वात्यन्यो, निषेधयति यद्भुवि । इत्यादि सोखिलो ज्ञेयो, दोषोऽनीशार्थ संज्ञकः ॥

अर्थ—इसमें एक दान देता है और दूसरा निषेध करता है; इसप्रकार के दान में 'अनीशार्थ' नामका दोष लगता है ॥४००॥

सभी १६ उद्गम दोषों के त्याग की आवश्यकता—

षोडशैव परित्याज्याः, सद्भिः क्लेशापकारिणः । (ग्रामे की पंक्ति नहीं है) ॥४०१॥

अर्थ—इसप्रकार ये 'उद्गम' नाम के १६ दोष हैं । ये दाता और पात्र दोनों के आश्रित हैं और क्लेश तथा पाप उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिये सज्जनों को इन

सब दोषों का त्याग कर देना चाहिये ॥४०१॥

१६ उत्पादन दोष—

धात्रीदूतो निमित्तरण्यो, दोष आजीवनाह्वयः । वनीपक वचो दोषः, चिकित्सादोष एव च ॥
क्रोधो मानो तथा माया, लोभश्च पूर्वसंस्तुतिः । पश्चात्संस्तुति दोषोऽथ विद्यामंत्रसमाह्वयः ॥
चूर्णयोगाभिधो मूल, कर्मते षोडशा शुभाः । जेया पात्राश्रिता बोधा, उत्पादन समाह्वयाः ॥४०४॥

अर्थ—आगे सोलह उत्पादन दोषों को कहते हैं—ये दाता और पात्र दोनों के आश्रित होते हैं उनके नाम नीचे लिखे अनुसार हैं—(१) धात्री (२) दूत (३) निमित्त (४) आजीवन (५) वनीपक वचन (६) चिकित्सा (७) क्रोध (८) मान (९) माया (१०) लोभ (११) पूर्वसंस्तुति (१२) पश्चात्संस्तुति (१३) विद्या (१४) मंत्र (१५) चूर्ण योग और (१६) मूलकर्म ॥४०२-४०३-४०४॥

(१) धात्री दोष—

मज्जनं मंडनं क्रीडनं, क्षीरपानकारणम् । तथा स्थापविधि, बालकानां युक्तोपदेशनः ॥४०५॥
गृहिणामुपविश्योत्पाद्यान्नं चात्रीव यवभुजि । संयतं गृह्यते निद्यं, धात्रीदोषः सचोच्यते ॥

अर्थ—जो मुनि गृहस्थों को युक्ति पूर्वक धाय के समान बच्चों को स्नान कराने, वस्त्राभूषण पहनाने, क्रीड़ा कराने, दूध पिलाने और सुलाने आदि की विधिका उपदेश देकर निद्य रीतिसे अन्न उत्पन्न कर ग्रहण करते हैं उनके निदनीय (१) 'धात्री' नामका दोष उत्पन्न होता है ॥४०५-४०६॥

(२) दूतकर्म दोष—

स्वापरग्रामदेशादिभ्योऽन्न सागारिणां स्वचित् । ग्रामीय शुभसन्देशं, निवेद्य तेन गेहिभिः ॥
जातहर्षः प्रदत्तं यदन्नदानमयुक्तिजम् । भुज्यते साधुभिः, दूतः दोषः स दूत कर्मकृत् ॥४०८॥

अर्थ—जो मुनि अपने देश से या दूसरे देश से तथा अपने या दूसरे के ग्रामसे गृहस्थोंके शुभ समाचार लाता है तथा जहां जाता है वहां के गृहस्थों से उन समाचारों को कहता है, उन समाचारों को सुनकर हर्षित हुये उन गृहस्थों के द्वारा दिये हुए दान को स्वीकार करता है उस साधु के (२) दूतकर्म करने वाला 'दूत' नामका दोष लगता है ॥४०७-४०८॥

(३) निमित्त नामका दोष—

व्यंजनांगे स्वरच्छिन्नो, भौमान्तरीक्ष संज्ञकौ । संज्ञकं च ततः स्वप्नं, निमित्तमष्टयेति वै ॥

एतैरष्टनिमित्तोप देशरूपाद्य साधुभिः । भिक्षाया गृह्यते लोके, निमित्त बोध एव च ॥४१०॥

अर्थ—(१) ध्यान (२) क्रम (३) स्वर (४) छिन्न (५) भौम (६) अंतरीक्ष (७) लक्षण और (८) स्वप्न ये ८ प्रकारके निमित्त माने हैं । इन ८ प्रकार के निमित्तों का उपदेश देकर जो साधु भिक्षा ग्रहण करता है उसके (३) निमित्त नाम का बोध लगता है । (इस बोध से रसास्वादन की लोलुपता और दीनता का बोध लगता है ।) ॥४०६-४१०॥

(४) आजीवन दोष—

जाति कुल तपः शिल्प, कर्मनिर्विषय चात्मनः । करोत्याजीवनं योऽत्र, स आजीवन दोषभाक् ॥

अर्थ—जो मुनि अपनी जाति, कुल, तप और शिल्पकर्म या हाथ की कलाओं का उपदेश देकर या जाति कुल को बतला कर अपनी आजीविका करता है उसको (४) आजीवन नामका दोष लगता है ॥४११॥

(५) वनीपक वचन दोष—

पाश्र्वंश्चिपुण्यादीनां, मतिधीनां च दानतः । पुण्यं भवेत्त चात्रेति, पृष्ठो दात्रो मुनिः क्वचित् ॥

पुण्यं भवेद्विदं चोक्त्वा, ह्यनुकूलं वचोऽशुभं । वानुर्गृह्णाति दानं यो, दोषो वनीपकोऽपि सः ॥

अर्थ—यदि कोई गृहस्थ किसी मुनि से यह पूछे कि पाश्र्वंश्चियों को, कृपण या कोढ़ी आदि को अथवा भिक्षुक ब्राह्मणों को दान देने में पुण्य होता है या नहीं । इसके उत्तर में वह मुनि उस दाता के अनुकूल यह कह दे कि हां, पुण्य होता है । इसप्रकार अशुभ वचन कह कर उसी दाता के द्वारा दिये हुये दानको ग्रहण करता है उसके (५) वनीपक नामका दोष लगता है ॥४१२-४१३॥

(६) चिकित्सा दोष—

(संस्कृत श्लोक नहीं है ।) ॥४१४॥

अर्थ—चिकित्सा शास्त्रों में ८ प्रकार की चिकित्सा बतलाई है; उनके द्वारा मनुष्यों का उपकार कर जो मुनि उन्हीं के द्वारा दिये हुये अन्नको ग्रहण करता है उसके चिकित्सा नामका दोष लगता है ॥४१४॥

(७) क्रोध और (८) मान दोष—

क्रोधेनोत्पाद्यते भिक्षा या, क्रोधदोष एव सः । मानेनोत्पाद्यतेऽन्नं मानदोष स एव हि ॥४१५॥

अर्थ—क्रोध दिखला कर जो भिक्षा उत्पन्न की जाती है; उसमें (७) 'क्रोध' नामका दोष उत्पन्न होता है । अपना अभिमान दिखला कर जो भिक्षा उत्पन्न की जाती है उसमें (८) मान नामका दोष लगता है ॥४१५॥

(९) माया नामक दोष—

माया कौटिल्यभावं च, कृत्वाहारादिकं भुवि । उत्पाद्य भुज्यते यैस्तेषां मायादोष एव हि ॥

अर्थ—मायाचारो या कुटिल परिणामों को धारण कर जो आहार उत्पन्न कर ग्रहण किया जाता है उसमें (९) माया नामका दोष लगता है ॥४१६॥

(१०) लोभ दोष—

लोभं प्रविश्य भिक्षां यः, उत्पादयति सूतले । स्वात्मनो लोभिनस्तस्य, लोभदोषोऽशुभप्रदः ॥

अर्थ—जो मुनि अपना कोई लोभ दिखलाकर भिक्षा उत्पन्न कर ग्रहण करता है उस लोभी मुनि के पाप उत्पन्न करनेवाला 'लोभ' दोष लगता है ॥४१७॥

प्रत्येक के उदाहरण (७) क्रोध दोष—

पत्तने हस्तिकल्पाख्ये कश्चित्साधुः, कुमार्गगः । भिक्षामुत्पादयामास, क्रोधेन गृहनायकात् ॥

अर्थ—हस्तिकल्प नाम के नगर में किसी कुमार्गगामी साधु ने किसी गृहस्थ से अपना 'क्रोध' दिखला कर भिक्षा उत्पन्न की थी ॥४१८॥

(८) अभिमान दोष का उदाहरण—

वेणातटपुरेऽप्यो भिक्षामुत्पादितवान् मुनिः । मानेन स्वस्य कुमार्गं, गतो मानी गृहस्थतः ॥४१९॥

अर्थ—वेणातट नामके नगर में कुमार्गमें चलने वाले किसी अभिमानी मुनि ने अपना अभिमान दिखलाकर भिक्षा उत्पन्न की थी ॥४१९॥

(९) माया दोष का उदाहरण—

वाराणस्यां तत्रा कश्चित् सलोभः संयतोबुधः । मायया स्वस्य आहार, माविशचक्रेति निवितं ॥

अर्थ—वाराणसी नगरी में किसी बुद्धिमान् लोभी मुनि ने अपनी मायाचारी प्रगट कर निंदनीय आहार उत्पन्न किया था ॥४२०॥

(१०) लोभ दोष का उदाहरण—

तथान्यः संयतः कश्चिद्वाशियानाभिधे पुरे । लोभं प्रविश्य भिक्षां, पुंसांमुत्पादितवान् क्वचित् ॥

अर्थ—इसीप्रकार राशियाना नामके नगर में किसी अन्य साधु ने लोगों को अपना लोभ दिखलाकर भिक्षा उत्पन्न की थी ॥४२१॥

चारों द्रव्यलिगी मुनियों की कथा का सार—

कोधादि कारिणामेषां चतुर्णां द्रव्य लिगताम् । चतस्रो हि कथाजोयाः प्रसिद्धा श्री जिनागमे ॥

अर्थ—कोधादि चारों कथाओंको प्रगट करनेवाले इन चारों द्रव्यलिगी मुनियों की चारों प्रसिद्ध कथाओं श्री जिनागम से ज्ञात लेनी चाहिये ॥४२२॥

(११) पूर्वसंस्तुति दोष—

ब्रूयते यद्यशोदानं, पहरणात् पूर्वभूजितम् । वातुरघे सुव्रजाय, स दोषः पूर्वसंस्तुतिः ॥४२३॥

अर्थ—जो मुनि दान ग्रहण करने के पहले श्रेष्ठ दान देने के ही अभिप्राय से उसी दाताके सामने उसका श्रेष्ठ यश वर्णन करता है उसके (११) पूर्वसंस्तुति नाम का दोष प्रगट होता है ॥४२३॥

(१२) पश्चात्संस्तुति दोष—

गृहीत्वा पुरतोदानं, पश्चाद्दानाविजान् पुरान् ।

वातुः स्तौति गिराम यः, स पश्चात् संस्तुति दोष भाक् ॥४२४॥

अर्थ—जो मुनि दान लेकर पीछे से अपनी वाणी के द्वारा, दाता के दिये हुए उस दानके गुणों की प्रशंसा करता है उसके 'पश्चात् संस्तुति' नामका दोष लगता है ॥४२४॥

(१३) विद्या नामका दोष—

विद्यां साधयितुं सारं, ते दास्यामीति यो मुनिः । आश्रयोत्पादयेद्भिक्षां, विद्यादोषोऽत्र तस्य च ॥

अर्थ—जो मुनि दाता को यह आशा दिलाता है कि "मैं तुम्हें सिद्ध करने के लिये एक अच्छी विद्या दूंगा" इसप्रकार आशा दिलाकर जो भिक्षा उत्पन्न करता है उसके (१३) विद्या नामका दोष लगता है ॥४२५॥

(१४) मंत्र नामका दोष—

गृहीतां सिद्धसन्मंत्रं, दानाशाकरणाविना । उत्पाद्य गृह्यतेषां यन्मंत्रदोषः सकल्प्यते ॥४२६॥

अर्थ—जो मुनि किसी गृहस्थ को किसी सिद्ध किये हुये मंत्रको देनेकी आशा दिलाकर आहार ग्रहण करता है उसके (१४) 'मंत्र' नामका दोष लगता है ॥४२६॥

(१५) चूर्ण नामका दोष—

नेत्रांजनवपुः संस्कार, हेतु चूर्णवानतः । या भिक्षोःपाद्यते लोके, चूर्णदोषो हि सोऽघवः ॥४२७॥

अर्थ—जो मुनि नेत्रों का अंजन अथवा शरीर का संस्कार करनेवाला कोई चूर्ण बेकर, लोक में भिक्षा उत्पन्न करता है उसके (१५) 'चूर्ण' नामका दोष लगता है ॥४२७॥

(१६) मूल नामका दोष—

दानाय क्रियते यद्धि, वशीकरण मंजसा । अवशानां जनानां च, माया वाक्यादि जल्पनैः ॥४२८॥

योजनं विप्रयुक्तानां, तथानुष्ठीयते भुवि । यत्तत्सर्वं भवेन्मूल, कर्मदोषोऽशुभप्रदः ॥४२९॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने वश नहीं है उनको मायाचारी के वचन कहकर अथवा और किसी तरह से दान देने के लिये वश कर लेना अथवा मनुष्य कितने ही योजन दूर रहते हैं; और दान नहीं देते; दानसे अलग रहते हैं, उनको अपने दान के लिये लगा देना, पाप उत्पन्न करने वाला (१६) 'मूल कर्म' नाम का दोष कहलाता है ॥४२८-४२९॥

उपसंहार—

एते पात्राश्रिता दोषाः, षोडशोत्पादनाह्वयाः । यत्तिभिर्यत्नतो हेयाः, अधः कर्माणि दोषदाः ॥

अर्थ—ये १६ 'उत्पादन दोष' कहलाते हैं और पात्रोंके आश्रित रहते हैं तथा इन दोषों में 'अधःकर्म' नामके दोषका भाव अवश्य रहता है इसलिये मुनिको यत्नपूर्वक इनका त्याग कर देना चाहिये ॥४३०॥

वश अशन दोषों के नाम—

शंकितो मृषितो दोषो, निक्षिप्तः पिहितभिधः । दोषोऽथ व्यवहाराद्यो, दायकोन्मिश्रसंज्ञकौ ॥

तथा परिणतो लिप्तः, परित्यजन नामकः । दशैतेऽशनदोषाहि, यत्नात्याज्या मुमुक्षुभिः ॥

अर्थ—आगे १० अशन दोषों को कहते हैं । (१) शंकित (२) मृषित (३) निक्षिप्त (४) पिहित (५) व्यवहार (६) दायक (७) उन्मिश्र (८) परिणत (९) लिप्त और (१०) परित्यजन ये दस अशन के दोष हैं । मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनियों को यत्न पूर्वक इनका त्याग कर देना चाहिये ॥४३१-४३२॥

(१) शंकित नामका दोष—

एतच्चतुर्विधाहारं, किमघः कर्मणोद्भवम् । न मेति शंकया भुंक्ते, यः स शंकितदोषवान् ॥

अर्थ—यह ४ प्रकार का आहार अधःक्रम से उत्पन्न हुआ है अथवा नहीं इस प्रकार की शंका रखता हुआ भी उस आहार को ग्रहण करता है उसके (१) 'शंकित' नामका दोष लगता है ॥४३३॥

(२) मृषित नामका दोष—

कण्डुकैर्न हस्तेन, स्निग्धेन भाजनेन च । यद्देयं गृह्यते लोके, दोषो मृषित एव सः ॥४३४॥

अर्थ—(२) जो साधु चिकने बर्तन से या चिकने हाथ से अथवा चिकनी करछली से दिये हुये आहार को ग्रहण कर लेता है उसके (२) 'मृषित' नामका दोष लगता है । चिकनी करछली आदि में सम्पूर्ण जीवों की संभावना रहती है इसीलिये यह दोष है ॥४३४॥

(३) निक्षिप्त नामक दोष—

पृथ्व्यादिषु सचित्सेषु, तेजोऽन्तेषु त्रसेषु च । हरितेषु च बीजेषु, चेतना लक्षणात्मसु ॥४३५॥
यद्देयं वस्तु निक्षिप्तं, साधुभ्यां दीयते जनैः । सचित्त दोषदो निन्द्यो, दोषो निक्षिप्त एव सः ॥

अर्थ—जो देने योग्य पदार्थ सचित्त पृथ्वी, सचित्त जल, सचित्त अग्नि, सचित्त हरित, सचित्त बीज अथवा त्रस जीवों पर रखे हों ऐसे पदार्थों को जो लोग दान देते हैं उनके 'सचित्त' दोषको उत्पन्न करनेवाला निन्द्य (३) 'निक्षिप्त' नामका दोष लगता है ॥४३५-४३६॥

(४) पिहित नामक दोष—

सचित्तेनाप्यचित्तेन, गुरुकेण च बाधतम् । दीयते मुनये दानं, यद्दोषः पिहितोऽत्र सः ॥४३७॥

अर्थ—जो देने योग्य पदार्थ किसी सचित्त पदार्थ से ढके हों अर्थात् भारी अचित्त पदार्थ से ढके हों ऐसे पदार्थों को मुनियों के लिये देना (४) 'पिहित' नामका दोष कहलाता है ॥४३७॥

(५) व्यवहार नामक दोष—

दानाय व्यवसायं चेत, भाजनादिकात्मनाम् । कृत्वा चिन्धीयते दानं, यत्स्यात् सः व्यवहारजः ॥

अर्थ—दान देने के लिये जो वस्त्र बर्तन आदि को भटपट बेचकर आहार तैयार करता है उसके (५) व्यवहार नामका दोष लगता है ॥४३८॥

(६) दायक दूषण—

सूती शौडी तथा रोगी, मृतकश्च नपुंसकः । पिशाचो नग्न एवाग्न, उच्चारः पतितस्ततः ॥
 बातोंगो रुधिरास्तांगः, वेश्यावासी तथाजिका । अतिबालातिबृद्धा, रामागाभ्यंगशकारिणी ॥
 अस्तृष्टा गर्भिणी चांधलिका, ह्यंतरितांगभा । उपविष्टा तथोच्चस्था, नोचप्रदेशसंस्थिता ॥
 एवंविधो नरः स्त्री वा, यदि वानं ददाति च । तदा दायक दोषः स्यान्मुनेस्तत्सेविनी शुभः ॥

अर्थ—जो बच्चों को खिलाने वाला हो; जो मद्यपान का लंपटी हो; रोगी हो; जो किसी मृतक के साथ शमशान में जाकर आया हो; अथवा जिसके घर कोई मर गया हो; जो नपुंसक हो; जिसे बात की व्याधि हो गई हो; जो वस्त्र न पहने हो; नग्न हो; जो मल मूत्र करके आया हो; जो मूर्छित हो; पतित हो; जो वमन करके आया हो, जिसके शरीर पर रुधिर लगा हो, जो वेश्या हो, दासी हो; अजिका हो या लास वस्त्र पहनने वाली हो, जो स्नान, उबटन करने वाली हो, जो अत्यंत बालक, स्त्री या मुग्धा हो, जो अत्यन्त बृद्धा हो; जो खाकर आई हो, जो ५ महिने से अधिक गर्भिणी हो; अंधी हो; दीवाल के बाहर रहनेवाली हो, जो बंटी हो; किसी ऊंची जगह पर बैठी हो; ऐसी चाहे कोई स्त्री हो या पुरुष हो; ऐसा पुरुष या स्त्री दान देवे और मुनि लेवे तो उनके (६) 'दायक' दोष उत्पन्न होता है ॥४३६-४४२॥

पुनः दायक दोष—

वन्ही संधुक्षणं प्रज्वालनमुत्कर्षणं तथा । प्रच्छादनं च विध्यापनं, निर्वर्तितं च यदुनम् ॥४४३॥
 इत्याद्यग्निकार्यं च, कृत्वा रंभं हि या गता । तस्या हस्तेन न ग्राह्यं, वानं दायकदोषदम् ॥४४४॥

अर्थ—जो स्त्री या पुरुष अग्निको जलाकर आया हो; अग्नि फूंककर आया हो; अग्नि में अधिक लकड़ी डालकर आया हो; अग्निको भस्म से दबाकर आया हो या बुझाकर आया हो या अग्निसे लकड़ियों को अलग करके आया हो अथवा अग्निको मिट्टी आदि से रगड़कर आया हो, इसप्रकार जो अग्निके कार्य को करके आया हो और दान देने के प्रारंभ में ही आ गया हो उसके हाथ से वान नहीं लेना चाहिये । क्योंकि उसमें भी दायक दोष उत्पन्न होता है ॥४४३-४४४॥

पुनः दायक दोष—

लेपनं सार्जनं स्नानादिकं कर्म विधाय च । स्तनपानं विवर्तनं बालकं निक्षिप्य वाऽऽ गता ॥४४५॥
 इत्याद्य पर सावका, कर्म कृत्वात्र बालुभिः । दानं यदीयते सर्वं, दोषः स दायकाभिधः ॥४४६॥

अर्थ—जो स्त्री लीप कर आई हो; दीवाल आदि भाड़कर आई हो; किसी को स्नान करा कर आई हो, स्तन पान करते हुए, बालक को छोड़कर आई हो तथा इसी प्रकार के पापपूर्ण कार्यों को करके जो स्त्री वा पुरुष आया हो ऐसे दाता के द्वारा जो दान दिया जाता है उस सबमें दायक नामका दोष प्रकट होता है । ऐसे दाता के हाथ से मुनियों को दान कभी नहीं लेना चाहिये ॥४४५-४४६॥

(७) उन्मिथ्र दोष—

पृथ्व्यांभुना च क्षीणेन, हरितेन त्रसांगिभिः । यो देवो मिथ्र आहारो, दोषश्चोन्मिथ्र एव सः ॥

अर्थ—जिस आहार में सचित्त पृथ्वी, जल, खोज, हरित वनस्पति और त्रस जीव मिले हों ऐसे आहार को लेना (७) 'उन्मिथ्र' दोष है ॥४४७॥

(८) परिणत दोष—

तिलोदकं तथा तंडु, लोवकं क्षणकोदकम् । तुषोदकं चिराक्षीरं, तप्तं शीतस्वमागतं ॥४४८॥

विभीतक हरोल क्पादिकचूर्णैस्तथाविधम् । स्वात्मीय रसवर्णादिभिश्चापरिणतं जलं ॥४४९॥

न ग्राह्यं संयतैर्जातु सवा ग्राह्याणि तानि च । परीक्ष्य चक्षुषा सर्वाण्यहो परिणतानि च ॥४५०॥

अर्थ—तिलों के धोने का पानी, चावलों के धोने का पानी, चनों के धोने का पानी, चावलों की भूसी के धोने का पानी तथा जो पानी बहुत देर पहले गरम किया हो और ठंडा हो गया हो तथा हरड, बहेडा के चूर्णसे अपने रस वर्णोंको बदल न सका हो ये सब प्रकार के जल संयमियों को कभी ग्रहण नहीं करने चाहिये । जिस जलका वर्ण या रस किसी चूर्ण आदि से बदल गया हो ऐसा जल आंखसे अच्छी तरह देखकर परीक्षा कर संयमियों को ग्रहण करना चाहिये ॥४४८-४५०॥

किस तरह का जल ग्राह्य है—

संतप्त वा जलं ग्राह्यं, कृताविदोष दूरगम् । तथा परिणतं द्रव्यं, नानावर्णं सुंमुक्षुभिः ॥४५१॥

अर्थ—अथवा मोक्षकी इच्छा करनेवाले संयमियोंको कृत, कारित, अनुमोदना आदिके दोषों से रहित गरम जल ग्रहण करना चाहिये अथवा अनेक वर्णोंके द्रव्यों से (हरड, इलायची आदि के चूर्ण से) जिसका रूप, रस बदल गया हो; ऐसा जल ग्रहण करना चाहिये ॥४५१॥

अपरिणत दोष—

योत्रापरिणतान्येष तानि गृह्णाति मूढ़धीः । तस्या परिणतो दोषो जायते सत्त्वघातकः ॥४५२॥

अर्थ—जिस जलका रूप रस नहीं बदला है; किसी चूर्णके मिलाने पर भी रूप, रस नहीं बदला है या गर्म करनेसे स्पर्श नहीं बदला है ऐसा जल जो अज्ञानी मुनि ग्रहण करता है उसके अनेक जीवोंकी हिंसा करनेवाला 'अपरिणत' नामका दोष उत्पन्न होता है ॥४५२॥

यही बात मूलाचार ग्रंथमें लिखी है यथा—(तिल तंडुल उसणोदय, चणोदय तुसोदय अविच्छुत्थं । अण्णं तहाविहं वा, अपरिणदं रोव नेहिज्जो) अर्थात् तिल वा चावलों का धोया जल ठंडा हुआ गरम जल, चना तुष आदि का धोया जल जिसका वर्ण रस गंध न बदला हो, तथा हरण्ड, बहेडा आदि के चूर्ण से जिसका वर्ण रस न बदला हो; ऐसा जल कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये ।

(१) लिप्त नामका दोष—

आमपिष्टेन चूर्णेना, पशवशाकेन चाम्बुना । कलिकाहारसालादि, वृक्षैराद्रकरेण च ॥४५३॥
भाजनेनात्र वेद्यं, यवत्तादि यतये जनैः । लिप्तदोष स एव स्यात् सूक्ष्मजंतुत्वादि घातकः ॥४५४॥

अर्थ—(१) कच्चे चावलोंके चूर्णसे (२) बिना पके शाकसे (३) अप्रासुक जलसे (४) खड़ी सेलखड़ी हरताल आदि द्रव्योंसे स्पर्श किये हुये, लगे हुये द्रव्यको दान में देना अथवा गीले हाथ या गीले वर्तन से आहार देना 'लिप्त' नामका दोष कहलाता है । ऐसे आहार में सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है ॥४५३-४५४॥

(१०) परित्यजन दोष—

दीयमानं यमाहारं, घृतततक्रोदकादिभिः । वरं परिगसन्तं सच्छिद्रपाणिपुटेन च ॥४५५॥
लवंतं यदि गृह्णाति, संयतोसंयमप्रदः । तदा स कथ्यते दोषः, 'परित्यजन' संशकः ॥४५६॥

अर्थ—जो दाता घी, दूध, छाछ या जलका आहार देता हो और वह अपने हाथों से अधिक रूपमें टपकता हो ऐसे असंयम उत्पन्न करनेवाले आहार को जो मुनि ग्रहण करता है उसके 'परित्यजन' नामका दोष लगता है ॥४५५-४५६॥

१० अशत दोषों का परिणाम—

एतेऽशनाद्व्या दोषा, हिंसारंभायकारिणः । सर्वथा मुनिभिर्हेया, वशैश्च यत्नतोऽनिशम् ॥४५७॥

अर्थ—ये दश अशत नामके दोष कहलाते हैं तथा हिंसा, शारंभ और पापके कारण कहलाते हैं । इसलिये मुनियों को यत्न पूर्वक इनका सर्वथा सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये ॥४५७॥

संयोजन नामक दोष—

संयोजयति यो भक्तः, शीतमुष्णेन वारिणा । शीतोदकेन वोष्णाक्षः, तस्य संयोजनो मलः ॥

अर्थ—जो मुनि ठंडे भोजन को गरम जल में मिलाकर खाता है अथवा गरम भोजन को ठंडे जलमें मिलाकर खाता है उसके 'संयोजन' नामका दोष लगता है ।
॥४५८॥

परिमित भोजन के लाभ —

उदरस्यार्धं मर्दनं, तृतीयांशं जलाविभिः । पूरयेद्यश्चतुर्थांशं, धत्ते रिक्तं सदायमो ॥४५९॥

प्रमाणमूतमाहारस्तस्य निद्राजयो भवेत् । शुभध्यानं च सिद्धांतं, पठनं कर्म निर्जरा ॥४६०॥

अर्थ—मुनियों को अपना आधा पेट अन्नसे भरना चाहिये; एक भाग जलसे भरना चाहिये; और एक भाग खाली रखना चाहिये । इसप्रकार प्रमाण के अनुसार जो मुनि आहार लेता है उसकी (१) निद्राका विजय होता है; (२) शुभध्यान होता है; (३) सिद्धांत शास्त्रों का पठन-पाठन होता है और (४) कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥४५९॥४६०॥

'अप्रमाण' नामक दोष—

अस्मात् प्रमाणतोऽन्नादि, मलमात्रं भजेन्मुनिः । यस्तस्याथा प्रमाणाहम्, दोषो रोगोऽसमाधिता ॥

अर्थ—जो मुनि इस प्रमाणसे अधिक आहार ग्रहण करता है उसके 'अप्रमाण' नामका दोष लगता है । अनेक रोग उत्पन्न होते हैं और ध्यान का नाश हो जाता है ।
॥४६१॥

सगृह्या मूर्छितो यः प्रभुं कतेऽन्नाहारमंजसा । मंदबुद्धिर्भवेत्सह्यांगार दोषोऽशुभार्णवः ॥४६२॥

अर्थ—जो मंद बुद्धि मुनि अपनी लंपटता से मूर्छित होकर आहार को ग्रहण करता है उसके पापोंका सागर ऐसा 'अंगार' नामका दोष प्रकट होता है ॥४६२॥

'धूम' नामक दोष—

सरसाप्राचलाभेत, निबन् दातृन्, निराशतम् । भुनक्ति योऽधमो निद्यं, 'धूमदोषं' लभेत सः ॥

अर्थ—जो अधम मुनि सरस आहार के न मिलने से, अपने वचनों से वाता की निंदा करता हुआ आहार ग्रहण करता है उसके निंदनीय 'धूम' नामका दोष प्रकट होता है ॥४६३॥

सब कुल ४६ दोष हैं—

पिंडीकृता अमी सर्वे, षट् चत्वारिंशदेवहि । यत्नेन परिहर्तव्या, दोषा दोषकरा बुधैः ॥४६४॥

अर्थ—ये सब दोष मिलकर ४६ होते हैं तथा सब अन्य अनेक दोष उत्पन्न करने वाले हैं; इसलिये बुद्धिमानों को यत्नपूर्वक इनका त्याग करना चाहिये ॥४६४॥

६ कारण से भोजन का त्याग व ग्रहण—

कारणैषडभिराहारं, गृह्यन् धर्मं चरेद्यतिः । त्यजन् षट्कारणेष्वाम्र, तरां संयमनाचरेत् ॥४६५॥

अर्थ—मुनियों को उचित है कि ये ६ कारणों से आहार को ग्रहण करते हुये धर्म का पालन करें तथा ६ कारणों से आहार को छोड़कर संयम का पालन करें ॥४६५॥

आहार ग्रहण करने के ६ कारण—

क्षुधेदनीयोपशान्त्यर्थं, वैयावृत्याय योगिनाम् । षडावश्यक पूर्णाय, सर्वसंश्रमसिद्धये ॥४६६॥

प्राणार्थं च क्षमाभ्युपया, दशसद्धर्महेतवे । एतैः षट्कारणै र्योगी गृह्णीयादशनं भुवि ॥४६७॥

अर्थ—(१) क्षुधा वेदनीय को शांत करने के लिये (२) मुनियों की वैयावृत्य करने के लिये (३) छहों आवश्यकों को पूर्ण रीतिसे पालन करने के लिये (४) सब तरह के संश्रमों का पालन करने के लिये (५) प्राणों की रक्षा करने के लिये (६) उत्तम क्षमा आदि १० धर्मों को पालन करने के लिये मुनियों को आहार ग्रहण करना चाहिये । मुनियों को आहार ग्रहण करने के ये ६ कारण हैं ॥४६६-४६७॥

आहार ग्रहण करने का मुख्य लक्ष्य—

तीव्रक्षुधेदनाक्रान्तो, बलं पालयितुं क्षमः । नाहं मरुवेति वृत्ताय, भुंजे भक्तं न शर्मणे ॥४६८॥

अर्थ—तीव्र क्षुधा की वेदना से पीड़ित हुआ मैं चारित्र्य का पालन नहीं कर सकता अतएव चारित्र्य पालन करने के लिये मैं आहार लेता हूँ; मैं सुख के लिये आहार नहीं लेता ॥४६८॥

वैयावृत्य करने में प्रधान कारण—

आहारेण बिना नाहं, कर्तुं शक्नोमि योगिनाम् । वैयावृत्यमिहातोन्नं, भुंजे तस्मिद्धये क्वचित् ॥

अर्थ—मैं बिना आहार के मुनियों की वैयावृत्य नहीं कर सकता; अतएव वैयावृत्य करने के लिये ही मैं आहार लेता हूँ ॥४६९॥

निर्दलता की पूर्ति हेतु—

विनाहारं घडावश्यक, व्युत्सर्गान् बलातिगः । नाहं घत्तुं समर्थोऽस्माद्, भिक्षां तद्धेतवे अये ॥

अर्थ—मैं निर्मल हूँ और बिना आहार के छहों आवश्यकों को तथा 'व्युत्सर्ग' को पालन नहीं कर सकता; अतएव आवश्यक पालन करने के लिये मैं आहार लेता हूँ ॥४७०॥

दया पालन करने के लिये—

दयां कत्तुं न शक्तोऽहं, क्षुधाकलन्तोगिराशिषु । अतः संयमसिध्यर्थं गृह्णाम्यन्नं न चान्यथा ॥

अर्थ—मूल्यसे धीड़ित हुआ मैं जीवों की दया पालन नहीं कर सकता अतएव संयम पालन करने के लिये ही मैं अन्न ग्रहण करता हूँ अन्यथा नहीं ॥४७१॥

प्राणों की रक्षा के लिये—

न तिष्ठन्ति वश प्राणाः, अन्नादुत्तेय हेतवे । तस्मान्मे प्राणरक्षार्थं, सेवेन्नं पारणे वयश्चित् ॥

अर्थ—बिना अन्नके मेरे प्राण ठहर नहीं सकते अतएव प्राणों की रक्षा करने के लिये मैं कभी २ पारणा के दिन आहार ग्रहण करता हूँ ॥४७२॥

१० लक्षण धर्म पालन हेतु—

दशलाक्षणिकं धर्मं, नाहमाचरितुं क्षमः । अतो धर्माय गृह्णामि, शुद्धान्नं नान्यहेतुना ॥४७३॥

अर्थ—बिना आहार के दश लाक्षणिक धर्मको पालन नहीं कर सकता अतएव धर्म पालन करने के लिये मैं शुद्ध अन्न ग्रहण करता हूँ । मैं किसी अन्य हेतु से आहार नहीं लेता ॥४७३॥

आत्मा को जानने वाला अन्य निमित्त आहार नहीं लेता—

मत्वेति कारणैः षड्भिः, रेतैः गृह्णन् शुभाशनम् । कर्म बध्नाति नात्मज्ञः, शिवेन्नित्यं पुरातनम् ॥

अर्थ—आत्मा के स्वरूप को जाननेवाला जो मुनि इन ६ कारणों को समझ कर शुद्ध आहार ग्रहण करता है; वह कर्मों का बंध नहीं कर सकता; किंतु प्राचीन अनेक कर्मों की निर्जरा करता है ॥४७४॥

क्षुधावेदना के होने पर भी आहार त्याग करना—

दुर्व्याघी च समुत्पन्ने, ह्युपसर्गं चतुर्विधे । ब्रह्मचर्याक्षयान्तर्यर्थं, सर्वजीवदयाप्तये ॥४७५॥

तपसे किल संन्यास, सिद्धयेऽज्ञानमात्मयाम् । एतज्जन्मनो बधः कार्यः, ससु क्षुद्देवनादिषु ॥४७६॥

अर्थ—आत्मा के स्वरूप को जाननेवाले मुनियों को किसी (१) दुष्ट व्याधि के उत्पन्न हो जाने पर, (२) चारों प्रकार के उपसर्ग आ जाने पर (३) ब्रह्मचर्य की रक्षा और (४) इंद्रियों को शांत करने के लिये, (५) समस्त जीवों की दया पालन करने के लिये, (६) तपश्चरण पालन करने के लिये और समाधि मरण धारण करने के लिये, क्षुधा वेदना के होनेपर भी मन, वचन, कायसे आहार का त्याग कर देना चाहिये ॥४७५-४७६॥

कर्म नष्ट करने के लिये आहार का त्याग—

दुर्व्याधौ सति मे हानिः दृश्यते संयमादिषु । अतो रुक्कर्मनाशाय, करोमि प्रवरं तपः ॥४७७॥

अर्थ—आहार त्याग करते समय मुनियों को विचार करना चाहिये कि इस दुष्ट व्याधि के होने से मेरे संयम में हानि दिखाई देती है; अतएव रोग उत्पन्न करने वाले कर्मको नाश करने के लिये मैं आहार का त्याग कर श्रेष्ठ तपश्चरण करता हूँ । ॥४७७॥

मुक्ति के लिये आहार का भी त्याग—

जाते सत्पुण्यसर्गोऽस्मिन्, प्राणनाशकरे कर्म । जीवितधमतोब्राह्मं, त्यजाम्यन्नं शिवाप्तये ॥४७८॥

अर्थ—यह उपसर्ग प्राणों का नाश करनेवाला है इसके होनेपर मेरा जीवन कभी नहीं टिक सकता अतएव मैं मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस अन्न का ही त्याग करता हूँ ॥४७८॥

अन्न के ग्रहण करने से मोक्ष में बाधा—

प्रयास्त्युत्कटतामन्नात्, स्मरादीन्द्रिय शत्रवः । तस्मात्तेषां वशार्थं, आहारं जहामि मुक्तये ॥४७९॥

अर्थ—अन्नके सेवन करने से कामदेव और इन्द्रियरूपी शत्रु अत्यन्त प्रबल हो जाते हैं अतएव उनको वश करने के लिये और मोक्ष प्राप्त करने के लिये मैं इस अन्न का ही त्याग करता हूँ ॥४७९॥

अनेक जीवों की रक्षा के लिये आहार त्याग—

अद्याहार प्रभुक्तेन, श्रियते जंतुराशयः । ततस्तेषां च रक्षायै, भक्तं त्यजामि सिद्धये ॥४८०॥

अर्थ—आज आहार के सेवन करने से अनेक जीवों का समूह मृत्यु को प्राप्त होता है अतएव उन जीवों की रक्षा करने के लिये और सिद्ध अवस्था प्राप्त करने के

लिये मैं इस आहार का ही त्याग करता हूँ ॥४८०॥

तपश्चरण की शुद्धि के लिये आहार का त्याग—

बिनात्र तपसा जातु, न च कर्मक्षयः शुभम् । तस्मात्तपो विशुध्यर्थं, माहारं धर्जयाम्यहम् ॥४८१॥

अर्थ—इस संसार में बिना तपश्चरण के कर्मोंका नाश कभी नहीं होता और न कत्याण ही होता है । अतएव अपने तपश्चरण को विशुद्ध रखने के लिये मैं इस आहारका ही त्याग कर देता हूँ ॥४८१॥

समाधिभरण में आहार त्याग की उपयोगिता—

संजातं विकलत्वं च, सेऽक्षाणां च्क्वरादिभिः । अतः संन्यास संसिध्यै, त्यजाम्यशनं संजसा ॥

अर्थ—ज्वर आदि अनेक रोगों के उत्पन्न होने से, मेरी इंद्रियां सब विकल हो गई हैं; अतएव समाधिभरण धारण करने के लिये मैं इस आहार का ही त्याग कर देता हूँ ॥४८२॥

उपसंहार आहार सम्बन्धी विषय का—

विज्ञायेति त्यजेदेतः, कारणः षड्विधैर्मुनिः । आहारं सकलं युक्त्यै, यत्नावत्तत्रयं भजेत् ॥४८३॥

अर्थ—इन ६ प्रकार के कारणों को समझकर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये सब तरह के आहार का त्याग कर देना चाहिये और यत्नपूर्वक रत्नत्रय का सेवन करना चाहिये ॥४८३॥

मुनि निम्न कार्यों के लिये कभी आहार ग्रहण नहीं करें—

बलायुर्बुद्धि सुस्वादु, शरीरोपचमाय च । तेजः कान्ति सुखाद्यर्थं, जातु भुङ्क्ते न संयमी ॥४८४॥

अर्थ—संयमी मुनि बल और आयुकी वृद्धिके लिये, स्वाद चखने या शरीर की वृद्धिके लिये, अथवा तेज, कान्ति और सुख बढ़ाने के लिए कभी आहार ग्रहण नहीं करें ॥४८४॥

वेला, तैला करने के बाद आहार क्यों—

सिद्धांतपाठसंतिष्यै, प्रशस्तध्यान हेतवे । पञ्चानां समयानां च, पालनाय सुवृद्धये ॥४८५॥

आतापनादि योगाय, धर्मोपदेशनाय च । भुङ्क्तेऽशनं क्वचिद् योगी, वृष्ठाष्टमादि पारणे ॥४८६॥

अर्थ—वे मुनिराज, सिद्धांत ग्रंथों के पठन-पाठन करने के लिये, प्रशस्त ध्यान धारण करने के लिये, पांचों प्रकार के संयमों का पालन करने के लिये अथवा संयमों

की वृद्धि के लिये अथवा आतापन आदि योग धारण करने के लिये अथवा धर्मोपदेश देने के लिए कभी २ बेला सेला करने के बाद पारणा के दिन आहार ग्रहण करते हैं ॥४८५-४८६॥

• मुनिराज कैसे शुद्ध भोजन को करते हैं ?

नवकोटि विशुद्धं, आशनं संयोजनातिगम् । दोषस्त्यक्तं, द्विचत्वारिंशत् प्रमैः प्रासुकं शुभम् ॥

प्रमाणसहितं दत्तं विधिना ग्रहणायकैः । त्रिगतांगारघूमे च, सुषट्कारणसंयुतम् ॥४८८॥

अर्थ—ये मुनिराज, तपश्चरण पालन करने के लिए, प्राणियों की रक्षा करने के लिए, मोक्ष प्राप्त करने और कर्मों का नाश करने के लिए आहार ग्रहण करते हैं तथा वह आहार भी (१) मल, वज्र, काय और कृत, कारित, अनुमोदनाकी विशुद्धता पूर्वक होना चाहिए (२) संयोजन दोषसे रहित होना चाहिए (३) ४२ दोषोंसे रहित होना चाहिए (४) प्रासुक और शुभ होना चाहिए (५) प्रमाण सहित होना चाहिए अर्थात् (६) प्रमाण से अधिक नहीं होना चाहिए (७) घर के स्वामी के द्वारा विधि पूर्वक देना चाहिए (८) अंगार और धूम दोषोंसे रहित होना चाहिये (९) श्रेष्ठ अहो कारणों से सहित होना चाहिए और १४ मलोंसे रहित होना चाहिए । ऐसे आहार को वे मुनिराज पारणा के दिन ग्रहण करते हैं ॥४८७-४८८॥

ये १४ मल आहार में वर्जनीय हैं—

तपसे प्राणरक्षामै, मोक्षाय पारणाहनि । वषट्चिद् गृह्णातिमुत्स्यर्थं चतुर्दशमसोजिभक्तं ॥४८९॥

नखरोममलोजन्तु, रस्थि कुण्डः कणस्ततः । पूर्वं च रुधिरं चर्म, मांसं बीजं फलं तथा ॥४९०॥

कंदो मूल ममी ज्ञेया, मलाश्चतुर्दशाशुभाः । आहारेऽत्र मुमुक्षूणां, परीषहं विधायिनः ॥४९१॥

अर्थ—नख, रोम अर्थात् बाल, जंतु अर्थात् जीव रहित शरीर, हड्डी, कुण्ड अर्थात् चावल आदि के भीतर के सूक्ष्म अवयव, कण अर्थात् जो गेहूं आदि के बाहरी अवयव, पीव, रुधिर, चर्म, मांस, बीज, फल, कंद, मूल ये १४ अशुभ मल कहलाते हैं ये १४ प्रकार के मल, मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियों के आहार में परियह उत्पन्न करनेवाले हैं ॥४८९-४९१॥

मलों के विशेष भेद—

एषां मध्येऽत्र केचित्स्यु, संता महान्त एष च । केचित्स्वल्पमला केचित्, मध्यमादोषभेदतः ॥

अर्थ—इनमें से कितने ही मल बहुत बड़े हैं, कितने ही छोटे मल कहलाते हैं

और कितने ही मध्यम कहलाते हैं । दोषके भेदसे इनके अनेक भेद हो जाते हैं ॥४६२॥

महामल के भेद—

वर्मास्थि रुधिरं मांसं, नखः पूयमिममलाः । महान्तोऽशन स्यात्तेऽपि, प्रायश्चित्त विधायिनः ॥

अर्थ—(१) चमड़ा (२) हड्डी (३) रुधिर (४) मांस (५) नख और (६) पीव ये 'महामल' कहलाते हैं; आहार में इनके निकल आने पर आहार का भी त्याग करना पड़ता है और प्रायश्चित्त भी लेना पड़ता है ॥४६३॥

किस दोष में आहार का सर्वथा त्याग—

दीन्निद्रयावि वपुर्बला बाहार त्याग कारिणौ । कणः कुण्डः फलं बीजं, कंदो मूलं दलमगमी ॥

अल्पास्त्यजनयोग्याश्च, शुच्छदोष विधायिनः । यवि स्यक्तुं न शक्यन्ते, त्याज्यं तद्व्यंशनं बुधैः ॥

अर्थ—दो इंद्रिय, तेइंद्रिय आदि विकलत्रयों का शरीर और बाल के निकल आने पर, आहार का त्याग कर देना चाहिए तथा कण, कुण्ड, फल, बीज, कंद, मूल, दल ये 'अल्पमल' कहलाते हैं इनको आहार में से निकाल कर अलग कर देना चाहिए क्योंकि ये बहुत थोड़ा दोष उत्पन्न करनेवाले हैं । यदि आहार में से ये अलग न हो सकें तो फिर बुद्धिमानों को आहार का ही त्याग कर देना चाहिए ॥४६४-४६५॥

मुनि के लेने योग्य द्रव्य—

प्राणिनः प्रगता यस्याद् द्रव्यात्तद्द्रव्यमुत्तमम् । शुद्धं च प्रासुकं योग्यं मुनीनां कथितं जितैः ॥

अर्थ—जिस द्रव्यमें कोई प्राणी न हो उसको उत्तम द्रव्य कहते हैं ऐसा उत्तम शुद्ध और प्रासुक द्रव्य ही भगवान् जिनेन्द्रदेव ने मुनियों के लिये योग्य द्रव्य कहा है । ॥४६६॥

मुनि के न लेने योग्य द्रव्य—

तद्द्रव्यं यदि चात्मार्यं कृतं वा कारितं कश्चित् । योगैरनुमतं निद्यमशुद्धं नोचितं सताम् ॥

अर्थ—यदि ऐसा द्रव्य अपने लिये बनाया गया हो वा बनवाया गया हो अथवा मन-वचन-कायसे उसकी अनुमोदना की गई हो तो वह द्रव्य निद्य और अशुद्ध कहलाता है । सज्जनों को ऐसा द्रव्य कभी नहीं लेना चाहिये ॥४६७॥

सत्यपि प्रासुके द्रव्ये योव्राधः कर्मणः यतिः । योगैः परिणतः प्रोक्तः स कर्मबंधकोनिशम् ॥४६८॥

अर्थ—यदि वह द्रव्य प्रासुक हो और वह मुनि अपने मन-वचन-कायसे अधः

कर्म रूप परिणत हो जाय अर्थात् उसे अपने लिये बनाया हुआ समझले तो फिर वह मुनि सदा कर्म बंध ही करता रहता है ॥४६८॥

मुनि मन्वेष्टमाणा यः शुद्धाहारमसंप्रितः । शुद्ध एव स योग्याद्यैः सत्यधः कर्मणि ब्रवीति ॥

अर्थ—यदि वह मुनि मन-वचन-कायसे शुद्ध होकर तथा आलस को छोड़कर शुद्ध आहारको दूँडता है तो फिर वहाँ पर जन्म कर्म होनेपर भी वह साधु शुद्ध ही कहा जाता है । शुद्ध आहार को दूँडने से अधःकर्म से उत्पन्न हुआ अन्न भी उस साधु को कर्म बंध करनेवाला नहीं हो सकता ॥४६९॥

भोजन वेला का काल—

विज्ञेयोशन कालोत्र संत्यज्य घटिकात्रयम् । मध्ये च योगिनां भानूव्यास्तमन कालयोः ॥५००॥

अर्थ—आगे भोजन का समय बतलाते हैं । सूर्योदय से तीन घड़ी बाद और सूर्य के अस्त होने के तीन घड़ी पहले तक आहार का समय है इसमें भी मध्य वा दोपहर के समय की सामायिक काल की कम से कम तीन घड़ी छोड़ देनी चाहिये । ॥५००॥

तस्यैवाशन कालस्य मध्ये प्रोत्कृष्टतो जिनैः । भिक्षा कालो यतो योग्यो मुहूर्तकप्रमाणकः ॥

अर्थ—बाकी का जो आहार का समय है उसमें आहार का समय भगवान् जिनेन्द्रदेव ने एक मुहूर्त उत्कृष्ट काल बतलाया है ॥५०१॥

योगीनां हि मुहूर्त प्रमाणो मध्यम एव च । जघन्यं त्रिमुहूर्त प्रमो भिक्षा काल एव हि ॥५०२॥

अर्थ—दो मुहूर्त मध्यम काल बतलाया है और तीन मुहूर्त जघन्य काल बतलाया है । [यह काल की मर्यादा सिद्ध भक्तिसे लेकर भोजन के अन्त तक समझनी चाहिये] ॥५०२॥

घटिकाद्वयहोने मध्याह्नकाले प्रयत्नतः । स्वाध्याय मपि संहृत्य कृत्वा श्री देव वन्दनाम् ॥५०३॥

अर्थ—जब मध्याह्न काल में (सामायिक के समय में) दो घड़ी बाकी रह जाय तब प्रयत्न पूर्वक स्वाध्याय को समाप्त कर देना चाहिये और फिर देव वन्दना करना चाहिये ॥५०३॥

भिक्षा की निवर्तन की विधि—

भिक्षा वेलां परिक्राम्य कुडिका दिग्भित्तके यतिः । गृहीत्वा काय संस्मर्य निर्वर्ति स्वाश्रमाच्छतेनः ॥

अर्थ—तदनंतर भिक्षा का समय जानकर मुनियों को पीछी कमंडलु लेकर शरीर को स्थिर रखने के लिये अर्थात् आहारके लिये अपने आश्रमसे धीरे २ निकलना चाहिये ॥५०४॥

गुप्तिश्च समितोः सर्वा व्रत मूल गुणान् परान् । रक्षश्चरति मार्गे स मनो वाक्काय कर्मभिः ॥

अर्थ—समस्त गुप्ति, समिति, व्रत और मूलगुणों को मन-वचन-कायके द्वारा अच्छी तरह रक्षा करते हुए उन मुनियों को मार्ग में चलना चाहिये ॥५०५॥

भावयंस्त्रिकसंवेगं देहभोग भवाद्विषु । जिनाज्ञा पालयन् सम्यगनवस्यां निजेच्छया ॥५०६॥

मिथ्यास्वाराधनामात्मनाशं दूरात्परित्यजन् । न कुर्वश्चमनाक् यत्नात्सुसंयमविराधनाम् ॥५०७॥

नाति द्रुतं न मंदं न विलंबितं पथि व्रजेत् । न तिष्ठेत्केनचित्साद्धं न कुर्याज्जल्पनं यमी ॥५०८॥

अर्थ—उस समय उन मुनियों को संसार शरीर और भागों से विरक्त होकर तीनों प्रकार का संवेग धारण करना चाहिये, भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा को अच्छी तरह पालन करना चाहिये अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति का, मिथ्यास्व की आराधना का और आत्माके नाश होनेका, अकल्याण होने का दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये तथा यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करते हुए संयम की विराधना किंचित मात्र भी नहीं करनी चाहिये । मार्ग में न धीरे चलना चाहिये न जल्दी चलना चाहिये; न ठहरना चाहिये; न खड़े होना चाहिये और न किसी के साथ बातचीत करनी चाहिये । इसप्रकार अपनी इच्छानुसार चर्चा करनी चाहिये ॥५०६-५०८॥

इवं च धनितो गेह मिदं हि निर्धनस्य भो । इति ज्ञातु न संकल्प हृदि धत्ते जितेन्द्रिय ॥५०९॥

अर्थ—उन जितेन्द्रिय मुनियोंको “यह किसी धनीका घर है अथवा यह किसी निर्धन का घर है” ऐसा संकल्प अपने हृदयमें कभी नहीं करना चाहिये ॥५०९॥

पंक्ति भेद नहीं—

गृहपंक्त्या क्रमेणासी, प्रविशेच्छावकास्यम् । अन्ये भिक्षाचरा यावदायाति तावदेव हि ॥५१०॥

अर्थ—उन मुनियों को घरों की पंक्ति के अनुकूल क्रमसे ही श्रावकों के घर प्रवेश करना चाहिये और वहीं तक जाना चाहिये जहां तक अन्य साधारण भिक्षुक जाते हों ॥५१०॥

प्रतिग्रहण सम्बन्धी व्यवस्था—

अप्रतिग्राहतिस्तस्मान्निर्गच्छेद्द्रुतमात्मवान् । विधिना वा प्रतिग्राहतिस्तच्छेद् योग्यभूतले ॥

अर्थ—यदि वहाँ पर किसी ने प्रतिग्रहण न किया हो तो आत्मा के स्वरूप को जानने वाले उन मुनियों को वहाँ से शीघ्र ही निकल जाना चाहिये । यदि किसीने विधि पूर्वक प्रतिग्रहण कर लिया हो तो उनको अपने योग्य पृथ्वी पर खड़े हो जाना चाहिये ॥५११॥

पृथ्वी निर्जीव है इसे सर्वप्रथम निरीक्षण करना चाहिये—

स्वांघ्रिभोजनदातृणां स्थित्यं निरीक्ष्य सद्वराम् । त्रसजीवादि संस्मृतां, कार्यस्थित्यर्थमात्मवान् ॥

अर्थ—तदनंतर आत्मा के स्वरूप को जानने वाले उन मुनियों को आहार करने के लिये उस पृथ्वीको देखना चाहिये कि वहाँपर अपने खड़े होनेको और दाताओं के खड़े होनेको स्थान है या नहीं और वह पृथ्वी त्रस जीवोंसे रहित है या नहीं ॥५१२॥

पैरों में ४ अंगुल का अन्तर—

पादयोर्दंतरं कृत्वा, चतुरंगुलसंमितम् । निषिद्धं पाणिपात्रं विधाय, तिष्ठेत्सुसंयतः ॥५१३॥

अर्थ—फिर उन मुनियों को अपने दोनों पैरों में ४ अंगुल का अन्तर रखकर खड़ा होना चाहिये और अपने दोनों करपात्रोंको छिद्र रहित बना लेना चाहिये ॥५१३॥

सिद्धभक्ति पूर्वक आहार ग्रहण—

सिद्धभक्तिं ततः कुर्यान्, निष्पापं प्रासुकाशनम् । विधिना वीर्यमानं स, प्रतीक्षेत् क्षुद्धिहानये ॥

अर्थ—तदनंतर उन मुनियों को सिद्ध भक्ति करनी चाहिए और फिर क्षुधा वेदना को दूर करने के लिए विधि पूर्वक दिए हुए पाप रहित प्रासुक आहार को ग्रहण करना चाहिए ॥५१४॥

खड़े होकर पंच प्रकार की वृत्ति सहित भोजन लेना चाहिये—

यथागतं तदन्नं स, सरसं वा रसातिमम् । स्वादं त्यक्त्वा भजेद् गोचारादिपंचविधं स्थितः ॥

अर्थ—दाताके द्वारा दिया हुआ जो अन्न सरस हो या नीरस हो उन मुनियों को अपना स्वाद छोड़कर ग्रहण कर लेना चाहिए । उन मुनियोंको खड़े होकर आहार लेना चाहिए और गोचर आदि ५ प्रकार की वृत्ति पूर्वक आहार ग्रहण करना चाहिए ॥५१५॥

५ प्रकार की वृत्तियों के नाम—

गोचरः प्रथमो भेदो, परोक्षमूक्षणाद्वयः । तृतीय उदरान्निप्रशमनाच्छेषचतुर्थकः ॥५१६॥

अमराहारनामाथ, श्वभ्रपूरणसंज्ञकः । एतैः पञ्चविधैरत्र, भेदेनूक्तेशनं यतिः ॥५१७॥

अर्थ—(१) गोचार (२) अक्षमृक्षण (३) उदरान्निप्रशमन (४) अमराहार और (५) श्वभ्रपूरण इसप्रकार पांच प्रकार की वृत्ति रखकर मुनि आहार ग्रहण करते हैं ॥५१६-५१७॥

(१) गोचारवृत्ति का स्वरूपीकरण—

यथोपनायमानं तृणादिकं दिश्यद्योषिता । गौश्चाभ्यवहरत्यत्र, न तदंगं निरीक्ष्यते ॥५१८॥

तथात्तंकारधारिण्या, दिश्यनार्योपद्वौकितम् । पिण्डं गृह्णाति सद्योगीः, तत्स्वरूपं न पश्यति ॥

अर्थ—जिसप्रकार कोई सुन्दर स्त्री किसी गायको घास (भुस) डालने आती है तो वह गाय उस घास (भुस) को ही खाने लगती है वह गाय उस सुन्दर स्त्री के शरीरको नहीं देखती इसीप्रकार वस्त्राभूषणों को धारण करनेवाली किसी दिव्य सुन्दर स्त्री के द्वारा दिये हुये आहारको श्रेष्ठ मुनिराज ग्रहण कर लेते हैं परन्तु उसके रूपको नहीं देखते ॥५१८-५१९॥

गोचारवृत्ति का स्वरूप पुनः

अथवा गौर्यथा नानातृणनीरादि संचयम् । न सर्वमीहते किन्तु, यथासब्धं भजेत्सदा ॥५२०॥

तथाक्षरसंमुत्पाद, व्यंजनादि समीहते । नैकीकृतं मुनिः किन्तु, यथासब्धं भुनक्ति तत् ॥५२१॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार गाय अनेक प्रकार के घास भुसको वा पानी को चाहती नहीं है किन्तु जो सामने आ जाता है उसी को खा लेती है उसी प्रकार मुनिराज भी अन्न रस स्वादिष्ट व्यंजन आदि किसी की इच्छा नहीं करते; किन्तु जो कुछ दाता देता है उसे इकट्ठा कर खा लेते हैं । इसको 'गोचारवृत्ति' कहते हैं ॥५२०-५२१॥

(२) 'अक्षमृक्षण' वृत्ति का स्वरूप—

हिनाद्येन केनचिद् यद्, दक्षलेपं विधाय भोः । तथैव देशांतरं वरयः, शकटीं रत्नपूरिताम् ॥५२२॥

गुणरत्नभूतां तद्वच्छरीरं, शकटीं मुनिः । स्वरूपाक्षमृक्षणेनास्मात्, प्रापयेच्छिवपत्तनम् ॥५२३॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई वैश्य, रत्नों से भरी हुई गाड़ी को, पहियों की धुरी में, थोड़ी सी चिकनाई लगाकर देशांतर में ले जाता है; उसी प्रकार मुनिराज भी गुण रत्नोंसे भरी हुई इस शरीर रूपी गाड़ी को चिकनाई के समान, थोड़ा सा आहार देकर इस आत्माको मोक्ष नगर तक पहुंचा देते हैं । इसको 'अक्षमृक्षण' वृत्ति कहते हैं । ॥५२२-५२३॥

(३) 'उदराग्निप्रशमन' वृत्ति का स्वरूप—

समुत्थितं यथा बन्धि, भंडागारे भृते बणिक् । रत्नाद्यैः समयेच्छोघ्रं, शुच्यशुच्यादिवारिणा ॥
तथोत्थितं क्षुधाबन्धि, मुदरे समयेच्छमो । सरसेतर भवतेन, दृगादि रत्न हेतवे ॥५२५॥

अर्थ—जिसप्रकार कोई वैश्य, रत्नादिकसे भरे हुये भंडागार में (भंडारे में) अग्नि के लग जानेपर तथा उसकी ज्वाला बढ़ जाने पर शीघ्र शुद्ध वा अशुद्ध पानी से उसे बुझा देता है; उसीप्रकार मुनिराज भी सम्यग्दर्शन आदि रत्नों की रक्षा करने के लिये अपने पेट में बढ़ी हुई क्षुधा रूपी बन्धिको सरस वा नीरस आहार लेकर, शीघ्र ही बुझा देते हैं इसको 'उदराग्निप्रशमन' वृत्ति कहते हैं ॥५२४-५२५॥

(४) 'श्वभ्रपूरण' वृत्ति का स्वरूप—

यथा स्वरोहमध्यस्थं, गृही गत्तं प्रपूरयेत् । येन केनोपनीतेन, कतवारेण नान्यथा ॥५२६॥
तथोदरगतं श्वभ्रं, पूरयेत्तन्मयी ववचिन् । यादृक् तादृक् विधानेन, न च मिष्टाशनादिना ॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई गृहस्थ, अपने घरके मध्यकें गड्ढे को किसी भी कूड़े कर्कटसे भर देता है, उसके लिये अच्छी मिट्टी की लजबीज नहीं करता; उसीप्रकार मुनिराज भी अपने पेट के गड्ढे को जैसा कुछ मिल गया उसी अन्नसे भर लेते हैं; उसको भरने के लिये मिष्ट भोजन की तलाश नहीं करते इसको 'श्वभ्रपूरण वृत्ति' कहते हैं ॥५२६-५२७॥

(५) भ्रामरी वृत्ति का स्वरूप—

भ्रमरोऽथ यथा पश्चाद्, यथं गृह्णाति तद्ब्रुवम् । प्राणेन न मनाक् तस्य, बाधां जनयति स्फुटं ॥
तथा हरित चाहारं, दत्तं दातृजनैर्यतिः । न मनाक् पीडयेद् दातृन्, जातवलाभाल्पलाभतः ॥५२८॥

अर्थ—जिसप्रकार भ्रमर, अपनी नासिकाके द्वारा कमल से गंधको ग्रहण कर लेता है और उस कमल को किंचित् मात्र भी बाधा नहीं देता; उसीप्रकार मुनिराज भी वाता के द्वारा दिये हुये आहार को ग्रहण कर लेते हैं परंतु चाहे उन्हें आहार मिले वा न मिले; अथवा थोड़ा ही मिले तो भी वे मुनिराज किसी भी वाता को रंचमात्र भी पीड़ा नहीं देते हैं । इसको 'भ्रामरी वृत्ति' कहते हैं ॥५२८-५२९॥

५ प्रकार पूर्वक आहार को ग्रहण करना तथा ३२ अन्तरायों को छोड़ना—

इति पंचविधाहारं, भजन् योगी क्वचित् स्थजेत् । द्वात्रिंशदन्तरायाणां भन्तरायाणस्तै सति ॥

अर्थ—इसप्रकार वे मुनिराज, पांच प्रकारके आहार को ग्रहण करते हैं यदि

उस समय बत्तीस अंतरायों में से कोई अंतराय आ जाय तो उस आहार को भी छोड़ देते हैं ॥५३०॥

बत्तीस अन्तरायों के नाम—

काकोऽमेध्यं तथा छर्दि, रोधनं रुधिरं ततः । अधुपाताभिघो जान्वधः परामर्शसंज्ञकः ॥५३१॥
अंतरायस्ततो जान, परिध्यतिक्रमाह्वयः । नाभ्यधो निर्गमनाख्यः, स्वप्रत्याख्यात सेवनात् ॥५३२॥
तथा जीववधः काकादि, पिडहरणाभिघः । पिडस्य पतनं हस्तात् पाणी जन्तुवधस्ततः ॥५३३॥
मांसावि दर्शनं चोप, सर्गः पादद्वयान्तरे । व्रजेत् पंचेन्द्रियो जीवः, सपातो भाजनस्य च ॥५३४॥
उच्चारः प्रस्रवणं चा, भोज्यगेहप्रवेशनम् । मूर्च्छाया पतनं चोपवेशनं वष्टनामकः ॥५३५॥
भूमिसंस्पर्शनामाय, निष्ठीवनं समाह्वयः । उदरात्संयतस्यैव, कुमिर्निर्गमनं ततः ॥५३६॥
अदत्तं ग्रहणं शस्त्रै, प्रहारो ग्राम वाहकः । पादेन ग्रहणं किञ्चित्, वस्तुभूमेः करेण च ॥५३७॥
अंतराया इमे ज्ञेया, द्वात्रिंशत्संख्यका मुनेः । अलाभहेतवोऽग्रादौ, वक्ष्यमाणाः पृथक्-पृथक् ॥५३८॥

अर्थ—निम्नलिखित ३२ अंतराय हैं—(१) काक (२) अमेध्य (३) छर्दि (४) रोधन (५) रुधिर (६) अधुपात (७) जान्वधः परामर्श (८) जानूपरिध्यतिक्रम (९) नाभ्यधो निर्गमन (१०) प्रत्याख्यात सेवन (११) जीववध (१२) काकादि पिडहरण (१३) हस्तात् पिडपतन (१४) पाणिपात्रे जंतुवध (१५) मांसदर्शन (१६) उपसर्ग (१७) पादान्तर पंचेन्द्रिय जीवगमन (१८) भाजनसंपात (१९) उच्चार (२०) प्रस्रवण (२१) अभोज्य गृह प्रवेश (२२) मूर्च्छापतन (२३) उपवेशन (२४) वंष्ट (२५) भूमिस्पर्श (२६) निष्ठीवन (२७) उदर-कुमि-निर्गमन (२८) अदत्तग्रहण (२९) शस्त्रप्रहार (३०) ग्रामवाह (३१) पादेन ग्रहण (३२) हस्तेन ग्रहण । इसप्रकार मुनियोंके उपरिलिखित ३२ अंतराय हैं और आहार के लोभसे बाधा डालने वाले हैं । आगे इन सबका स्वरूप अलग २ लिखते हैं ॥५३१-५३८॥

(१) काक नामक अन्तराय—

स्थितस्य गच्छतो चो, परि व्युत्सर्गं प्रकुर्वते । काकाद्या पक्षिणोऽयं स, काकान्तरायनामकः ॥

अर्थ—मुनिराज चाहे आहार के लिये चल रहे हों अथवा बैठे हों उस समय यदि कोई कौआ या बाज आदि पक्षी उनके ऊपर बीट कर दे, तो उन मुनिके (१) 'काक नामका' अंतराय होता है ॥५३९॥

(२) अमेध्य व (३) छर्दि अन्तराय—

गच्छन् मार्गे स्वपादेना, मेध्यं यदि यतिः स्पृरोत् । जायते वमनं स्वस्थ, योगिनोऽधविपाकसः ॥

अर्थ—यदि मार्ग में चलते हुए मुनि के पैर में, बिछा लग जाय, या बिछा का स्पर्श हो जाय तो उनके (२) 'अभेद्य' नामका अन्तराय होता है; यदि मुनि के पापकर्मके उदय से वमन हो जाय तो (३) 'छर्दि' नामका अन्तराय होता है ॥५४०॥

(४) रोधन व (५) रुधिर अन्तराय का स्वरूप—

यदि कश्चित् करोत्येव, धमिनो धरणादिकम् । आत्मनो वा परस्यासौ, रुधिरं यदि पश्यति ॥

अर्थ—यदि मार्ग में चलते हुए मुनि को रोक ले तो (४) 'रोधन' नामका अन्तराय होता है । यदि वे मुनि अपने शरीर से निकले हुए अथवा दूसरे के शरीर से निकले हुए रुधिर को देखें तो उनके (५) रुधिर नामक अन्तराय होता है ॥५४१॥

(६) अश्रुपात नामक अन्तराय—

दुःखः शोकादिभिः स्वारत्मनोऽश्रुयातो भवेच्छदिः । अत्यकंदः परेषां वा, सन्नातां मरणादिभिः ॥

अर्थ—यदि दुःख वा शोकादिक के द्वारा मुनि के आंसू निकल आवें अथवा किसी आसन्न (नजदीकी) पुरुष के मरण हो जाने से रोने वाले दूसरों के आंसुओं को मुनि देख लें तो उनके (६) 'अश्रुपात' नामका अन्तराय होता है ॥५४२॥

(७) जान्वधः परामर्शं तथा (८) जानूपरिव्यतिक्रम अन्तराय—

यदि जानोरधो भागे, करोति स्पर्शनं मुनिः । व्यतिक्रमं विधत्ते च, जानोरपरि कारणात् ॥५४३॥

अर्थ—यदि वे मुनि जंघा के नीचे के भाग को स्पर्श कर लें तो उनके (७) 'जान्वधः परामर्शं' नामका अन्तराय होता है । यदि वे मुनि किसी कारणसे जंघाके ऊपर व्यतिक्रम कर लें; जंघा से ऊँची सीढ़ी पर इतनी ऊँची एक ही डंडा या सीढ़ी पर चढ़े तो उनके (८) 'जानूपरिव्यतिक्रम' नामका अन्तराय होता है ॥५४३॥

(९) नाभ्यधो निर्गमन तथा (१०) प्रत्याख्यात सेवन अन्तराय—

नाभेरधः शिरः कृत्वा, कुर्यान्निरगमनं यतिः । मुनेनियमितस्यैव, वस्तुनो भक्षणं भवेत् ॥५४४॥

अर्थ—यदि मुनि नाभि से नीचे अपना सिर करके निकले तो उनके (९) 'नाभ्यधो निर्गमन' अन्तराय होता है । यदि वे मुनि त्याग किये हुये पदार्थ को भक्षण कर लें तो उनके (१०) 'प्रत्याख्यात सेवन' नामका अन्तराय होता है ॥५४४॥

(११) जीववध व (१२) काकादि पिडंहरण अन्तराय—

आत्मनः पुरतोऽभ्येत, क्रियतेऽगिधधो यदि । काकाद्याः पाशितः पिड, योगिनोऽपहरन्ति च ॥

अर्थ—यदि कोई मनुष्य अपने सामने ही किसी जीवको मार डाले तो उन मुनियों को 'जीववध' नामका ११वां अंतराय होता है । यदि काक आदि पक्षी मुनिके हाथसे आहार के पिंड को अपहरण कर लें तो (१२) 'पिंडहरण' नामका अन्तराय होता है ॥५४५॥

(१३) हस्तात् पिंडपतन तथा (१४) पाणिपात्रे जंतुवध अन्तराय का लक्षण—

ग्रासमात्रं पतेद्हस्तात्, भुंजानस्य घतेर्यदि । म्रियते स्वयमाणस्य, पाणी अंतुश्च पापतः ॥५४६॥

अर्थ—यदि आहार करते हुये, मुनि के हाथ से एक ग्रास के समान आहार गिर जाय तो उनके (१३) 'पिंडपतन' नामका अंतराय होता है । यदि पाप कर्मके उदय से कोई जीव स्वयं आकर मुनिके हाथपर मर जाय तो उनके 'पाणिपात्रे जंतुवध' नामका १४वां अंतराय होता है ॥५४६॥

(१५) मांसदर्शन व (१६) उपसर्ग नामक अन्तराय -

पश्येत् यदि प्रमादेन, मांसादीन् संपतोऽशुभान् । योगिनो यदि जायेतोपसर्गो, नमुरादिजः ॥५४७॥

अर्थ—यदि मुनि अपने प्रमादसे मांसादिक अशुभ पदार्थों को देखलें तो 'मांस दर्शन' नामका १५वां अंतराय होता है, यदि उन मुनि के ऊपर कोई मनुष्य देव या तिर्यच उपसर्ग करे तो उनके 'उपसर्ग' नामका १६वां अंतराय होता है ॥५४७॥

(१७) पादान्तर पंचेन्द्रिय जीव गमन तथा (१८) भाजन संपात नामका अन्तराय—

पादयोरन्तरे गच्छे, ज्जीवः पंचेन्द्रियो मुनेः । पारिवेद्यकहस्तादेः, भोजनं च पतेद्यदि ॥५४८॥

अर्थ—यदि मुनिके दोनों पैरों के मध्यमें से कोई चूहा आदि पंचेन्द्रिय जीव निकल जाय तो उनके 'पादान्तर पंचेन्द्रिय जीव गमन' नामक १७वां अंतराय होता है । यदि दान देने वाले के हाथ से कोई वर्तन गिर जाय तो उन मुनिके आहार में (१८) 'भाजनसंपात' नामका अंतराय होता है ॥५४८॥

(१९) उच्चार (२०) प्रस्रवण (२१) अभोज्य गृह प्रवेश अन्तरायों का वर्णन—

अवेहुच्चार एषोदशब्ध, मूत्रादिकं यतेः । प्रवेशो यदि जायेत, चांडालादि गृहस्थ च ॥५४९॥

अर्थ—यदि मुनि के उदर से मल निकल आवे तो (१९) 'उच्चार' नामका अंतराय होता है । यदि मूत्र निकल पड़े तो (२०) 'प्रस्रवण' नामका अंतराय होता है यदि आहार के लिये फिरते हुए मुनि किसी चांडालादिक के घरमें प्रवेश कर जाय तो उनके (२१) 'अभोज्य गृह प्रवेश' नामक अंतराय होता है ॥५४९॥

(२२) मूर्च्छापतन (२३) उपवेशन (२४) दंष्ट अन्तराय—

मूर्च्छाविना पतेद्योगी, कुर्याद्युपवेशनम् । श्वादिभि र्यदि दंष्टः स्या, मुनिः स्वपापकर्मणा ॥

अर्थ—यदि आहार करते हुए मुनि भूच्छा आदि के कारण से गिर जाय तो उनके (२२) 'मूर्च्छापतन' नामक अन्तराय होता है । यदि आहार करते हुये मुनि बैठ जाय तो उनके (२३) 'उपवेशन' नामका अन्तराय होता है । यदि पाप कर्मके उदयसे कुत्ता आदि कोई जानवर काट ले तो उन मुनि के 'दंष्ट' नामक २४वां अन्तराय होता है ॥५५०॥

(२५) भूमिस्पर्शन तथा (२६) निष्ठीवन नामक अन्तराय—

सिद्धभक्ती कृतायां, स्वहस्तेनासौ घरां स्पृशेत् । निष्ठीवनं विधत्ते वा, क्षिपेत् स्नेहमादिकं यमी ॥

अर्थ—यदि मुनि सिद्धभक्ति करने के बाद अपने हाथ से पृथ्वी का स्पर्श कर लें तो उनके 'भूमि स्पर्शन' नामक २५वां अन्तराय होता है यदि वे मुनि सिद्धभक्ति के बाद थूक दें अथवा कफ थूक दें तो उनके 'निष्ठीवन' नामका २६वां अन्तराय होता है ॥५५१॥

(२७) उदर कृमि निर्गमन तथा (२८) अदत्त ग्रहण अन्तराय—

निर्गच्छति स्वयं चास्योदरादेव कृमिर्बहिः । किञ्चित्लोभेन गृह्णाति सोदतं पर वस्तु च ॥५५२॥

अर्थ—यदि मुनि के उदर से अपने आप कोई कीड़ा बाहर निकल आये तो 'उदर कृमि निर्गमन' नामका २७वां अन्तराय होता है । यदि वे मुनि किसी लोभ के कारण बिना दिये हुये किसी पर पदार्थ को ग्रहण करलें तो उनके 'अदत्तग्रहण' नामका २८वां अन्तराय होता है ॥५५२॥

(२९) शस्त्र प्रहार व (३०) ग्रामदाह तथा (३१) पादेन ग्रहण नामक अन्तराय का स्वरूप—

खड्गादिभिः प्रहारः स्यात्स्वात्मनो वा परांगिताम् ।

जायते गृह दाहश्च किञ्चिद् गृह्णाति सौत्रिणा ॥५५३॥

अर्थ—यदि कोई मनुष्य उन मुनि पर तलवार आदि शस्त्रका प्रहार करे वा उनके सामने अन्य किसी मनुष्य पर प्रहार करे तो उन मुनि के 'शस्त्र प्रहार' नामका अन्तराय होता है । यदि आहार के समय उसी गांव के किसी घर में अग्नि लग जाय तो 'ग्रामदाह' नामका अन्तराय होता है । यदि वे मुनि अपने पैरसे कोई वस्तु उठाकर ग्रहण करलें तो उनके 'पादेन ग्रहण' नामका अन्तराय होता है ॥५५३॥

(३२) हस्तेन ग्रहण नामक अन्तराय—

यद्यादत्ते करेणामो किञ्चिद्वस्तु गृहीतवत् । हाथिस्तत्संध्यवा एते अन्तरायौ ज्ञेयभुतेः ॥५५४॥

अर्थ—यदि वे मुनि अपने हाथ से पृथ्वीपर से कोई वस्तु उठा लें तो उनके 'हस्तेनग्रहण' नामका अन्तराय होता है । इसप्रकार मुनियों के आहार को निषेध करने वाले वे वस्तुस अन्तराय माने हैं ॥५५४॥

अन्य बहुत अन्तरायों का सामान्य उल्लेख—

अन्येपि बहवः सन्ति भोजनालाभकारिणः । चांडाल स्पर्शं साधर्मिक मृत्यादय एव भोः ॥५५५॥

अर्थ—इनके सिवाय चांडाल का स्पर्श हो जाना किसी साधर्मों की मृत्यु हो जाना आदि और भी भोजन में बाधा डालने वाले बहुत से अन्तराय हैं ॥५५५॥

अन्तरायों में से किसी भी अन्तराय के आने पर भोजन का त्याग—

एषामन्यतमः कश्चिद्वन्तरायः स्वकर्मणा । यज्ञायाति तदाहारमर्द्धभुषतं त्यजेद्यमो ॥५५६॥ शून

अर्थ—अपने कर्मके उदय से इन अन्तरायों में से यदि कोई भी अन्तराय आ जाय तो मुनियोंको उसके बाद आहारका त्यागकर देना चाहिये, आधे खाये हुए आहार का भी त्याग कर देना चाहिये ॥५५६॥

भोजन करके अपने स्थान पर आगमन—

ततोऽसौ संवतो ह्येनामन्तरायाम् प्रपन्नयन् । स्वादुं त्यक्त्वा चरौ कृत्वा प्रयाति स्वाधमं द्रुतम् ॥

अर्थ—तदनंतर उन मुनियों को इन अन्तरायों का पालन करते हुए स्वादको छोड़कर चर्या करनी चाहिये और चर्या करके शीघ्र ही अपने आश्रम में आ जाना चाहिये ॥५५७॥

ग्लानि आदि का निषेध—

न तत्रोपविशेद् योगी ग्लान्यादिकारणं विना । जल्पनं हसनं वा न कुर्याद् योषिज्जनादिभिः ॥

अर्थ—मुनियों को वहाँपर ग्लानि आदि किसी कारण के बिना बैठना नहीं चाहिये । तथा स्त्री वा पुरुषों के साथ बात चीत वा हँसी कभी नहीं करनी चाहिये । ॥५५८॥

गुरु के समीप चारों आहारों का प्रत्याख्यान—

किंतु स्वगुहमासाद्य नत्वा भक्त्या चतुर्विधम् । प्रत्यारख्यानं स गृह्णीयात्स्वशक्त्या कर्महानये ॥

अर्थ—किंतु अपने गुरु के पास आकर भक्ति पूर्वक उनको नमस्कार करना चाहिये और कर्मों को नाश करने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार चारों प्रकार का प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये ॥५५६॥

निंदा और गर्हा पूर्वक गोचारी प्रतिक्रमण की आवश्यकता—

ततोतीचार शुद्धयर्थं निंदा गर्हादिपूर्वकम् । मुनिः कुर्याद्वि गोचारो प्रतिक्रमणमंजसा ॥५६०॥

अर्थ—तदनंतर उन मुनियोंको उस चर्चामें लगे हुए अतिचारों को शुद्ध करने के लिये निंदा और गर्हा पूर्वक गोचारी प्रतिक्रमण (आहारमें लगे हुए दोषोंको क्षमापणा) करना चाहिये ॥५६०॥

कर्म नष्ट करने के लिए निरन्तर स्वाध्याय आवश्यक—

पुनः कर्मधयायासीं शास्त्राभ्यासं निरन्तरम् । ध्यानं वा परमं सारं प्रशस्तं परमेष्ठिनाम् ॥५६१॥

अर्थ—इसके बाद उन मुनियों को अपने कर्म नष्ट करने के लिये निरन्तर शास्त्रोंका अभ्यास करना चाहिये और परमेष्ठियों का सारभूत सर्वोत्कृष्ट प्रशस्त ध्यान धारण करना चाहिये ॥५६१॥

समस्त संकल्प विकल्पों का त्याग—

करोति तत्त्वचित्तं च भावनां स्वपरात्मनः । निर्विकल्पं मनः कृत्वा संवेग धर्मवासितम् ॥५६२॥

अर्थ—उन मुनियों को अपने मनके समस्त संकल्प विकल्पों का त्याग कर देना चाहिये तथा मन को संवेग और धर्म में स्थिर कर तत्त्वोंका चिंतन तथा अपने आत्मा की भावनाओं का और अन्य आत्माओं की भावना का चिंतन करते रहना चाहिये ॥५६२॥

दिन में सोने का त्याग तथा विकथाओं का परित्याग—

न विवाशयनं कुर्याद् विकथां नाद्यकारिणीम् । लाभालाभश्चि पृष्टोपि बवेज्जातु न संयमी ॥

अर्थ—मुनियों को न तो दिन में कभी सोना चाहिये, न पाप उत्पन्न करने वाली विकथायें कहनी चाहिये तथा पूछने पर भी किसी के लाभ या अलाभ को नहीं बतलाना चाहिये ॥५६३॥

धर्मध्यान के बिना एक घड़ी भी व्यर्थ नहीं व्यतीत करना चाहिए—

अनृतोक्तेन किं साध्यं धर्मध्यानं विना यतिः । एकां कालकलां जातु गमयेन्नाति दुर्लभाम् ॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या लाभ है थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि मुनियों को बिना धर्मध्यान के अत्यंत दुर्लभ ऐसी काल को एक घड़ी भी नहीं बितानी चाहिये ॥५६४॥

विकथाओं के कहने से निरन्तर पापों का संचय—

यतो येनपराहारं गृहीत्वा कुर्वते शठाः । चतुर्धा विकथां सेवां वृथा दीक्षाघसंचयात् ॥५६५॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जो अज्ञानी मुनि दूसरे का आहार ग्रहण करके भी चारों प्रकार की विकथा में लगे रहते हैं उनकी दीक्षा भी व्यर्थ है, क्योंकि विकथाओं के कहने से उनके निरन्तर पापों का संचय होता रहता है ॥५६५॥

रत्नत्रय के बिना केवल भार वहन—

वा से प्रमादितो नूनं पराहारादि भक्षणात् । बिना रत्नत्रयं दीना भवन्ति भार वाहकाः ॥५६६॥

अर्थ—अथवा यों कहना चाहिये कि दूसरों का आहार खा-खाकर वे प्रमादी बन गए हैं और रत्नत्रयके बिना वे दीन केवल भार वहन करनेवाले वा बोझा ढोने वाले हैं ॥५६६॥

प्रमाद कभी नहीं करना चाहिये—

इति मत्वा न कर्तव्यः प्रमादो विकथादिजः । किंतु स्वमुक्तिं संसिध्यै स्यात्तद्व्यं मोक्षकांक्षिभिः ॥

अर्थ—यही समझ कर विकथादिकों से उत्पन्न हुआ प्रमाद मुनियों को कभी नहीं करना चाहिये किंतु मोक्षकी इच्छा करनेवाले उन मुनियों को स्वर्ग और मोक्षकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करते रहना चाहिये ॥५६७॥

भोजन शुद्धि सब धर्मोंकी खानि है—

इत्येषाशन शुद्धिरचानुष्ठेया यत्नतोऽम्बहम् । विश्वधर्मस्तनी सारा वृत्तमूला गुणाकरा ॥५६८॥

अर्थ—इसप्रकार कही हुई यह भोजन शुद्धि मुनियों को प्रयत्न पूर्वक प्रतिदिन करनी चाहिये । क्योंकि यह भोजन शुद्धि समस्त धर्मोंकी खानि है, सारभूत है, चारित्र्य की जड़ है और गुणोंकी खानि है ॥५६८॥

अधःकर्मजन्य आहार को ग्रहण करने का फल—

यतो बहूपवासाश्च योगा आतपतादयः । अधः कर्म भुजां धर्म्याः स्युः षडंगि विघातनात् ॥५६९॥

अर्थ—जो मुनि अधःकर्म जन्य आहारको ग्रहण करते हैं उनके छहों प्रकारके

जीवों के घात करने का पाप लगता है अतएव उनके अनेक उपवास और आतापन आदि योग सब व्यर्थ हो जाते हैं ॥५६६॥

मुनियों को शुद्ध करनेवाली सारभूत भिक्षा शुद्धि—

यथात्र व्यवहाराख्या शुद्धिः सागारिणां परा । भिक्षा शुद्धिस्तथा सारा योगिनां शुद्धिकारिणी ॥

अर्थ—जिस प्रकार गृहस्थों की उत्कृष्ट शुद्धि उपवास शुद्धि कहलाती है उसीप्रकार मुनियोंको शुद्ध करनेवाली सारभूत भिक्षा शुद्धि समझनी चाहिये ॥५७०॥

सदोष आहार का निषेध—

धरं प्रत्यह माहारं निरवद्यं तपस्विनाम् । न च पक्षोपवासादी सदोषं पारणं क्वचित् ॥५७१॥

अर्थ—मुनियों को निर्दोष आहार प्रतिदिन कर लेना अच्छा परंतु पन्द्रह दिन वा महिने भरका उपवास करके पारणा के दिन सदोष आहार करना अच्छा नहीं ॥५७१॥

भिक्षाकी शुद्धि प्रयत्न पूर्वक आवश्यक—

विज्ञायेति प्रयत्नेन भिक्षाशुद्धिः शिषेकरा । गुणरत्नसूत्री नित्यं विवेका भव भोरुभिः ॥५७२॥

अर्थ—यही समझकर संसारसे भयभीत रहनेवाले मुनियोंको गुणरूपी रत्नोंकी खानि और मोक्ष प्रदान करनेवाली भिक्षाकी शुद्धि प्रयत्न पूर्वक करनी चाहिये ॥५७२॥

एषणा शुद्धि को धारण करने का फल—

सकल चरणमूलां दुःख दावाम्बु वृष्टिं जिन मुनिगण सेव्यां स्वाक्ष कर्मारि शस्त्रीम् ।

परम सुगुण खानि स्वर्गमोक्ष वृक्षां भजत परमयत्नावेष्टया शुद्धिमार्गः ॥५७३॥

अर्थ—इसप्रकार यह एषणा शुद्धि समस्त चारित्र्यकी मूलकारण है, दुःखरूपी दावानल अग्निके लिये पानी की वर्षा है, भगवान् जिनेन्द्रदेव और समस्त मुनिगण इसकी सेवा करते हैं इसको पालन करते हैं, अपनी इन्द्रियां और कर्मरूपी शत्रुको नाश करने के लिये यह भिक्षा शुद्धि एक अमोघ शस्त्र है, सर्वोत्कृष्ट श्रेष्ठ गुणोंकी खानि है और स्वर्ग मोक्षरूपी वृक्षको बढ़ाने के लिये धातुके समान है । अतएव मुनियोंको परम प्रयत्न पूर्वक इस एषणा शुद्धिको धारण करना चाहिये ॥५७३॥

आदान निक्षेपण समिति का स्वरूप—

ज्ञानसंयमशीलोप करणानां प्रयत्नतः । यत्संस्तरादि वस्तूनां ग्रहणं क्रियते धूर्धः ॥५७४॥

निक्षेपणं निरीक्ष्यो च्यैश्चक्षुर्म्यां प्रतिलेख्यत्वं । मृदु पिच्छिकवाधान निक्षेपा समितिश्च सा ॥

अर्थ—बुद्धिमान मुनि ज्ञानके उपकरणों को, संयमके उपकरणों को, शौचके उपकरणों को और सोने बैठने के साधनों को नेत्रों से अच्छी तरह देखकर तथा कोमल पीछीसे शोध कर प्रयत्न पूर्वक ग्रहण करते हैं और प्रयत्न पूर्वक ही रखते हैं उनकी इस क्रिया को आदान निक्षेपण समिति कहते हैं ॥५७४-५७५॥

पुस्तक आदि ज्ञानोपकरण को पीछी से देखकर रखना—

पुस्तकाद्युपधीन् साधुः कार्यार्थं चक्षुषा मुहुः । विलोक्य प्रतिलेख्याभ्रगुल्लीयास्स्थापयेत्तथा ॥

अर्थ—साधुओं को पुस्तक आदि ज्ञान के समस्त साधन अपने कार्यके लिये नेत्रोंसे अच्छी तरह देखकर तथा पीछी से शोध कर ग्रहण करना चाहिये और इसी प्रकार देख शोध कर रखना चाहिये ॥५७६॥

संस्तर आदि को हिलाने का निषेध—

संस्तरं फलकं वाग्योपधिं रात्रौ न खलयेत् । सति कार्यपि योगोन्द्रो जीववाधाविशंकया ॥५७७॥

अर्थ—मुनियों को आवश्यक कार्य होनेपर भी अनेक जीवोंकी बाधाके डरसे रात्रि में अपने सोने बैठने के पाट को वा अन्य संस्तरको कभी हिलाना व चलाना नहीं चाहिये ॥५७७॥

नहीं हिलाने का कारण—

यत्नो रात्रौ न दृश्यन्ते सूक्ष्माः स्थूलाश्चजंतवः । तस्मात्सञ्चाननेनाशु ध्रुवं तेषां विराधना ॥

अर्थ—क्योंकि रात्रिमें सूक्ष्म वा स्थूल कोई भी जीव दिखाई नहीं देते अतएव उस पाट व संस्तर के हिलाने चलाने में बहुत शीघ्र उन जीवों की विराधना हो जाती है ॥५७८॥

दिन में भी अन्धकार युक्त स्थान में उपकरणों को रखने का निषेध—

विषसे वा प्रदेशे बह्वंधकारान्विते बुधेः । अदृष्टिगोचरे कार्यं वस्तूनां स्थापनावि न ॥५७९॥

अर्थ—यदि दिन भी हो और जिस किसी अंधेरे स्थानमें बहुत अन्धेरा हो कुछ दिखाई न देता हो उसमें भी किसी पदार्थको नहीं रखना चाहिये ॥५७९॥

हिलने डुलने वाले आसनों पर बैठने का निषेध—

पदुके फलके न्यत्र वाचले शयनासनम् । जीववाधाकरं जातु न कर्तव्यं वताभिभिः ॥५८०॥

अर्थ—व्रती मुनियों को हिलने डुलने वाले तख्ते पर वा पाट पर न कभी सोना चाहिये और न बैठना चाहिये क्योंकि ऐसे आसन पर सोने बैठने से अनेक जीवों की बाधा हो जाती है ॥५८०॥

निन्दनीय अप्रतिलेखन, दुष्प्रतिलेखन एवं सहसा प्रतिलेखन का निषेध—

धर्मोपकरणादोनां निश्चमप्रतिलेखनम् । आदान स्थापना काले तथा दुष्प्रति लेखनम् ॥५८१॥

महासंयम संसिध्यै सहसा प्रतिलेखनम् । अयत्न मनसा जातु न कार्यं संयतः क्वचित् ॥५८२॥

अर्थ—मुनियों को धर्मोपकरणों के उठाने वा रखने में निन्दनीय अप्रतिलेखन (पीछी से शुद्ध नहीं करना नहीं देखना आदि) कभी नहीं करना चाहिये तथा दुष्प्रतिलेखन (अच्छी तरह न देखना न अच्छी तरह पीछीसे शोधना यों ही इधर उधर पीछी मार देना) भी नहीं करना चाहिये तथा महा संयमकी सिद्धि के लिये सहसा प्रतिलेखन (जल्दी जल्दी देख शोध लेना) भी नहीं करना चाहिये और बिना प्रयत्न तथा बिना मनके भी कभी प्रतिलेखन नहीं करना चाहिये ॥५८१-५८२॥

धर्मोपकरणों का बार-बार संशोधन—

किंतु कुर्यात्प्रयत्नेन ग्रहण स्थापनाधिकम् । शनैः स प्रतिलेख्येक्ष्य स्तोपधीनां मुहुर्मुहुः ॥५८३॥

अर्थ—किंतु धर्मोपकरणों का ग्रहण और स्थापन प्रयत्न पूर्वक बार बार देख कर और बार बार पीछी से शोधकर धीरे धीरे करना चाहिये ॥५८३॥

आदान निक्षेपण समिति पालन का फल—

इमां ये समितिं सारां निष्प्रमावा भजंति वै । तेषां माद्यं व्रतं पूर्णं व्रतानां मूलकारणम् ॥५८४॥

अर्थ—जो मुनिराज प्रभाव रहित होकर इस आदान निक्षेपण नामकी सार-भूत समिति को पालन करते हैं उनके समस्त व्रतोंका मूल कारण ऐसा पहला अहिंसा महाव्रत पूर्ण रीतिसे पालन होता है ॥५८४॥

ऐसा नहीं करने से स्थूल तथा सूक्ष्म जीवोंकी हिंसा—

विनेमां समितिं योत्र शिथिला विहरन्ति भोः । धनन्ति स्थूलाणि राशीस्ते का कथा सूक्ष्मदेहिनाम् ॥

अर्थ—इस आदान निक्षेपण समिति को पालन किये बिना जो शिथिलाचारी मुनि विहार करते हैं वे अवश्य ही अनेक स्थूल जीवों के समूह का नाश करते हैं फिर भला सूक्ष्म जीवों की तो बात ही क्या है अर्थात् सूक्ष्म जीवों का तो बहुतों का नाश होता है ॥५८५॥

आदान निक्षेपण समिति का पालन करने का फल—

मत्वेति मुनयो नित्यं पालयन्तु दयाप्तये । इमां सुसमितिं यत्नाद्दर्शनं प्रति लेखनैः ॥५८६॥

वृषभमुनि निषेधार्थं स्वर्गसोपानपंक्तिं शिवशुभगतिं श्रीं निर्जरा संवरस्य ।

भुवि सकल विधीनां हेतुमूर्ता मुनीन्द्राः प्रभजत समितिं चादान निक्षेपणाख्याम् ॥५८७॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को जीवोंकी दया पालन करने के लिये अच्छी तरह देखकर और अच्छी तरह पीछी से पीछ कर अथवा पूर्वक इस आदान निक्षेपण समिति को पालन करना चाहिये । इस आदान निक्षेपण समिति को सर्वोत्कृष्ट मुनि भी पालन करते हैं, यह स्वर्गके लिये सीढ़ियों की पंक्ति है, मोक्षका मार्ग है तथा शुभ-गतियों का मार्ग है और कर्मोंकी निर्जरा की तथा संवर की समस्त विधियों का कारण है । अतएव हे मुनिराजों ! आप लोग भी इस आदान निक्षेपण समितिका पालन करो ॥५८६-५८७॥

प्रतिष्ठापना समिति का स्वरूप—

एकान्ते निर्जने दूरे संवृते वृष्टिगोचरे । विलादि रहितेऽचित्तेऽविरोधे जन्तुवर्जिते ॥५८८॥

प्रवेशे क्रियते यत्स्वोच्छार प्रत्यवगाधिकम् । वृष्टिपूर्वं प्रतिष्ठापनिका सा समितिर्मता ॥५८९॥

अर्थ—मुनि लोग जो मल मूत्र करते हैं वह ऐसे स्थान में करते हैं जो एकान्त हो, निर्जन हो, दूर हो, ढका हो अर्थात् आड़ में हो, वृष्टिके अगोचर हो, जिसमें बिल आदि न हो, जो अचित्त हो, विरोध रहित हो अर्थात् जहां किसी की रोक टोक न हो और जिसमें जीव जंतु न हों ऐसे स्थान में देख शोध कर वे मुनिराज मल मूत्रादिक करते हैं इसको प्रतिष्ठापना समिति कहते हैं ॥५८८-५८९॥

प्रासुक भूमि देखकर मल-मूत्रका क्षेपण आवश्यक—

मलमूत्रादिकं सर्वं श्लेष्मनिष्ठोवमादि च । प्रासुकं मूलं वीक्ष्य प्रतिलेख्य क्षिपेद्यमो ॥५९०॥

अर्थ—मुनियों को प्रासुक भूमि देखकर और पीछी से शुद्ध कर फिर उस पर मल मूत्र कफ चूक नाक का मल आदि डालना चाहिये ॥५९०॥

दिन हो चाहे रात्रि; मल-मूत्र का क्षेपण दृष्टि के अगोचर नहीं करना चाहिये—

क्षयायां दिक्से वात्र प्रवेशे वृष्टिगोचरे । कायोद्भूतं मलं सर्वं क्षिपेज्जातु न संयमो ॥५९१॥

अर्थ—चाहे दिन हो और चाहे रात हो जो प्रदेश दृष्टिके गोचर नहीं होता जो स्थान दिखाई नहीं देता उस स्थान पर मुनियों को अपने शरीर का कोई भी मल

नहीं डालना चाहिये ॥५६१॥

कफ आदि मल पर बालू रेत का क्षेपण—

श्लेष्मादिकं परिक्षिप्य धरादौ बालुकादिभिः । छावयन्तु बुधा यत्नाञ्जन्तुपाताविशंकया ॥५६२॥

अर्थ—बुद्धिमान संयमियों को चाहिये कि वे पृथ्वीपर कफ वा नाक का मल डाल कर उसके ऊपर बालू डाल दें जिससे कि उसमें किसी जीवके पड़ कर मर जाने की शंका न रहे ॥५६२॥

देख शोध कर उठाने रखने से ही कर्मों का संवर हो सकता है—

किमत्र बहुनोक्तेन सर्वमन्तर्मलोद्भनम् । अवष्टम्भं च कुडघादौ वपुःकण्डूयनादिकम् ॥५६३॥

अन्यथा त्यजन् किञ्चित्लोकन प्रतिलेखनैः । विना जातु न कर्तव्यं संवराय मुमुक्षुभिः ॥५६४॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या लाभ है थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि मोक्षकी इच्छा करनेवाले संयमियों को जो कुछ करना हो दूर वा समीप में मल मूत्र कफ आदि का त्याग करना हो किसी दीवाल से शरीर खुजलाना हो अथवा और कोई पवार्थ रखना हो इत्यादि सब काम बिना देखे और बिना शोधे बिना पीछी से शुद्ध किये कभी नहीं करने चाहिये क्योंकि देख शोध कर उठाने रखने से ही कर्मों का संवर हो सकता है अन्यथा नहीं ॥५६३-५६४॥

ऐसा नहीं करने से स्थावर जीवों का घात तो होता ही है—

यतो येन्तर्मलं मूढा क्षिपन्ति यतनतो विना । असांस्ते भारयन्त्यत्र का वार्ता स्थावराणिनाम् ॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जो अज्ञानी संयमी बिना यत्नाचार के मल मूत्रका त्याग करते हैं वे अवश्य ही उस जीवोंका घात करते हैं फिर भला स्थावर कायके जीवोंकी तो बात ही क्या है अर्थात् उनका घात तो होता ही है ॥५६५॥

सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठापन समिति का पालन—

मत्स्वेति सर्वं यत्नेनात्रेमां समितिर्भूजिताम् । पालयन्तु विदो योगशुध्या वृक्षप्रतिलेखनैः ॥५६६॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान संयमियों को मन ब्रह्म कायकी शुद्धता पूर्वक पूर्ण प्रयत्न के साथ नेत्रोंसे अच्छी तरह देखकर तथा पीछी से शोध कर इस सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठापन समिति का पालन करते रहना चाहिये ॥५६६॥

इसका फल उपसंहारात्मक—

जिनवर मुख जातां धर्मरत्नाणि खानि गणधर मुनि सेव्या स्वर्गसोपानमालाम् ।

शिवमुख फलवल्ली मुक्तिकामा भजंतु समिति मपमलां यरनात्प्रतिष्ठापनाख्याम् ॥५९७॥

अर्थ—यह प्रतिष्ठापन समिति भगवान् जिनैन्द्रदेव के मुख से प्रगट हुई है, धर्मरूपी रत्नोंकी खानि है, समस्त गणधर देव और श्रेष्ठ मुनि इसकी सेवा करते हैं, इसकी पालते हैं, यह स्वर्गके लिये सीढ़ियों की पंक्ति है, मोक्ष सुखरूपी फलों की बेल है और समस्त दोषोंसे रहित है ऐसी यह प्रतिष्ठापना समिति मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषों की प्रयत्न पूर्वक पालन करनी चाहिये ॥५९७॥

पाँचों समितियों का महाफल—

एताः पञ्च शुभाकराः सुसमितीः स्वमोक्षसौख्यप्रदाः अन्तातोत गुणाकरा भुवि महा सर्वव्रतावाः पराः ।
ये यत्नेन सुपालयन्ति निपुणास्तेषां च पञ्चैवस्युः संपूर्णानि महाव्रतानि सुधियां स्वमुं क्षिप्रमदियः ॥

अर्थ—ये ऊपर कही हुई पाँचों समितियाँ कल्याण करनेवाली हैं, स्वर्ग मोक्ष के सुख देनेवाली हैं अनंत गुणों की खानि हैं और समस्त महाव्रतों की जननी हैं । जो बुद्धिमान् मुनि प्रयत्न पूर्वक इन उत्कृष्ट समितियों का पालन करते हैं उन चतुर पुरुषों के पाँचों महाव्रत पूर्णता को प्राप्त होते हैं तथा स्वर्ग मोक्षके पूर्ण सुख और कल्याण प्राप्त होते हैं ॥५९८॥

पाँचों समितियों के पालन नहीं करने का फल—

आस्तां ये शिथिलाः प्रपालन विधी निष्ठं प्रमादं सदा कुर्वन्त्यत्र दयादयो व्रतगुणास्तेषां प्रणश्यन्ति भोः ।
तस्याशाब्ध महाघमात्महतकं तत्पाकतो दुर्गंतो घोरं स्यादसुखं ह्यमुत्र परमं चांतातिगासंसृतिः ॥

अर्थ—जो मुनि इन पाँचों समितियों के पालन करने में शिथिलता करते हैं तथा निदनीय प्रमाद करते हैं उनके दया आदि व्रत और गुण सब नष्ट हो जाते हैं । व्रतोंके नष्ट होने से आत्मा का घात करनेवाला महापाप उत्पन्न होता है, उस महापाप के उबय से परलोक में दुर्गंतियाँ प्राप्त होती हैं उन दुर्गंतियों में महा घोर दुःख उत्पन्न होते हैं और अनंत संसारमें परिभ्रमण करना पड़ता है ॥५९९॥

करुणा आदि गुणों को धारण करने के लिये पाँचों समितियों का पालन अन्यन्त आवश्यक—

मत्वेतोह वृषाः प्रयत्नमनसा स्वमोक्षसंसिद्धये,
कारुण्यादिगुणाय मुक्तिजननीः कुत्सनवताम्बाः शुभाः ।
तीर्थेशादिविसृतिदाश्च समितीः पञ्चैव पापातिगाः,
वृग्गूरत्नावि खनीः भवारिमथनीः संपालयन्तूत्तमाः ॥६००॥

अर्थ—ये पाँचों समितियाँ मोक्ष की जननी हैं, समस्त व्रतों की माता है,

कल्याण करनेवाली है तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि की उत्तम विभूतियों को देनेवाली है समस्त पापों से रहित है सम्यग्दर्शनादिक रत्नोंकी खानि है और संसाररूपी शत्रुओं को नाश करनेवाली है यही समझकर बुद्धिमान मुनियों को स्वर्ग मोक्ष की सिद्धि करने के लिये और करुणा आदि गुणोंको धारण करने के लिये अपने मनमें अत्यन्त प्रयत्न कर के इन पाँचों उत्तम समितियों का पालन करते रहना चाहिये ॥६००॥

पाँचों समितियों के पालन कर्त्ता—(१) आचार्य (२) उपाध्याय एवं सर्व साधुओं के प्रति आचार्य द्वारा अन्तिम नमस्कार—

ये पालयन्ति निपुणाः समितोः समस्ताः आचार्य पाठक सुसाधुमुनीन्द्र वर्गाः ।

बाह्यान्तरोपविधि रक्तमनोऽङ्ग वाक्या स्तेषां गुणाय चरणान् प्रणमामि निश्चयम् ॥६०१॥

इति मूलाचार प्रदीपकाख्ये भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचिते अष्टाविंशति

मूलगुण व्याख्यानै पञ्चसमिति वर्णनो नाम द्वितीयोधिकारः ।

अर्थ—जो आचार्य उपाध्याय साधु वा मुनीन्द्र वर्ग अपने मन-वचन-कायसे बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहों का त्याग कर इन समस्त समितियों का पालन करते हैं उन समस्त चतुर आचार्य उपाध्याय साधुओं के गुण प्राप्त करने के लिये उनके चरण कमलों को मैं सदा नमस्कार करता हूँ ॥६०१॥

इसप्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीपक नामके महाग्रन्थमें अठ्ठाईस मूलगुणों के व्याख्यानमें पाँचों समितियों का वर्णन करनेवाला यह दूसरा अधिकार समाप्त हुआ ।

तृतीयोधिकारः ।



मंगलाचरण (तृतीय अध्याय का)

निजिताक्षफलाप्तांश्च जिनेन्द्रान् सिद्धिमाभितान् । हतपञ्चाक्षमासंगान् साधुसिंहान् स्तुवेखिलान् ॥

अर्थ— जिन्होंने इन्द्रियों को जीतने का केवलज्ञानरूपी फल प्राप्त कर लिया है ऐसे जिनेन्द्रदेव की मैं स्तुति करता हूँ तथा जिन्होंने आत्म सिद्धि प्राप्त कर ली है ऐसे सिद्ध परमेष्ठी की स्तुति करता हूँ और पाँचों इन्द्रियों रूपी हाथियों को मारने के लिये सिंह के समान समस्त साधुओं की मैं स्तुति करता हूँ ॥६०२॥

मोक्ष सुखके लिये पाँचों इन्द्रियों का निरोध—

अथपञ्चाक्षरोधावीन् वधयेमूलगुणान् परान् । विश्वद्विगुणमूलान्श्च स्वान्येषां सिद्धिशमणे ॥

अर्थ— अब आगे पाँचों इन्द्रियों के निरोध करने रूप श्रेष्ठ मूलगुणों को कहते हैं ये गुण अपने और दूसरों के समस्त ऋद्धियों और गुणों के मूल हैं इसलिये मोक्ष सुख के लिये उनका निरूपण करता हूँ ॥६०३॥

पाँचों इन्द्रियों के नाम—

चक्षुः श्रोत्रेद्रियं घ्राणं जिह्वास्पर्शं इमानि च । पंचेन्द्रियाणि जंतूनां सर्वानर्थं करण्यहो ॥६०४॥

अर्थ— चक्षुः श्रोत्र घ्राण जिह्वा और स्पर्शन ये पाँच इन्द्रियाँ हैं और जीवों के समस्त अनर्थों को करनेवाली हैं ॥६०४॥

पंचेन्द्रियों का निर्मल निरोध—

अमोषां गच्छतां स्वस्व विषयेषु निरोधनम् । विधीयतेऽत्र यत्पंचेन्द्रियरोधाहि ते मलाः ॥६०५॥

अर्थ— ये इन्द्रियाँ अपने अपने विषय ग्रहण करने के लिये जाती हैं उनको विषयों के प्रति न जाने देना उनका निरोध करना पंचेन्द्रियों का निर्मल निरोध कहा जाता है ॥६०५॥

चक्षु निरोध नामक गुण कर्मों के आसूव को रोकने वाला है—

सच्चित्ताक्षित मिथ्याणां रूपाणां स्त्रीनरात्मनाम् । गौराविवर्ण मेढानां दिव्यसंस्थान धारिणाम् ॥

कलानृत्यादि युक्तानां रागाद्यवचानिरोक्षणम् । भुमीनां यत्त विज्ञेयश्चक्षुरोषो निरास्रवः ॥

अर्थ—कोई रूप सचित्त होता है कोई अचित्त होता है और कोई मिश्र होता है तथा स्त्री पुरुषों के रूप गौर वर्ण भी होते हैं तथा अन्य वर्ण भी होते हैं । दिव्य संस्थान को धारण करनेवाले तथा कला नृत्य आदि से सुशोभित स्त्री पुरुषोंके रूपको राग पूर्वक न देखना मुनियों का चक्षुनिरोध नामका गुण कहलाता है । यह गुण भी आस्रवको रोकनेवाला है ॥६०६-६०७॥

किन २ को नहीं देखना चाहिये—

नाना स्त्रीरूपसंस्थान भृङ्गार मुखादिकान् । बहून् नाटकमेवाश्च कला विज्ञान कौतुकान् ॥
अनेक चित्र कर्माद्यान् रामोत्पत्ति करामपि । क्रीडा विनोद वास्यादीन् पश्येज्जातु न संयमी ॥

अर्थ—संयमी मुनियों को अनेक प्रकारकी स्त्रियोंके रूप, संस्थान, भृङ्गार वा मुख आदि अंगों को नहीं देखना चाहिये । अनेक प्रकारके नाटक कला, विज्ञान, कौतुक, राग उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकारके चित्र कर्म, क्रीडा, विनोद, हास्य कर्म आदि कभी नहीं देखने चाहिये ॥६०८-६०९॥

किन्तु जो मोहित करनेवाले पदार्थों को नहीं देखना चाहिये—

व्यक्तकंचन रत्नवीरिञ्चत्त व्यामोह कारिणः । नेषथ्य पट्टकूलाद्यान् न च पश्यन्ति योगिनः ॥

अर्थ—चित्तको मोहित करनेवाले धन, सुवर्ण, रत्न, परदे के भीतरके पदार्थ, वस्त्र वा वस्त्रके किनारे आदि मुनियों को कभी नहीं देखना चाहिये ॥६१०॥

भोगोपभोगके पवित्र और अपवित्र पदार्थों को भी कभी नहीं देखना चाहिये—

भोगोपभोग वस्तूनि संज्ञा वृद्धि कारिण च । पवित्राप्यपवित्राणि मालोक्येष्टमी क्वचित् ॥६११॥

अर्थ—मुनियोंको आहार भक्ष्य मधुन परिग्रह बढ़ाने वाले भोगोपभोगके पवित्र वा अपवित्र पदार्थों को भी कभी नहीं देखना चाहिये ॥६११॥

रौद्रध्यान उत्पन्न करनेवाले संग्रामों को नहीं देखना चाहिये—

भूपसामन्त सैन्यादीन् रौद्रध्यान विधायिनः । कलि संग्राम संधीश्च विलोकयति नात्मवान् ॥

अर्थ—आत्मज्ञ पुरुषों को रौद्रध्यान उत्पन्न करने वाले राजा सामंत और उनकी सेना को भी कभी नहीं देखना चाहिये तथा कलयुगके समस्त संग्रामों के देखने का भी त्याग कर देना चाहिये ॥६१२॥

मिश्रयात्वं वर्धक स्थानों को नहीं देखना चाहिये—

कुदेव लिङ्गो पश्यन्ति मठविभ्वानि भूतले । कुतोर्थाणि कुशास्त्राणि धडनायतनानि च ॥६१३॥

मिथ्यात्ववद्वाक्येष्वेव स्थानानि प्रचुरान्यपि । पश्येज्जातु न सददृष्टिर्दृग्गत्तन मलशंकया ॥

अर्थ—सम्यग्बुद्धी पुरुषों को कुदेव, कुलिंगी, पाखंडी, उनके मठ, उनके प्रति-
स्त्रि, कुतीर्थ, कुशास्त्र, छहों अनायतन आदि कभी नहीं देखने चाहिये । क्योंकि ये
बहुतसे स्थान मिथ्यात्वको बढ़ाने वाले हैं । इसलिये सम्यग्दर्शन रूपी रत्नमें मल उत्पन्न
होने की शंका से डर कर ऐसे स्थान कभी नहीं देखने चाहिये ॥६१३-६१४॥

राग उत्पन्न करनेवाले बहुत से स्थानों को नहीं देखना चाहिये—

धामशास्त्रप्रसोल्यादीन् स्थानान् रोग करान् बहून् । अन्यांश्च पत्तानादीन् स पश्येज्जातु न शुद्धये ॥

अर्थ—मुनियों को अपने आत्माकी शुद्धि रखने के लिये धाम, कोट, गलियां
वा राग उत्पन्न करनेवाले नगर आदि बहुत से स्थानों को कभी नहीं देखना चाहिये ।
॥६१५॥

यदि बिना इच्छा के ये पदार्थ दृष्टिगत हों तो दृष्टि नीची करलें—

ताननीहतवृथात्र क्वचिद्दृष्ट्याघशंकया । रागभोत्याथवा योगी सहसाधोमुखो भवेत् ॥६१६॥

अर्थ—यदि अपनी इच्छाके बिना इन पदार्थों में कभी मुनियों की दृष्टि पड़
जाय तो पाप की शंका से अथवा रागके डरसे उनको उसी समय अपनी दृष्टि नीची
कर लेनी चाहिये अपना मुख नीचा कर लेना चाहिये ॥६१६॥

राग रहित देखने से कर्म बंधन नहीं—

रागबुध्या न पश्येद्धि एतांल्लोके चरन्पि । कर्मभिर्बध्यते नाहो कितुस्त्वान्मुक्त एव सः ॥६१७॥

अर्थ—यद्यपि मुनि इस संसारमें सब जगह बिहार करते हैं तथापि वे राग
बुद्धि से इन पदार्थों को कभी नहीं देखते । ऐसे मुनि कर्मोंसे कभी नहीं बंधते किंतु मुक्त
होते हैं उनके आसक्त नहीं होता किंतु निर्जरा होती है ॥६१७॥

राग सहित देखने से ब्रह्मचर्य का नाश—

रागबुध्यात्त यः पश्येद्विमां तस्य प्रतिक्षणम् । क्वचित्रागः क्वचिद्द्वेषो जायते मायसेम्बहम् ॥

ताभ्यां घोरतरं पापं पापाच्छासिगः भवः । भवेज्जन्तं महाबुद्धं चतुर्गतिभवं ब्रूवम् ॥६१८॥

तथाऽजितेन्द्रियारोणां बुद्धियां चंचलात्मनाम् । कथं ब्रह्मव्रतं तिष्ठेत्साद्धिनायव व्रतं तपः ॥६२०॥

अर्थ—जो मुनि इन पदार्थोंको राग बुद्धिसे देखता है उसके प्रति क्षणमें कहीं
राग उत्पन्न होता है, और कहीं मनमें द्वेष उत्पन्न होता है । उन राग द्वेषसे प्रतिदिन
घोर पाप उत्पन्न होते रहते हैं उन पापों से अनंत भवों में जन्म मरण करना पड़ता है

तथा चारों गतियोंमें उत्पन्न होनेवाले महा दुःख भोगने पड़ते हैं । इसके सिवाय दुर्बुद्धि को धारण करनेवाले जो पुरुष अपनी इन्द्रियोंको नहीं जीतते हैं उनका मन सदा चंचल बना रहता है । ऐसी अवस्थामें उनका ब्रह्मचर्य बत कभी नहीं टिक सकता तथा बिना ब्रह्मचर्य के ब्रत और तपश्चर्या भी नहीं चढ़ सकते ॥६२७-६२८॥

राग घटाने के लिये चक्षु इन्द्रिय का निरोध—

मत्वेति विश्वयत्नेन चक्षुरोर्धं सुधीषनाः । रागहान्यं प्रकुर्वंतु ब्रह्मभंगादिशंकया ॥६२९॥

अर्थ—यहो समझकर बुद्धिमान पुरुषों को अपना राग घटाने के लिये तथा ब्रह्मचर्य ब्रतके भंग होनेकी आशंका से पूर्ण प्रयत्न के साथ चक्षु इन्द्रिय का निरोध करना चाहिये ॥६२९॥

मोक्षार्थी के लिये चक्षु इन्द्रिय का निरोध अन्यन्त आवश्यक है—

सर्वानर्थकरं च रागजनकं चक्षुर्धमद्भूतले । रोधित्वाणु वृथा निरोधनगुणं मोक्षार्थसंसिद्धये ।

स्वमुक्तकं विधं कुकर्महतकं धर्माकरं यत्नतः कुर्वीध्वं सकलं गुणाम्बुधिभिर्धमं चक्षुर्निरोधं सदा ॥

अर्थ—समस्त संसार में परिभ्रमण करते हुए ये चक्षु समस्त अनर्थों को करने वाले हैं और राग को बढ़ाने वाले हैं । इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को मोक्षरूपी पुरुषार्थ को सिद्ध करने के लिये अपनी इन्द्रियों को रोकने रूप गुणसे चक्षु इन्द्रिय का निरोध करना चाहिये । और चक्षुर्निरोध नामके गुण को सदा के लिये धारण करना चाहिये । यह चक्षुर्निरोध नामका गुण स्वर्गमोक्ष का एक अद्वितीय कारण है, अशुभ कर्मोंका नाश करनेवाला है धर्मका खजाना है और गुणों का समुद्र है । इसलिये प्रयत्न पूर्वक इसका पालन करना चाहिये ॥६२९॥

सातों प्रकार के शब्दों को राग सहित नहीं सुनना—

श्रोत्र इन्द्रिय निरोध है—

षड्गर्भभी च गांधारो धैवतो मध्यमः स्वरः । पंचमाख्यो निषाद सप्त शब्दाजीवजा इमे ॥६२३॥

एतेषां जीवशब्दानां वीणाद्यचेतनात्मनाम् । रागेणाश्रयणं यत्नः श्रोत्ररोधोघहानिकृत् ॥६२४॥

अर्थ—षड्ग, ऋषभ, गांधार, धैवत, मध्यम, पंचम और निषाद ये जीवों से उत्पन्न होनेवाले सात प्रकारके स्वर हैं । जीवों से उत्पन्न हुए इन शब्दों को तथा वीणा आदि अचेतन पदार्थों से उत्पन्न हुए शब्दों को राग पूर्वक सुनना श्रोत्र निरोध नामके गुण को हानि पहुंचाने वाला है ॥६२३-६२४॥

राग सहित गीतादि के श्रवण का निषेध—

सरागगीतगानाद्या रागकामाग्निदीपिकाः । वीरामूर्धंगवाद्याश्च न श्रोतव्या जितेन्द्रियैः ॥६२५॥

अर्थ—राग पूर्वक होनेवाले गीत गान वा वीरणा मृदंग आदि बाजे राग और कामरूपी अग्नि को बढ़ाने वाले हैं । इसलिये जितेन्द्रिय पुरुषों को कभी नहीं सुनने चाहिये ॥६२५॥

राग वर्धक शास्त्रों के श्रवण का निषेध—

शृंगार युद्ध हास्यादि पोषकाणि ह्यनेकशः । कलि कौतूहलोत्पाद कानि शास्त्राणि जातुचित् ॥

मिथ्यामताध्वस्थानि महापाप करारिण च । धूर्तैः प्रज्वलितान्यत्र न श्रूयन्ते वृगन्वितैः ॥६२७॥

अर्थ—सम्बद्धष्टि पुरुष शृंगार युद्ध हास्य आदि को पुष्ट करनेवाले तथा कलियुग का कौतूहल बढ़ाने वाले (परस्पर युद्ध कराने वाले) अनेक प्रकारके शास्त्रों को कभी नहीं सुनते हैं । जो शास्त्र मिथ्यामत रूपी पाप से भरे हुये हैं जो महा पाप उत्पन्न करनेवाले हैं और धूर्तों के द्वारा बनाये गये हैं ऐसे शास्त्र भी कभी नहीं सुनते हैं ॥६२६-६२७॥

विकथाओं को सुनने का त्याग—

असत्याः कुकथा मिथ्यामार्गजा विकथावयः । बृथास्तथान्यनिवाद्या न श्रोतव्याः वृषैः क्वचित् ॥

अर्थ—बुद्धिमान पुरुषों को असत्य कुकथाएं, मिथ्यामतों की विकथाएं, व्यर्थ की स्तुति और दूसरों की निंदा कभी नहीं सुननी चाहिये ॥६२८॥

कुकाव्य के श्रवण का निषेध—

कुकाव्यं वर्णतोषेत न श्रोतव्यमघाकरम् । मुक्त्वा जिनोजितं काव्यं वर्यैः प्रज्ञादिवृद्धये ॥६२९॥

अर्थ—इसी प्रकार मिथ्यामत से भरा हुआ और पाप उत्पन्न करनेवाला वा कुकाव्य कभी नहीं सुनना चाहिये । बुद्धिमानों को अपनी बुद्धि बढ़ाने के लिये भगवान् जितेन्द्रदेव के कहे हुए काव्य ही पढ़ने चाहिये अन्य नहीं ॥६२९॥

अच्छे काव्यों के पढ़ने से बुद्धि श्रेष्ठ होती है—

यतो जितेन्द्रकाव्येणानघो धर्मोऽसंवरः । ताभ्यां स्याच्च महाप्रज्ञा सतां विश्वार्थदर्शनी ॥६३०॥

अर्थ—क्योंकि भगवान् जितेन्द्रदेव के कहे हुए काव्य के पढ़ने से पाप रहित निर्मल धर्मकी बुद्धि होती है और पापों का संवर होता है । तथा धर्म और संवर से सज्जन पुरुषोंके समस्त पदार्थों को दिखलाने वाली श्रेष्ठ बुद्धि उत्पन्न होती है ॥६३०॥

मिथ्या काव्यों के सुनने से बुद्धि विपरीत हो जाती है—

कुकाव्यश्चवणेनाधमघान्सति विपर्ययः । तेन पातो दृगादिभ्यस्ततोऽश्मासिता महत् ॥६३१॥

अर्थ—मिथ्या काव्यों के सुनने से पाप होता है, पाप से बुद्धि विपरीत हो जाती है, बुद्धिके विपरीत होने से सम्यग्दर्शन छूट जाता है और सम्यग्दर्शनके छूट जाने से उन दुष्टों को महा दुःख उत्पन्न होता है ॥६३१॥

जो मुनि रागद्वेष वर्धक शब्दों को नहीं सुनते हैं उनके कर्मबंध नहीं होता—

इत्यादीन् परान् शब्दान् ये शृण्वन्ति न योगिनः । चरन्तस्तेन बध्यन्ते पार्षजान्ति महीतले ॥६३२॥

अर्थ—इसप्रकार जो मुनि मर्वत्र बिहार करते हुए भी दूसरे के शब्दोंको नहीं सुनते हैं वे इस संसार में कभी पापों से नहीं बंधते हैं ॥६३२॥

(मिथ्या) रागद्वेष उत्पन्न करनेवाले शब्दों के सुनने से बचनातीत महादुःख होता है—

शब्दान् रागादि हेतूस्तान् ये शृण्वन्त्यत्र रागिणः । रागद्वेषौ परीक्षेयां प्रजायेतेऽन्वहं तराम् ॥
ताभ्यां स्पृहुंष्टसंकल्पास्तस्यात्पापं दुःखतरम् । पापेन संसृता दुःखं ते लभन्ते वज्रोत्तिगम् ॥६३४॥

अर्थ—जो रागी पुरुष इस संसार में रागद्वेष उत्पन्न करनेवाले शब्द सुनते हैं उनके रात दिन रागद्वेष उत्पन्न होता रहता है । तथा रागद्वेष उत्पन्न होने से दुष्ट संकल्प उत्पन्न होते हैं, उन दुष्ट संकल्पों से अत्यंत घोर पाप उत्पन्न होता है और पापों से इस संसार में बचनातीत महा दुःख प्राप्त होते हैं ॥६३३-६३४॥

अपने पाप शांत करने के लिये श्रोत्र इन्द्रिय का निरोध आवश्यक है—

विक्षायेत्येनसां शान्तये सर्वयत्नेन धीषणाः । श्रोत्ररोधं प्रकुर्वन्तु त्यक्त्वा आपत्य संजसा ॥६३५॥

अर्थ—यही समझ कर बुद्धिमान पुरुषों को अपने पाप शांत करने के लिये अपनी चंचलता छोड़कर पूर्ण प्रयत्न के साथ शीघ्र ही श्रोत्र इन्द्रिय का निरोध करना चाहिये ॥६३५॥

समस्त सुखों का निधान एवं समस्त सिद्धांत का कारण श्रोत्रेन्द्रिय का निरोध—

विविधसकलशब्दान् रागहेतून् विमुच्य जिहवरमुखजातान् वर्मशब्दान् गृहीत्वा ।
निश्चिन्तमुत्तमनिधानं सर्वसिद्धांतहेतुं कुस्त परमयत्नाच्छ्रोत्ररोधं यतीन्द्राः ॥६३६॥

अर्थ—मुनिराजों को रागद्वेष को उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकार के शब्दों के सुनने का त्याग कर देना चाहिये और भगवान् जिनेन्द्रदेवके मुख से प्रगट हुये धर्म रूप

शब्दों को सुनना चाहिये । तथा परम प्रयत्न के साथ समस्त सुखों का निधान और समस्त सिद्धांत का कारण ऐसा श्रोत्र इन्द्रिय का निरोध करना चाहिये ॥६३६॥

घ्राणेन्द्रिय निरोध का स्वरूप—

निसर्गवासितामां च चेतनाचेतनात्मनाम् । द्रव्यादीनां सुखीरम्याणां रागादि विधायिनाम् ॥
गंधो न ध्यायते योत्र रागादिभिर्विरागिभिः । द्वेषेण वेतराणां स घ्राणरोधो जिनेर्मतः ॥६३७॥

अर्थ—बोतरागी पुरुष स्वभाव से सुगंधित चेतन वा अचेतन सुगंधित और राग बढ़ाने वाले द्रव्योंको राग पूर्वक कभी नहीं सूंघते हैं इसीप्रकार दुर्गंध युक्त पदार्थों को द्वेष पूर्वक नहीं सूंघते हैं उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव घ्राण इन्द्रिय का निरोध कहते हैं ॥६३७-६३८॥

भोजन करते समय भी सुगंधित पदार्थों को नहीं सूंघना चाहिये—

पुष्पकपूरकस्तूरी श्रीखण्डाद्या अनेकशः । सुगंधयः शुभद्रव्या घ्रातव्या नाक्ष निजितः ॥६३९॥

अर्थ—इन्द्रियों को जीतने वाले संयमियों को पुष्प कपूर कस्तूरी चंदन आदि अनेक प्रकार के सुगंधित और शुभ द्रव्य कभी नहीं सूंघने चाहिये ॥६३९॥

घ्राणेन्द्रिय को प्रिय लगने वाले पदार्थों का निरोध—

घृतपक्वाशपानाद्या घ्राणेन्द्रियसुखप्रदाः । भोजनावसरे जातु न घ्राणीया यतीश्वरैः ॥६४०॥

अर्थ—मुनिराजों को भोजन के समय में भी घ्राण इन्द्रिय को सुख देनेवाले ची में पके हुए अन्न पान आदि पदार्थ भी कभी नहीं सूंघने चाहिये ॥६४०॥

दुर्गंधमय पदार्थों को सूंघकर द्वेष नहीं करना चाहिये—

दुर्गंधं वा समाधाय द्वेषः कार्यो न संयतैः । पूतिगंधो यतः कायः स्वस्यैव विद्यतेऽशुभः ॥६४१॥

अर्थ—मुनियोंको दुर्गंधमय पदार्थों को सूंघकर द्वेष भी नहीं करना चाहिये । क्योंकि अपना शरीर ही अत्यंत शुभ और अत्यंत दुर्गंधमय है ॥६४१॥

घ्राणेन्द्रिय को प्रिय लगने वाले पदार्थों के असेवन से कर्मबंध नहीं होता—

मत्वेति धे न कुर्वन्ति सुगंधेतर वस्तुषु । रागद्वेषौ न तेषां न कर्मबंधोऽत्रतत्कृतः ॥६४२॥

अर्थ—यही समझ कर जो मुनि सुगंधित वा दुर्गंध युक्त पदार्थों में रागद्वेष नहीं करते उनके घ्राण इन्द्रिय से उत्पन्न होनेवाला कर्म बंध कभी नहीं होता ॥६४२॥

सुगंध को राग पूर्वक तथा दुर्गंध को द्वेष पूर्वक त्याग का उपदेश—

रागद्वेषेण गृह्णन्ति गंधी येन शभेतरौ । भवेत्पापाजंनं तेषां पाप दुःखं च दुर्गती ॥६४३॥

अर्थ—जो मुनि सुगंधको राग पूर्वक ग्रहण करते हैं और दुर्गंध को द्वेष पूर्वक ग्रहण करते हैं उसके पाप का वंश होता है जो पाप से दुर्गंतियों में महा दुःख प्राप्त होते हैं ॥६४३॥

प्रयत्न पूर्वक उक्त पदार्थों में रागद्वेष का त्याग—

विवित्वेति पदार्थज्ञाः प्राप्य गंधौ शुभाशुभौ । क्वचिदीहां विनायत्ना द्वागद्वेषी त्यजन्तुभोः ॥

अर्थ—यही समझकर पदार्थों के स्वरूप को जानने वाले मुनियों को बिना इच्छा के प्राप्त हुई सुगंध और दुर्गंध को सूँघकर कभी रागद्वेष नहीं करना चाहिये । प्रयत्न पूर्वक रागद्वेष का त्याग कर देना चाहिये ॥६४४॥

कर्मरूपी शत्रुका नाश करने के लिये घ्राणेन्द्रिय का निरोध—

रागद्वेषकरं निसर्गवपलं घ्राणेन्द्रियं पापवं वंराग्येण निरुध्य धर्मजनकं रमादिनाशंकरम् । स्वसौक्ष्मिकनिबंधनं शुभतमं कर्माणि विध्वंसकं कुर्वीष्वं शिवशर्मणेप्यनुदिनं स्वघ्राणरोधं बुधाः ॥

अर्थ— बुद्धिमान मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपने वैराग्य से राग द्वेष को उत्पन्न करनेवाले और स्वभाव से चपल और पाप बढ़ाने वाले ऐसे घ्राणेन्द्रिय का निरोध करना चाहिये, तथा धर्मको प्रगट करनेवाले, रागद्वेष को नाश करनेवाले स्वर्ग मोक्ष का कारण अत्यन्त शुभ और कर्मरूपी शत्रुको नाश करनेवाले ऐसा घ्राण इन्द्रिय का निरोध प्रतिदिन करते रहना चाहिये ॥६४५॥

जिह्वा इन्द्रिय निरोध का स्वरूप—

अग्नाविचतुराहारे रसे तिक्तादिष्वद्विषे । मनोज्ञे प्रासुके लब्धे सति जिह्वासुखप्रवे ॥६४६॥
या निराक्रियते कांक्षा गूढिश्च निजितेन्द्रियः । आत्मध्यानं सुषातृप्ते जिह्वारोधः सकप्यते ॥

अर्थ—जो मुनि आत्मध्यान रूपी अमृत से तृप्त हो रहे हैं और इन्द्रियों को जीतने वाले हैं ऐसे मुनिराज लट्टे सीठे आदि छहों रसों से परिपूर्ण जिह्वा इन्द्रिय को सुख देनेवाले अत्यन्त मनोज्ञ और प्रासुक अस्वादिक चारों प्रकार का आहार प्राप्त होने पर जो अपनी आकांक्षा रोक लेते हैं उसमें गूढ़ता धारण नहीं करते उसको जिह्वा इन्द्रिय का निरोध कहते हैं ॥६४६-६४७॥

चारों प्रकार के आहार में राग का अभाव—

अशनं पानकं खाद्यं स्वाद्यं जिह्वा सुखप्रदम् । शुद्धं चात्र क्वचित्प्राप्य रागः कार्यो न संयतः ॥

अर्थ—जिह्वा इन्द्रिय को सुख देनेवाला अन्न पान खाद्य स्वाद्य आदि चारों

प्रकारका शुद्ध आहार प्राप्त होनेपर मुनियोंको कभी राग नहीं करना चाहिये ॥६४८॥

मनोज्ञ और अमनोज्ञ पदार्थों के सेवन में रागद्वेष का अभाव—

तिक्तं च कटुकं चाम्लं कषायं सधुरं रसम् । मनोज्ञं वेतरं प्राप्य रागद्वेषौ त्यजेद् यतिः ॥६४९॥

अर्थ—तिक्त कटुक कषायला खट्टा और भीठा ये रस हैं ये रस मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनों प्रकारके होते हैं इनको पाकर मुनियों को राग द्वेषका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥६४९॥

भिक्षा-वृत्ति से प्राप्त भोजन में रागद्वेष का निषेध—

सरसं वारसंस्त्यक्तं क्षारं वा क्षारवर्जितम् । उष्णं वा शीतलं भद्रं रसनाक्ष सुखावहम् ॥६५०॥

अनिष्टं वा यथालब्धमाहारं भिक्षयानघम् । आहारन्ति तनुस्थित्यर्थं त्यक्तरागादियोगिनः ॥६५१॥

अर्थ—राग द्वेषका सर्वथा त्याग करनेवाले मुनि अपना शरीर स्थिर रखने के लिये सरस वा नीरस, लवण सहित वा लवण रहित, उष्ण वा शीतल रसना इन्द्रिय को सुख देने वाला वा अनिष्ट जैसा भिक्षा वृत्तिसे आहार मिल जाता है उसी निर्दोष आहार को वे ग्रहण कर लेते हैं ॥६५०-६५१॥

प्राप्त आहार से कर्म बंधका अभाव—

श्लोक नं० ६५२ मूल प्रति में ही नहीं है ।

अर्थ—वे मुनिराज पारणा के दिन इसप्रकार का जो प्राप्त आहार ग्रहण करते हैं उससे उनके कर्मों का बंध नहीं होता किंतु उससे ही उनके कर्मों की निर्जरा होती है ॥६५२॥

रागद्वेष पूर्वक आहार का निषेध—

एवं ये प्राप्नुकाहारं भुञ्जन्ति पारणे बध्नन्ति । सेधा न तत्कृतो बंधः कृतः संवरनिर्जरे ॥६५३॥

अर्थ—इस संसार में जो मूर्ख यति रागद्वेष पूर्वक आहार लेते हैं उनके पद-पद पर कर्मोंका बंध होता है फिर भला उनके संवर और निर्जरा किस प्रकार हो सकते हैं अर्थात् कभी नहीं होते ॥६५३॥

जिह्वा इन्द्रिय राक्षसी के समान है—

जिह्वा विनिजिता येन सर्वभक्षणं राक्षसी । तस्य समोहितं सिद्धं याति सर्वन्द्रिया बधम् ॥

अर्थ—यह जिह्वा इन्द्रिय सर्व भक्षण करने के लिये राक्षसी के समान है ।

ऐसी इस जिह्वा इन्द्रिय को जो जीत लेता है उसके समस्त कार्य सिद्ध हो जाते हैं और वह समस्त इन्द्रियों को वश करनेवाला समझा जाता है ॥६५४॥

जिह्वा इन्द्रिय रूपी सर्पिणी पर विजय आवश्यक—

जिह्वाहोमक्षमोयोष जेतुं वीनोक्ष वंचितः । स्मराच्छरीन् कथं हन्ति दुर्द्धरान् सोतिदुर्जयान् ॥

अर्थ—इन्द्रियों से ठगा हुआ जो वीन मनुष्य जिह्वा इन्द्रिय रूपी सर्पिणी को जीतने में असमर्थ है वह अत्यन्त दुर्जय और दुर्धर ऐसे कामादिक शत्रुओं को कैसे मार सकता है ॥६५५॥

इसकी लंपटता से कामादि की वृद्धि—

यसो जिह्वाक्षलापदधातुकाभाक्षा इन्द्रियारथः । श्वाशुष्यवत्सो नृपं रम्यताम्राज्यं घातिनः ॥६५६॥

अर्थ—क्योंकि जिह्वा इन्द्रिय की लंपटता से धर्मके साम्राज्य को नष्ट करने वाले काम आदि इन्द्रिय शत्रु अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लेते हैं ॥६५६॥

मिष्ट रस की इच्छा करनेवाला मुनि निन्द्य है—

भिक्षाचरत्त्वमासाद्य योर्द्धदग्धशया कृतिः । मिष्टं स ईहते नग्नः कथं लोके न लज्जते ॥६५७॥

अर्थ—आधे जले हुए मुरख की आकृति को धारण करनेवाला जो नग्न मुनि भिक्षा भोजन का नियम लेकर भी मिष्ट रसकी इच्छा करता है वह लोक में लज्जित क्यों नहीं होता ॥६५७॥

द्रव्य देकर लाये हुए पदार्थ में भी क्रोध का निषेध—

क्रोतान्नं यदि चेद्द्रव्यैरानीतं स्याद्विरूपकम् । तर्ह्यत्र श्लाघ्यते रोषः संयतंश्च कृतोभुवि ॥

अर्थ—यदि द्रव्य देकर खरीद कर लाया हुआ अन्न बिगड़ा हुआ हो तो क्रोध करना भी अच्छा लगता है परन्तु इस संसार में मुनियों को ऐसा समय या कारण कब मिलता है ? अर्थात् कभी नहीं ॥६५८॥

भिक्षा वृत्ति से प्राप्त भोजन में क्रोध का अवसर नहीं—

नोचेदेवं मुधालब्धं भिक्षयास्त्रं शुभाशुभम् । तर्ह्यविरेण भोक्तव्यं रोषस्यावसरः क्वभोः ॥६५९॥

अर्थ—यदि ऐसा नहीं है तो फिर भिक्षा वृत्ति से शुभ वा अशुभ (इष्ट वा अनिष्ट) अन्नको ग्रहण करना व्यर्थ है । फिर तो आबर पूर्वक भोजन करना चाहिये । ऐसी अवस्था में भी क्रोध का अवसर कभी नहीं आ सकता ॥६५९॥

रसों का त्याग पूर्वक रसना इन्द्रिय का जप—

मत्थेति मुनयो यत्नात् दुर्धरं रसनेन्द्रियम् । जयन्त्वर्थनसां मूलं रसत्यागतपोषमः ॥६६०॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को रसों का त्याग कर तथा तपश्चरण और यम नियम धारण कर बड़े प्रयत्न के साथ समस्त पापों को मूलकारण और अत्यन्त दुर्धर ऐसी रसना इन्द्रिय को जीतना चाहिये ॥६६०॥

जिह्वा इन्द्रिय का निरोध अत्यन्त आवश्यक क्यों ?

कृत्स्नानर्थपरंपरार्णपरं पंचाक्षशत्रोर्गृहं कर्मरथ्यजलं निहत्य विषमं जिह्वेन्द्रियारिं खलम् ।
घोरं स्तीव्रतरं स्तपोभिरखिलं जिह्वानिरोधं गुणं सेवध्वं यतयो भवारि मयनं शेषाक्षविष्वंसकम् ॥

अर्थ—यह जिह्वा इन्द्रिय रूपी शत्रु अत्यन्त दुष्ट है, समस्त अनर्थों की परंपरा को देनेवाला है, पांचों इन्द्रिय रूपी शत्रुओं का घर है, कर्मरूपी वनको बढ़ाने के लिये जल के समान है और अत्यन्त विषम है । इसलिये मुनियों को अत्यन्त घोर और अत्यन्त तीव्र तपश्चरणके द्वारा इस जिह्वा इन्द्रिय को अपने बशमें कर लेना चाहिये और जन्म मरण रूप संसार शत्रुको नाश करनेवाला तथा समस्त इन्द्रियों को निरोध करने वाला ऐसा जिह्वानिरोध नामका गुण सदा पालन करते रहना चाहिये ॥६६१॥

स्पर्शन इन्द्रिय निरोध का स्वरूप—

कर्कशो मृदुशीतोष्णः स्निग्धरुक्षो गुरुर्लघुः । जीवाजीव भवा एते आष्टौ स्पर्शाः शुभाशुभाः ॥
अभीषां स्पर्शने योत्राभिलाषो हि निवार्यते । स्पर्शनेन्द्रियरोधः स केवलं योगिनां महान् ॥६६३॥

अर्थ—कठोर, कोमल, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष तथा हलका भारी ये जीव अजीव से होनेवाले आठ स्पर्श हैं । ये आठों ही स्पर्श शुभ भी हैं और अशुभ भी हैं । मुनिराज जो इन आठों प्रकारके स्पर्शों में अपनी अभिलाषाका त्याग कर देते हैं उसको स्पर्शनेन्द्रिय का निरोध कहते हैं यह स्पर्शनेन्द्रिय का निरोध मुनियों के लिये सर्वोत्कृष्ट ॥६६२-६६३॥

स्पर्श इन्द्रिय को प्रिय पदार्थों को कांटे के समान समझकर इनके सेवन का निषेध—

स्त्रीमर्त्यं कोमलांगेषु गद्यकातूलिकादिषु । मृदुष्वासनशय्यादि संस्तरेष्वथ कारिषु ॥६६४॥
पटुकूलादिष्वेषु स्पर्शनं ब्रह्मनाशकृत् । प्रतिभिर्जातु कार्यं न कालाहिकं टकेष्विव ॥६६५॥

अर्थ—स्त्री या पुरुष को कोमल शरीर के स्पर्श करना रुई के कोमल गद्दोंका स्पर्श करना, पाप उत्पन्न करनेवाले कोमल शय्या आसन आदि बिछोनों पर सोना या

कोमल रेशमी वस्त्रों का स्पर्श करना आवि सब ब्रह्मचर्यको नाश करनेवाला है इसलिये व्रती पुरुषों को काले सर्प वा कांटों के समान समझकर कभी इनका स्पर्श नहीं करना चाहिये ॥६६४-६६५॥

कोमल गद्दों पर बैठने का निषेध—

कोमले गद्यकावौ ये कुर्वन्ति शयनासनम् । स्पर्शनेन्द्रियसांपदधात्तेषां ब्रह्मव्रतं कुतः ॥६६६॥

अर्थ—जो पुरुष कोमल गद्दों पर बैठते हैं वा सोते हैं उनके स्पर्श इंद्रिय की लंपटता होने के कारण ब्रह्मचर्य व्रत कभी नहीं ठहर सकता ॥६६६॥

ब्रह्मचर्य के पालन हेतु कठिन तखते पर सोना चाहिये—

मत्त्रेति कोमले रम्ये शर्मदे शयनासने । ब्रह्मव्रतार्थिभिर्जातु न कार्यं शयनासनम् ॥६६७॥

किंतु शिलाश्मसूम्पादी कठिने फलकाविषु । शयनं चासनं कार्यं निद्राहान्यं सुखाश्रये ॥६६८॥

अर्थ—यही समझ कर ब्रह्मचर्य व्रतकी इच्छा करने वाले पुरुषों को कोमल मनोहर और सुख देनेवाले आसन पर कभी नहीं बैठना चाहिये और न ऐसी शय्या पर सोना चाहिये किंतु अपना ब्रह्मचर्य पालन करने के लिये तथा निद्रा को दूर करने के लिये शिला पत्थर भूमि वा कठिन तखते पर सोना चाहिये और उसी पर बैठना चाहिये ॥६६७-६६८॥

ग्रीष्म ऋतु में शीत स्पर्श से राग छोड़ देना चाहिए—

यद्यनोहित वृथात्र वायुः स्पृशति शीतलः । ग्रीष्मे वपुस्तथाप्याशु रागस्त्याज्योऽशुभप्रदः ॥६६९॥

अर्थ—यदि ग्रीष्म ऋतुमें मुनियों के शरीर को बिना उनकी इच्छाके अनायास शीतल वायु स्पर्श करे तो मुनियों को उसी समय उस शीत स्पर्श से अपना अशुभ उत्पन्न करनेवाला राग छोड़ देना चाहिये ॥६६९॥

शीत ऋतु में वीत स्पर्श से द्वेष छोड़ देना चाहिए—

शीतकाले यदा शीतो मरुत्स्पृशति योगिनम् । तत्रापि न मनाद्द्वेषं करोति मुनिपुंगवः ॥६७०॥

अर्थ—यदि किसी मुनिके शरीर को शीत ऋतुमें शीतल वायु स्पर्श कर ले तो भी उन मुनिराज को अपने हृदय में किंचित् भी द्वेष नहीं करना चाहिये ॥६७०॥

बहुत से पदार्थ स्पर्श करने में सुख एवं दुःख देनेवाले हैं उनमें राग और द्वेष नहीं करना चाहिए—

इत्याद्या बहुधा स्पर्शाः सुख दुःख विधायिनः । ये तानासाद्य योगीन्द्रा रागद्वेषौ न कुर्वते ॥

अर्थ—इसप्रकार बहुत से स्पर्श सुख देनेवाले हैं और बहुत से स्पर्श दुःख देने वाले हैं उनको पाकर मुनियों को रागद्वेष कभी नहीं करने चाहिये ॥६७१॥

पदार्थों में राग-द्वेष छोड़ देने से कर्मों का बंध नहीं होता—

रागद्वेषपरित्यागा तेषां संवर निर्जरे । स्पर्शेषु सस्वपीहाहो न बंधः कर्मणां स्वचित् ॥६७२॥

अर्थ—रागद्वेषका परित्याग करने से स्पर्श होते हुए भी मुनियों के कर्मों का बंध कभी नहीं होता किंतु उनके कर्मों का संवर और निर्जरा हो होती है ॥६७२॥

स्पर्श-जन्य आनन्द अनुभव करने से दुर्गति का बंध होता है—

स्पर्शेषु तेषु ये भूढा रागद्वेषो वितन्वते । तेषां पापाश्रवस्तस्माद्दुर्गती भ्रमणं चिरम् ॥६७३॥

अर्थ—जो मूर्ख पुरुष उन स्पर्शों में रागद्वेष करते हैं उनके भूढा पाप का आश्रव होता है और उस पापाश्रवसे वे चिरकाल तक दुर्गतियों में परिभ्रमण करते रहते हैं ॥६७३॥

इसमें रागद्वेष नहीं करना चाहिए—

विज्ञायेति न कर्तव्यो रागद्वेषो सुसंयतैः । सर्वेषु स्पर्शभेदेषु सुख दुःखादि कारिषु ॥६७४॥

अर्थ—यही समझकर श्रेष्ठ मुनियों को सुख वा दुःख देनेवाले अनेक प्रकारके स्पर्शों में कभी राग वा द्वेष नहीं करना चाहिये ॥६७४॥

इस स्पर्शान्द्रिय, कामेन्द्रिय को जीतना परमावश्यक है—

विश्वानिष्टकरं भवारिजनकं कामेन्द्रियस्पर्शनं जिह्वाश्मादिभर्षरसीव कठिनं शय्यासनं बुष्करं । स्वमोक्षककरं सुसौख्यजलधिं कर्माद्रिवज्रं परं कृत्स्नाक्षारिवशीकरं प्रकुक्षत स्पर्शाक्षरोधं बुधाः ॥

अर्थ—यह कामेन्द्रिय वा स्पर्शान्द्रिय समस्त अनिष्टों को करनेवाली है और संसार रूप शत्रुको उत्पन्न करनेवाली है । इसलिये बुद्धिमान् पुरुषों को पत्थर शिला आदि कठिन वा बुष्कर शय्या आसन आदि के द्वारा इस कामेन्द्रिय वा स्पर्शान्द्रिय को जीतना चाहिये तथा स्वर्ग मोक्षको देनेवाला, अनंत सुखका समुद्र, कर्मरूपी पर्वतको चूर करने के लिये वज्रके समान और समस्त इंद्रिय रूपी शत्रुओं को बश करनेवाला ऐसा स्पर्शन इंद्रिय का निरोध अवश्य करना चाहिये ॥६७५॥

पाँचों इंद्रियों में स्पर्शन और रसना इंद्रिय को जीतना ही सबसे कठिन है—

येषां मध्ये जनैर्ज्ञेयो रसस्पर्शनाह्वयो । द्वौहि कामेन्द्रियो नृणां महानर्थविघाथिनौ ॥६७६॥

अर्थ—इन पाँचों इंद्रियों में से स्पर्शन इंद्रिय और रसना वा जिह्वा इंद्रिय ये दोनों इंद्रियां कामेन्द्रिय कहलाती हैं और मनुष्यों के लिये अनेक महा अनर्थ उत्पन्न करनेवाली हैं ॥६७६॥

घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय एवं श्रोत्रेन्द्रिय ये ३ भोगेन्द्रिय हैं—

श्रोत्रं घ्राणेन्द्रियं चक्षुरिन्द्रियं श्रोत्रं संसृजो । भोगेन्द्रियाणि जंतूनां स्तोत्रानर्थकराण्यपि ॥

अर्थ—इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुइन्द्रिय ये तीन इंद्रियां भोगेन्द्रिय कहलाती हैं और जीवों को थोड़ा ही अनर्थ करती हैं ॥६७७॥

पाँचों इंद्रियां चोर हैं—

इमे पंचेन्द्रियाश्चोरा धर्मरत्नापहरिणः । जिताः संयमबाणैर्ये सुखनिश्चेतसाः ॥६७८॥

अर्थ—ये पाँचों इंद्रियां चोर हैं और धर्मरूपी रत्नको चुराने वाली हैं । जिन संयमियों ने अपने संयम बाणों से इनको जीत लिया है इस संसार में वे ही सुखी हैं अन्य नहीं ॥६७८॥

ये इंद्रिय रूपी हाथी बड़े प्रबल हैं—

धावन्तो विषयारण्ये दुर्वातेन्द्रियदग्धिमः । त्रिवेराभ्यां कुशेनात्र यंघृतास्ते विवावराः ॥६७९॥

अर्थ—ये इंद्रियरूपी हाथी बड़े ही प्रबल हैं और विषय रूपी वनमें दौड़ लगा रहे हैं । जो लोग संसार शरीर और भोगों के त्रिवेराभ्यां कुशेनात्र यंघृतास्ते विवावराः ॥६७९॥

ये चोर बड़े ही क्रूर हैं—

पंचाक्षतस्कराः क्रूरास्तपः सुभट ताडिताः । विघटन्ते सतां मोक्षमार्गं विघ्नविधायिनः ॥६८०॥

अर्थ—ये पंचेन्द्रियरूपी चोर बड़े ही क्रूर हैं और सज्जन पुरुषों को मोक्षमार्ग में विघ्न करनेवाले हैं ऐसे ये चोर तपश्चरणरूपी योद्धाओं से ताड़ित होनेपर भी इधर उधर भागते हैं ॥६८०॥

पालतू सर्प के समान ये इंद्रियां स्वामी की ही मार डालती हैं—

यथात्र पोषिता नागा मयन्ति स्वामिनो बलात् । यमान्तं च तथा पंचेन्द्रिया श्वभ्रं हि सप्तमम् ॥

अर्थ—जिस प्रकार पालन पोषण किये हुये पालतू सर्प अपने स्वामी की ही जख्मवस्ती यम मंदिर तक पहुंचा देते हैं मार डालते हैं उसी प्रकार ये पाँचों इंद्रियां भी

इस जीवको सातवें सरक तक पहुंचा देती हैं ॥६८१॥

ये इन्द्रियरूपी शत्रु प्रबल शत्रुओं से भी अधिक भयंकर हैं—

अरिभ्योऽपि महादुष्टा अवाप्तेन्द्रियशत्रवाः । इहामुत्र मनुष्याणां कृत्स्न दुःखनिबन्धनाः ॥६८२॥

यतोर्वचारायः किञ्चिद्दुःखं च ददते न वा । इहामुत्र नृणां घोरं ववत्पेयाक्षराज्रवः ॥६८३॥

अर्थ—ये इन्द्रियरूपी प्रबल शत्रु शत्रुओं से भी महादुष्ट हैं । तथा इस लोक और परलोक दोनों लोकों में मनुष्यों को सब तरह के दुःख देनेवाले हैं । इसका भी कारण यह है कि शत्रु इसी लोक में थोड़ा सा दुःख देते हैं अथवा नहीं भी देते हैं किन्तु इन्द्रिय रूपी शत्रु मनुष्योंको इस लोक में भी दुःख देते हैं और परलोक में भी महादुःख देते हैं ॥६८२-६८३॥

ये इन्द्रिय शत्रु इस लोक और परलोक दोनों में दुःख देते हैं—

ये रोग से भी अधिक दुःखदायी हैं—

रामेभ्योऽपि महादुःखकराः पञ्चाक्ष बुर्जनाः । लालिताः स्त्रीनराणां च निद्या दुर्गतिदायिनः ॥

जनयन्ति यतोरोगा शलग्मानं क्वचित् नृणाम् । कोटी कोटाब्धि पर्यन्तं दुःखं तानि च दुर्गती ॥

अर्थ—स्त्री और पुरुषों के द्वारा लालन-पालन किये गये ये पाँचों इन्द्रियरूपी बुर्जन रोग से भी अधिक महा दुःख देनेवाले हैं, निवर्तीय हैं और दुर्गति को देने वाले हैं । क्योंकि रोग तो मनुष्यों को कहीं-कहीं पर थोड़ा सा दुःख देते हैं परंतु ये इन्द्रियां दुर्गतियों में डालकर कोड़ाकोड़ी सागर पर्यंत महा दुःख देते हैं ॥६८४-६८५॥

ये इन्द्रियां कालकूट विष से भी अधिक भयंकर हैं—

कालकूटविषं मन्ये सुखं वैषमिकं नृणाम् । भक्षजं विषमं घोरदुःखतापनिबन्धनम् ॥६८६॥

कालकूटं यतो भुक्तं स्वासून् हरति केवलम् । सुखं सेन्द्रियजं पुंसां वसेनेकविषासुखम् ॥६८७॥

अर्थ—ये मनुष्यों के इन्द्रिय जन्य विषय संबंधी सुख अत्यंत विषय हैं तथा घोर दुःख और संताप को देनेवाले हैं इसीलिये हम इनको कालकूट विषके समान ही मानते हैं । इसका भी कारण यह है कि भक्षण किया हुआ विष केवल अपने प्राणों को हरण कर लेता है परंतु इन्द्रिय जन्य सुख मनुष्यों को अनेक प्रकार के दुःख देते हैं । ॥६८६-६८७॥

स्पर्शन तथा रसना दोनों ४ अंगुल प्रमाण ही हैं फिर भी महान् अनर्थकारी हैं—

चतुरंगुलमानेयं जिह्वा दुःखाशुभांशिका । तावन्मात्रोप्यजग्योहो दुष्ट कामेन्द्रियः खलः ॥६८८॥

अर्थ—यह जिह्वा इन्द्रिय चार अंगुल प्रमाण है तथापि अनेक दुःख और दुर्गतियों को देनेवाली है । इसी प्रकार अत्यंत दुष्ट कामेन्द्रिय भी चार अंगुल प्रमाण है और अत्यंत अजेय है ॥६८८॥

इन दोनों इन्द्रियों के द्वारा प्राणी बहुत दुःख भोगते हैं—

ऐभिरष्टांगुलोत्पन्नं दोषं जीवाः कदर्थिताः । प्रकुर्वन्ति महापापं लभन्ते दुःखमुत्थरणम् ॥६८९॥

अर्थ—इन आठ अंगुल प्रमाण दोनों इन्द्रियों से उत्पन्न हुए दोषों के द्वारा कदर्थित हुए दुःखी हुए जीव महा पाप उत्पन्न करते हैं और फिर घोर दुःखों को भोगते हैं ॥६८९॥

जो इन दोनों को जीत लेते हैं उनके सब इन्द्रियां वश में हो जाती हैं—

इदं कामेन्द्रियं युग्मं निजितं येस्तपो यमैः । तेषां शेषेन्द्रियाण्याशु वशं यान्ति हृदा समम् ॥६९०॥

अर्थ—जो जीव अपने तप और संयमके द्वारा स्पर्शनेन्द्रिय और जिह्वा इन्द्रिय इन दोनों कामेन्द्रियों को जीत लेते हैं उनकी बाकी की समस्त इन्द्रियां भी हृदय के साथ-साथ बहुत शीघ्र वशमें हो जाती हैं ॥६९०॥

रस त्याग द्वारा ये दोनों इन्द्रियां जीती जा सकती हैं—

विज्ञायेति रसत्यागतपोभिरतिबुधैः । जयन्तु मुनयो जेवं श्वाक्षयुग्मं शिवाप्तये ॥६९१॥

अर्थ—यही समझ कर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अत्यंत कठिन ऐसे रस त्याग नामके तपश्चरण से ये दोनों इन्द्रियां वशमें करनी चाहिये ॥६९१॥

ये पांचों इन्द्रियां बड़ी ठग हैं तथा अंतरंग शत्रु हैं—

पंचेन्द्रियठगा एते वेरिणोभ्यंशतरंगजाः । सम्यग्दृग्ज्ञानवृत्तादि रत्नाल्पपहरन्ति तुः ॥६९२॥

अर्थ—ये पांचों इन्द्रियां बड़ी ठग हैं और इस जीवकी अंतरंग शत्रु हैं । तथा मनुष्योंके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यरूपी रत्नोंको चुरा लेती हैं ॥६९२॥

ये इन्द्रिय रूपी मोक्षफल देनेवाले अमृत फलको नष्ट कर देती है—

तथाक्षदंतिनोऽवांता धर्मकल्पद्रुमं क्षणात् । पुंसामुन्मूलयंयत्रावत्तमुक्ति सुधाफलम् ॥६९३॥

अर्थ—किसी के वश न होनेवाले ये इन्द्रिय रूपी हाथी मोक्षरूपी अमृतफलको देनेवाले ऐसे मनुष्यों के धर्मरूपी कल्पद्रुम को क्षण भरमें जड़ मूलसे उखाड़ कर फेंक देते हैं ॥६९३॥

ये इन्द्रिय रूपी घोड़े कुमार्ग में ले जानेवाले हैं—

पोषिता स्वेच्छयात्रैतेक्षाश्वा उत्पथगाभिः । जन्मार्गे पातयन्त्याशु नरान् भुक्तिपथात् शुभात् ॥

अर्थ—अपनी इच्छानुसार पालन पोषण किये हुये ये इन्द्रियरूपी घोड़े कुमार्ग-गामी हो जाते हैं और फिर मनुष्यों को मोक्षके शुभ मार्गसे हटा कर शीघ्र ही कुमार्ग में पटक देते हैं ॥६६४॥

भूत, भविष्यत, वर्तमान काल में इनके द्वारा ही जीव नरकों में जाते हैं—

ये केचन गताः स्वप्नं गच्छन्ति यास्यान्ति मृतत्वे । केवलं ते जना नूनमिन्द्रियव्याकुलीकृताः ॥

अर्थ—इस संसार में अब तक जितने जीव नरक गये हैं वा अब जा रहे हैं वा आगे जायेंगे वे मनुष्य केवल इन्द्रियों से व्याकुल होकर ही गए हैं वा जायेंगे और तरह से नहीं ॥६६५॥

ग्यारह अंगके पाठी रुद्र भी इनके कारण ही नरक गए—

रुद्राद्या मुनयो ब्राह्मो दशपूर्वधरा विदः । खधूर्तवैश्विता हत्वा चारित्रं नरकं ययुः ॥६६६॥

अर्थ—देखो ग्यारह अंग और दश पूर्व के जानकार रुद्र आदि कितने ही मुनि इस संसार में इन्द्रियों से ठगे गए और अपने चारित्र को नष्ट कर नरक में जा पहुंचे । ॥६६६॥

पांचों इन्द्रियों में एक-एक के सेवन से भी निम्न प्राणियों ने अपने प्राण खो दिए—

स्पर्शनाक्षेण मातंगा मास्या जिह्वेन्द्रियेण च । घ्राणेन भ्रमराश्चक्षुषा पतंगा मृगास्तथा ॥

कर्णोन्द्रियेण चैकेन अयं यान्त्यत्र लोलुपाः । केवलं विषयाशक्त्या किञ्चित्सौख्यं श्रयन्ति न ॥

अर्थ—देखो केवल स्पर्शन इन्द्रियके वश होकर हाथी अपने प्राण खो देता है, जिह्वा इन्द्रिय के वश होकर भछलियां प्राण खो बेती हैं, घ्राण इन्द्रिय के वश होकर भ्रमर अपने प्राण खोता है, चक्षु इन्द्रिय के वश होकर पतंगा अपने प्राण खोते हैं और कर्ण इन्द्रिय के वश होकर हिरण अपने प्राण खोते हैं । विषयों में आसक्त और इन्द्रिय लोलुपी ये जीव कुछ भी सुख न पाकर अपने प्राण खो देते हैं ॥६६७-६६८॥

जो पांचों ही इन्द्रियों का सेवन करते हैं वे नरकगामी क्यों नहीं होंगे ?

एकैकाधारिणात्राहो प्रणष्टाः पशवो यदि । ततः पञ्चाक्षलोला ये स्वप्ननाथाः कथं न ते ॥६६९॥

अर्थ—देखो एक-एक इन्द्रिय रूपी शत्रु के वश होने से ये पशु सब नष्ट हो

जाते हैं फिर भला जो पांचों इंद्रियों के लोलुपी हैं वे नरक के स्वामी क्यों नहीं होंगे ?
अर्थात् वे अवश्य नरक में जायेंगे ॥६६६॥

चक्रो, अर्धचक्रो भी इन्हीं इंद्रियों के कारण नरक में पहुँचे हैं—

अन्येऽपि बहवो धेष्टं चक्रि चक्रयावधो भुवि । राजानो विषयाशक्त्या गताःश्वभ्रं च सप्तमम् ॥

अर्थ—और भी बहुतसे चक्रवर्ती अर्द्ध चक्रवर्ती राजा विषयों में आसक्त होने के कारण सातवें नरक में पहुँचे हैं ॥७००॥

इनके भोगों की कथा कौन कह सकता है ?

भुक्त्वा जन्मादिमृत्युर्लं भोगान्पंचेन्द्रियोद्भवान् । तेषां को गदितुं शक्तः कथां भोगभवां वुधः ॥

अर्थ—जो जीव जन्म से लेकर मरण पर्यंत पंचेन्द्रिय के भोगों को अनुभव करते हैं उनके भोगोंसे उत्पन्न होने वाली कथा को भला कौन बुद्धिमान् कह सकता है अर्थात् कोई नहीं ॥७०१॥

वैराग्य रूपी रस्सी से इन्द्रिय रूपी पशुओं को बांधना चाहिए—

मत्सेति ज्ञानिनः शीघ्रं पंचेन्द्रियमृगान् चलान् । बध्नुंतु बृहवैराग्यपाशेन शिवशर्मणे ॥७०२॥

अर्थ—यही समझकर ज्ञानी पुरुषों को अपना मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये शीघ्र ही वैराग्य रूपी रस्सी से पंचेन्द्रिय रूपी चंचल पशुओं को बृढ़ता के साथ बांधना चाहिये ॥७०२॥

संयम रूपी शस्त्रों से इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को जीतना चाहिए—

इन्द्रियारतयो धीरै र्यैजिताः संयमायुधैः । तैश्च कुर्मोह कर्माद्या हता मुक्तिः करे कृताः ॥७०३॥

अर्थ—जो धीर वीर पुरुष अपने संयम रूपी शस्त्रों से इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीत लेते हैं वे ही पुरुष मोहनीय कर्मरूपी शत्रुओं को नाश कर डालते हैं तथा उन्हींके हाथ में मोक्ष प्राप्त हो जाती है ॥७०३॥

इनको नहीं जीतने वाले मोहनीय कर्म को कैसे जीत सकेंगे—

अक्षारीनपि ये जेतुमक्षयाः क्लीवतां गताः । मोहं बुष्कर्मशत्रून्ते हनिष्यन्ति कथं भुवि ॥७०४॥

अर्थ—जो पुरुष इन्द्रियरूपी शत्रुओंको भी जीतने में असमर्थ हैं उन्हें नपुंसक ही समझना चाहिये । ऐसे पुरुष भला इस संसार में मोहनीय कर्मरूपी शत्रुओं को कैसे नाश कर सकते हैं ? अर्थात् कभी नहीं ॥७०४॥

रत्नत्रय का अपहरण करनेवाले इन्द्रियों को नहीं जीत सकते उनकी दीक्षा भी व्यर्थ है—

गृहस्त्रीभ्यादिकां त्यक्त्वा दीक्षात्र गृह्यते बुधैः । जयाप स्वाक्षशत्रूणां रत्नत्रयापहारिणाम् ॥

निजितक्षारीणां बूधः दीक्षातपः फलम् । व्यर्थो गृह परिव्यागो ब्रह्ममुत्र सुखं न च ॥७०६॥

अर्थ—बुद्धिसाल लोभ रत्नत्रय को अपहरण करनेवाले इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीतने के लिये ही घर स्त्री और धन आदि का त्याग कर दीक्षा ग्रहण करते हैं । इसलिये जो पुरुष इन्द्रियरूपी शत्रुओं को नहीं जीत सकते उनकी दीक्षा और तपश्चरण वा तपश्चरणका फल आदि सब व्यर्थ है, तथा उनका घरका त्याग भी व्यर्थ है । ऐसे पुरुषों को इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें सुख नहीं मिल सकता ॥७०५-७०६॥

इन्द्रियों को जीतना ही परम तप है—

यतोक्षविजयः पुंसां तपः स्यात्परमं भुवि । अतः किं सत्तपस्तेषां येषां भो नास्तिनिर्जयः ॥७०७॥

अर्थ—इन्द्रियों को दमन करना जीतना इस संसार में मनुष्यों का परम तप कहलाता है इसलिये कहना चाहिये कि जो इन्द्रियों को नहीं जीत सकते हैं उनके श्रेष्ठ तप कैसे हो सकता है अर्थात् कभी नहीं हो सकता ॥७०७॥

इन्द्रिय विजेताओं को ही ऋद्धियां एवं सिद्धियां प्राप्त होती हैं—

किमत्र बहुनोक्तेन तेषां सिद्धिर्महात्मनाम् । ऋद्धयः सुतपांसि स्युजिता येःस्वाक्षशत्रवः ॥७०८॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि जिन्होंने अपने इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीत लिया है उन्हीं महात्माओंके ऋद्धियां तपश्चरण और सिद्धियां प्राप्त होती हैं ॥७०८॥

इन्द्रिय लंपटता के कारण परलोक में दुर्गति—

अनिजिताक्ष हीनानां नेह लोकोपकीर्तितः । परलोको न लंपटघात् किंतु दुर्गतिरेव च ॥७०९॥

अर्थ—अपनी इन्द्रियों को न जीतने के कारण जो हीन हो रहे हैं उनके न तो इस लोकमें कीर्ति होती है और न परलोक ही उनका सुधरता है किंतु इन्द्रिय लंपटता होने के कारण परलोक में उनकी दुर्गति ही होती है ॥७०९॥

इन्द्रिय सुख और मोक्ष दोनों एक साथ प्राप्त नहीं किए जा सकते—

यथात्रगमने स्यातां पञ्चानो द्वौ न वेहिनाम् । तथाक्षसुख मोक्षौ च वृथाबन्धविकल्पिणाम् ॥

अर्थ—जिस प्रकार चलते समय मनुष्य भिन्न-भिन्न दो मार्गों में ही नहीं चल

सकता उसी प्रकार जो मनुष्य इन्द्रिय सुख और मोक्ष दोनों की प्राप्ति चाहते हैं उनका अन्त व्यर्थ ही समझना चाहिये ॥७१०॥

चारित्र और तप रूपी भयंकर तलवार से इन्द्रिय शत्रुओं को जीत लेना चाहिए—

जात्वेति बहुयत्नेन दक्षाः स्वार्थसिद्धये । खारीन् जयन्तु चारित्रतपस्वङ्गं भयंकरं ॥७११॥

अर्थ—यही समझकर चतुर लोगों को अपने समस्त पदार्थों की सिद्धि करने के लिये चारित्र और तप रूपी भयंकर तलवार से बड़े प्रयत्न के साथ इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीत लेना चाहिये ॥७११॥

वे ही मुनिराज धन्य हैं जो इन्द्रिय शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं—

ध्यास्ते भुवने त्रये च महिम्नां पञ्चा स्तुता योगिनो,
ये चारित्ररणावनो मुविषमे स्थित्वापि कृत्वाजितम् ।
उग्रोऽग्रं सुतपो धनुर्गुणयुतं सम्यग्दुर्गाद्यः शरैः,
तीक्ष्णं ध्वंस्ति खलान् त्रिलोक जयिनः पञ्चाक्षशत्रून् द्रुतम् ॥७१२॥

अर्थ—इस संसार में जो मुनिराज अत्यंत विषम ऐसे चारित्ररूपी रणांगनमें ठहर कर तथा उग्र-उग्र श्रेष्ठ तपश्चरण रूपी प्रत्यक्षा सहित धनुष को खड़ा कर सम्यग्-दर्शन आदि तीक्ष्ण बाणों से अत्यंत कुष्ठ और तीनों लोकों को जीतने वाले ऐसे पाँचों इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को शीघ्र ही मार डालते हैं वशमें कर लेते हैं वे ही मुनि धन्य हैं तीनों लोकों में पूज्य हैं वे ही वंदनीय हैं और वे ही स्तुति करने योग्य हैं ॥७१२॥

यम और नियमों से इन्द्रिय-जन्य करना चाहिए—

विश्वाचर्यान् विश्वबन्धान् जिनमुनिधूषभैः स्वीकृतान् धर्ममूलान्,
पापाध्नान् मुक्तिकर्तृन् शिवसुख जलधोन् स्वर्गसोपान भूतान् ।
ज्ञानध्यानाग्निहेतून् सकलगुणनिधोन् चित्तमातृमसिहान्,
सेव्यं मुक्ति कामाः यमनियमचर्यः कुत्सनपञ्चाक्षरोधान् ॥७१३॥

अर्थ—समस्त पाँचों इन्द्रियों का निरोध तीनों लोकों में पूज्य है, सबके द्वारा वंदनीय है, भगवान् तीर्थंकर और गणधर आदि श्रेष्ठ मुनियों ने भी इसको स्वीकार किया है, यह पंचेन्द्रियों का निरोध पापों को नाश करनेवाला है, धर्मका मूल है, मोक्ष की प्राप्ति करानेवाला है, मोक्ष के अनंत सुखका समुद्र है, स्वर्ग की सीढ़ी है, ज्ञान और ध्यान का कारण है समस्त गुणों का निधि है और मन रूपी हाथी को वश करने के

लिये सिंहके समान है । इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषों को अपने यम और नियमों के समूह से इस पंचेन्द्रियों के निरोध को अवश्य धारण करना चाहिये ॥७१३॥

६ आवश्यक मूलगुणों का वर्णन—

अथ मूलगुणान् वक्ष्ये षडावश्यकसंज्ञकान् । धर्म शुक्लोत्तमध्यानहेतून् सिद्धांतजान् सताम् ॥

अर्थ—अब आगे छह आवश्यक नामके मूलगुणों को कहते हैं । ये छह आवश्यक धर्म और शुक्ल नामके उत्तम ध्यान के कारण हैं और सिद्धांत शास्त्रों में कहे हुए हैं ॥७१४॥

६ आवश्यकों के नाम—

सामायिकं स्तवो वंदना प्रतिक्रमणं ततः । प्रत्याख्यानं तनूरसर्गः इमान्यावश्यकानि षट् ॥७१५॥

अर्थ—सामायिक स्तव वंदना प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह मुनियों के आवश्यक कहलाते हैं ॥७१५॥

(१) सामायिक आवश्यक का स्वरूप—

जीविते मरणे लाभालाभे वृषवि सन्मणी । संयोगे विप्रयोगे च रिपौ बंधी खलाकले ॥७१६॥

तृणे च कांचने सौख्ये दुःखे वस्तौ शुभाशुभे । क्रियते समभावो यस्तद्धि सामायिकं मतम् ॥

अर्थ—जीने मरने में, लाभ अलाभ में, पत्थर मणि में, संयोग विप्रयोग में, शत्रु बंधु में, दुष्ट सज्जन में, तृण सुवर्ण में, सुख दुःख में और शुभ अशुभ पदार्थों में समान परिणाम रखना सामायिक कहलाता है ॥७१६-७१७॥

सामायिक के ६ भेद—

नामाय स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालः शुभाशितः । भाव सामायिकोत्रैषो निक्षेपः षड्विधो भवेत् ॥

अर्थ—यह सामायिक नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से छह प्रकार है ॥७१८॥

नाम सामायिक का स्वरूप—

क्रूर वीभत्सनामान्यशुभानि द्वेषानि च । रागकर्तृणि मामानि मनोहरशुभानि च ॥७१९॥

धृत्वा यद्वर्जनं राग द्वेषादीनां विधीयते । नाम सामायिकाख्यं तत्सर्ता प्रोक्तं गणधिरपः ॥७२०॥

अर्थ—द्वेष उत्पन्न करनेवाले क्रूर वीभत्स और अशुभ नामों को सुनकर द्वेष नहीं करना तथा राग उत्पन्न करनेवाले मनोहर और शुभ नामों को सुनकर राग नहीं

करना शुभ अशुभ नामों में रागद्वेष का त्याग कर देना उसको गणधर देवोंने सज्जनों के नाम सामायिक कहा है ॥७१६-७२०॥

स्थापना सामायिक का स्वरूप—

स्थापनाः प्रतिमा विध्यरूपा मनोक्षशर्मदाः । नेत्रानिष्ठाः कुरूपाश्च वेताल।कृतिधारिणीः ।
विलोक्च क्रियते राग द्वेषदो यद्विसर्जनम् । शान्ति शर्मदं स्थापनासामायिकमेवतत् ॥७२१॥

अर्थ—स्थापना निक्षेप के द्वारा स्थापित मन और इन्द्रियों को सुख देनेवाली प्रतिमाओं को देखकर राग नहीं करना तथा नेत्रोंको अनिष्ट, कुरूप, वेतालकी आकृति के समान प्रतिमाओंको देखकर द्वेष नहीं करना शान्ति और कल्याण करनेवाला स्थापना सामायिक है ॥७२१-७२२॥

द्रव्य सामायिक का स्वरूप—

सुवर्णरूप्यमाणिक्याभुक्ताफलांशुकादिषु । द्रव्येषु भोगवस्त्रादौ मृत्तिकाकंटकादिषु ॥७२३॥
रागद्वेषादिकांस्त्यक्त्वा सतां यत्समदर्शनम् । द्रव्यसामायिकं तच्च द्रव्योत्पन्नाघनाशनम् ॥७२४॥

अर्थ—सोना, चाँदी, माणिक, मोती, वस्त्र आदि भोगोपभोग के पदार्थों में अथवा मिट्टी कांटे आदि पदार्थों में रागद्वेष का त्याग कर देना तथा समस्त पदार्थों में समता धारण कर समान परिणाम रखना द्रव्य सामायिक है । यह सामायिक द्रव्यों से उत्पन्न हुए समस्त पापों को नाश करनेवाला है ॥७२३-७२४॥

क्षेत्र सामायिक का स्वरूप—

सौधारामनदीकूलपुरादीनि शुभानि च । क्षेत्राणि वायु बीभत्सकंटकाद्याभितान्यपि ॥७२५॥
अशुभान्याप्य रागद्वेषयोरभाव एव यः । क्षेत्रसामायिकं तद्वि क्षेत्रप्राप्तवरोधकम् ॥७२६॥

अर्थ—राजभवन, बगीचा, नदी का किनारा और नगर आदि शुभ क्षेत्रों को पाकर राग नहीं करना तथा कांटों से भरे हुए कंकड़ पत्थरों से भरे हुए दावाग्नि से जले हुए वन आदि अशुभ क्षेत्रको पाकर द्वेष नहीं करना क्षेत्र सामायिक है । यह क्षेत्र सामायिक क्षेत्रसे उत्पन्न होनेवाले आश्रय को रोकने वाला है ॥७२५-७२६॥

काल सामायिक का स्वरूप—

साम्यरूपान् शुभान् कालान् शोतोष्णादिष्युतान् ववञ्चित् ।

षड्भूतंश्च तमः पक्षशीतोष्णाद्यान् कुदुःखवान् ॥७२७॥

संस्पृशः स्यज्यते यद्वि रागद्वेष द्वयं बुधैः । कालसामायिकं कालकृतदोषादिहंतु यत् ॥७२८॥

अर्थ—कोई समय शीत उष्णता से रहित समान रूप तथा शुभ होता है । कहीं पर छहों ऋतुओं का परिवर्तन होता रहा है, कहीं शीतता अधिक होती है, कहीं उष्णता अधिक होती है किसी समय अंधेरा ही रहता है । इसप्रकार के सुख दुःख देने वाले समयों में रागद्वेष नहीं करना रागद्वेष का संबंध त्याग कर देना सा बुद्धिमानों के द्वारा काल सामायिक कहलाता है यह काल सामायिक काल से उत्पन्न होने वाले समस्त पापों का नाश करनेवाला है ॥७२७-७२८॥

भाव सामायिक का स्वरूप—

सर्वजीवेषु मैत्र्यादियुक्तेशुभापरान्मुखः । शुभो रागादिनिमुक्तो धर्मध्यानादितत्परः ॥७२९॥

शुद्धः समगुणापन्नो भावो यो धर्मितां महान् । भावसामायिकं तद्धि जितोत्थवोधकारकम् ॥७३०॥

अर्थ—समस्त जीवों में मैत्री प्रमोद कारुण्य आदि भावों को धारण करना, अशुभ परिणामोंसे सदा पराङ्मुख रहना, रागादिक शुभ परिणामोंका भी त्याग करना धर्मध्यानमें सदा तत्पर रहना, समता गुणसे सुशोभित शुद्ध परिणामों का धारण करना आदि रूपसे जो बुद्धिमानों के उत्कृष्ट परिणाम होते हैं उसको भाव सामायिक कहते हैं । यह भाव सामायिक मनसे उत्पन्न होनेवाले समस्त दोषों को दूर करनेवाला है । ॥७२९-७३०॥

६ प्रकार का सामायिक उत्कृष्ट है—

एतैः षड्भिश्च निक्षेपैस्त्वायैर्ज्ञानिनां परम् । सामयिकं शुभध्यान कारणं ज्ञायतेतराम् ॥७३१॥

अर्थ—ज्ञानी पुरुषों के ऊपर लिखे अनुसार छह प्रकारके उपायरूप निक्षेपोंसे उत्कृष्ट सामायिक होता है तथा वह शुभ ध्यानका कारण होता है ॥७३१॥

A आत्मामें लीन होना सर्वोत्कृष्ट सामायिक—

दर्शनज्ञानचरित्रतपोभिः सह चात्मनः । ऐक्यं यमन भवार्थं यत्तत्सामायिकं महत् ॥७३२॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र और सम्यक् तपश्चरणके साथ-साथ आत्मा की एकता हो जाना आत्मामें अत्यंत लीन हो जाना सर्वोत्कृष्ट सामायिक कहलाता है ॥७३२॥

B सर्वोत्कृष्ट सामायिक का स्वरूप—

निजिताखिल धोरोपसर्गतीव्रपरीषहैः । व्रतैः समितिगुप्तार्चैः सर्वैश्च नियमैर्यमैः ॥७३३॥

सुभावनाखिलैः सारैः शुभध्यानैरलंकृतः । यः सर्वत्र समारूढः सोऽत्र सामायिको महान् ॥७३४॥

अर्थ—जो महापुरुष समस्त घोर उपसर्ग और तीव्र परिषर्होंको जीत लेता है, जो व्रत, समिति, गुप्ति, समस्त यम, नियम, सारभूत समस्त भावनायें और शुभ ध्यान से सुशोभित रहता है जो सर्वत्र निश्चल बना रहता है वह उत्कृष्ट सामायिक करने वाला कहा जाता है ॥७३३-७३४॥

परम ज्ञानी की सामायिक—

समन्वयं स्वरूपं च यो जानाति स बुद्धिमान् । द्रव्याणां तद्गुणानां च पर्यायानां जिनागमे ॥
हेयोपादेयतत्त्वं च कारणं बन्ध मोक्षयोः । तस्य सामायिकं विद्धि परमं ज्ञानिनो भुवि ॥७३६॥

अर्थ—जो बुद्धिमान पुरुष स्वपर पदार्थों के संबंध के स्वरूप को जानता है जिनागमके अनुसार द्रव्य गुण और पर्यायोंके स्वरूपको उनके संबंध के स्वरूपको जानता है, हेय और उपादेय तत्त्वों को जानता है और बंध मोक्षके कारणों को जानता है उस परम ज्ञानी के सामायिक होता है ॥७३५-७३६॥

उत्तम सामायिक करनेवाले का स्वामी—

धिरतः सर्वसाधनान्निजिताक्षमना महान् । महातपा स्थिगुप्तो यः सामायिकी स उत्तमः ॥

अर्थ—जिसने समस्त पापों का त्याग कर दिया है, जिसने इन्द्रिय और मन को जीत लिया है, जो उत्कृष्ट है, महा तपस्वी है और तीनों गुप्तियों को पालन करने वाला है वह उत्तम पुरुष सामायिक करनेवाला कहा जाता है ॥७३७॥

उसी पुरुष के श्रेष्ठ सामायिक ठहर सकता है—

यस्य सन्निहितोत्तात्मा संयमे नियमे गुणे । शमे तपसि तस्यैव तिष्ठेत्सामायिकं परम् ॥७३८॥

अर्थ—जिस महा पुरुष का आत्मा संयम में, नियम में, गुणों में, समता में और तपश्चरण में लगा हुआ है उसी पुरुषके श्रेष्ठ सामायिक ठहर सकता है ॥७३८॥

कैसे भाव रखने वाले सज्जन के सामायिक होता है ?

यः समः सर्वभूतेषु त्रसेषु स्थावरेषु च । सादृश्यः स्वात्मनो भावस्तच्च सामायिकं सताम् ॥७३९॥

अर्थ—जो पुरुष समस्त त्रस स्थावर जीवों में समता धारण करता है समस्त जीवों को अपने आत्माके समान मानता है । इसप्रकार के भाव रखने वाले सज्जन के सामायिक होता है ॥७३९॥

किसके सर्वोत्कृष्ट सामायिक होता है ?

रागद्वेषाक्षमोहाद्या विकृति जनयन्ति न । शमार्थं वैमिता यस्य तस्य सामायिकं महत् ॥७४०॥

अर्थ—जिस पुरुष के रागद्वेष इन्द्रियां और मोह आदिक किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं कर सकते, जिसके समता वा शांत परिणामों से रागद्वेषादिक सब शांत हो गये हैं उसके सर्वोत्कृष्ट सामायिक होता है ॥७४०॥

किसके सर्वोत्कृष्ट सामायिक माना जाता है ?

कथायाः क्रोधमानाद्याश्चत्वारो येन निर्जिताः । क्षमामृद्वार्जवासंगगुणैस्तच्छक्तिघातकः ॥७४१॥

हास्याद्याः षट् त्रिवेदाश्च वैराग्यब्रह्म संयमैः । अन्ये दोषाच्च तस्यात्र परं सामायिकं मतम् ॥

अर्थ—जिस महा पुरुष ने क्रोधादिक की शक्तिको घात करनेवाले क्षमा मार्दव आर्जव और आर्किचन्य गुणोंसे क्रोध-मान-माया-लोभ इन चारों कथायों को जीत लिया है तथा वैराग्य ब्रह्मचर्य और संयम से तीनों वेद और हास्यादिक नोकषाय जीत लिये हैं तथा जिसने और भी समस्त दोष जीत लिये हैं उसके सर्वोत्कृष्ट सामायिक माना जाता है ॥७४१-७४२॥

किसके शुभ सामायिक होता है—

आहाराद्याश्चतुः संज्ञाः लेख्यास्तिस्रोऽशुभाभुवि । न यान्ति विकृतिं यस्य तस्य सामायिकं शुभम् ॥

अर्थ—जिस पुरुष के आहार आदिक चारों संज्ञायें तथा तीनों अशुभ लेख्याएं कभी विकार भावको प्राप्त नहीं होतीं उसीके शुभ सामायिक माना जाता है ॥७४३॥

किसके उत्कृष्ट सामायिक होता है—

यस्य पञ्चेन्द्रियादान्तास्तपोभिःस्पर्शनादयः । शक्ताःकतुर्विकारं न तस्य सामायिकं महत् ॥७४४॥

अर्थ—जिसके तपश्चरण के बल से स्पर्शनादिक पांचों इन्द्रियां शांत हो गई हैं और कभी भी विकार उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकतीं उसी के उत्कृष्ट सामायिक होता है ॥७४४॥

अशुभध्यानों को छोड़कर शुभध्यान वाला ही श्रेष्ठ सामायिक करता है—

दुर्ध्यानान्यासं रौद्राणि योष्यौ नित्यं परित्यजेत् । प्रशस्तध्यानमालम्ब्य तस्य सामायिकं परम् ॥

अर्थ—जो पुरुष धर्मध्यान वा शुक्लध्यानको धारण कर चारों प्रकारके आर्त-ध्यान और चारों प्रकार के रौद्रध्यानों का त्याग कर देता है उसी के श्रेष्ठ सामायिक कहा जाता है ॥७४५॥

मनको जीतने वाले के उत्तम सामायिक होता है—

ध्यानं चतुर्विधं धर्म्यं शुक्लं ध्यायति योन्महम् । जित्वा मनो बलात्तस्य तिष्ठेत्सामायिकोत्तमम् ॥

अर्थ—जो पुरुष अपनी शक्ति से मनको जीतकर चारों प्रकार के धर्मध्यानको और चारों प्रकार के शुक्लध्यान को प्रतिदिन धारण करता है उसीके उत्तम सामायिक होता है ॥७४६॥

योगियों को प्रतिदिन परम सामायिक करना चाहिये—

सर्वत्र समताभाव कारणाय जिनेर्मतः । योगिनां परमो नित्यं सामायिकाख्यसंयमः ॥७४७॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने योगियोंके लिये सर्वत्र समता भाव धारण करने के लिये प्रतिदिन परम सामायिक करना और प्रतिदिन इन्द्रिय संयम पालन करना ही बतलाया है ॥७४७॥

गृहस्थों के सामायिक का महत्त्व—

सर्वसावद्ययोगादिबर्जनाय शुभाप्तये । सामायिकं गृहस्थानां प्रोक्तं धर्मशमाय च ॥७४८॥

अर्थ—गृहस्थों को समस्त पाप्मरूप योगों का त्याग करने के लिये, शुभ की प्राप्ति के लिये तथा धर्म और कल्याण की प्राप्ति के लिये एक सामायिक ही बतलाया है ॥७४८॥

श्रावकों का शुभ सामायिक—

मत्वेति श्रावकं नित्यं कार्यं सामायिकं शुभम् । दिनमध्ये त्रिवारं च धर्मध्यानाय शर्माणे ॥७४९॥

अर्थ—यही समझकर श्रावकों को धर्मध्यान की प्राप्ति और आत्मकल्याण करने के लिये प्रतिदिन दिनमें तीन बार शुभ सामायिक करना चाहिये ॥७४९॥

कौन गृहस्थ भार्वालिगी मुनि के समान माना जाता है ?

यतः कुर्वन् गृही नूनं शुद्धं सामायिकं परम् । सर्वत्र समतापन्नो भार्वालिगी यतिर्भवेत् ॥७५०॥

अर्थ—क्योंकि सर्वत्र समता भाव धारण करता हुआ और शुद्ध उत्कृष्ट सामायिक करता हुआ गृहस्थ अवश्य ही भार्वालिगी मुनि के समान माना जाता है ॥७५०॥

भार्वलिगी गृहस्थ की कथा—

अरण्ये श्रावकः कश्चित् धीरस्त्यक्तवपुर्महान् । निष्कंपं ध्यानमालम्ब्य व्यथात्सामायिकं परम् ॥

शरेश केनचिद्विद्धो मृगस्तस्य पदान्तरे । प्रविश्यातः कियत्कालं स्थित्वा वेदनया मृतः ॥७५२॥

तथापि न मत्तागेषो बलत्सामायिकात्सुधीः । अस्पागमे कथा ज्ञेया गृहिणो भार्वलिगिणः ॥७५३॥

अर्थ—कोई एक धीरवीर महा श्रावक अपने शरीर से समत्व का त्याग कर

किसी वनमें अचल और ध्यानमें लीन होकर उत्कृष्ट सामायिक करने के लिये खड़ा था । उसी समय किसी के बाणसे घायल हुआ कोई हिरण उस श्रावकके दोनों पैरों के बीच में आ पड़ा । उस समय वह हिरण अत्यंत दुःखी होकर चिल्ला रहा था और उसी वेदना से वह थोड़ी ही दूर में वहीं मर गया तथापि वह बुद्धिमान श्रावक अपने सामायिकसे रंचमात्र भी चलायमान नहीं हुआ । इस भावलिङ्गी गृहस्थकी कथा शास्त्रों में लिखी है वहां से जान लेनी चाहिये ॥७५१-७५३॥

२२ तीर्थंकरों ने 'छेदोपस्थापना' का उपदेश क्यों नहीं दिया—

अजिताघाश्व पार्श्वान्ता द्वाविंशति जिनेश्वराः । दिशन्ति मुक्तये वाण्या सामायिकसंयमम् ॥

छेदोपस्थापनं नैव यतोमीषा महाधियः स्वभावेन सुशिष्योः स्युः निष्प्रमादा जितेन्द्रियाः ॥७५५॥

अर्थ—भगवान् अजितनाथ से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ तक बाईस तीर्थंकरों ने अपनी दिव्यध्वनि से मोक्ष प्राप्त करने के लिये एक सामायिक नामके संयम का ही उपदेश दिया है । इन बाईस तीर्थंकरों ने छेदोपस्थापना नामके संयम का उपदेश नहीं दिया है । इसका भी कारण यह है कि इन बाईस तीर्थंकरों के श्रेष्ठ शिष्य स्वभाव से ही महा बुद्धिमान थे, प्रमाद रहित थे और जितेन्द्रिय थे ॥७५४-७५५॥

प्रथम तीर्थंकर तथा अंतिम तीर्थंकर का उपदेश—

सामायिकं च छेदोपस्थापनं संयमं परम् । आह तु ध्वनिना मुक्तये ह्याद्यान्ति मज्जिनाधियो ॥७५६॥

अर्थ—प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव ने तथा अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी ने अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के लिये सामायिक और छेदोपस्थापना इन दोनों संयमों का उपदेश दिया है ॥७५६॥

इसका कारण—

यतः श्री वृषभेशस्य सुशिष्या ऋजुबुद्धयः । सम्मतेः काल बोधेण सर्वोषामंदबुद्धयः ॥७५७॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि भगवान् वृषभदेव के शिष्य सरल बुद्धिको धारण करनेवाले थे और भगवान् महावीर स्वामी के शिष्य कालबोध से सर्वोष मंद बुद्धि को धारण करनेवाले थे ॥७५७॥

उसी कारण का और अधिक विस्तार—

ऋजुमंदस्वभावास्ते योग्यायोग्यव्यतिक्रमम् । व्यक्तं सब मज्जानन्ति विस्तरोक्त्या विनाभुवि ॥

तस्माच्चकारणात्तोद्वाबुधतुः श्रीजिनाधिपो । अनुग्रहाय शिष्याणां संयमो द्वौ शिवाप्तये ॥७५८॥

अर्थ—स्वभाव से ही सरल बुद्धि और संयुक्त बुद्धि को धारण करने के कारण वे लोग बिना विस्तार से बतलाये योग्य अयोग्य मुनियों के पूर्ण चरित्रको व्यक्तीति से नहीं जानते थे । इसी कारण से भगवान् वृषभदेव और भगवान् महावीर स्वामीने उन शिष्यों का अनुग्रह करने के लिये मोक्षकी प्राप्ति के लिये दोनों प्रकारके संयम बतलाये हैं ॥७५८-७५९॥

सामायिक में सब अन्तर्भूत हैं -

आख्यातुं किल विज्ञातुं पृथग्भावयितुं तथा । महाव्रतानि पञ्चैव गुणतयः समितीस्तथा ॥७६०॥
तेपि सर्वे जिनेशानां शिष्याः शुद्धिश्चिवाप्तये । अरन्तिसर्वदोत्कृष्टं शुद्धं सामायिकं शुभम् ॥७६१॥

अर्थ—कहने समझने और अलग अलग पालन करने के लिये महाव्रत पांच हैं गुणतयां तीन हैं और समितियां पांच हैं । भगवान् जिनेन्द्रदेवके शिष्य आत्म शुद्धि और मोक्ष प्राप्त करने के लिये इनका पालन करते हैं तथापि वे शुभ शुद्ध और सर्वोत्कृष्ट सामायिक को अवश्य करते हैं क्योंकि सामायिक में सब अन्तर्भूत हैं ॥७६०-७६१॥

सामायिक का बल—

सामायिकबलाद्योगीक्षणार्द्धेन क्षिपेच्चयत् । कर्मजालं महत्तत्र तपसा वर्षकोटिभिः ॥७६२॥

अर्थ—मुनिराज इस सामायिक के बलसे आधे क्षणमें जितने कर्मों को नष्ट कर डालते हैं उतने महा कर्म करोड़ों वर्षों के तपश्चरण से भी नष्ट नहीं हो सकते ॥७६२॥

यह परम संवर का हेतु है—

सामायिकबलेनासौ करोति संवरं परम् । कर्मणां विधिना ध्यानी महतीं मुनिजंराम् ॥७६३॥

अर्थ—ध्यान करनेवाला योगी इस सामायिक के बलसे परम संवर करता है और विधि पूर्वक कर्मों को महा निजंरा करता है ॥७६३॥

सामायिक की सामर्थ्य से ध्यान धारणादि—

सामायिकस्य सामर्थ्याद्विधत्ते मुनिपुंगवः । ध्यानानि ते प्रजायेते केवलज्ञानदर्शने ॥७६४॥

अर्थ—मुनिराज इस सामायिक की सामर्थ्य से ध्यान धारण करते हैं और ध्यानसे केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त करते हैं ॥७६४॥

पांचों इन्द्रियों व मनको वशमें करने के लिये यह सामायिक रस्सी के समान है—

सामायिकं जिनाः प्राहुः पञ्चाक्षमुगंधक्षणे । पाशं च शृङ्खलातुल्यं मनोमर्कटरोधने ॥७६५॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने पाँचों इन्द्रियरूपी पशुओंको बांधने के लिये इस सामायिक को रस्सी के समान बतलाया है और मनरूपी बंदर को रोकने के लिये इसी सामायिक को सांकल के समान बतलाया है ॥७६५॥

यह सामायिक सर्पको कीलने के लिये महामंत्र भी है—

सामायिकमहामंत्रं संसाररोगकीलने । बुधा जगुश्च साधूनां कर्मरभ्येनलोपमम् ॥७६६॥

अर्थ—विद्वान् लोग संसाररूपी सर्पको कीलने के लिये (वशमें करने के लिये) इस सामायिक को महामंत्र बतलाते हैं तथा साधुओं के कर्मरूपी वनको जलाने के लिए अग्नि के समान कहते हैं ॥७६६॥

सामायिक रूपी अमृत पानका फल—

सामायिक सुधापानं ये कुर्वन्ति निरन्तरम् । सुद्धनिस्तेचिरेणस्युर्जन्ममृत्युविधातिगाः ॥७६७॥

अर्थ—जो मुनि इस सामायिक रूपी अमृत पानको निरन्तर करते रहते हैं वे जन्म मरणरूपी विषय से छूट कर सदा के लिये सुखी हो जाते हैं ॥७६७॥

सामायिक के संस्कारों का फल—

संचोयते परं धर्मं स्वर्गमुक्तिवशीकरम् । शुद्धं च क्षीयते पापं सामायिकान्तचेतसाम् ॥७६८॥

अर्थ—जिनके हृदयमें सामायिक की वासना भरी हुई है उनके पाप सब नष्ट हो जाते हैं, और अत्यन्त शुद्ध तथा स्वर्ग मोक्ष को वश करनेवाला परम धर्म संचित होता है ॥७६८॥

मोक्ष लक्ष्मी स्वयं भुक्ती है—

मुक्तिश्रीः स्वपद्मागत्यालक्ष्यासामायिकात्मनः । वृणोत्यहो श्रियासाढाकाकषादेवयोधिताम् ॥

अर्थ—सामायिक करनेवाले पुरुषों की मोक्षरूपी लक्ष्मी समस्त लक्ष्मियों के साथ आसक्त होकर स्वयं आकर स्वीकार करती है फिर भला देवियों की तो बात ही क्या है ॥७६९॥

सामायिक के प्रताप से श्रावक की समृद्धि—

सामायिकेन सागरा हिंसाविपञ्चपातकान् । हृत्षोपाज्य परं धर्मं याति स्वर्गज्ज्योदशम् ॥७७०॥

अर्थ—इस सामायिक के प्रभाव से श्रावक भी हिंसादिक पाँचों पापोंको नष्ट कर और परम धर्मको संचित कर सोलहवें स्वर्ग तक पहुँचते हैं ॥७७०॥

अभय जीव भी इसके प्रताप से ऊर्ध्व सर्वेयक तक क्यों जाता है ?

द्रव्यसामायिकेनात्राभयोजिनेन्द्रवेषधृत् । महातपाःसुशास्त्रज्ञःऊर्ध्व सर्वेयकं व्रजेत् ॥७७१॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव के वेषको धारण करनेवाला (मुनि लिंग धारण करनेवाला) महा तपस्वी और अनेक शास्त्रों का जानकार अभय जीव भी इस द्रव्य सामायिक के प्रभाव से ऊर्ध्व सर्वेयक तक पहुंचता है ॥७७१॥

भरत चक्रवर्ती का दृष्टांत—

बह्वारम्भोद्भूतं पापं क्षिपित्वा प्रथमं महत् । शुद्धसामायिकेनैव निदयागर्हणेनच ॥७७२॥

शिक्षकमर्मादिमश्चकी भरतेशानुसंयमम् । गृहीत्वा ध्यानमालम्ब्य शुक्लं कर्मवदानलम् ॥७७३॥

घटिकाद्वयमात्रेण हत्वा घातिचतुष्टयम् । साद्धर्मेवाचर्नेविध्यं प्रापानन्तचतुष्टयम् ॥७७४॥

अर्थ—देखो प्रथम चक्रवर्ती महाराज भरत महारंभसे उत्पन्न हुए प्रतिदिन के महापापों को शुद्ध सामायिक के द्वारा ही नष्ट करते थे, तथा निदा गर्हा के द्वारा बहुत से कर्मों को नष्ट करते थे । तदनंतर उन्होंने संयम धारण कर कर्मरूपी वन को जलाने के लिये अग्निके समान ऐसे शुक्ल ध्यानको धारण किया था और दो ही घड़ीमें चारों घातिया कर्मों को नष्ट कर देव और इन्द्रों के द्वारा होनेवाली पूजाके साथ साथ दिव्य अनंत चतुष्टय प्राप्त कर लिया था ॥७७२-७७४॥

योगियों के लिये, सामायिक से बढ़कर और कोई उपयुक्त साधन नहीं—

बहुनोक्तेन कि साध्यं नकिचित्शिवसिद्धये । सामायिकेन सर्वशं विद्यते योगिनांक्वचित् ॥७७५॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या लाभ है थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि योगियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस सामायिक के समान और कोई पदार्थ किसी स्थान में भी नहीं है ॥७७५॥

बुद्धिमानों को प्रयत्न पूर्वक सदा परम शुद्ध सामायिक करना चाहिये—

ज्ञात्वेत्यस्यात्रमाहात्म्यमुत्थाय बुधसत्तमाः । योगशुद्धिं विधाय प्रतिलेख्यां घरातलम् ॥७७६॥

स्वहस्तौ कुङ्कुमलीकृत्य कालेकाले शिवान्तये । कुर्वन्तु सर्वदा यत्नात् शुद्धं सामायिकं परम् ॥

अर्थ—इसप्रकार इस सामायिक के माहात्म्य को समझ कर श्रेष्ठ बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये उठकर खड़ा होना चाहिये तथा मन वचन कायको शुद्ध कर, अपने शरीर और पृथ्वी को देख शोधकर अपने दोनों हाथ जोड़कर सामायिक के प्रति समय पर प्रयत्नपूर्वक सदा परम शुद्ध सामायिक करना चाहिये ॥७७६-७७७॥

अपने कर्मों का नाश करने के लिए शुद्ध सामायिक करो—

अखिलगुणसमुद्रं भुक्तिसौधाग्रमार्गं निरुपमसुखहेतुं धर्मबीजं विशुद्धम् ।

दुरित तिमिरभानुं धोधनाः कर्महान्यै कुरुत हृदयशुद्धया शुद्धसामायिकं भोः ॥७७८॥

अर्थ—यह सामायिक समस्त गुणों का समुद्र है, मोक्षरूपी राजभवनका मुख्य मार्ग है, मोक्षरूपी अनुपम सुखका कारण है, धर्मका बीज है, अत्यन्त विशुद्ध है, और पापरूपी अंधकार को दूर करने के लिये सूर्यके समान है । इसलिये हे बुद्धिमान् लोगों अपने कर्मों को नाश करने के लिये शुद्ध हृदयसे शुद्ध सामायिक धारण करो । प्रतिदिन नियम पूर्वक इसको करते रहो ॥७७८॥

दूसरे स्तव का स्वरूप—

इमां सामायिकस्थादौ नियुक्तिं प्रतिपाद्यते । समासेन ततो वक्ष्ये नियुक्तं तत्स्तवस्य च ॥७७९॥

अर्थ—इसप्रकार पहले सामायिक का स्वरूप कहा अब आगे संक्षेप से दूसरे स्तव वा स्तुति नामके आवश्यक का स्वरूप कहते हैं ॥७७९॥

चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति को स्तवन आवश्यक कहते हैं—

चतुर्विंशति तीर्थेषां त्रिजगत्स्वाभिनां च यत् । सार्धं नीमादिभिः षड्भिः सारं लोकोत्तमैर्गुणैः ॥

स्तवनं क्रियते दक्षैः प्रणामं भक्तिपूर्वकम् । भावार्चनं महदुत्थानं सस्तवः शिखरमंदः ॥७८१॥

अर्थ—भगवान् चौबीस तीर्थंकर तीनों लोकों के स्वामी हैं उनके सार्धक नामों के द्वारा वा सारभूत लोकोत्तम गुणों के द्वारा प्रणाम और भक्ति पूर्वक छह प्रकार से जो चतुर पुरुषोंके द्वारा स्तवन किया जाता है उनकी भावपूजा की जाती है वा उनका महा ध्यान किया जाता है उसको मोक्ष सुख देनेवाला स्तवन कहते हैं ॥७८०-७८१॥

स्तवन भी छह प्रकार का है—

स नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालो जिनोद्भूतः । भावस्थेति निक्षेपः स्तवस्य षड्विधः स्मृतः ॥७८२॥

अर्थ—वह स्तवन भी नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्रकाल भावके भेदसे छह प्रकार है । यह छह प्रकार का स्तवन का निक्षेप है और भगवान् जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ है ॥७८२॥

स्तवन का फल—

तीर्थे शानममाश्रोक्षरणेष्वचसतां द्रुतम् । विघ्नजालानि पापानि प्रलीयन्ते रुजादयः ॥७८३॥

अर्थ—चौबीसों तीर्थंकरों के नाम मात्रके उच्चारण करने से सज्जनों के सब

विघ्न नष्ट हो जाते हैं पाप नष्ट हो जाते हैं और रोगादिक सब नष्ट हो जाते हैं ।
॥७८३॥

तीर्थकरों का नाम उच्चारण करने का महाफल—

जायते च परं पुण्यं जिनचक्रादिसूतिवम् । धर्माद्यर्थाश्च सिद्ध्यन्ति लोकस्तेत्रिजगच्छ्रियः ॥ ७८४ ॥

अर्थ—इसके सिवाय तीर्थकरों का नाम उच्चारण करने से तीर्थकर चक्रवर्ती आदि की विभूति को देनेवाला पुण्य प्राप्त होता है, धर्मादिक चारों पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं और तीनों लोकों की लक्ष्मियां प्राप्त हो जाती हैं ॥७८४॥

नाम स्तवन का स्वरूप—

इत्यादि नाममहात्म्य वर्णनैर्वा विधीयते । स्तुति नामभिश्चाष्टाश्रयसहस्रप्रणामकैः ॥७८५॥

वर्तमानघटुविशति तीर्थेश्वर नामभिः । स्तवः सकथ्यते सद्भिर्धर्ममूलोऽशुमान्तकः ॥७८६॥

अर्थ—इसप्रकार भगवान् के नामों का माहात्म्य वर्णन कर जो स्तुति की जाती है अथवा एक हजार आठ नाम पढ़कर जो स्तुति की जाती है उनको एक हजार आठ प्रणाम किये जाते हैं अथवा वर्तमान चौबीस तीर्थकरों के नाम पढ़कर जो स्तुति की जाती है उसको धर्मका मूल और शुभ देनेवाला नाम स्तवन कहते हैं ॥७८५-७८६॥

स्थापना स्तवन का स्वरूप—

कृत्रिमाकृत्रिमाणं च मूर्तीनां तीर्थकारिणाम् । पूजास्तुतिनमस्कारैः क्षीयन्ते विघ्नराशयः ॥

सतां सम्पद्यते पुण्यं परं शर्मककारणम् । विश्वाभ्युदयकल्याणा जायन्ते च पदेपदे ॥७८८॥

इत्यादिस्थापनास्तुर्या तीर्थेषांस्तवनमथयत् । शिवाय क्रियते विद्विःसस्थापनाभिधःस्तवः ॥

अर्थ—इस संसार में तीर्थकरों की जो कृत्रिम वा अकृत्रिम प्रतिमायें हैं उनकी पूजा स्तुति वा नमस्कार करने से सज्जनों के समस्त विघ्न नष्ट हो जाते हैं । परम कल्याणोंका कारण ऐसा पुण्य प्राप्त होता है और क्षण क्षणमें सब तरहके अभ्युदय और कल्याण प्राप्त होते हैं इसप्रकार विद्वान् लोग मोक्ष प्राप्त करने के लिये स्थापना निक्षेप से स्थापित की हुई तीर्थकर की प्रतिमा को स्तुति करते हैं उसको स्थापना स्तव कहते हैं ॥७८७-७८८॥

द्रव्य स्तवन का स्वरूप—

द्विष्योदारिकवेहानां कोटीनेभ्योऽखिलाहंताम् । विश्वमेवप्रियाणां सौम्यानामधिकतेजसाम् ॥

श्वेतपोतादिसवर्ण स्तवनं यस्तुकांक्षतिभिः । मिषपाद्यते च शास्त्रज्ञैः सद्ब्रह्मस्तव एवहि ॥७८९॥

अर्थ—भगवान् तीर्थंकर परमदेव दिव्य औदारिक शरीरको धारण करनेवाले हैं संसार भरके समस्त नेत्रों को प्रिय हैं अत्यंत सौम्य हैं और करोड़ों सूर्योंसे भी अधिक तेज को धारण करते हैं ऐसे तीर्थंकरों के अत्यंत मनोहर श्वेत पीत आदि शरीर के रूप का वर्णन कर उनकी स्तुति करना अथवा अनेक शास्त्रों को जानने वाले जो ज्ञानी पुरुष इसप्रकार की स्तुति करते हैं उसको द्रव्य स्तवन कहते हैं ॥७६०-७६१॥

क्षेत्र स्तवन का स्वरूप—

कैलाशचलसम्मोहोर्जयतादिशभात्मनाम् । निर्वाणक्षेत्रभूमौनामहंतागुणवर्णनः ॥७६२॥

पूजास्तुति नमस्कारैर्यन्माहात्म्यप्रशंसनम् । क्षेत्रस्तवः सविज्ञेयः पुण्यनिर्वाणहेतुकत् ॥७६३॥

अर्थ—भगवान् अरहंतदेवके गुणों का वर्णन कर कैलाश पर्वत, सम्मोदशिखर, गिरनार आदि अरहंतों के शुभ निर्वाण भूमियों की पूजा स्तुति करना उनको नमस्कार करना और उनका माहात्म्य प्रगट करना क्षेत्र स्तवन कहलाता है । यह क्षेत्र स्तवन भी पुण्य और निर्वाण का कारण है ॥७६२-७६३॥

काल स्तवन का स्वरूप—

पंच कल्याणकैःसारं स्वर्गावतरणादिभिः । देवेन्द्रादिकृतेभूत्यामहापुण्य निबन्धनः ॥७६४॥

स्तुतिर्वाक्यते तज्ज्ञः कल्याणगुणभाषणः । सर्वेषां तीर्थकर्तृणां कालस्तवः स एव च ॥७६५॥

अर्थ—विद्वान् लोग जो समस्त तीर्थंकरों के स्वर्गावतार आदि पांचों कल्याणों के गुणों का वर्णन करते हैं इन्द्रादिक देवों ने जिस विभूतिके साथ कल्याणोत्सव मनाया है उसका वर्णन करते हैं उन कल्याणोत्सवों की महा पुण्य का कारण बतलाते हैं और सारभूत कहते हैं इसप्रकार जो पांचों कल्याणों के गुणों का वर्णन करते हैं उसको कालस्तवन कहते हैं ॥७६४-७६५॥

गुणों को देनेवाला भाव स्तवन का स्वरूप—

केवलज्ञानवृष्ट्याद्या गुणा अस्तातिगाः पराः । विद्यन्तेयेहंतां स्तोतुं तान्क्षमोमादृशः कथम् ॥

इत्यादि सद्गुणानां च भाषणं यद्विधीयते । तद्गुणाय बुधैर्भावस्तवः सत्तद्गुणप्रदः ॥७६७॥

अर्थ—“भगवान् अरहंतदेव के केवलज्ञान केवलवर्णन आदि अनंत गुण हैं उन सबकी स्तुति करने के लिये मेरे समान बुद्धिहीन पुरुष कभी समर्थ नहीं हो सकते” इस प्रकार विद्वान् लोग उन गुणों की प्राप्ति के लिये जो अरहंतदेव के गुणों का निरूपण करते हैं वह उन गुणों को देनेवाला भावस्तवन कहलाता है ॥७६६-७६७॥

वे भगवान् मेरे लिये रत्नत्रय की प्राप्ति करें—

लोकोद्योतकरालोके विश्वतत्त्वप्रकाशकाः । धर्मतीर्थकराः सर्वज्ञान तीर्थविधायिनः ॥७६८॥

अर्हन्तो मुक्तिभर्तारःपञ्चकल्याणभाषिनः । शरण्या भवभीतानामनन्तगुणसागराः ॥७६९॥

मङ्गमूर्तिमया ध्येयाः कीर्तनीयाःजगत्सत्ताम् । वन्दनीया महान्तश्च पूज्यालोकोत्तमाःपराः ॥८००॥

दिव्यधीभूषितानिह्या निस्पृहाःस्तवनावपि । वैद्योन्निकरमध्यस्थाः परब्रह्मवर्ताक्रिता ॥८०१॥

विश्वभक्त्यहिताहुक्ताः सार्यवाहाःशिवाध्वनि ॥८०२॥

मुक्ति भुक्त्याविवातारो धर्मार्थकाममोक्षदा । विश्वविघ्नाद्यहन्तारो भान्तिकातां न संशयः ॥

इत्याद्यगुणौघैर्पूर्ण जिनधरा भुवि । ते मे बोधि समाधिश्चदिशन्तु कीर्तितानुताः ॥८०४॥

अर्थ—भगवान् अरहन्तदेव इस लोकमें समस्त लोक का उद्योत करनेवाले हैं, समस्त तत्त्वों को प्रकाशित करनेवाले हैं, धर्मके तीर्थकर हैं, समस्त ज्ञान और तीर्थोंकी प्रवृत्ति करनेवाले हैं, मोक्षके स्वामी हैं, गर्भादिक पंच कल्याणों को प्राप्त हुए हैं, संसार से भयभीत हुये मनुष्यों को शरणभूत हैं, अमन्तगुणों के समुद्र हैं, समस्त संज्ञों की मूर्ति-स्वरूप हैं, तथा समस्त जगत के सज्जनों को ध्यान करने योग्य और स्तुति करने योग्य हैं । वे भगवान् वन्दनीय हैं, महान् हैं, पूज्य हैं, लोकोत्तम हैं और सर्वोत्कृष्ट हैं । वे भगवान् सदा ही दिव्य विभूतियों से विभूषित रहते हैं, अपने शरीर से भी निस्पृह हैं, अनेक देवियों के मध्यमें विराजमान रहते हुए भी परम ब्रह्मचर्य व्रतसे सुशोभित रहते हैं । वे भगवान् आत्म क्षमा आदि उत्तम गुणोंसे सदा सुशोभित रहते हैं कर्मरूपी शत्रुओं को नाश करनेवाले हैं, समस्त भव्य जीवों का हित करने के लिये सदा तत्पर रहते हैं और मोक्ष मार्गमें वे सदा सहायक रहते हैं । वे भगवान् भक्त पुरुषों को भक्ति और मुक्ति दोनों के देनेवाले हैं, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों को देनेवाले हैं तथा समस्त विघ्नों और पापों को नाश करनेवाले हैं । इसप्रकार वे भगवान् अनेक गुणों के समूहों से परिपूर्ण हैं । उन भगवान् की मैंने यह स्तुति की है तथा उनको नमस्कार किया है इसलिये वे भगवान् मेरे लिये रत्नत्रय की प्राप्ति करें और समाधि की प्राप्ति करें ॥७६८-८०४॥

तीर्थकर तीर्थ कहलाते हैं—

सम्यग्दर्शनसद्ज्ञान चारित्राण्यत्र याति च । परमार्थेन तीर्थानि दुष्कर्ममलनाशनात् ॥८०५॥

तेषां ये च प्रणेताः महद्भिस्त्वेतलं कृताः । तन्मया वा जगन्नाथास्तेऽत्रतीर्थभिवन्त्यहो ॥८०६॥

अर्थ—वास्तव में देखा जाय तो अशुभ कर्मों का नाश रत्नत्रयसे ही होता है,

इसलिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ये ही वास्तव में तीर्थ हैं । इन रत्नत्रय स्वरूप तीर्थों की प्रवृत्ति वे तीर्थंकर ही करते हैं अथवा वे तीर्थंकर रत्नत्रयरूप महा तीर्थों से सुशोभित रहते हैं अथवा वे तीर्थंकर रत्नत्रयमय ही हैं ऐसे तीनों लोकों के स्वामी वे तीर्थंकर तीर्थ कहलाते हैं ॥८०५-८०६॥

भगवान को 'जिन' क्यों कहते हैं ?

जितमोहारिसन्तानाः सतांभोहं जयन्ति ये । ते जिनाःघातिहन्तारःउच्यन्ते तेनहेतुना ॥८०७॥

अर्थ—उन भगवान ने मोहरूपी शत्रुकी समस्त सन्तान जीत ली है अथवा वे भगवान सज्जन पुरुषों के मोहको भी जीत लेते हैं तथा वे भगवान घातिया कर्मों को नाश करनेवाले हैं इसलिये उनको जिन कहते हैं ॥८०७॥

भगवान 'अर्हन्' क्यों कहलाते हैं ?

सर्वान् स्तुतिनमस्कारान् सत्कारादीन्तृणाकिताम् । पंचकल्याणकार्वा च गमनं मुक्तिधामनि ॥
अन्यद्वा मानसम्मानं येनार्हन्ति जितेश्वराः । अर्हन्तस्तेऽत्र कथ्यन्ते ह्यमुनाहेतुनाऽखिलाः ॥८०८॥

अर्थ—अथवा वे भगवान जितेन्द्रदेव मनुष्य और इन्द्रोंके द्वारा की जानेवाली समस्त स्तुतियों के समस्त नमस्कारों के योग्य हैं, पंचकल्याणकों में होनेवाली पूजा के योग्य हैं, मुक्ति स्थानमें गमन करने योग्य हैं तथा और भी संसार में जितना मान सम्मान है सबके वे योग्य हैं इन्हीं सब हेतुओं से वे भगवान अर्हन् कहलाते हैं । ॥८०८-८०९॥

वे मुनियों के द्वारा भी वंदनीय हैं ?

कथ्यन्ते त्रिजगत्पाथःकीर्तनीया न भूतले । ब्रह्माश्चमुनिभिःपैःसन्मुक्तिमार्गं प्रदर्शितः ॥८१०॥

अर्थ—जिन तीर्थंकर परमदेव ने श्रेष्ठ मोक्षका मार्ग दिखलाया है वे भगवान इस संसार में तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा ही प्रशंसनीय नहीं हैं किन्तु मुनियोंके द्वारा भी वंदनीय गिने जाते हैं ॥८१०॥

भगवान केवलदर्शी तथा सर्वदर्शी क्यों कहलाते हैं ?

लोकालोकं समस्तं ये जानन्ति केवलेन च । प्रपश्यन्ति दृशा तस्मात्स्युक्ते केवलिनोऽखिलाः ॥

अर्थ—वे भगवान केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोक अलोक को जानते हैं इसलिये उनको केवली कहते हैं तथा केवल दर्शन के द्वारा वे समस्त लोक अलोक को देखते हैं इसलिये उनको केवलदर्शी वा सर्वदर्शी कहते हैं ॥८११॥

वे भगवान् तीनों लोकों में 'सर्वोत्तम' कहलाते हैं—

मोहदुग्जानचारित्रावरणघातिकर्मभिः । मुक्ता ये तीर्थकर्तारः उत्तमास्ते जगत्रये ॥८१२॥

अर्थ—वे तीर्थंकर परमदेव मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरण और चरित्रावरण (चारित्र्य मोहनीय या अंतराय) इन घातिया कर्मोंसे रहित हैं इसलिये वे भगवान् तीनों लोकों में सर्वोत्तम कहलाते हैं ॥८१२॥

वे भगवान् मेरे लिये समाधि को प्रदान करें—

एवं गुणविशिष्टाये तीर्थनाथा जगत्सुताः । ते मे विशन्तु बोधिं च समाधिं च स्वगुणान् परान् ॥

अर्थ—इसप्रकार अनेक गुणों से सुशोभित और तीनों लोकोंके द्वारा स्तवन किये गये वे भगवान् तीर्थंकर परमदेव मेरे लिये रत्नत्रय तथा समाधि को प्रदान करें तथा अपने अन्य गुणों को भी प्रदान करें ॥८१३॥

उक्त प्रार्थना को निदान नहीं समझना चाहिये—

न स्यादेतन्निदानं हि किं त्वसत्यमुवाह्वयम् । एषा भाषा जिनेन्द्रेण प्रणीता कार्यसिद्धये ॥८१४॥

अर्थ—भगवान् की इसप्रकार की स्तुति करने को “रत्नत्रय समाधि प्रदान करें” इसप्रकार कहने को निदान नहीं समझना चाहिये किन्तु भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कार्य सिद्धि के लिये ऐसी भाषा को अनुभय भाषा कहा है ॥८१४॥

भगवान् के कृतकृत्यपना—

यतस्तैर्यच्चदातव्यं सर्वदुग्बिद्वताधिकम् । हितं धर्मोपदेशादि तद्वत् तैर्जिनैः सताम् ॥८१५॥

अधुना धीमोहास्ते कृतकृत्या जिनाधिपः । न किञ्चिद्ददते लोके विश्वचित्तास्तिगा नृणाम् ॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि भगवान् जिनेन्द्रदेवको भव्य जीवोंके लिये सम्यग्दर्शन, आत्माकी शुद्धता, व्रत हित धर्मोपदेश आदि जो कुछ देना था वह सब कुछ वे भगवान् भव्य सज्जनों को दे चुके । इस समय तो वे भगवान् बीतराग हैं कृतकृत्य हैं जिनेन्द्र हैं और समस्त चित्ताओं से रहित हैं इसलिये वे अब इस संसारमें मनुष्यों को कुछ नहीं देते ॥८१५-८१६॥

भक्त पुरुषों की यह प्रार्थना सफल ही होती है—

अथवा प्रार्थनाव्रथा भक्तिरागभराकिता । सफला भक्तिकानां सद्भर्मार्जनाद्भविष्यति ॥८१७॥

अर्थ—अथवा यों समझना चाहिये कि भगवान् की ऐसी स्तुति करना हमें

रत्नत्रय वेव आदि कहना भक्ति और उनके गुणों के प्रति होनेवाले अनुरागसे भरी हुई प्रार्थना है और श्रेष्ठ धर्मको पालन करने से भक्त पुरुषों की वह प्रार्थना सफल ही होती है ॥८१७॥

भक्त लोगों के मनोरथ सब सिद्ध हो जाते हैं—

यतोभक्त्याहंता पुंसां क्षीयन्तेक्लेशराशयः । सर्व मनोरथासिद्धिमिहासुख व्रजन्ति च ॥८१८॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि भगवान् अरहंतदेव की भक्ति करने से मनुष्योंके समस्त क्लेशों का समूह नष्ट हो जाता है तथा इस लोक और परलोक दोनों लोकों के मनोरथ सब सिद्ध हो जाते हैं ॥८१८॥

प्रशस्त अनुराग रत्नत्रय धर्मको करनेवाला है—

अहंत्सुबीतबोधेष्व्याचार्योपाध्यायसाधुषु । धर्म रत्नत्रयेनर्घ्ये जिनवाक्ये च धर्मिषु ॥८१९॥

यतो जायतेरागः स्वभावेनयो गुणोद्भवः । सप्रशस्तो मतःसद्भिर्वृष्टिज्ञानादिधर्मकृत् ॥८२०॥

अर्थ—बीतराग भगवान् अरहंतदेव में, आचार्य उपाध्याय साधुओं में, रत्नत्रय रूप सर्वोत्कृष्ट धर्म में, जिन वचनों में और धर्मात्माओं में उनके गुणों से उत्पन्न हुआ जो स्वाभाविक अनुराग है उसको सज्जन पुरुष प्रशस्त अनुराग कहते हैं वह प्रशस्त अनुराग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य रूप धर्मको उत्पन्न करनेवाला है । ॥८१९-८२०॥

मत्वेति श्रीजिन्नादीनां भक्तिरागावयोस्त्रिलाः । विश्वार्थसाधका निसं कतंयथा भक्तिकः पराः ॥

अर्थ—यही समझकर भक्त पुरुषों को समस्त अर्थों को सिद्ध करनेवाली भगवान् जिनेन्द्रदेव की भक्ति और उनके गुणों में उत्कृष्ट अनुराग सदा करते रहना चाहिये ॥८२१॥

भगवान् २४ तीर्थंकरों की स्तुति प्रतिदिन करनी चाहिये—

स्तवं कुर्वन्तु तद्वच्चतुविंशतिजिनेशानाम् । सर्वाभ्युदयसंसिद्ध्यै नित्यप्रति मुनीश्वराः ॥८२२॥

अर्थ—इसलिये मुनिराजों को अपने समस्त कल्याणोंकी सिद्धि करने के लिये भगवान् चौबीसों तीर्थंकरों की स्तुति प्रतिदिन सदा करनी चाहिये ॥८२२॥

स्तुति करने की विधि—

प्रतिलेख्य धरांगारींश्चिसप्तशुद्धि विधाय च । स्वकरी संपदो कृत्य स्थित्वा कृत्वा स्थिरी क्रमौ ॥

अङ्गु चांतरितो शक्त्या चतुभिरंगुलमुंदा । मधुरेण स्वरेणैव शुद्धवक्तासरवजः ॥८२४॥

अर्थ—मुनियों को सबसे पहले अपना शरीर और पृथ्वी को शुद्ध कर लेना चाहिये, मनको शुद्ध कर लेना चाहिये फिर अपने हाथ जोड़कर दोनों पैरों को स्थिर रखकर खड़े होना चाहिये । उस समय उनके दोनों पैरोंमें चार अंगुल का अन्तर होना चाहिये और दोनों पैर सीधे रहने चाहिये । फिर प्रसन्न चित्त होकर मधुर स्वरसे शुद्ध और व्यक्त अक्षरों का उच्चारण करते हुए अपनी शक्तिके अनुसार चौबीसों तीर्थंकरों की स्तुति करनी चाहिये ॥८२३-८२४॥

स्तुति का फल—

यतोर्हवगुणराशीनां स्तवनेन बुधोत्तमः । सम्पद्यते तत्समा सर्वगुणाःस्वर्माश्रयायिनः ॥८२५॥

अर्थ—इसका कारण यह है कि भगवान् अरहंतदेवके गुणोंके समूह की स्तुति करने से उत्तम बुद्धिमान पुरुषों को उन गुणों के समान ही स्वर्ग मोक्ष देनेवाले समस्त गुण प्राप्त हो जाते हैं ॥८२५॥

स्तवन करने वालों को प्रशंसनीय पद प्राप्त होते हैं—

कीर्तनेनाखिला कीर्तिस्त्रैलोक्ये च अमेक्षताम् । इन्द्रचक्रि जिनादीनां कीर्तनीयं पदं भवेत् ॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव के गुण कीर्तन करने से सज्जनों की समस्त शुभ कीर्ति तीनों लोकों में भर जाती है तथा इन्द्र चक्रवर्ती और तीर्थंकर के प्रशंसनीय पद प्राप्त हो जाते हैं ॥८२६॥

अरहंतदेवकी भक्ति करने से तीनों लोकमें उच्च पद की प्राप्ति—

सम्पद्यतेऽर्हतां भवत्या सौभाग्यभोगसम्पदा । पूजया त्रिजगत्लोके श्रेष्ठपूज्यपदानि च ॥८२७॥

अर्थ—भगवान् अरहंतदेव की भक्ति करने से समस्त सौभाग्य और भोग संपदाएँ प्राप्त होती हैं तथा अरहंतदेव की पूजा करने से तीनों लोकों में श्रेष्ठ और पूज्य पद प्राप्त होते हैं ॥८२७॥

भगवान् के ध्यान से मुक्ति स्त्री की प्राप्ति—

जितानां ध्यानयोगेन तीर्थंकराविमूतयः । ज्ञायन्ते मुक्तिनार्यामा का वार्ता परसम्पदाम् ॥८२८॥

अर्थ—भगवान् अरहंतदेवका ध्यान करने से मुक्ति स्त्रीके साथ-साथ तीर्थंकर की समस्त विमूतियां प्राप्त होती हैं फिर भला अन्य सम्पदाओं की तो बात ही क्या है ॥८२८॥

सूर्य की प्रभा से अंधकार नष्ट होने का दृष्टांत—

गुणब्रह्ममात्रेण जिनेन्द्राणां क्षयं क्षणात् । याम्ति विघ्नाश्चरोगाद्या यथेनेन तप्तांसि भो ॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्यकी प्रभासे अंधकार सब नष्ट हो जाता है उसीप्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेव के गुणों को ग्रहण करने से क्षणभर में ही समस्त विघ्न नष्ट हो जाते हैं और समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं ॥८२६॥

भगवान् के गुणों में अनुरागादि करना चाहिये—

जास्त्रेति यतयो नित्यं सद्गुणाय जिनेशिताम् । प्रयत्नेन प्रकुर्वन्तुरागभक्तिस्तवादिकान् ॥८२७॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को भगवान् अरहंतदेव के गुण प्राप्त करने के लिये बड़े प्रयत्न के साथ अज्ञान अरहंतदेव के गुणों में अनुराग, उनकी भक्ति और उनकी स्तुति आदि करनी चाहिये ॥८२७॥

तीर्थकरों के समस्त गुणों की प्राप्ति होती है—

जिनवरगुणहेतुं दीपबुध्यानि शत्रुं सकलसुखनिधानं ज्ञानविज्ञानमूलम् ।

परश्चिमलगुणौघैस्तद्गुणधामसिद्ध्यै कुरुत बुधजनानित्यं स्तवं तीर्थभाजाम् ॥८२८॥

अर्थ—भगवान् तीर्थकर परमदेव का स्तवन उनके गुणोंकी प्राप्ति का कारण है, समस्त बोध और अशुभ ध्यानों को नाश करनेवाला है समस्त सुखों का निधान है और ज्ञान विज्ञानका मूल कारण है । इसलिये बुद्धिमान् पुरुषों को तीर्थकरों के समस्त श्रेष्ठ गुणों को सिद्ध करने के लिये उनके निर्मल गुणोंका वर्णन कर उनकी स्तुति सदा करते रहना चाहिये ॥८२८॥

वन्दना नामक आवश्यक का स्वरूप—

विश्वेषां तीर्थकर्तृणां निर्दोष्येवं स्तवं ततः । हितायैवान्ययोवक्ष्ये वन्दनां मुक्तिमातृकाम् ॥८२९॥

अर्थ—इसप्रकार समस्त तीर्थकरोंकी स्तुति का स्वरूप कहा अब आगे अपना और दूसरों का कल्याण करने के लिये मोक्ष की जननी ऐसी वन्दना का स्वरूप कहते हैं ॥८२९॥

वन्दना आवश्यक का विशेष विवरण—

एकतीर्थकृतः सिद्धाचार्यपाठकयोगिनाम् । साधूनां च सुनामार्चाभ्यान्भक्त्याविभिरक्ष यत् ॥

गुणधामेनमस्तोत्रं कृतकसंविधीयते । प्रत्यहं गुणिभिर्भुक्त्यै वन्दनावश्यकं हि तत् ॥८३०॥

अर्थ—गुणी पुरुष मोक्ष प्राप्त करने के लिये किसी एक तीर्थकर की सिद्ध,

आचार्य, उपाध्याय और साधुओं का नाम उच्चारण करते हैं ध्यान और भक्तिके द्वारा तथा उनके गुण वर्णन करके प्रतिदिन उनकी पूजा करते हैं उनको नमस्कार करते हैं उनकी स्तुति करते हैं और कृतिकर्म करते हैं उसको बंदना नाम का आवश्यक गुण कहते हैं ॥८३३-८३४॥

इसके छह भेदों का उल्लेख—

नामावस्थापना द्रव्यक्षेत्रं कालः शुभाश्वितः । भावः षडतिनिक्षेपा बंदनायाजिर्नमता ॥८३५॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने उस बंदना के भी नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्रकाल और भावरूप निक्षेपों के द्वारा छह भेद बतलाये हैं ॥८३५॥

नाम वन्दना का स्वरूप—

एकाहंते न सिद्धन्तं तुरीयां पञ्चदशमनाम् । साधूनां च मुदानामोच्चरणेनामिसम्भवं ॥८३६॥

गुणधर्मैः सदा स्तोत्रं क्रियते यच्छिवाप्तये । सा नामबंदनाजेया नृतिपूर्वा जगद्धिता ॥८३७॥

अर्थ—किसी एक तीर्थंकर का, सिद्धों का आचार्यों का उपाध्यायों का और साधुओंका प्रसन्नता पूर्वक नाम उच्चारण करना उनके नाम में होनेवाले गुणोंका वर्णन करना वा मोक्ष प्राप्त करने के लिये उनकी स्तुति करना नाम बंदना कहलाती है । यह नाम बंदना नमस्कार पूर्वक ही होती है और संसार भर का हित करनेवाली है । ॥८३६-८३७॥

स्थापना बंदना नामका आवश्यक का स्वरूप—

एकाहंदिहिसर्वेषां भक्तिभावभरांकितैः । स्तूयन्ते प्रतिमा यत्र पुण्याविकलभाषणैः ॥८३८॥

तद्भूक्त्यर्था प्रणामावीनांधर्मार्थाविसाधनम् । स्थापनास्थं जिनेः प्रोक्तं बंदनावश्यकं हि तत् ॥

अर्थ—अलग अलग तीर्थंकरों की अलग अलग प्रतिमाओं की अत्यन्त भक्ति और अनुराग के साथ स्तुति करना इसप्रकार सब तीर्थंकरों की प्रतिमाओं की स्तुति करना तथा भक्तिपूर्वक उनकी पूजा, उनको प्रणाम आदि करने से जो पुण्य प्राप्त होता है उसका निरूपण करना स्थापना बंदना नामका आवश्यक गुण है यह गुण धर्म अर्थ आदि समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाला है । ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहा है । ॥८३८-८३९॥

द्रव्य बंदना का लक्षण—

अमीषां यच्छरीराणां विषयवर्णादिषर्जनैः । स्तवनं यद्बुधैर्भक्त्या साद्रव्यबंदना शुभा ॥८४०॥

अर्थ—बुद्धिमान लोग भक्तिपूर्वक जो पाँचों परमेष्ठियों के शरीर का दिव्य वर्णन करते हैं तथा उस वर्णनके द्वारा जो लोग उनकी स्तुति करते हैं उसको शुभद्रव्य वंदना कहते हैं ॥८४०॥

क्षेत्र वन्दना का स्वरूप—

क्षेत्रार्थाधिष्ठितान्येव तैः सर्वे यत्रयोगिभिः । स्तूयन्ते पुण्यकतृणि क्षेत्राख्या वंदनाहिता ॥८४१॥

अर्थ—उन पाँचों परमेष्ठियों के द्वारा जो क्षेत्र अधिष्ठित किया गया है रोका गया है उस पुण्य बढ़ानेवाले क्षेत्रकी स्तुति करना उसको क्षेत्र वंदना कहते हैं ॥८४१॥

काल वन्दना का स्वरूप—

तरेकजिनसिद्धार्थः कालोयोऽधिष्ठितः शुभः । स्तूयन्ते सद्गुणोच्चारैः सा कसवन्दनोजिता ॥

अर्थ—एक तीर्थंकर, एक सिद्ध एक साधु आदि के द्वारा जो शुभ काल अधिष्ठित किया गया है उसके गुणों को उच्चारण कर उसकी स्तुति करना काल वंदना है ॥८४२॥

भाव वन्दना का स्वरूप—

एकार्हंशरीराचार्योपाध्यायमहात्मनाम् । साधूनां शुद्धभावेनभावग्रहणपूर्वकम् ॥८४३॥

स्तवनं यद्विचारज्ञैः क्रियते गुणभाषणैः । साभाववन्दना ज्ञेया शुभभावप्रवर्द्धिनी ॥८४४॥

अर्थ—किसी एक अरहंत एक सिद्ध एक आचार्य एक महात्मा उपाध्याय और एक साधु की शुद्ध भाव पूर्वक विचारवान पुरुषोंके द्वारा स्तुति की जाती है उनके भाव ग्रहण कर उनके गुणों के वर्णन द्वारा जो स्तुति की जाती है उसको भाव वंदना कहते हैं । यह भाववंदना अनेक शुभ भावों को बढ़ाने वाली है ॥८४३-८४४॥

वन्दना सावश्यक के ४ कृतिकर्म—

प्रथमं कृतिकर्माथ चितिकर्म द्वितीयकम् । पूजाकर्म तृतीयं च विनयकर्मचतुर्थकम् ॥८४५॥

अर्थ—वंदना में पहला कृति कर्म दूसरा चिति कर्म तीसरा पूजा कर्म और चौथा विनय कर्म किया जाता है ॥८४५॥

कृतिकर्म किसे कहते हैं ?

कृत्यते छिद्यते येनाक्षरव्रजेन योगिभिः । सर्वमष्टविधं कर्मकृतिकर्मसमुच्यते ॥८४६॥

अर्थ—योगी लोग स्तुति के जिन अक्षरों से आठों प्रकार के कर्मों को छिन्न-

भिन्न कर डालते हैं काट डालते हैं उसका कृतिकर्म कहते हैं ॥८४६॥

चितिकर्म का लक्षण—

पापारिनाशनोपायो येनसंघीययेतराम् । तीर्थंकृत्वादिसत्पुण्यं चितिकर्म तदेव च ॥८४७॥

अर्थ—स्तुति के जिन अक्षरों से पापरूप शत्रुके नाश करने का उपाय किया जाता है, अथवा तीर्थकर को विभूति को देनेवाला पुण्य संचय किया जाता है उसको चितिकर्म कहते हैं ॥८४७॥

पूजाकर्म का स्वरूप—

पूज्यन्तेयेनसर्वेऽत्रार्हदाद्याःपरमेष्ठिनः । विश्वाम्बुदयकर्तारस्तपूजाकर्म कथ्यते ॥८४८॥

अर्थ—जिन अक्षरों के समुदाय से समस्त कल्याणों को करनेवाले समस्त विभूतियों को देनेवाले अरहंत आदि पांचों परमेष्ठियों की पूजा की जाती है उसको पूजा कर्म कहते हैं ॥८४८॥

विनय कर्म का स्वरूप—

विनीयन्तेऽष्टकर्मणि येनास्तमुदयादिना । तस्याद्विनयकर्मत्र समस्तकार्यसाधकम् ॥८४९॥

अर्थ—स्तुति के जिन अक्षरों से आठों कर्मों को उदय उदीर्ण में लाकर नष्ट कर दिया जाता है उसको समस्त कार्योंको सिद्ध करनेवाला विनयकर्म कहते हैं ॥८४९॥

इस विनय कर्म से आठों कर्म नष्ट होते हैं—

यस्माद्विनाशयत्याशु यःकर्माष्टकमंजसा । तस्माद्विलीनसंसारस्तमाहुर्विनयं परम् । ८५०॥

अर्थ—इस विनय से आठों कर्म बहुत ही शीघ्र नष्ट हो जाते हैं इसीलिये संसार को नाश करनेवाले भगवान् अरहंतवेव इसको विनय कहते हैं ॥८५०॥

यही विनय मोक्षका कारण है—

पूर्वैर्विश्वैर्जिनाधीशैः सर्वासु कर्मभूमिषु । सतां सुमुक्तिलाभाय विनयःप्रतिपादितः ॥८५१॥

अर्थ—पहले जितने भी तीर्थकर हुये हैं उन सबने समस्त कर्म भूमियों में सज्जनों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये मोक्ष का कारण एक विनय ही बतलाया है । ॥८५१॥

विनय के ५ भेद—

लोकानुवृत्तिनामार्थनिमित्तः कामहेतुकः । भयाण्यो मोक्षसंज्ञःपंचधैतिविनयोमतः ॥८५२॥

अर्थ—इस विनयके पांच भेद हैं लोकानुवृत्ति, अर्थ निमित्तक, कामहेतुक भय और मोक्ष संज्ञक ॥८५२॥

लौकिक कार्य सिद्ध करनेवाला (१) लोकानुवृत्ति नामक विनय—

अभ्युत्थान नमस्कारासनदानादिभिः परैः । भाषानुवृत्ति छंदोनुवृत्तिसद्भोजनादिकैः ॥८५३॥

लोकात्मीकरणार्थं यो विनयः क्रियते जनैः । लोकानुवृत्तिनामासविनयः कार्यसाधकः ॥८५४॥

अर्थ—दूसरे को देखकर खड़ा होना, उसको नमस्कार करना, उसको आसन देना, उसके अनुकूल भाषण करना, उसके अनुकूल चलना, उनको भोजन देना आदि लोगों को अपना बनाने के लिये जो विनय किया जाता है उसको लौकिक कार्य सिद्ध करनेवाला लोकानुवृत्ति नामका विनय कहते हैं ॥८५३-८५४॥

अर्थ विनय तथा काम विनय का लक्षण—

अर्थयः यः कुतोलोके विनयः सोऽर्थ संज्ञकः । कामाय कामिभिर्यश्चसकामविनयोऽशुभः ॥८५५॥

अर्थ—इस लोकमें धन कमाने के लिये जो विनय किया जाता है उसको अर्थ विनय कहते हैं कामी पुरुषों के द्वारा जो काम सेवन के लिये विनय किया जाता है उसको अशुभ काम विनय कहते हैं ॥८५५॥

भय विनय एवं मोक्ष विनय का स्वरूप—

भवेनविनयोऽनुष्ठीयते स भयाह्वयः । मोक्षार्थविनयो योऽत्र समोक्षविसयो महान् ॥८५६॥

अर्थ—भयसे जो विनय किया जाता है वह भय विनय है और मोक्षके लिये जो विनय किया जाता है वह महान् मोक्ष विनय है ॥८५६॥

मुनियों को किस प्रकार के विनय का निषेध—

त्याज्या लोकानुवृत्त्याद्याश्चत्वारो विनयाः सदा । मोक्षाख्यः पञ्चमः कार्ये विनयोऽमुनिभिः परः ॥

अर्थ—मुनियों को लोकानुवृत्ति आदि चारों प्रकार का विनय सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये और पांचवां सर्वोत्कृष्ट मोक्ष नाम का विनय धारण करना चाहिये ॥८५७॥

मोक्ष विनय के ५ भेद—

वृत्तिवृत्ततपोभेदरूपचारेण पञ्चधा । मोक्षाख्यो विनयो ज्ञेयोऽमुक्तिहेतु गुणप्रदा ॥८५८॥

अर्थ—यह मोक्ष विनय मोक्षका कारण है और अनेक गुणों को देनेवाला है

तथा दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र्य विनय, तप विनय और उपचार विनय ये पांच उसके भेद हैं ॥८५८॥

दर्शन विनय का लक्षण—

यथाविश्वे पदार्था येऽत्रोपदिष्टा जिनोत्तमैः । तेषां तथैव श्रद्धानं यद्वृष्टिविनयोहि सः ॥८५९॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने समस्त पदार्थों का स्वरूप जैसा बतलाया है उनका उसी रूपसे श्रद्धा न करना दर्शन विनय कहलाती है ॥८५९॥

दर्शन विनय का फल—

सम्यक्त्वविनयेनात्र सम्यक्त्वं चन्द्रनिर्मलम् । सोपायं अवसंनुत्तिप्रोत्साधयत्यनेन ॥८६०॥

अर्थ—इसप्रकार सम्यग्दर्शनका विनय करने से चन्द्रमाके समान निर्मल और मुक्तिलक्ष्मीके राजभवनकी पहली सीढ़ी ऐसा महान् सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है ॥८६०॥

ज्ञान विनय का लक्षण—

कलाद्यष्टविधाचारैः पठनं पाठनं च यत् । योगशुद्ध्यामुशास्त्राणां स ज्ञानविनयोऽद्भुतः ॥

अर्थ—मन-वचन-कायको शुद्धकर कालाचार, शब्दाचार, अर्थाचार, शब्दार्थाचार, विनयाचार, उपाधनाचार, मानाचार, अनिह्लावाचार इन आठों आचारों के साथ साथ श्रेष्ठ शास्त्रों का पठन-पाठन करना सर्वोत्तम ज्ञानविनय कहलाता है ॥८६१॥

ज्ञान विनय का फल केवलज्ञान है—

सर्वज्ञानविनयेनाहो जायते ज्ञान लोचनम् । त्रिजगद्दर्पणं सात्त्वं सर्वविद्यादिभिः सताम् ॥८६२॥

अर्थ—इस श्रेष्ठ ज्ञानविनयसे सज्जन पुरुषों के समस्त विद्याओं के साथ-साथ वर्पण के समान तीनों लोकों के स्वरूप को दिखलाने वाला केवलज्ञान प्रगट होता है ॥८६२॥

चारित्र्य विनय का स्वरूप—

त्रयोदशविधैः वृत्तपालने वृत्तशालिभिः । उत्साहो योऽनुरागश्च चारित्र्यविनयोऽत्र सः ॥८६३॥

अर्थ—चारित्र्य पालन करनेवालों का तेरह प्रकार के चारित्र्य पालन करने में जो उत्साह वा अनुराग है उसको चारित्र्य विनय कहते हैं ॥८६३॥

इसका फल यथाख्यात चारित्र्य है—

चारित्र्यविनयेनात्र केवलज्ञान कारणम् । विश्वसौख्याकरं वृत्तं यथाख्यातं नृणां भवेत् ॥८६४॥

अर्थ—चारित्र्य विनयको धारण करने से केवलज्ञान का कारण और समस्त सुखों को उत्पन्न करनेवाला ऐसा यथाख्यात चारित्र्य उत्पन्न होता है ॥८६४॥

तप विनय का स्वरूप—

द्विषद्भेदतपोयोगाचरणे च तपस्विषु । भक्तिरागोद्यमः शक्त्या यस्तपः विनयोऽत्र सः ॥८६५॥

अर्थ—बारह प्रकारके तपश्चरण को पालन करने में तथा तपस्वियोंमें शक्ति-पूर्वक अनुराग धारण करना तपो विनय कहलाता है ॥८६५॥

तप विनय का फल

स्थुस्तपोविनयेनाहो धीरवीर तपांसि च । घातिकर्मरिहंतृणि योगिनां विश्वसम्पदः ॥८६६॥

अर्थ—तपो विनय धारण करने से मुनियों के घातिया कर्मों को नाश करने वाले धीर वीर तपश्चरण प्रगट होते हैं और संसार को समस्त संपदाएँ प्राप्त होती हैं ॥८६६॥

उपचार विनय का स्वरूप—

यत्प्रत्यक्षपरोक्षेणाचार्याद्यखिलयोगिनाम् । आज्ञादिपालनं चौपचारिको विनयोऽत्र सः ॥८६७॥

अर्थ—आचार्य आदि समस्त योगियों की प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूपसे आज्ञा का पालन करना औपचारिक विनय है ॥८६७॥

उपचार विनय का फल—

अनेन विनयोनाशु संपाद्यन्तेखिलागुणाः । ज्ञानविज्ञानविद्याद्यामोक्षदा यमिनां पराः ॥८६८॥

अर्थ—मुनियों के इस उपचार विनय से सर्वोत्कृष्ट और मोक्ष देनेवाले ज्ञान विज्ञान विद्या आदि समस्त गुण प्रगट हो जाते हैं ॥८६८॥

मोक्ष विनय से मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति—

मोक्षार्थं विनयं मोक्षाभिधं येप्रकुर्वन्तेऽब्रह्मम् । इमं तेषांजगत्सकम्यासमं मुक्तिप्रजायते ॥८६९॥

अर्थ—जो पुरुष मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन इस मोक्ष विनय को धारण करते हैं उनको संसार की समस्त विभूतियों के साथ साथ मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥८६९॥

मोक्ष विनय प्रतिदिन आवश्यक—

मत्वेति विनयं वक्षा इमंसर्वप्रयत्नतः । मिशुद्ध्या प्रत्यहं सारं कुर्वन्तु शिवशर्मणे ॥८७०॥

अर्थ—यही समझकर चतुर पुरुषों को मन-वचन-कायको शुद्धकर मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्नपूर्वक प्रतिनिज यह साक्षात् मोक्ष विन्यास धारण करना चाहिये ।
॥८७०॥

शुभज्ञान प्राप्ति के लिये कुछ प्रश्न—

अत्रान्तरे सुमेधावी शिष्यः पृच्छति सावरः । प्रणम्य स्वगुरुं मूर्ध्नाकांश्चित्प्रश्नान् शुभाप्तये ॥

अर्थ—इसी बीच में किसी चतुर शिष्य ने अपने गुरुके आगे मस्तक झुकाकर आदर के साथ शुभ ज्ञानकी प्राप्ति के लिये कुछ प्रश्न पूछे ॥८७१॥

कृतिकर्म का विशेष स्वरूप—

भगवन् कृतिकर्मात्र कीदृशं वा कियद्विधम् । केस्तेषां तद्विकर्षणं विधिना केनवाख्यतम् ॥८७२॥

अवस्थाविषये कस्मिन् कतिवारान् शुभप्रदानम् । कृतिकर्मण एवास्य कियत्प्रवृत्तयस्तानि वै ॥८७३॥

कियन्ति च शिरांसि स्मृतावर्तनिकियन्ति च । कति दोषैर्विमुक्तं वा कर्तव्यं कृतिकर्मतत् ॥८७४॥

अर्थ—वह पूछने लगा कि हे भगवन् यहां पर कृतिकर्म से क्या अभिप्राय है, वह कितने तरह का होता है, उनका विधान किन-किनके लिये है वा किनको करना चाहिये, किस विधिसे करना चाहिये, किस अवस्था में कितने बार यह शुभप्रद कृतिकर्म करना चाहिये, कितने नमस्कार करने चाहिये, कितनी शिरोनति करनी चाहिये, कितने आवर्त करने चाहिये, और कितने दोषों से रहित यह कृतिकर्म करना चाहिये ।
॥८७२-८७४॥

गुरु का उत्तर—

इमां सप्तप्रश्नमासां मेऽनुग्रहयसमाविश । ततः प्राह गुरुर्विश्व हितोच्छ्रितं इवं वचः ॥८७५॥

अर्थ—हे प्रभो ! मेरा अनुग्रह करने के लिये इन सब प्रश्नों का उत्तर दीजिये । यह सुनकर सब जीवों का हित करनेवाले गुरु नीचे लिखे अनुसार कहने लगे ॥८७५॥

कृतिकर्म का स्वरूप सुनने के लिये प्रेरणा—

धृणु धीमन् विधाय त्वं स्ववशे हृदयं निजम् । जिनागम बलाद्वक्षे कृतिकर्मविधीन्परान् ॥८७६॥

अर्थ—कि हे बुद्धिमान् ! तू अपने मनको वशमें कर सुन । मैं जिनागम के अनुसार कृतिकर्म की उत्कृष्ट विधियों को कहता हूं ॥८७६॥

कृतिकर्म के २ भेद—

नित्यनैमित्तिकाभ्यां तत्कृतिकर्मं विधीयते । एकैकं बहुभेदं च कर्मणं शिवकारणम् ॥८७७॥

अर्थ—उस कृतिकर्म के दो भेद हैं एक प्रतिदिन होने वाला कृतिकर्म और दूसरा किसी निमित्तसे होनेवाला कृतिकर्म । इनमें भी एक एक कृतिकर्म के अनेक भेद हैं जो कर्मोंको नाश करनेवाले हैं और मोक्ष के कारण हैं ॥८७७॥

नित्यकर्म पापों का नाश करनेवाला है—

त्रिकालबंदना योग सत्प्रतिक्रमणादिकम् । प्रत्यहं क्रियते यत्तन्नित्यकर्माघनाशकम् ॥८७८॥

अर्थ—जो प्रतिदिन त्रिकाल बंदना की जाती है, योग धारण किया जाता है वा श्रेष्ठ प्रतिक्रमण किया जाता है उसको नित्यकर्म कहते हैं । यह नित्यकर्म भी पापों को नाश करनेवाला है ॥८७८॥

नैमित्तिक कृतिकर्म का स्वरूप—

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां पक्षपर्वदिनादिषु । विधीयते क्रियाकर्म यत्तन्नैमित्तिकं परम् ॥८७९॥

अर्थ—अष्टमी के दिन चतुर्वशी के दिन पक्ष पूरा होनेपर वा अन्य किसी पर्व के दिन जो क्रिया कर्म किया जाता है उसको नैमित्तिक कृतिकर्म कहते हैं ॥८७९॥

कौनसी भक्तियें करनी आवश्यक हैं—

त्रिकालबंदनायां च विधेया भक्तिकः सदा । चैत्यभक्तिस्ततः पंचगुरुभक्तिविधानतः ॥८८०॥

अर्थ—त्रिकाल बंदना में भक्त पुरुषों को विश्व पूर्वक सदा चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति बोलनी चाहिये ॥८८०॥

चतुर्दशी के दिन की भक्तियां—

चतुर्दशीदिने सिद्धचैत्यश्रुताख्य भक्तयः । भक्तिः पंचगुरुणां श्रीशान्तिभक्तिस्ततोतिमा ॥८८१॥

अर्थ—चतुर्दशी के दिन सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति बोलनी चाहिये ॥८८१॥

अष्टमी की भक्तियां—

अष्टमीदिनसे सिद्धश्रुतचारित्र्य भक्तयः । चैत्यभक्ति स्ततः पंचगुरुशान्ति समाह्वये ॥८८२॥

अर्थ—अष्टमी के दिन सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्र्यभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति बोलनी चाहिये ॥८८२॥

पाक्षिक वंदना में आवश्यक भक्तियां—

पाक्षिके विवसे सिद्धचारित्रशान्तिभक्तयः । श्रीसिद्धप्रतिमायां श्रीसिद्धिभक्तिविधीयते ॥८८३॥

अर्थ—पाक्षिक वंदनामें सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये तथा सिद्ध प्रतिमा के सामने सिद्धभक्ति पढ़नी चाहिये ॥८८३॥

अपूर्व चैत्य एवं चैत्यालय में कौनसी भक्ति करनी चाहिये—

अपूर्वचैत्यचैत्यालये सिद्धचैत्यसंज्ञके । भक्ति चारित्रसत्पंचगुरुश्रीशान्तिनामिकाः ॥८८४॥

अर्थ—अपूर्व चैत्य वा अपूर्व चैत्यालय में सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, चारित्रभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥८८४॥

नंदीश्वर के तीनों पर्वों में कौनसी भक्ति करें—

नन्दीश्वरत्रये सिद्धचैत्यभक्ति स्वभक्तिः । विघातव्ये ततःपंचगुरुशान्त्यविधे परे ॥८८५॥

अर्थ—नंदीश्वरके तीनों पर्वोंमें सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, नंदीश्वरभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥८८५॥

भगवान् के जन्म कल्याणक के दिन कौनसी भक्ति करनी चाहिये—

जिनेन्द्रप्रतिमायाश्च तीर्थेशजन्मनो बुधैः । सिद्ध चारित्रशान्त्याख्या दातव्या सक्तयो मुदा ॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके सामने तथा तीर्थेशकरके जन्म कल्याणक के दिन बुद्धिमानोंको सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥८८६॥

अभिषेक की वंदना में कौनसी भक्ति पढ़ें ?

कर्तव्या अभिषेकस्य वंदनाया सुभक्तयः । सिद्धचैत्यमहापंचगुरुशांतिजिनेशानाम् ॥८८७॥

अर्थ—अभिषेक की वंदना में सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचमहागुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥८८७॥

भगवान् की चल-अचल प्रतिष्ठा में कौनसी भक्ति पढ़ें ?

जिनेन्द्रप्रतिविम्बानां स्थिरानां वा चलान्नात्मनाम् । प्रतिष्ठायां भवेत्सिद्धशांति भक्त्याह्वयः द्वयम् ॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव की चल और अचल प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा में सिद्धभक्ति और शांतिभक्ति ये दो भक्ति पढ़नी चाहिये ॥८८८॥

स्थिर प्रतिमा के चतुर्थ अभिषेक के दिन कौन-कौनसी भक्ति पढ़ें—

स्थिरार्हतप्रतिमायां च चतुर्थस्नपनाहनि । सिद्धभक्तिश्च चारित्रभक्तिरालोचनापुता ॥८८९॥

चैत्यभक्तिर्महा पंचगुरुभक्तिः प्रयत्नतः । शांतिभक्ति विधातव्या विधिना विधिहानये ॥८६०॥

अर्थ—स्थिर प्रतिमा के चतुर्थ अभिषेक के दिन सिद्धभक्ति, चारित्र्यभक्ति, आलोचना, चैत्यभक्ति, पंचमहागुरुभक्ति और शांतिभक्ति विधिपूर्वक कर्मों को नाश करने के लिये प्रव्रतपूर्वक पढ़नी चाहिये ॥८६६-८६०॥

चल प्रतिमा के चतुर्थ अभिषेक के दिन कौनसी भक्ति पढ़ें ?

चलाहंतप्रतिमायाश्च मुदाकार्याबुधोत्तमैः । सिद्धचैत्यमहापंचगुरुशान्तिभुक्तयः ॥८६१॥

अर्थ—बुद्धिमान पुरुषों को चल अरहंत प्रतिमा के चतुर्थ अभिषेक के दिन प्रसन्नतापूर्वक सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचमहागुरुभक्ति, शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये । ॥८६१॥

सामान्य मुनियों की वंदना कैसे करें ?

महत्तपः पदाब्जसामान्यर्षे प्रवंदना । सिद्धभक्ति विधायोच्चभक्त्या कार्याभ्यस्यते ॥८६२॥

अर्थ—जो सामान्य मुनि उग्र-उग्र तपश्चरण करनेवाले हैं उनकी वंदना करने के लिये अन्य मुनियों की भक्तिपूर्वक सिद्धभक्ति पढ़कर वंदना करनी चाहिये ॥८६२॥

सिद्धांत के जानकार मुनियों की वंदना कैसे करें ?

सिद्धांतवेदिनां सिद्धश्रुतभक्तिद्वयं भवेत् । आचार्याणां हि सिद्धाचार्यभक्ति भवतो नृती ॥८६३॥

अर्थ—सिद्धांत के जानने वाले मुनियों की वंदना करते समय सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढ़नी चाहिये । तथा आचार्यों की वंदना करने के लिये सिद्धभक्ति, आचार्य-भक्ति पढ़कर नमस्कार करना चाहिये ॥८६३॥

यदि आचार्य सिद्धांत के जानकार हों तो भक्ति कैसे करें ?

सिद्धांतवेदि सूरिणां वंदनायां सुशिष्यकैः । कर्तव्या विधिना सिद्धश्रुताचार्याभ्यभक्तयः ॥८६४॥

अर्थ—यदि वे आचार्य सिद्धांतके जानकार हों तो उनके शिष्योंको विधिपूर्वक सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिये ॥८६४॥

प्रतिमा योग धारण करनेवालों की भक्ति कैसे करें ?

मुनेर्लघीयसोपि प्रतिमायोगस्थितस्य च । महत्तपसो भक्त्याप्रणामे परसंयतैः ॥८६५॥

ध्यात्वा युक्तितः सिद्धयोगशांत्याभ्यभक्तयः । तथा प्रदक्षिणा कार्या योगभक्त्यातिभास्तिकैः ॥

अर्थ—यदि कोई मुनि छोटे हों किंतु प्रतिमा योग धारण कर लड़े हों तो

उनके लिये तथा बड़े मुनियों के लिये अन्य मुनियों को नमस्कार करते समय युक्तिपूर्वक सिद्धभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये । तथा भक्त पुरुषों को योगभक्ति पढ़कर उनकी प्रदक्षिणा देनी चाहिये ॥८६५-८६६॥

भगवान् के दीक्षा कल्याणक के समय कौनसी भक्ति करें ?

जिननिष्कामनेसिद्धचारित्र्य योगभक्तयः । योगशांत्याह्वयेभक्ति योगभक्त्या प्रदक्षिणा ॥८६७॥

अर्थ—भगवान् के दीक्षा कल्याणक के समय सिद्धभक्ति, चारित्र्यभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये तथा योगभक्ति पढ़कर प्रदक्षिणा देनी चाहिये । ॥८६७॥

सिद्धान्त के जानकार आचार्य के मरण के समय कौनसी भक्ति करें ?

जिन निर्वाण सत्क्षेत्रे भक्ति सिद्धभुतामिधे । चारित्र्ययोगनिर्वाण शांतिभक्तिप्रदक्षिणा ॥८६८॥

अर्थ—तीर्थंकरों के निर्वाण क्षेत्रमें जाकर सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्र्यभक्ति, योगभक्ति, निर्वाणभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये तथा प्रदक्षिणा भी देनी चाहिये । (प्रदक्षिणा योगभक्ति से दी जाती है) ॥८६८॥

भगवान् के ज्ञान कल्याण के समय कौनसी भक्ति पढ़ें ?

ज्ञानोत्पत्ती महासिद्धश्रुतचारित्र्यभक्तयः । शांतिभक्तिस्तथायोग भक्त्या कार्या प्रदक्षिणा ॥८६९॥

अर्थ—भगवान् के ज्ञान कल्याणकके समय महा सिद्धिभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्र्यभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये तथा योगभक्ति पढ़ कर प्रदक्षिणा देनी चाहिये । ॥८६९॥

भगवान् वर्द्धमान स्वामी के निर्वाण कल्याण के दिन कौनसी भक्ति पढ़ें ?

श्रीवर्द्धमाननिर्वाणदिने कार्या क्रियाविधौ । सिद्धनिर्वाण सत्पञ्चगुरुशांत्याख्य भक्तयः ॥८७०॥

अर्थ—भगवान् वर्द्धमान स्वामी के निर्वाण के दिन कृतिकर्म की विधि करते समय सिद्धभक्ति, निर्वाणभक्ति, पञ्चगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥८७०॥

सामान्य ऋषि के मरण हो जानेपर कौनसी भक्ति पढ़ें ?

सामान्यणी मूर्तेगस्य निषद्यास्थानकस्य वा । विधेयाः सिद्धयोगश्रीशांतिभक्तय एव हि ॥८७१॥

अर्थ—किसी सामान्य ऋषि के मरण हो जाने पर उनके शरीर के लिये तथा उनके निषद्या स्थान के लिये सिद्धभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी

चाहिये ॥६०१॥

सिद्धांत के जानकार ऋषि के मरण हो जानेपर कौनसी भक्ति करें ?

सिद्धांतवेदिसाधूनां कर्तव्या मरणे बुधैः । श्रीसिद्धश्रुतयोगश्रीशांतिभक्तिसमाह्वयः ॥६०२॥

अर्थ—सिद्धांतके जानकार साधुओं के मरण होनेपर बुद्धिमानों को सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥६०२॥

उत्तरगुण के धारण समाधि मरण पर कौनसी भक्ति की जाय—

उत्तरगुणधराणां धारणमधिकारः । सिद्धचारित्र्यसद्योगश्रीशांतिभक्तयोऽमलाः ॥६०३॥

अर्थ—उत्तरगुण धारण करनेवाले महायोगी मुनियों के मरण होनेपर सिद्धभक्ति, चारित्र्यभक्ति, योगभक्ति और निर्मल शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥६०३॥

महामुनि के मरण पर कौनसी भक्ति करें—

तथोत्तरमहायोगधारिसिद्धांतवेदिनाम् । श्रीसिद्धश्रुतचारित्र्ययोगश्रीशांतिभक्तयः ॥६०४॥

अर्थ—यदि उत्तरगुणों को धारण करनेवाले महामुनि सिद्धांतके जानकार हों और उनका मरण हो जाय तो सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्र्यभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥६०४॥

आचार्य के मरण पर कौनसी भक्ति करें—

आचार्येऽत्र मूर्तेऽस्य निषद्यायाः क्लेशावना । वातव्याःसिद्धयोगाचार्यश्रीशांतिभक्तयः ॥६०५॥

अर्थ—आचार्य के मरण होनेपर उनके शरीर के लिये और निषद्या के लिये सिद्धभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥६०५॥

सिद्धांत के जानकार आचार्य के मरण पर कौनसी भक्ति पढ़ें ?

सिद्धांत वेदिसूरीणां विधेयाः शिष्यकमुं वा । श्रीसिद्धश्रुतयोगाचार्यश्रीशांतिभक्तयः ॥६०६॥

अर्थ—यदि सिद्धांतके जानकार आचार्य का मरण हो जाय तो उनके शरीर और निषद्या के लिये शिष्यों को सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥६०६॥

उत्तरगुणों के पालन करनेवाले आचार्य के मरण पर कौनसी भक्ति पढ़ें ?

उत्तराभिधसद्योगिनांसूरीणां मृतेऽस्ति । सिद्धचारित्र्यसद्योगाचार्यश्रीशांतिभक्तयः ॥६०७॥

अर्थ—इसीप्रकार उत्तरगुणों को धारण करनेवाले आचार्यों के मरण होनेपर

सिद्धभक्ति, चारित्र्यभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति और शान्तिभक्ति पढ़नी चाहिये ।
॥६०७॥

यदि आचार्य सिद्धांत पाठी हों और उत्तर गुणों के पालन कर्ता हों तो उनके
मरण होनेपर कौनसी भक्ति पढ़ें—

सिद्धांतोत्तर सद्योगादयसूरेः सिद्धपूर्विकाः । श्रुतचारित्र्यसद्योगाचार्यशान्तिभक्तयः ॥६०८॥

अर्थ—यदि आचार्य सिद्धांतवेत्ता भी हों और उत्तरगुणों को धारण करनेवाले
भी हों और उनका मरण हो जाय तो सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्र्यभक्ति, योगभक्ति,
आचार्यभक्ति और शान्तिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥६०८॥

आठों प्रकार के निषद्या स्थानों की भक्ति करें—

इमाष्टौ च क्रियाः कार्याः शिष्यैर्वापरसंयतैः । शरीरस्य निषद्यास्थानस्य वा शुभकारणाः ॥६०९॥

अर्थ—ये आठ क्रियायें (आठ प्रकार के साधुओं के मरण होनेपर पढ़ी जाने
वाली भक्तियों का पढ़ना) उनके शिष्यों को भी करनी चाहिये तथा अन्य मुनियों को
भी करनी चाहिये । तथा ये शुभ क्रियाएँ उनके शरीरकी भी करनी चाहिये और उनके
निषद्या स्थान की भी करनी चाहिये ॥६०९॥

श्रुतभक्ति पर्व पर भक्ति विधान—

प्रथमं श्रुतपंचम्यां भक्तिसिद्धश्रुताह्वये । श्रीश्रुताचार्यभक्तिः च कृत्या स्वाध्यायऊजितः ॥६१०॥

ग्राह्यस्तत्त्वार्थसूत्राणि पठित्वानुबुध्यैश्च तम् । निष्ठाप्य श्रुतभक्त्यन्ते शान्तिभक्तिर्विधीयते ॥

अर्थ—श्रुत पंचमीके दिन पहले तो सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढ़नी चाहिये ।
फिर श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढ़कर उत्तम स्वाध्याय का प्रारम्भ करना चाहिये
फिर तत्त्वार्थसूत्र को पढ़कर बुद्धिमानों को श्रुतभक्ति पढ़कर उस स्वाध्याय को पूर्ण
करना चाहिये और फिर शान्तिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥६१०-६११॥

समाधिमरण के प्रारम्भ पर क्या क्रिया—

सत्यासारं भक्तिसिद्धश्रुतसंज्ञिके । कृत्वा गृहीतसंन्याससंवेगां कितमनसः ॥६१२॥

श्रुताचार्यभिधे भक्तिं कृत्वा स्वाध्यायमद्वैतम् । गृहीत्वा श्रुतभक्त्यन्ते युक्त्या निष्ठापयेन्मुखा ॥

अर्थ—समाधिमरणके प्रारम्भ कालमें सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढ़नी चाहिये

फिर मनमें परम वैराग्य धारण करते हुए सन्यास ग्रहण करना चाहिये । फिर श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढ़कर उत्तम स्वाध्याय को ग्रहण करना चाहिये और अंतमें श्रुतभक्ति पढ़कर उस स्वाध्याय को समाप्त करना चाहिये ॥६१२-६१३॥

सन्यास धारण करने पर क्या करें—

स्वाध्यायग्रहणे श्रेयाः संन्यासस्य महामुनेः । महाश्रुतमहाचार्यमहाश्रुताख्य भक्तयः ॥६१४॥

अर्थ—सन्यास धारण करनेवाले महामुनि को स्वाध्याय ग्रहण करते समय महा श्रुतभक्ति, महा आचार्यभक्ति और महाश्रुतभक्ति पढ़नी चाहिये ॥६१४॥

प्रतिदिन तीनों कालों में प्रतिक्रमणादि भक्ति—

सत्प्रतिक्रमणे कार्या त्रिकालगोचरेन्बहुम् । सिद्धभक्तिस्ततो भक्तिः प्रतिक्रमणमंजका ॥६१५॥

निष्ठितकरणाद्यंत वीरभक्तिश्चसंपत् । चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिर्मलहानये ॥६१६॥

अर्थ—प्रतिदिन तीनों कालों में होनेवाले प्रतिक्रमणमें सिद्धभक्ति प्रतिक्रमण के अंतमें वीरभक्ति और दोष दूर करने के लिये चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति करनी चाहिये ॥६१५-६१६॥

चारित्र्य को शुद्ध करनेवाली भक्तियों का पाठ करें—

पाक्षिकाण्ये च चातुर्मासिकसंज्ञेऽध्यातके । सत्प्रतिक्रमणेसारे सांख्यस्सरिकनामनि ॥६१७॥

आर्षौ श्रीसिद्धचारित्र्यप्रतिक्रमण भक्तयः । श्रीनिष्ठितकरणादि वीरभक्तिसमाह्वयः ॥६१८॥

चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिः शुभदायिनी । चारित्रालोचनाचार्यभक्तिश्चारित्रशुद्धिका ॥६१९॥

बृहदालोचनाचार्यभक्तिर्मलविनाशिनी । क्षुल्लकालोचनाचार्यभक्तिः शुद्धिकरातिमा ॥६२०॥

अर्थ—पापों को नाश करनेवाले पाक्षिक प्रतिक्रमणमें चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में और सारसूत वार्षिक प्रतिक्रमण में पहले सिद्धभक्ति और चारित्र्यभक्ति करनी चाहिये फिर प्रतिक्रमण भक्ति पढ़नी चाहिये प्रतिक्रमण समाप्त होने पर वीरभक्ति और शुभ देनेवाली चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति पढ़नी चाहिये फिर चारित्र्यको शुद्ध करने वाली चारित्रालोचना आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिये । तदनंतर दोष दूर करनेवाली बृहत् आलोचना और आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिये अंत में शुद्ध करनेवाली लघु आलोचना और लघु आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिये ॥६१७-६२०॥

आचार्य भक्ति दोष हरण करनेवाली है—

चारित्रालोचनाचार्य भक्तिर्भक्तिविधायिनी । बृहदालोचनाचार्य भक्तिर्दोषापहारिणी ॥६२१॥

अर्थ—इन भक्तियों में से चारित्र्यालोचना और आचार्यभक्ति भक्ति उत्पन्न करनेवाली हैं तथा बृहत् आलोचना और आचार्यभक्ति दोषों को दूर करनेवाली हैं । ॥६२१॥

अन्य प्रतिक्रमणों में भक्ति का विधान—

एतच्छ्रुतिद्वयमुक्त्वा शेषाः षड्भक्तयोपराः । प्रतिक्रमणशेषेषुकर्तव्या दोषहानये ॥६२२॥

अर्थ—पाक्षिक चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण को छोड़कर बाकी के जितने प्रतिक्रमण हैं उन सब में दोष दूर करने के लिए चारित्र्यालोचना और आचार्यभक्ति को छोड़कर बाकी की छहों भक्ति पढ़नी चाहिए ॥६२२॥

दीक्षा ग्रहण करते समय तथा केशलोच करते समय कौनसी भक्ति करें—

सद्दीक्षाग्रहणे लोचे सिद्धयोगसमाह्वये । भक्ति लोचावसाने च सिद्धभक्तिविरागदा ॥६२३॥

अर्थ—दीक्षा ग्रहण करते समय और केशलोच करते समय सिद्धभक्ति और योगभक्ति पढ़नी चाहिए तथा केशलोच करने के अनंतर विराग उत्पन्न करनेवाली सिद्धभक्ति पढ़नी चाहिए ॥६२३॥

पारणा के दिन आचार्य भक्ति पढ़नी चाहिये—

श्री सिद्धयोग भक्तोक्त्याप्रत्याख्यानमूर्जितम् । गृहीत्वाचार्यभक्तिश्चकर्तव्या पारणाहनि ॥६२४॥

अर्थ—सिद्धभक्ति और योगभक्ति पढ़कर उत्तम प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिए और पारणा के दिन आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिए ॥६२४॥

प्रत्याख्यान का त्याग—

सिद्धभक्ति विधायोक्तैः प्रत्याख्यानं विमोचयेत् । मध्याह्ने संयमीवातुगेहोत्थितये चित्ते ॥६२५॥

अर्थ—फिर संयमियों को आत्म कल्याणार्थ शरीर की स्थिति के लिए दाता के घर मध्याह्न के समय सिद्धभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यानका त्याग करना चाहिए । ॥६२५॥

स्वाध्याय के आदि में तथा अंतमें किस भक्ति का पाठ करें—

श्रीश्रुताचार्य भक्तिविधाय स्वाध्याय ऊर्जितः । ग्राह्यो निष्ठापने तस्यश्रुतभक्तिर्भवेत्सततम् ॥

अर्थ—सज्जन पुरुषोंको श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढ़कर श्रेष्ठ स्वाध्याय ग्रहण करना चाहिए और समाप्त करते समय श्रुतभक्ति पढ़नी चाहिये ॥६२६॥

मध्याह्न की क्रियाओं में भक्ति विधान—

कार्यासंगलमध्याह्न क्रियायां मुनिसत्तमैः । सिद्धश्रीचैत्य सत्पंचगुरुश्रीशान्तिभक्तयः ॥६२७॥

अर्थ—मध्याह्नकी मांगलिक क्रियाओं में मुनियों को सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥६२७॥

मांगलिक शुभ कार्य में भक्ति विधान—

प्रत्याख्यानं शुभेसंगलमोचरसमाह्वये । महासिद्धमहायोगभक्तीकृत्वा चतुर्विधम् ॥६२८॥

प्रत्याख्यानं गृहीत्वाकोपवासादिकमोचरम् । आचार्य शान्तिभक्ती चान्तेस्य कुर्वंतु योगिनः ॥६२९॥

अर्थ—किसी मांगलिक शुभ प्रत्याख्यान में महा सिद्धभक्ति और महा योगभक्ति पढ़कर एक वा दो वा अधिक उपवास के लिये चारों प्रकार के आहारका त्याग कर प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये और अन्तमें उन मुनियों को आचार्यभक्ति और शान्तिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥६२८-६२९॥

रात्रि के समय योग धारण की विधि—

ग्रहणे रात्रियोगस्य मोक्षमे सुयोगिनः । योगभक्ति प्रकुर्वंतु पापात्त्वनिरोधिनीम् ॥६३०॥

अर्थ—रात्रि योग धारण करते समय और उसका त्याग करते समय मुनियों को पापात्त्व को रोकनेवाली योगभक्ति पढ़नी चाहिये ॥६३०॥

वर्षायोग धारण व निष्ठापन में कौनसी भक्ति करें—

योगस्य ग्रहणे वर्षाकाले निष्ठापने तथा । श्रीसिद्धयोगभक्ति वत्त्वा ग्राह्यो योगऊजितः ॥६३१॥

चतुर्विधं चतस्रोनुचैत्य भक्तयः एवहि । ततो भक्तित्वं पंचगुरुशान्तिस्थायं परम् ॥६३२॥

अर्थ—वर्षाकाल में योग धारण करते समय तथा अंतमें उसका त्याग करते समय सिद्धभक्ति, योगभक्ति पढ़कर योग धारण करना चाहिये वर्षायोग धारण की प्रवक्षिणामें चारों दिशाओं में एक-एक चैत्यभक्ति पढ़नी चाहिये और फिर पंचगुरुभक्ति तथा शान्तिभक्ति पढ़नी चाहिये इसी प्रकार वर्षायोग धारण करना चाहिये और इसी प्रकार उसका विसर्जन करना चाहिये ॥६३१-६३२॥

सिद्धांत-वाचना के समय भक्ति—

सिद्धांतवाचनाया ग्रहणे सिद्धश्रुताभिधे । भक्ति कृत्वा पुनर्दत्त्वा श्रुताचार्याह्वयेपरे ॥६३३॥

स्वाध्यायं किल गृह्णान्तु तस्य निष्ठोपने यमी । श्रुतश्रीशान्ति भक्ति च करोतु बहुभक्तये ॥६३४॥

अर्थ—सिद्धांत वाचनाके ग्रहण करते समय सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढ़नी

चाहिये, फिर श्रुतिभक्ति, आचार्यभक्ति पढ़कर स्वाध्यायका ग्रहण करना चाहिये और उसको समाप्त करते समय मुनियों को अधिक भक्ति करने के लिये श्रुतभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥६३३-६३४॥

सिद्धांत ग्रन्थों के अधिकार समाप्ति पर विधान—

सिद्धांतार्थाधिकाराणां समाप्तौ मानहेतवे । एकैकं सत्तनूत्सर्गं पुनः पुनश्च संयताः ॥६३५॥

अर्थ—सिद्धांत ग्रन्थोंके अधिकार समाप्त होनेपर उनका सम्मान करने के लिये मुनियों को प्रसन्नचित्त होकर एक-एक कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥६३५॥

सिद्धांतों ग्रन्थों के अर्थाधिकार समाप्ति करनेपर विधान—

तेष्वर्थ्याधिकाराणां बहुमान्यत्वतश्चिदे । आदौ सिद्धश्रुताचार्यभक्तिः कृत्वा विवाच्यः ॥६३६॥

अर्थ—सिद्धांत ग्रन्थों के अर्थाधिकारों के प्रारम्भमें अधिक मान देने के लिये सबसे पहले सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति बुद्धिमानों को कर लेनी चाहिये ॥६३६॥

ज्ञानकी वृद्धि करनेवाले ६ कायोत्सर्ग—

समाप्तावप्यनेनक्रमणे प्रवर्तते सति । भवन्ति ज्ञानकर्तारः कायोत्सर्गाः षडेव हि ॥६३७॥

अर्थ—इसीप्रकार सिद्धांत ग्रन्थोंके अर्थाधिकार समाप्त होनेपर ये ही भक्तियां पढ़नी चाहिये तथा ज्ञानकी वृद्धि करनेवाले छह कायोत्सर्ग करने चाहिये ॥६३७॥

ऐसा शिष्य गुरुकी पदवी के योग्य होता है—

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो महाप्राज्ञो महातपाः । चिरप्रवर्जितो वाग्मी सिद्धांताम्बुधिपारगः ॥६३८॥

वाग्लोदियोति निर्लोभधीरः स्वाय्यमतादिवित् । गंभीरस्तस्त्वविद्वक्षो ह्यजह्योमृदुमानसः ॥

धर्मप्रभावना शीलः इत्यादिगुणासागरः । आचार्यपदवीयोग्यः शिष्योगुरोरनुज्ञया । ६४०॥

अर्थ—जो शिष्य ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न है, महा बुद्धिमान है, महा तपस्वी है, चिरकाल का दीक्षित है श्रेष्ठ वक्ता है, सिद्धांत महासागर का पारगाभी है, इन्द्रियों को वश करनेवाला है, अत्यन्त निर्लोभ है, धीर वीर है, अपने और दूसरों के मनको अच्छी तरह जानता है, जो गम्भीर है तत्त्वों का वेत्ता है चतुर है, जिसका मन कोमल है जो धर्मकी प्रभावना करने में चतुर है और जिसका मन निश्चल है इसप्रकार जो अनेक गुणों का समुद्र है, ऐसा शिष्य गुरु की आज्ञानुसार आचार्य पदवी के योग्य होता है । ॥६३८-६४०॥

आचार्य का सर्वोत्कृष्ट पद ग्रहण का विधान—

श्रीसिद्धाचार्य भक्ति विधायाचार्यपदमहत् । गृहीत्वासंघसानिध्ये शान्तिभक्ति करोतु च ॥६४१॥

अर्थ—ऐसे शिष्य को सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति पढ़कर आचार्य का सर्वोत्कृष्ट पद ग्रहण करना चाहिये और फिर संघ के समीप बैठकर शान्तिभक्ति करनी चाहिये ॥६४१॥

ये सब क्रियायें प्रसन्नचित्त होकर करनी चाहिये—

इमा उक्ताः क्रियाः कार्याः सकलायोगिभिर्मुदा । श्रावकैश्च यथायोग्यं जघन्यमध्यमोत्तमैः ॥

अर्थ—ये सब ऊपर लिखी हुई क्रियाएं मुनियों को प्रसन्नचित्त होकर करनी चाहिये तथा जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट श्रावकों को यथा योग्य रीति से ये क्रियाएं करनी चाहिये ॥६४२॥

आचार्य आदि श्रेष्ठ मुनियों के लिये कृतिकर्म करना चाहिये—

क्षमावित्तक्षण्युत्कारत्नव्यविमूषिताः । निममानिरहंकारा अनालस्य जितेन्द्रियाः ॥६४३॥

दोषया लघुषो दक्षा विरागा निर्जरार्यनः । धर्मशीलाः सुसवेगा विचार चतुराभुवि ॥६४४॥

इत्याविगुणासम्पन्ना मुनयो ये शिवाप्तये । आचार्यादि वरिष्ठानां कुर्वंतु कृतिकर्म ते ॥६४५॥

अर्थ—जो मुनि उत्तम क्षमा आदि श्रेष्ठ गुणों से सुशोभित हैं, रत्नव्य से विमूषित हैं, मोह रहित हैं अहंकार रहित हैं आलस्य रहित हैं जितेन्द्रिय हैं, दोषों की अपेक्षा लघु या छोटे हैं, चतुर हैं वीतराग हैं, कर्मों को निर्जरा करनेवाले हैं धर्मात्मा हैं, संसार से भयभीत हैं, और विचार करने में चतुर हैं । इसप्रकार अनेक गुणों से सुशोभित जो मुनि हैं उनको मोक्ष प्राप्त करने के लिये आचार्य आदि अपने से श्रेष्ठ मुनियों के लिये कृतिकर्म करना चाहिये ॥६४३-६४५॥

अरहंत सिद्धका सत्कृति कर्म करना चाहिए—

पंचकल्याणपूजार्हा अहंस्तस्त्रिगन्मुताः । सिद्धाः कर्मागमुक्ताश्च योग्याः सत्कृतिकर्मणाम् ॥

अर्थ—जो पांचों कल्याणों की पूजाके योग्य हैं और तीनों लोकों के इन्द्र जिनको नमस्कार करते हैं ऐसे भगवान् अरहंतदेव तथा समस्त कर्मोंसे रहित भगवान् सिद्धपरमेष्ठी सत्कृति कर्मके योग्य हैं ।

भावार्थ—मुनियोंको श्रेष्ठ मुनियोंका कृतिकर्म करना चाहिये । और अरहंत सिद्धों का सत्कृति कर्म करना चाहिये ॥६४६॥

आचार्यों का लक्षण—

पंचाचारपरा वक्षाः षट्त्रिंशद्गुणभूषिताः । विश्वोपकारचातुर्या आचार्याः सर्ववक्षिताः ॥६४७॥

अर्थ—जो पांचों आचारों के पालन करने में अत्यन्त चतुर हैं, जो छत्तीस गुणों से सुशोभित हैं, जो समस्त जीवों का उपकार करने में चतुर हैं और सब मुनि जिनको नमस्कार करते हैं उनको आचार्य कहते हैं ॥६४७॥

उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप—

रत्नत्रयमहाभूषा श्रंगपूर्वाब्जिपारगाः । उपाध्याया महान्तो ये श्रुतपाठनतत्पराः ॥६४८॥

अर्थ—जो रत्नत्रयसे अत्यन्त सुशोभित हैं, जो श्रंग पूर्वरूपी महासागरके पार-गाभी हैं, और जो शास्त्रों के पठन-पाठनमें सदा तत्पर रहते हैं ऐसे महा साधुओं को उपाध्याय कहते हैं ॥६४८॥

प्रवर्तक तथा स्थविर का लक्षण—

प्रवर्तकाः स्वसंघानां योगक्षेमविधायिनः । मर्यादवेशका ये च स्थविराश्चिरदीक्षिताः ॥६४९॥

अर्थ—जो अपने संघमें योग क्षेम करनेवाले हैं उनको प्रवर्तक कहते हैं तथा जो एक देश मर्यादाको पालन करने बतलानेवाले चिरकालके दीक्षित हैं उनको स्थविर कहते हैं ॥६४९॥

ये चारों प्रकार के मुनि जगत्बंध होते हैं—

चत्वारस्ते जगद्वंधा योग्या भवन्ति भूतले । विनयस्य मुनीनां च सर्वेषां कृतिकर्मणाम् ॥६५०॥

अर्थ—ये जगत्बंध चारों प्रकारके मुनि इस संसारमें अन्य मुनियों की विनय के और समस्त मुनियों के कृतिकर्म के योग्य होते हैं ॥६५०॥

कोन बंध नहीं है तथा किनके लिए कृतिकर्म अनावश्यक है—

शैथल्याच्चारणा मंदसंवेगा द्रव्यलिगिनः । द्विधासंगार्त्तसंसक्ताः शठाः पंडितमानिनः ॥६५१॥

नरेन्द्रमातृपित्रार्थ दीक्षाविद्यादिदायिनः । गुरुवचक्रियाहीनाः सर्वे पार्श्वलिगिनः ॥६५२॥

रागिणो विरताविश्वे कुदेवा भवन्तिनः । एते सतामबन्धा यतोऽयोग्याः कृतिकर्मणाम् ॥६५३॥

अर्थ—जिनका आचरण अत्यन्त शिथिल है, जिनका संवेग मंद है, जो द्रव्य लिगी हैं, बाह्याभ्यंतर परिग्रह धारण करने के कारण जो आतंघ्यातमें लीन रहते हैं, जो मूर्ख हैं, अपने को पण्डित मानते हैं, जो राजा या माता-पिताके कहने से दीक्षा या

विद्या देते हैं, जो गुरु क्रियाहीन हैं, जो जो पाखंडी हैं, रागी हैं, ब्रतहीन हैं, जो जो संसार में परिभ्रमण करनेवाले कुदेव हैं वे सब सज्जनों को वंदना करने के अयोग्य हैं तथा कृतिकर्म करने के अयोग्य हैं । उन्हें न वंदना करनी चाहिये और न उनके लिये कृतिकर्म करना चाहिये ॥६५१-६५३॥

पार्श्वस्थ के भेद तथा उनकी अव्यवस्था—

पार्श्वस्थाश्च कुशीला हि संसृक्ता वेषधारिणः । तथापगतसंज्ञाश्च मृगचारित्र्यनामकाः ॥६५४॥

एते पंचैवपार्श्वस्था न वंधाः संयतैः क्वचित् । अमोघं लक्षणं किंचिन्निष्ठाचारं ब्रूवेऽत्र च ॥६५५॥

अर्थ—जो मुनि पार्श्वस्थ हैं, कुशील हैं, वेषधारी संसृक्त हैं, अपगत संज्ञक हैं और मृगचारित्र्यी हैं वे सब पार्श्वस्थ कहलाते हैं । मुनियों को ऐसे पार्श्वस्थों की वंदना कभी नहीं करनी चाहिये । आगे में संक्षेप से इन पार्श्वस्थों का थोड़ा सा लक्षण और निष्ठ आचरण कहता हूँ ॥६५४-६५५॥

पार्श्वस्थ मुनियों का लक्षण—

वसतिप्रतिबद्धा ये बहुमोहाः कुमार्गगाः । संगोपकरणादीनांकारकाः शुद्धिदूरगाः ॥६५६॥

दूरस्थाः संयतेभ्यो दुष्टाऽसंयतादि सेविनः । अजिताक्षकषायाश्च द्रव्यलिगधरा भुवि ॥६५७॥

गुणेभ्योदृग्बिदाविभ्यः पार्श्वे तिष्ठन्तियोगिनाम् ।

ते पार्श्वस्था जिनैः प्रोक्ताः स्तुतिमुत्थादि वज्रिताः ॥६५८॥

अर्थ—जो सदा वसतिकामें निवास करते हैं, जो अत्यन्त मोही हैं कुमार्गगामी हैं, परिग्रह और उपकरण आदि को उत्पन्न करनेवाले हैं, जो शुद्धता से दूर रहते हैं, संयमियोंसे दूर रहते हैं, दुष्ट असंयमियों की सेवा करते हैं जो न तो इंद्रियों को जीतते हैं और न कषायों को जीतते हैं जो संसार में केवल द्रव्य लिगको धारण करते हैं, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान आदि गुणों के लिये मुनियों के पास रहते हैं उनको भगवान् जिनेन्द्रदेव पार्श्वस्थ मुनि कहते हैं ऐसे मुनि स्तुति वा नमस्कार आदि सबसे रहित होते हैं ॥६५६-६५८॥

कुशील मुनि का स्वरूप—

शीलं च कुत्सितं येषां निष्ठमाचरणं सताम् । स्वभावो वा कुशीलास्ते क्रोधादिप्रस्तमानसाः ॥

अर्थ—जिनका शील भी कुत्सित है, जिनके आचरण भी निष्ठ हैं, जिनका स्वभाव भी निष्ठ है और जिनका मन क्रोधादिक से भरा हुआ है उनको कुशील कहते

हैं ॥६५६॥

इन्हीं का पुनः विवेचन—

अतशीलगुणैर्हीनः अयशः करणे भुवि । कुशलाः साधुसंगानां कुशीला उदिताः स्वताः ॥६६०॥

अर्थ—ये कुशील मुनि अतशील और गुणों से रहित होते हैं, साधु और संघ का अपयश करने में जो संसार भरमें कुशल होते हैं तथा जो दुष्ट होते हैं ऐसे मुनियों को कुशील कहते हैं ॥६६०॥

संसक्त मुनियों का स्वरूप—

असक्ता बुधियोनिध्या असंयतगुणेषु ये । सदाहाराविगुह्यघा च वैद्यज्योतिषकारिणः ॥६६१॥

राजादिसेषमो मूर्खा मंत्रतंत्रादितत्पराः । संसक्तास्ते बुधैः प्रोक्ता षूतवेषाश्चलंपटाः ॥६६२॥

अर्थ—जो मुनि चारित्र्य पालन करने में असमर्थ हैं, विपरीत बुद्धिको धारण करनेवाले हैं, असंयमियों में भी निध्न हैं, जो आहारादिक की लालसा से ही, वैद्यक वा ज्योतिष का व्यापार करते हैं, राजादिकों की जो सेवा करते हैं, जो मूर्ख हैं, मंत्र तंत्र करने में तत्पर हैं, और जो लंपटी हैं ऐसे भेष धारण करनेवाले मुनियों को बुद्धिमान लोग संसक्त मुनि कहते हैं ॥६६१-६६२॥

अपगत संज्ञक मुनि कौन होते हैं ?

विनष्टाः प्रगताः संज्ञाः सम्यग्ज्ञानादिजाः पराः । येषां ते लिंगनोत्रापपगतसंज्ञा भवन्तिभो ॥

अर्थ—जिनकी सम्यग्ज्ञानादिक संज्ञा सब नष्ट हो गई है चली गई है ऐसे भेषधारी मुनियों को अपगत संज्ञक कहते हैं ॥६६३॥

मृगचारित्र्य मुनि कौन है ?

जिनवाक्यमज्ञानानां भ्रष्टाः चारित्र्यवर्जिताः । सांसारिकमुखासक्ताः करणालसमानताः ॥

मृगस्थेव चारित्र्यं चाचरणं स्वेच्छया भुवि । येषां ते मृगचारित्र्या भवेयुः पापकारिणः ॥६६४॥

अर्थ—जो भगवान् जितेन्द्रदेव के वाक्यों को समझते ही नहीं जो भ्रष्ट हैं, चारित्र्य से रहित हैं, संसार के विषयजन्य सुखोंमें लीन रहते हैं, जिनका मन चारित्र्यके पालन करने में आलसी रहता है जो इस संसारमें हिरण्यों के समान अपनी इच्छानुसार चारित्र्य वा आचरणों को पालन करते हैं उन पापियों को मृगचारित्र्य नामके मुनि कहते हैं ॥६६४-६६५॥

उक्त पाँचों प्रकार के मुनि अर्थ—

स्वच्छन्दचारिणो जन्ममार्गवृषणदायिनः । त्यक्त्वाचार्योपदेशांश्चैकाकिनो धृतिर्विजिताः ॥६६॥
दर्शनज्ञान चारित्र्य तपेभ्यो विनयाच्छ्रुतात् । दूरीभूताश्च पार्श्वस्था एते पञ्चैव धुर्मगः ॥६७॥
छिद्रादिप्रेक्षिणोऽपि गुणयोगिसतां सदा । अयंघ्नाः सर्वथाभिद्या अयोभ्या कृतिकर्मणाम् ॥६८॥

अर्थ—ये ऊपर लिखे पाँचों प्रकार के मुनि स्वच्छन्दचारी होते हैं, जन्म धर्ममें दोष लगाने वाले होते हैं, आचार्योंके उपदेश को छोड़कर एकाकी रहते हैं, धर्मसे सदा रहित होते हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य, सम्यक्तप विनय और धृतज्ञानसे सर्वथा दूर रहते हैं, भाग्यहीन होते हैं तथा गुणी मुनि और सज्जनों के दोष देखने में ही निपुण होते हैं छिद्रान्वेषी होते हैं । इसीलिये ये अशंसनीय होते हैं सर्वथा निन्द्य होते हैं और कृतिकर्म के अयोग्य होते हैं ॥६६-६८॥

किसी भी लोभसे उक्त मुनियों की वंदना न करनी चाहिए—

एषां पूर्वोदितानां न जातु कार्यं न वंदना । विनयाद्या न शास्त्रादिलाभाभोत्याविभिर्बुधैः ॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुषों को किसी शास्त्र आदि के लोभसे वा किसी भयसे भी ऊपर कहे हुए पार्श्वस्थ आदि मुनियोंकी वंदना कभी नहीं करनी चाहिये और न इनकी विनय करनी चाहिये ॥६९॥

उक्त मुनियों को वंदना करने से रत्नत्रय की हानि—

अमीषां भ्रष्टवृत्तानां ये कुर्वन्ति स्वकारणात् । विनयादि नुतिस्तेषांभ्य बोधिनिश्चयः कथम् ॥

अर्थ—जो पुरुष अपने किसी भी प्रयोजन से भ्रष्ट चारित्र्य को धारण करने वाले इन पार्श्वस्थोंकी विनय करता है वा इनको वंदना करता है उनके रत्नत्रय और श्रद्धा वा निश्चय कभी नहीं हो सकता अर्थात् कभी रत्नत्रय नहीं हो सकता ॥७०॥

सज्जनों की हानि—

यतः पलायते नूनं सम्यक्त्वं सव्गुणः समम् । लोभन्ते दोषा मिथ्यात्वा नीचसंगनुते सताम् ॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि नीच लोगों के संसर्ग से वा उनको नमस्कार करने से सज्जनों का समस्त श्रेष्ठ गुणों के साथ सम्यग्दर्शन दूर भाग जाता है और मिथ्यात्व आदि दोष सब उन सज्जनों में आ मिलते हैं ॥७१॥

बत्तों को जड़ मूलसे गिराने वाला है—

मत्वेति जातु कार्यं न तेषां संगोयकीतिकृत् । वत्तमूलहरी निद्यः सद्भिः शास्त्रादि लोभतः ॥

अर्थ—यही समझकर सज्जन पुरुषों को किसी शास्त्र आदि के लोभसे भी इन भ्रष्ट मुनियों का संसर्ग नहीं रखना चाहिये क्योंकि इनका संसर्ग अपकीर्ति करने वाला है, अतों को जड़ मूलसे हरण करनेवाला है और निदनीय है ॥६७२॥

पुष्प-माला का दृष्टांत—

पुष्पमालाहंती यद्वत्संपर्काब्धयतां वजेत् । अस्पृशतां च लोकेहि मृतकस्य न संशयः ॥६७३॥
तद्वन्महात्मना संगत्पूज्यतां यांति संयताः । नीचात्मनामिहामुत्र निच्यतां च यदेपदे ॥६७४॥

अर्थ— देखो जिस प्रकार भगवान् अरहंतदेवके संसर्गसे पुष्पमाला भी वंदनीय गिनी जाती है और मृत पुरुष के (मुर्दा के) संसर्ग से वही पुष्पमाला अस्पृश्य छूने अशुभ मानी जाती है उसी प्रकार संसर्ग से लोग भी महात्माओं के संसर्ग से पूज्यताको प्राप्त होते हैं और नीचों के संसर्ग से इस लोक और परलोक में पद-पद पर निंदनीय हो जाते हैं । इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥६७३-६७४॥

संसर्ग के कारण मृग्य और दोष—

यथापद्माविद्योगेन सुगन्धं शीतलं जलम् । भाजनानलसंपर्कात्संतप्तं जायतेतराम् ॥६७५॥
तथात्रोत्तमसंगेनोत्तमोगी तद्गुणैः समम् । भवेद्भीषप्रसंगेन नीचश्चतद्गुणैः सह ॥६७६॥

अर्थ—देखो कमल आदि के संयोग से जल सुगन्धित और शीतल हो जाता है तथा वर्तन और अग्निके संसर्गसे वही जल अत्यन्त गर्म हो जाता है । उसी प्रकार यह पुरुष भी उत्तम पुरुषों के संसर्ग से उनके उत्तम गुणों के साथ-साथ उत्तम बन जाता है और नीच पुरुषों के संसर्ग से उनके नीच गुणों के साथ-साथ नीच हो जाता है ।

साहकार भी खोटी संगति से जोर कहलाता है—

अक्षौरश्चोरोसंसर्गाद्यथा चोरोत्र कथ्यते । साधुश्चासाधुसंसर्गविसाधनन्यथा तथा ॥६७७॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई साहूकार भी चोर के संसर्ग से चोर कहलाता है। उसी प्रकार साधु पुरुष भी असाधुओं के संसर्ग से असाधु ही कहलाता है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥६७७॥

निर्गुणी भी गुणी पुरुष की संगति से गुणवान् बन जाता है—

असाधुः श्रोक्ष्यते साधुर्मथात्र साधुसेवया । निष्ठुराणोपि तथा लोकेगुणी च गुणिसेवया ॥६७८॥

अर्थ—इस संसार में जिस प्रकार असाधु पुरुष भी साधु की सेवा करने से

साधु कहलाते हैं उसीप्रकार निर्गुणी पुरुष भी गुणी पुरुषों की सेवा करने से इस लोक में गुणी ही कहलाते हैं ॥६७८॥

किमत्र बहुनोक्तेन गुणाश्चक्षोषाश्च देहिनाम् । संसर्गजनितान् मय्ये सर्वान् बुद्ध्या न ज्ञान्यथा ॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि जीवोंके जितने गुण वा दोष हैं वे सब संसर्गजन्य ही माने जाते हैं । न तो वे गुण दोष बुद्धिसे उत्पन्न होते हैं और न किसी अन्य प्रकार से उत्पन्न होते हैं ॥६७९॥

नीच पुरुषों की संगति कभी नहीं करनी चाहिये—

विज्ञायेद्युत्तमानां च संगमुक्त्वा गुणार्थिभिः । क्वचित्संगो न कर्तव्यो नीचानां कार्यकोटिषु ॥

अर्थ—यही समझकर गुण चाहनेवाले पुरुषोंको करोड़ों कार्य होनेपर भी उत्तम पुरुषोंके संसर्गको छोड़कर कभी भी नीच पुरुषोंका संसर्ग नहीं करना चाहिये ॥६८०॥

आदर्श मुनिराज की भक्ति करना चाहिये—

महाव्रतसमित्याद्यैः कलितान् धर्मभूषितान् । बाह्यान्तर्ग्रन्थनिर्मुक्तान् युक्तान् सद्गुणसम्पदा ॥
मुमुक्षून् धमणास्त्रितं ध्यानाध्ययनतत्परान् । वंदस्व परया भक्त्या त्वं मेधाविन् शिवाप्तये ॥

अर्थ—इसलिये हे बुद्धिमान् ! जो मुनि महाव्रत और समिति आदि से सुशो-
भित हैं, धर्मसे विभूषित हैं, बाह्य और आन्तर्य परिग्रहों से रहित हैं, श्रेष्ठ गुणरूपी
संपदा से सुशोभित हैं जो ध्यान और अध्ययन करने में सदा तत्पर रहते हैं और मोक्ष
की इच्छा करनेवाले हैं ऐसे मुनियों की मोक्ष प्राप्ति करने के लिये परम भक्ति पूर्वक
वंदना कर ॥६८१-६८२॥

आत्मध्यान में लीन मुनि ही संसार में वंदनीय हैं—

सम्यग्बुद्धज्ञानधारित्रतपोविनय भूषणैः । भूषिता निर्ममानित्यंसर्वव्रागादिवस्तुषु ॥६८३॥

सत्ता गुणधराणां च ये वक्ष्यागुणवाक्विनः । आत्मध्यानरतास्तेत्र वंदनीया न चापरे ॥६८४॥

अर्थ—जो मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य तपोविनय आदि आभू-
षणों से सुशोभित हैं, जो अपने शरीर आदि पदार्थों में भी मोह रहित हैं, जो गुणों को
धारण करनेवाले सज्जनों के गुण वर्णन करने में निपुण हैं और जो आत्मध्यानमें लीन
हैं ऐसे मुनि ही इस संसार में वंदनीय हैं अन्य नहीं ॥६८३-६८४॥

ध्यान अध्ययन से रहित मुनि को नमस्कारादि नहीं करना चाहिए—

केनचिद्धेतुना व्याकुलचित्ता मुनयोप्यहो । प्रमत्ता निवृत्ताः सुप्ता विफयादिरताशयाः ॥६८५॥

आहारं यदि कुर्वणा नीहारं वा परान्मुखः । नार्हा सतां नमस्कारे ध्यानाध्ययनवर्जिताः ॥

अर्थ—जिन मुनियों का चित्त किसी भी कारणसे व्याकुल है, जो प्रमादी हैं, निद्रित हैं, सोए हुए हैं, विकथा आदि करने में लीन हैं, जो आहार वा नीहार कर रहे हैं अथवा जो परान्मुख हैं और जो ध्यान अध्ययनसे रहित हैं ऐसे मुनि सज्जन पुरुषों को कभी नमस्कार करने योग्य नहीं होते ॥६८५-६८६॥

मैं आपको वंदना करना चाहता हूँ (आसन शुद्ध) इसप्रकार सूचित करना चाहिए—

पर्यंकासनस्था ये शुभध्यानपरायणाः । गुरवः शान्तरूपाः शुद्धाचार्यादयोऽस्त्रिताः ॥६८७॥

तेभ्यः स्वस्यान्तरे स्थित्वा हस्तमात्रेणमुश्रवः । प्रतिलेख्य धरपादगुह्यादीश्च प्रवंदनाम् ॥६८८॥

अर्थ—जो मुनि पर्यंकासन वा अन्य किसी आसन से विराजमान हैं जो गुरु शुभध्यान में तत्पर हैं और अत्यन्त शान्त हैं ऐसे शुद्ध आचार्य उपाध्याय वा साधु हैं उनसे एक हाथ दूर बैठकर तथा पृथ्वी, पाद, गुह्य, इन्द्रिय आदि का प्रतिलेखन कर (पीछीसे शुद्ध कर) “मैं आपके लिये वंदना करना चाहता हूँ” इसप्रकार उनको सूचित कर मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनियोंको उनकी वंदना करनी चाहिये तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिये उनका कृतिकर्म करना चाहिये ॥६८७-६८८॥

कल्याण करनेवाली वंदना करनी चाहिए—

भवद्भ्यः कर्तुं मिच्छाम इति विज्ञाय संयताः । कुर्वंतु वंदनां तेषां कृतिकर्मणिमुक्तये ॥६८९॥

मायागर्वादिदूरस्थेः शुद्धभावेननुद्धतैः । जनयन्त्रिः सुसंवेगं कृतिकर्मविधायितान् ॥

आचार्योद्यं जगद्वन्द्यं स्तेयोग्यमधुरोक्तिभिः । वंदनाभ्युपगंसत्वा स्वान्ययो शुभकारिणी ॥६९०॥

अर्थ—जो आचार्यादिक माया अहंकार आदि से रहित हैं, शुद्ध भावों को धारण करनेवाले हैं, उद्धततासे रहित हैं, संवेगको उत्पन्न करनेवाले हैं और जगद्वन्द्य हैं ऐसे आचार्य उपाध्याय और श्रेष्ठ साधुओं को योग्य और मधुर वचन कहकर कृति कर्म करने वालों की वह अपना और दूसरों का कल्याण करनेवाली वंदना स्वीकार करनी चाहिये ॥६८९-६९०॥

मुनियों को गुरु वंदना कब आवश्यक है—

प्रश्ने चालोचना काले स्वापराधे सुसंयतैः । गुरुणां वंदना कार्यास्वाध्यायावश्याविशु ॥६९१॥

अर्थ—किसी प्रश्नके पूछने पर, आलोचना करते समय, अपना कोई अपराध हो जानेपर और स्वाध्याय आदि आवश्यक कार्यों के करते समय मुनियों को अपने गुरु की वंदना करनी चाहिये ॥६९१॥

शिरोनति के पूर्व कर्म आवश्यक—

एकैकस्मिन् सनूत्सर्गे मूर्ध्नाङ्घ्रिवनसी पृथक् । आवर्ता द्वादश स्थुञ्चानुःशिरोनतयो यथा ॥६६२॥

अर्थ—प्रत्येक कायोत्सर्ग में आदि अंत में दो नमस्कार, बारह आवर्त और चारों दिशाओं में चार प्रणाम वा शिरोनति करनी चाहिये ॥६६२॥

१२ आवर्तों का क्रम तथा चारों दिशाओं में शुभ प्रणाम—

चतुर्विधं च चत्वारःप्रणामा भ्रमणेशुभाः । एकैकस्मिन् बुधर्ज्या आवर्ता द्वादशेवहि ॥६६३॥

अर्थ—विद्वानों को एक एक प्रवक्षिणा में चारों दिशाओं में चार शुभ प्रणाम करने चाहिये और बारह आवर्त करना चाहिये ॥६६३॥

शुभ भावनाओं को करनेवाला कृतिकर्म करें—

इत्थंचसकलंसारं कृतिकर्मशुभावहम् । मनोवाक्कायसंशुद्धं प्रयत्नोभयभूषितम् ॥६६४॥

द्विविधस्थानसंयुक्तं मवातीतं सुयोगिनः । दोषातिगं यथाजातं कुर्वतुविनयादिभिः ॥६६५॥

अर्थ—इसप्रकार समस्त दोषोंसे रहित, शुभ भावनाओं को धारण करनेवाला, सारभूत यह कृतिकर्म मुनियों को मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक, शब्द अर्थ और शब्दार्थ से विभूषित होकर, तथा मद रहित होकर और दोनों प्रकार के स्थानों से सुशोभित होकर विनयादिक के साथ यथार्थ रीतिसे करना चाहिये ॥६६४-६६५॥

वंदना के ३२ दोष—

दोषश्चानादृतः स्तब्धः प्रविष्टः परिपीडितः । बोलायतात्यदोषोऽकुशितः कच्छपरिगितः ॥६६६॥

मत्स्योद्धर्तं मनोदुष्टोवेदिकावधएवहि । भयाभिधोविभ्यदेष ऋद्धिगौरवगौरवौ ॥६६७॥

स्तेनितः प्रतिनीताख्यः प्रदुष्टस्तजिताभिधः । शब्दोहीलितदोषस्त्रिवलितः कुञ्चिताह्वायः ॥

दृष्टोदृष्टाभिधः संघकरमोचनसंज्ञकः । आलम्बाख्योऽपमालब्धो हीन उत्तरचूलिकः ॥६६८॥

मूकाख्यो ददुरोदोष तथा च सुलुताख्यकः वंभया इमे दोषास्तयाख्याद्वात्रिशदेवहि ॥१०००॥

अर्थ—इस वंदना के बत्तीस दोष हैं और वे ये हैं—अनादृत, स्तब्ध, प्रविष्ट, परिपीडित, बोलायित, अंकुशित, कच्छपरिगित, मत्स्योद्धर्त, मनोदुष्ट, वेविकावद्ध, भय, विभ्यदोष, ऋद्धिगौरव, गौरव, स्तेनित, प्रतिनीत, दुष्टदोष, तजित, शब्द, हीलित, विधलित, कुञ्चित, दृष्ट, अदृष्ट, संघकर, मोचन, लब्ध, अनालब्ध, हीन, उत्तर, चूलिक, मूक, ददुर और सुलुलित । वंदना के ये बत्तीस दोष हैं, वंदना करते समय इन सबका त्याग कर देना चाहिये ॥६६६-१०००॥

अनादृत नामका दोष—

आवरेण बिना यच्च शैथिल्येन प्रमादिभिः क्रियते त्रिक्रियाकर्म दोषः सोनावृताह्वयः ॥१००१॥

अर्थ—आदरके बिना शिथिलता पूर्वक प्रमोद के साथ क्रियाकर्म करना अनादृत नामका दोष है ॥१००१॥

स्तब्ध दोष—

श्रुतविद्यादिगर्वेण प्रोद्धताशयसंयतः । विधीयते क्रियाकर्म यस्तब्धदोष एव सः ॥१००२॥

अर्थ—श्रुतज्ञान वा विद्या आदि के अहंकारसे उद्धत हुए मुनियों के द्वारा जो क्रियाकर्म किया जाता है उसको स्तब्ध दोष कहते हैं ॥१००२॥

प्रविष्ट दोष—

अत्यन्तप्रोक्तमूर्खायः पञ्चानां परमेष्ठिनाम् । क्रियाकर्म विषसेसः प्रविष्टदोषमाप्नुयात् ॥१००३॥

अर्थ—जो पाँचों परमेष्ठियों के अत्यन्त निकट होकर क्रियाकर्म वा वंदना करता है उसको प्रविष्ट नामका दोष प्राप्त होता है ॥३॥

परिपीडित दोष—

करञ्जानुप्रवेशेन संस्पृश्य परिपीडयवा । करोति वंदनां तस्य दोषास्यात्परिपीडितः ॥४॥

अर्थ—जो अपने हाथसे जंघा को स्पर्श करता हुआ वा जंघाको दबाता हुआ वंदना करता है उसको परिपीडित नामका दोष लगता है ॥४॥

दोलायित दोष—

यः कृत्वा चलमात्मानं दोलामिवास्त्रबंदनाम् । संशयित्वाथवा कुर्यात्सदोलायितदोषभाक् ॥५॥

अर्थ—जो मुनि झूलाके समान आत्माको चलायमान करता हुआ अथवा संशय में पड़कर वंदना करता है उसको दोलायित नामका दोष लगता है ॥५॥

अंकुशित नामक दोष—

कृत्वांकुशमिवात्मीये ललाटेगुण्डमेवयः । भजते वंदनां तस्य दोषोऽंकुशित नामकः ॥६॥

अर्थ—जो मुनि अंकुश के समान अपने ललाट पर अंगूठे को रखकर वंदना करता है उसको अंकुशित नामका दोष प्रगट होता है ॥६॥

कच्छपरिगत नामक दोष—

विधाय कच्छपस्थे कटीभागेन चोष्ठितम् । कुरुते वंदनां यः सः भजित्कच्छपरिगतम् ॥७॥

अर्थ—जो अपनी कमर से कच्छप के समान खेष्टा करता हुआ बंदना करता है उसके कच्छपरिगत नामका दोष लगता है ॥७॥

मत्स्योद्वर्त दोष—

मत्स्यस्येव कटीभारोद्वर्तनं स विधाय वा बंदना वा द्विपाश्वेन मत्स्योद्वर्तः स उच्यते ॥८॥

अर्थ—जो मछलीके समान अपनी कमरको ऊंची निकालकर बंदना करता है अथवा जो दोनों बगलोंसे बंदना करता है उसको मत्स्योद्वर्त नामका दोष लगता है ॥८॥

मनोदुष्ट नामका दोष—

दुष्टो भूत्वा हृदाचार्यादीनां क्लेशयुतेन वा विषक्षेयः क्रियाकर्म समनोदुष्टदोषभाक् ॥९॥

अर्थ—जो मुनि आचार्यों को क्लेश पहुंचा कर वा आचार्यों के प्रति अपने मनमें कुछ दुष्टता धारण कर बंदना करता है उसको मनोदुष्ट नामका दोष लगता है ॥९॥

वेदिकावद्ध दोष—

वेदिकाकारहस्तान्मयां बद्धा जामुद्वयंस्वयम् । बंदनाकरणं यत्सवेदिकावद्धसंज्ञकः ॥१०॥

अर्थ—जो बेड़ी के आकारके अपने दोनों हाथों से दोनों जंघाओं को बांधकर बंदना करता है उसको वेदिकावद्ध नामका दोष लगता है ॥१०॥

भय नामक दोष—

मृत्वाविभयभीतो यः भयव्रस्तोभयेन वा । करोति बंदनां तस्य भयदोषोऽप्रजायते ॥११॥

अर्थ—जो मृत्यु आदि के भयसे भयभीत होकर अथवा किसी भयसे व्रस्त होकर बंदना करता है उसको भय नामका दोष लगता है ॥११॥

विभ्य नामक दोष—

परमार्थतिगाक्तस्य गुर्वाविभ्योऽविभ्यतः । बंदनाकरणं यत्सविभ्यदोषोऽशुभप्रदः ॥१२॥

अर्थ—जो अज्ञानी मुनि परमार्थ को न जानता हुआ गुरुसे डर कर बंदना करता है उसके अशुभ उत्पन्न करनेवाला विभ्य नामका दोष लगता है ॥१२॥

ऋद्धि गौरव दोष—

चातुर्वर्णसुसंधेभ्योभक्ति कीर्त्यादिहेतवे । बंदनां यो विधत्ते स ऋद्धिगौरवदोषवान् ॥१३॥

अर्थ—जो मुनि चारों प्रकारके संघसे भक्ति वा कीर्ति चाहने के लिये बंदना

करता है उसको ऋद्धि गौरव नामका दोष लगता है ॥१३॥

गौरव नामका दोष—

आविष्कृत्य समाहात्म्यमासनाद्यैः सुखाय वा कुर्याद्यो बंदनां तस्यदोषो गौरवसंज्ञकः ॥१४॥

अर्थ—जो मुनि किसी विशेष आसन आदि के द्वारा अपना माहात्म्य प्रगट कर बंदना करता है अथवा जो अपने किसी सुखके लिये बंदना करता है उसको गौरव नामका दोष लगता है ॥१४॥

स्तेनित नामक दोष—

चौरबुद्ध्यास्वगुर्वादीनां करोति यः बंदनाम् । चौरयित्वास्वमन्येषां तस्याघःस्तेनिताभिधः ॥१५॥

अर्थ—जो मुनि चोर की बुद्धि रखकर अन्य मुनियों से छिपाकर गुरु आदि की बंदना करता है उसके स्तेनित नामका दोष लगता है ॥१५॥

प्रतिनीत दोष—

प्रतिकूलोत्रयो भूत्वा देवगुर्वादियोगिनाम् । बंदनां कुस्ते तस्य प्रतिनीताह्वयोमलः ॥१६॥

अर्थ—जो मुनि देव शास्त्र गुरुसे प्रतिकूल होकर बंदना करता है उसके प्रतिनीत नामका दोष लगता है ॥१६॥

बुष्ट नामक दोष—

विधाय कलहाद्यन्यः सह क्षन्तव्यमाशु यः । अकुत्सा बंदनां कुर्यात्सिबुष्टदोषमाप्नुयात् ॥१७॥

अर्थ—जो मुनि किसी से कलह करके बिना उससे क्षमा कराये बंदना करता है उसके बुष्ट नामका दोष लगता है ॥१७॥

तर्जित नामक दोष—

अन्यान्यस्तर्जयन्गुल्या वा गुर्वादितर्जितः । श्रयते बंदनां तस्यदोषस्तर्जितसंज्ञकः ॥१८॥

अर्थ—जो मुनि दूसरों को तर्जना करता हुआ बंदना करता है अथवा गुरुके द्वारा तर्जना किया हुआ बंदना करता है उसको तर्जित नामका दोष लगता है ॥१८॥

शब्द नामक दोष—

मौनं त्यक्त्वा क्लृपाणो यः क्रियाकर्मनिजेच्छया । करोति तस्य जायेत शब्ददोषोऽकारकः ॥१९॥

अर्थ—जो मुनि मौन को छोड़कर अपनी इच्छानुसार बोलता हुआ क्रियाकर्म (बंदना) करता है उसको पाप उत्पन्न करनेवाला शब्द नामका दोष लगता है ॥१९॥

हीलित नामक दोष—

कृत्वापरिभवं वाक्येनाचार्योदिमहत्तमनाम् । क्रियाकर्म विधत्ते यः सः स्याद्वीलितदोषभाक् ॥२०॥

अर्थ—जो मुनि किसी वाक्य आदि के द्वारा आचार्य आदि महापुरुषों का तिरस्कार कर गंदना करता है उसको हीलित नामका दोष लगता है ॥२०॥

त्रिवलित दोष—

कृत्वात्रिवलितं कटघाटी सलाटेयवाश्रयः । विदधाति क्रियां तस्यदोषस्त्रिवलितद्वयः ॥२१॥

अर्थ—जो मुनि अपनी कमर में त्रिवली डालकर अथवा ललाट पर त्रिवली डालकर बंधना करता है उसके त्रिवलित नामका दोष होता है ॥२१॥

कुंचित नामक दोष—

हस्ताभ्यां स्वशिरः स्पर्शं जानुमध्येविधाय वा यः करोति क्रियाकर्म तस्य दोषोऽङ्कुचितः ॥२२॥

अर्थ—जो मुनि अपने हाथसे मस्तकको स्पर्श करता हुआ अथवा अपने मस्तक को जंघाओं के बीच में रखकर बंधना करता है उसको कुंचित नामका दोष लगता है ॥२२॥

दृष्ट नामक दोष—

प्राचार्याहंश्चदृष्टोयः सम्पक्करोति वंदनाम् । चान्यथा वा विशः पश्यन् दृष्टदोषोऽत्र तस्य वै ॥

अर्थ—आचार्यों वा अन्य किसी के देख लेने पर तो जो अच्छी तरह बंदना करता है और किसी के न देखने पर सब बिशाओं की ओर देखता हुआ बंदना करता है उसके दृष्ट नामका दोष लगता है ॥२३॥

अदृष्ट नामक दोष—

स्यक्त्वा दृष्टिपंथमोत्राचार्योवीनां च वंदनाम् । करोत्यप्रतिलेख्यांगभूमिं सो दृष्टिदोषभाक् ॥२४॥

अर्थ—जो आचार्यों की दृष्टि को बचाकर तथा शरीर भूमि आदि को बिना प्रतिलेखन किये बंदना करता है उसको अदृष्ट नामका दोष लगता है ॥२४॥

संघकर मोचन नामका दोष—अर्थमें (कर) ज्यादा छपा है—

संघस्य करदामार्थं वासंघभक्तिवांछया । क्रियते यत्क्रियाकर्म तत्संघकरमोचनम् ॥२५॥

अर्थ—जो मुनि बंदना को संघका कर समझकर क्रियाकर्म वा गंदना करता है अथवा संघसे भक्ति चाहने की इच्छा से गंदना करता है उसको संघकर मोचन नाम

का दोष लगता है ॥२५॥

लब्ध नामका दोष—

लब्धोपकरणादि य सानंदः सर्ववन्दनाम् । कुक्षे भाग्यया तस्य लब्धदोषः प्रजायते ॥२६॥

अर्थ—जो मुनि किसी उपकरण आदि को पाकर आनन्द के साथ पूर्ण वंदना करता है तथा उपकरण आदि को न पाने से वंदना नहीं करता उसको लब्ध नामका दोष लगता है ॥२६॥

अनालब्ध नामका दोष—

योऽप्युपकरणं लप्स्येहमत्रेतधियामुनिः । विधत्ते वंदनां तस्यदोषोनालब्धसंज्ञकः ॥२७॥

अर्थ—यहां पर आज मुझे कोई उपकरण अवश्य प्राप्त होगा इस प्रकार की बुद्धि रख कर जो मुनि वंदना करता है उसके अनालब्ध नाम का दोष लगता है ॥२७॥

हीन नामक अशुभ दोष—

अथाप्येकालहीनां सत्परिणामविवर्जिताम् । ततोऽपि वंदनां तस्य हीनदोषो शुभोभवेत् ॥२८॥

अर्थ—जो मुनि शब्द अर्थ से रहित, काल से रहित और शुभ परिणामों से रहित वंदना करता है उसके हीन नामका अशुभ दोष लगता है ॥२८॥

उत्तरचूलिका दोष—

वंदनां स्तोक कालेन निर्वर्त्यकार्येतिद्वये । वंदना चूलिकासूतस्थालोचनात्मकस्य वै ॥२९॥

कालेनमहता कृत्वा निर्वर्तनं करोति यः । वंदनां स्थाञ्चतस्योत्तर चूलिकाह्वयोमलः ॥३०॥

अर्थ—जो मुनि अपने कार्य की सिद्धिके लिये वंदना को बहुत थोड़े समय में पूर्ण कर लेता है तथा वंदना की चूलिका भूत जो आलोचना है उसके करने में बहुत समय लगाता है उसको उत्तर चूलिका नामका दोष लगता है ॥२९-३०॥

मूक नामका दोष—

मूकवन्मुखमध्येयो वंदनां वितनोति वा । कुर्वन् हस्ताद्यहंकार संज्ञां स मूक दोषवान् ॥३१॥

अर्थ—जो मुनि गूंगेके समान मुखके भीतर ही भीतर वंदना करता है अथवा हाथ आदि के इशारे से अहंकार को सूचित करता हुआ वंदना करता है उसको मूक नामका दोष लगता है ॥३१॥

दुर्गुर दोष—

स्वशब्देनाभिभूयान्यशब्दान् ब्रह्मगलेन वा । वंदनां कुर्वते तस्य दोषो दुर्गुर नामकः ॥३२॥

अर्थ—जो मुनि अपने ऊँचे गले की आवाज से दूसरे मुनियों के शब्दों को दबाता हुआ, तिरस्कार करता हुआ वंदना करता है उसके दुर्गुर नामका दोष लगता है ॥३२॥

धुलुलित दोष—

स्थित्वैकस्मिन् प्रवेशे यः सर्वेषां वंदनांभजेत् । दोषश्धुलुलितस्तस्यपञ्चमादिस्वरेण वा ॥३३॥

अर्थ—जो मुनि एक ही प्रवेश में बैठकर सब मुनियों की वंदना कर लेता है अथवा जो पंचम स्वर से ऊँचे स्वर से वंदना करता है उसके धुलुलित नामका दोष लगता है ॥३३॥

ऐते दोषः सदा त्याज्याः कृतिकर्म मत्प्रदाः । द्वात्रिंशत्सर्वयत्नेन यज्ञावश्यकमुद्धये ॥३४॥

अर्थ—मुनियों को अपने छहों आवश्यक शुद्ध रखने के लिये पूर्ण प्रयत्न के साथ इन बत्तीस दोषों का सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये क्योंकि ये दोष वंदना में मल उत्पन्न करनेवाले हैं ॥३४॥

अमीषां केनचिद्दोषेण समं कृतिकर्म यः । कुर्वन् सर्वभवेभिर्जराभागी जातुनोमतिः ॥३५॥

अर्थ—जो मुनि इन दोषों में से किसी भी दोष के साथ वंदना करता है वह पूर्ण निर्जरा का भागी कभी नहीं हो सकता ॥३५॥

उपरिलिखित दोष वंदना में मल उत्पन्न करते हैं—

भवेत्यमूर्श्च तद्दोषान् सम्यक्स्यक्वासुसंयताः । कुर्वन्तु कृतिकर्माणि सर्वाणि निर्जरास्तये ॥३६॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को कर्म की निर्जरा करने के लिये इन समस्त दोषों का त्याग कर कृतिकर्म वा वंदना करनी चाहिये ॥३६॥

उच्च पद प्राप्त करने के लिये वंदना सदा करना चाहिये—

नृसुरजितयतीनां विश्वसम्पत्तिस्थानि वरपवजननीं वा सद्गुणारामवृष्टिम् ।

अतुलसुखनिधिसद्वंदना धर्ममाग्यां प्रभजत शिवकामाः सर्वदोषैःपवाप्ये ॥३७॥

अर्थ—यह वंदना नामका आवश्यक मनुष्यदेव और जिनेन्द्रदेव की समस्त सम्पत्तियों की खानि है, इन्द्रादिक श्रेष्ठ पदों को देनेवाली है, श्रेष्ठ गुणरूपी बगीचे के

लिये वर्षाके समान है अनुपम सुखों की तिथि है और धर्मात्मा लोगों को सदा मान्य है इसलिये भोक्षकी इच्छा करने वालों को उच्च पद प्राप्त करने के लिये यह वंदना सदा करते रहना चाहिये ॥३७॥

उपसंहारात्मक संगलाचरणा—

तीर्थेशान् धर्ममूलान् त्रिभुवनपतिभिः सेव्यमानाघ्नियद्धान्,
सिद्धानन्तातिगान् सद्गुणकलितान् ज्ञानवेदानवेदान् ।
सुरीनाचारवक्षान् स्वपरहितकरान् पाठकान् ज्ञानश्रद्धान्,
साधून्सर्वाश्चमूलोत्तरगुणजलधीन्संस्तुवेतद्गुणाद्यैः ॥१०३८॥

इति मूलाचार प्रदीपाख्ये महाप्रथमे भट्टारके श्री सकलकीर्ति विरचिते मूलगुण
व्यावर्णन पञ्चेन्द्रियबोधे सामायिकस्तुति वंदना गणने नाम तृतीयोधिकारः ।

अर्थ—जो तीर्थंकर परमदेव धर्मके मूल हैं और तीनों लोकों के समस्त इन्द्र
जिनके चरण कमलों को नमस्कार करते हैं ऐसे तीर्थंकरों को मैं उनके गुण प्राप्त करने
के लिये नमस्कार करता हूँ । जो अनंतसिद्ध सम्भक्त्व आदि आठों श्रेष्ठ गुणों से सुशो-
भित हैं तथा ज्ञान ही जिनका शरीर है और स्वयं शरीर रहित हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी
को भी मैं उनके गुण प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूँ । जो आचार्य पाँचों
आचारों को पालन करने में चतुर हैं जो उपाध्याय अपना और दूसरों का हित करने
वाले हैं, जो साधु ज्ञान और श्रद्धियों से सुशोभित हैं तथा मूलगुण और उत्तरगुण के
समुद्र हैं उन सबकी मैं उनके गुण प्राप्त करने के लिये स्तुति करता हूँ ॥१०३८॥

इसप्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित 'मूलाचार-प्रदीप' की भाषा टीका में, मूलगुणों के वर्णन
में पाँचों इन्द्रियों का निरोध तथा सामायिक स्तुति वंदना का निरूपण करने
वाला यह तीसरा अधिकार समाप्त हुआ ।



चतुर्थो धिकारः

मंगलाचरण—

पूर्णावश्यककर्तारो ये पंचपरमेष्ठिनः । गुणानामभ्यस्त्येष्टां वंदेऽग्रीस्तद्गुणाप्तये ॥१०३६॥

अर्थ—जो पाँचों परमेष्ठी पूर्ण आवश्यकों के करनेवाले हैं और गुणोंके समुद्र हैं उनके गुण प्राप्त करने के लिये मैं उनके चरण कमलों को नमस्कार करता हूँ । ॥१०३६॥

प्रतिक्रमण का स्वरूप संक्षेप में—

अथ वक्ष्ये समासेन व्रतरत्नमलापहाम् । प्रतिक्रमणं निर्युक्तिस्थान्येषां मुक्तिसिद्धये ॥१०४०॥

अर्थ—अब मैं अपने और दूसरों के मोक्ष की सिद्धि के लिये व्रतरूपी रत्नोंके दोषों को दूर करनेवाले प्रतिक्रमण के स्वरूप को संक्षेप से कहता हूँ ॥१०४०॥

व्रतों के दोषों को दूर करनेवाला प्रतिक्रमण होता है—

द्रव्यक्षेत्रादिकं भविः कृतापराधशोधनम् । स्थनिवागहंशान्म्यां यत्क्रिया तत्तमुमुक्षुभिः ॥४१॥

मनोवाक्काययोगेश्च कृतकारितमाननैः । तत्प्रतिक्रमणं प्रोक्तं व्रतदोषापहं शुभम् ॥४२॥

अर्थ—मोक्षकी इच्छा करनेवाले जो मुनि मन-वचन-काय और कृत कारित अनुमोदनासे द्रव्य क्षेत्र वा भावोंसे उत्पन्न हुए अपराधों को शुद्ध करते हैं अथवा अपनी गहरी निंदा के द्वारा अपराधों को शुद्ध करते हैं उसको व्रतों के दोषों को दूर करनेवाला शुभ प्रतिक्रमण कहते हैं ॥४१-४२॥

प्रतिक्रमण के भी ६ भेद हैं—

नामाद्य स्थापना द्रव्यं क्षेत्रकालोनिजाश्रितः । भावोमीषड्वानिक्षेपाः स्युःप्रतिक्रमणेशुभाः ॥

अर्थ—यह प्रतिक्रमण भी द्रव्य क्षेत्र काल नाम स्थापना और अपने आश्रित रहनेवाले भावों के द्वारा छह प्रकार का माना जाता है ॥४३॥

नाम प्रतिक्रमण का स्वरूप—

शुभाशुभादि नामोद्योत्तातीचारशोधनम् । निदार्हयत्ससतां नामप्रतिक्रमणमेवतत् ॥४४॥

अर्थ—शुभ वा अशुभ नामों से उत्पन्न हुए अतीचारों को अपनी निंदा आदि

के द्वारा शुद्ध करना नाम प्रतिक्रमण कहलाता है ॥४४॥

स्थापना प्रतिक्रमण का लक्षण—

मनोजेतर्मूर्तेभ्यो जातादोषाद्विवर्जनम् । योगैर्यस्थापनाख्यंतत्प्रतिक्रमणमूर्जितम् ॥४५॥

अर्थ—मनोज्ञ वा अमनोज्ञ मूर्तिसे उत्पन्न हुए दोषोंको मन-वचन-कायसे त्याग करना स्थापना नामका श्रेष्ठ प्रतिक्रमण है ॥४५॥

द्रव्य प्रतिक्रमण का स्वरूप—

साव्यद्रव्यसेवाया उत्पन्नदोषवारणम् । त्रिशुद्धधायसतां द्रव्यप्रतिक्रमणमेवतत् ॥४६॥

अर्थ—पापरूप द्रव्योंके सेवन करने से उत्पन्न हुए दोषोंको मन-वचन-कायकी शुद्धता पूर्वक निवारण करना द्रव्य प्रतिक्रमण कहलाता है ॥४६॥

क्षेत्र प्रतिक्रमण का स्वरूप—

सरागक्षेत्रवासोत्थातीचारपरिहायनम् । निवार्यैतत्सदाक्षेत्रप्रतिक्रमणमेवतत् ॥४७॥

अर्थ—सरागरूप क्षेत्रोंके निवास से उत्पन्न हुए अतीचारों को निवारिके द्वारा दूर करना उसको क्षेत्र प्रतिक्रमण कहते हैं ॥४७॥

काल प्रतिक्रमण का स्वरूप—

रजनीदिनवर्षादिकालजघतदोषतः । निवृत्तिर्या हृदाकालप्रतिक्रमणमेवतत् ॥४८॥

अर्थ—रात दिन वर्षा आदि काल जन्य व्रतोंके दोषों को हृदय से निवारण करना काल प्रतिक्रमण कहलाता है ॥४८॥

भाव प्रतिक्रमण का स्वरूप—

रागदोषाश्रिताद्भावजघतस्थितिक्रमस्य वा । विरतिः क्रियते भावप्रतिक्रमणमेवतत् ॥४९॥

अर्थ—रागद्वेष आदि के आश्रित रहनेवाले भावोंसे उत्पन्न हुए दोषों को दूर करना भाव प्रतिक्रमण कहलाता है ॥४९॥

उत्तम प्रतिक्रमण का विधान—

एतैः षड्विधनिक्षेपैः सर्वेषांस्ववृत्तात्मनाम् । कृतानां कृत्स्नदोषाणां निराकरणमूर्जितम् ॥५०॥

हृदा च वपुषा वचा निदन्तैर्गर्हणादिभिः क्रियते मुनिभिर्यत्तत्प्रतिक्रमणमद्भुतम् ॥५१॥

अर्थ—व्रत करनेवाले समस्त व्रतियों के इन छहों निक्षेपों के द्वारा अनेक दोष उत्पन्न होते हैं मुनि लोग जो मन-वचन-कायसे होनेवाली निंदा गर्हके द्वारा उन समस्त

दोषों को दूर करते हैं उसको उत्तम प्रतिक्रमण कहते हैं ॥५०-५१॥

उत्तम प्रतिक्रमण के ७ भेद—

एकं वैश्वसिकं रात्रिकर्मर्यापथसंज्ञकम् । पाक्षिकं नाम चातुर्मासिकं शेषक्षयंकरम् ॥५२॥

सांवत्सरिकमेवोत्तमार्थं संन्याससंभवम् । सप्तधेति जिमः प्रोक्तं प्रतिक्रमणानुत्तमम् ॥५३॥

अर्थ—इस प्रतिक्रमण के सात भेद हैं—एक वैश्वसिक प्रतिक्रमण, दूसरा रात्रिक प्रतिक्रमण, तीसरा ईर्यापथ प्रतिक्रमण, चौथा पाक्षिक प्रतिक्रमण, पांचवां दोषों को क्षय करनेवाला चातुर्मासिक प्रतिक्रमण, छठा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण और सातवां उत्तम अर्थको देने वाला संन्यास के समय होनेवाला प्रतिक्रमण । इसप्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेव ने इस उत्तम प्रतिक्रमण के सात भेद बतलाये हैं ॥५२-५३॥

(१) प्रतिक्रमण (२) शुभ प्रतिक्रमण (३) प्रतिक्रमितव्य के भेद—

प्रतिक्रामक आत्मा यः प्रतिक्रमणमेवतत् । यत्प्रतिक्रमितव्यंतत्त्रयं सर्वबुद्धेधुना ॥५४॥

अर्थ—इस प्रतिक्रमणके करने में आत्मा प्रतिक्रामक होता है जो किया जाता है उसको प्रतिक्रमण कहते हैं और जिसका प्रतिक्रमण किया जाता है उसको प्रतिक्रमितव्य कहते हैं । अब आगे इन तीनों का स्वरूप कहते हैं ॥५४॥

प्रतिक्रामक का स्वरूप—

मुमुक्षुर्धनधारीयः पापभीतो महाव्रती । मनोवाक्कायसंशुद्धो निदागर्हादितत्परः ॥५५॥

द्रव्यनिर्माद्विषयः क्षेत्रः कालेर्भावेर्वा तात्मनाम् । असीधारागतस्याशु सन्निराकरणोद्यतः ॥५६॥

निर्मायो निरहंकारो व्रतशुद्धिसमीहकः स प्रतिक्रामको ज्ञेयः उत्तमोमुनिपुंगवः ॥५७॥

अर्थ—जो उत्तम मुनि मोक्ष की इच्छा करनेवाला है, यत्नाचार से अपनी प्रवृत्ति करता है, जो पापों से भयभीत है, महाव्रती है, जिसका मन-वचन-काय अत्यंत शुद्ध है, जो निदा गर्हा आदि करने में तत्पर है, जो अनेक प्रकार के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि के द्वारा लगे हुए व्रतों के दोषों को निराकरण करने में सदा तत्पर रहता है, जो झल कपट से रहित है, अहंकार से रहित है और जो व्रतों को शुद्ध रखने की सदा इच्छा करता रहता है ऐसा मुनि प्रतिक्रमण करनेवाला प्रतिक्रामक कहलाता है । ॥५५-५७॥

शुभ प्रतिक्रमण का स्वरूप—

सर्वथा कृतदोषाणां यन्निराकरणं त्रिधा । पश्चात्तपाक्षरोच्चारंस्तत्प्रतिक्रमणं शुभम् ॥५८॥

अर्थ—पश्चात्तापके द्वारा तथा श्रक्षरों का उच्चारण कर जो सर्वथा किए हुए दोषोंका मन-वचन-कायसे निराकरण करना है उसको शुभ प्रतिक्रमण कहते हैं ॥५८॥

द्रव्य प्रतिक्रमितव्य का स्वरूप—

सच्चित्ताचित्तमिश्रं यत्त्रिधा द्रव्यमनेकधा । वा प्रतिक्रमितव्यंतत्सर्वं तद्दोषहायनैः ॥५९॥

अर्थ—सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेदसे द्रव्यके तीन भेद हैं अथवा द्रव्यके अनेक भेद हैं वे सब द्रव्य दोष दूर करते समय प्रतिक्रमितव्य कहलाते हैं ॥५९॥

क्षेत्र व काल प्रतिक्रम्य का स्वरूप—

सौघादिरम्यक्षेत्रं कालो दिन निशाविकः । यः प्रतिक्रमितव्यः स तज्जातीचारशोधनैः ॥६०॥

अर्थ—राजभवन आदि मनोहर क्षेत्र तथा दिन रात आदि काल भी तज्जन्य (क्षेत्र वा कालसे उत्पन्न होनेवाले) अतिचारों को शुद्ध करने के लिये और मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रतिक्रमितव्य कहलाते हैं ॥६०॥

मोक्ष प्राप्ति के लिये सदाकाल प्रतिक्रमण—

काले कालेयवा नित्यं योगिभिर्नृत्तशुद्धये । ओ प्रतिक्रमितव्यंस्वदोष हाग्य च मुक्तये ॥६१॥

अर्थ—अथवा मुनियोंको अपने दोष दूर करने के लिये और मोक्ष प्राप्त करने के लिये तथा व्रतों को शुद्ध रखने के लिये प्रत्येक समय प्रतिक्रमण करते रहना चाहिये अतएव उनके लिये सदा काल प्रतिक्रमितव्य है ॥६१॥

रागद्वेष अथवा मिथ्यात्व के आश्रित भावों का भी त्याग आवश्यक है—

रागद्वेषाश्रितो भावो मिथ्यात्वासंयमादिभाक् । कषायबहुलोयः प्रतिक्रमितव्यः एव सः ॥६२॥

अर्थ—जो भाव रागद्वेष के आश्रित है अथवा मिथ्यात्व असंयम के आश्रित है अथवा जो भाव अधिक कषाय विशिष्ट है वह भी प्रतिक्रमितव्य है उसका भी प्रतिक्रमण वा त्याग करना चाहिये ॥६२॥

पाँचों पाप, सब तरह का असंयम समस्त कषायादि त्याज्य हैं—

मिथ्यात्वपंचपापानां सर्वस्यासंयमस्य च । कषायाणां च सर्वेषां योगानामशुभात्मनाम् ॥६३॥

श्रयत्नेन विधातव्यंप्रतिक्रमणमंजसा । तज्जातिवत्तदोषादिनिराकरणशुद्धिभिः ॥६४॥

अर्थ—मुनियों को मिथ्यात्व आदि से उत्पन्न होनेवाले दोषों को निराकरण करने और व्रतों को शुद्ध रखने के लिये मिथ्यात्व, पाँचों पाप, सब तरह का असंयम,

समस्त कषाय और समस्त अशुभ योगों का प्रयत्नपूर्वक शीघ्र ही प्रतिक्रमण करना चाहिये ॥६३-६४॥

समस्त व्रतों की आलोचना—

सिद्धभक्त्यादिकं कृत्वा सन्मार्ज्यामधरादिकान् । कृताञ्जलिपुटः शुद्धो मायायामो विहाय च ॥

शिष्यो व्रत विशुद्धयर्थं गुरुवेक्षानशालिने । आलोचयेत्समस्तान् व्रतातिचारान् यथोद्भूतान् ॥६५॥

अर्थ—शिष्य मुनियों को पृथ्वी और अपने शरीर को पीछी से शुद्धकर तथा सिद्धभक्ति आदि पढ़कर दोनों हाथ जोड़कर मान तथा माया का त्यागकर अंतःकरणसे शुद्ध होकर अत्यंत ज्ञानवान् ऐसे अपने गुरु के सामने अपने व्रतों को अत्यंत शुद्ध करने के लिये जैसे-जैसे उत्पन्न हुए हैं उसी तरह समस्त व्रतों के अतिचारों की आलोचना करनी चाहिये ॥६५-६६॥

आलोचना के भी ७ भेद—

आद्यदैवसिकं रात्रिकमेवपिथनामकम् । पाक्षिकाख्यं तथा चातुर्मासिकं च मत्तापहम् ॥६७॥

सांवत्सरिकनामोत्तमार्थं चामशमोद्भूतम् । सप्तमेवमिति प्रोक्तं सत्तामालोचनं जिने ॥६८॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने इस आलोचना के भी सात भेद बतलाये हैं—पहली आलोचना दैवसिक, दूसरी रात्रिक, तीसरी ईर्ष्यापथ, चौथी पाक्षिक, पांचवीं चातुर्मासिक, छठी दोषों को दूर करनेवाली सांवत्सरिक और सातवीं उत्तम अर्थ की देनेवाली औपवासिक (उपवास से उत्पन्न होनेवाली) ॥६७-६८॥

बालक के समान गुरु के समक्ष सब पापों की आलोचना—

यद्वि किञ्चित्कृतं कर्मकारितं चानुमोदितम् । वपुषा मनसा वाक्चा व्रतातिचारगोचरम् ॥६९॥

प्रकटं संघलोकानां प्रबल्यन् वा प्रमादजम् । तत्सर्वं बालवत्पापं त्रिशुद्ध्यालोचयेद्व्रतिः ॥७०॥

अर्थ—जिन कर्मों से व्रतों में दोष वा अतिचार लग जाय ऐसे कर्म जो मुनि-राज मन-वचन-कायसे करते हैं वा कराते हैं वा अनुमोदना करते हैं, चाहे उन्होंने वह कार्य संघ वा लोगों के सामने किया हो चाहे छिपकर किया हो और चाहे प्रमाद से किया हो वह सब पाप उन मुनियोंको मन-वचन-कायकी शुद्धता पूर्वक बालकके समान गुरुसे कह देना चाहिये और फिर उनकी आलोचना करनी चाहिये ॥६९-७०॥

दोषों को शत्रु के समान समझकर उनका निराकरण—

यस्मिन् क्षेत्रे च कालावी द्रव्यभावाभयेण यः । जातो व्रताद्यतीचारो मायां त्यक्त्वातदेवसः ॥

निहितव्यः प्रयत्नेन निंदा गर्हा शुचादिभिः । गुर्वादिसाक्षिकं दर्शं कृतघ्नोऽरिर्विबोध्यतः ॥७२॥

अर्थ—जिस क्षेत्र में जिस काल में जिन द्रव्यों से और जिन भावों से वृत्तों में अतिचार उत्पन्न हुआ है वह सब चतुर मुनियों को छलकपट छोड़कर निंदा गर्हा और शोक के साथ गुरु आदि की साक्षी पूर्वक बड़े प्रयत्न से दूर करना चाहिये तथा उस दोष को धृत्तों को नाश करनेवाले शत्रुके समान समझकर उनका निराकरण करना चाहिये ॥७१-७२॥

भाव प्रतिक्रमण अंतः शुद्धिका कारण है—

मनसा निंदनं त्वस्य गर्हणं गुरुसाक्षिकम् । पश्चास्तापजशोकेनयदश्रुपतनादि च ॥७३॥

क्रियते मुक्तिमार्गस्थैः सतिव्रताद्यतिक्रमे । प्रतिक्रमणं भावात्पुं तदन्तः शुद्धिकारणम् ॥७४॥

अर्थ—मन से अपनी निंदा करना गर्हा है पश्चास्ताप से उत्पन्न हुए शोक से आंसू गिरना आदि शोक कहलाता है । मोक्षमार्ग में रहनेवाले मुनियों को वृत्तों में दोष लगने पर गर्हा निंदा वा शोक के द्वारा प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिये । यह भाव प्रतिक्रमण कहलाता है और अंतःकरण की शुद्धि का कारण है ॥७३-७४॥

किसके वृत्तोंकी शुद्धि नहीं होती—

यः प्रतिक्रमणं सर्वं द्रव्यभूतं करोति वा । शृणोति सूत्रमात्रेण निंदागर्हादि दूरगः । ७५॥

परमार्थातिगस्तस्य शुद्धिर्न जायते मनाक् । व्रतानां न च दोषाणां हानिर्न निजराशिवम् । ७६॥

अर्थ—जो मुनि केवल द्रव्य प्रतिक्रमण तो सब तरह का कर लेता है तथा सूत्रमात्रसे उसको मुन भी लेता है परंतु निंदा, गर्हा से दूर रहता है और परमार्थसे भी दूर रहता है उसके वृत्तोंकी शुद्धि किंचितमात्र भी नहीं होती है, न उसके दोष दूर होते हैं, न उसकी निजरा होती है और न उसको मोक्ष प्राप्त होती है ॥७५-७६॥

कौनसे मुनि प्रतिक्रमण का फल मोक्ष प्राप्त करते हैं ?

यतः संवेगवैराग्यशुद्धभावाश्रितो मुनिः । अतन्यमानसो धीमान्स्वनिंदा गर्हणादिभाक् ॥७७॥

प्रतिक्रमणसूत्रेण विधाय शुद्धिमुत्पन्नम् व्रतानां तत्कलेनाशुलभतेशाश्वतंपदम् ॥७८॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जो बुद्धिमान मुनि संवेग वैराग्य और शुद्ध भावों को धारण करते हैं जो संवेग वैराग्य के सिवाय अन्य किसी काम में अपना मन नहीं लगाते जो अपनी निंदा गर्हा करते रहते हैं और जो प्रतिक्रमण सूत्रके अनुसार अपने धृत्तोंको उत्तम शुद्धि करते हैं वे ही मुनि उस प्रतिक्रमण के फलसे शीघ्र ही मोक्ष

पद प्राप्त करते हैं ॥७७-७८॥

निदा, गहरी पूर्वक शुद्ध प्रतिक्रमण आवश्यक है—

सत्त्वेति धीमता नित्यं निदा गहरी पूर्वक सत्प्रतिक्रमणालोचने कार्यं व्रतशुद्धये ॥७९॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान पुरुषों को अपने व्रत शुद्ध रखने लिये निदा गहरी पूर्वक श्रेष्ठ प्रतिक्रमण और आलोचना प्रतिदिन करनी चाहिये ॥७९॥

श्रेष्ठ प्रतिक्रमण का फल—

सत्प्रतिक्रमणो धर्मो महान् रत्नत्रयात्मकः । शिष्याणां मुक्ति कर्तातीक्ष्णमेव वीरनाथयोः ॥८०॥

अर्थ—यह श्रेष्ठ प्रतिक्रमण रूप धर्म रत्नत्रयात्मक है और महान् है तथा भगवान् वृषभदेव और भगवान् वीरनाथके शिष्यों को मोक्षका देनेवाला है ॥८०॥

भगवान् अजितनाथ से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ तक के मुनियों का प्रतिक्रमण—

तयोर्मध्यजिनेशानां शिष्याणां च प्रमादतः । क्वचिच्छस्मिन्नकृते दोषो जायते तस्य शुद्धये ॥८१॥

तावन्मात्रं भवेत्स्तोकं सत्प्रतिक्रमणं शुभम् । न च सर्वं यत्स्तोत्रं युनिप्रसादा महाभियः ॥८२॥

अर्थ—भगवान् अजितनाथ से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ तकके बाईस तीर्थंकरों के शिष्यों को किसी भी प्रमादसे जिस व्रतमें दोष लगा है उसी की शुद्धिके लिये उतना ही थोड़ा सा शुभ प्रतिक्रमण बतलाता है उनके लिये सब प्रतिक्रमण नहीं बतलाया । क्योंकि मध्यके बाईस तीर्थंकरों के शिष्य बड़े बुद्धिमान् थे और स्वभाव से ही प्रमाद रहित थे ॥८१-८२॥

प्रथम तथा अंतिम तीर्थंकर के कालमें होनेवाले मुनियों का प्रतिक्रमण—

आदि तीर्थंकृतः शिष्याः स्वभावाद्भ्रजबुद्धयः तस्मात्तेषामतीचाराः भवेयुर्बहुषो व्रते ॥८३॥

श्रीवर्द्धमानतीर्थेशशिष्यास्तुच्छधियस्ततः । कालबोधेण तेषां स्यादतीचार कजो व्रते ॥८४॥

अर्थ—प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव के शिष्य स्वभाव से ही सरल बुद्धि वाले थे इसलिये उनके व्रतोंमें भी बहुत से अतिचार लगते थे । तथा अंतिम तीर्थंकर भगवान् वर्द्धमान स्वामीके शिष्य तुच्छ बुद्धि वाले होते हैं । अतएव कालबोध के कारण उनके व्रतोंमें भी बहुत से अतिचार लगते हैं ॥८३-८४॥

तीनों समय समस्त प्रतिक्रमण के दंडकों का उच्चारण—

तस्मादतिक्रमस्ते दुःस्वप्नेऽप्यगोचरादिकः । जातः स्वल्पो महान् चात्र तस्य शुद्धयं स्वशंकितः ॥

उच्चारयन्ति सर्वास्तान् प्रतिक्रमणदंडकान् । त्रिकालं नियमेनैव व्रतशुद्धिविधाधिनः ॥८५॥

अर्थ—अतएव दुःस्वप्न ईर्यागमन आदि से होनेवाले जितने भी छोटे वा बड़े अतिचार हैं उनको शुद्ध करने के लिये वृत्तोंको शुद्ध करनेवाले मुनि अच्छी तरह निःशंकित होकर नियम पूर्वक तीनों समय समस्त प्रतिक्रमण के दंडकों का उच्चारण करते हैं ॥८५-८६॥

कर्मों को नष्ट करने के लिये प्रतिक्रमण आवश्यक है—

विज्ञायेति व्रतादीनां शुद्धयर्थं कर्महानये । कर्तव्यं यत्ततो दक्षैः प्रतिक्रमणमंजसा ॥८७॥

अर्थ—यह समझकर चतुर पुरुषोंको अपने वृत्त शुद्ध करने के लिये और कर्मों को नष्ट करने के लिये बहुत शीघ्र प्रतिक्रमण करना चाहिये ॥८७॥

प्रतिक्रमण और आलोचना दोनों ही कब करना चाहिये—

यतः कश्चिद्वृत्तेदोषादिनिराक्रियते बुधैः । सत्प्रतिक्रमणेनैव क्वचिदालोचनाविभिः ॥८८॥
तस्मात्तद्विषयं निश्चयं विधेयं विधिपूर्वकम् । सर्वदोषाणहं यस्माद् वृत्तशुद्धिविधायिभिः ॥८९॥

अर्थ—बुद्धिमान् लोग किसी दोष को तो प्रतिक्रमण से निराकरण करते हैं और किसी दोष को आलोचना आदि से निराकरण करते हैं अतएव यत्नपूर्वक वृत्तोंको शुद्ध करनेवाले मुनियों को विधि पूर्वक समस्त दोषोंको दूर करनेवाले प्रतिक्रमण और आलोचना दोनों ही सदा करने चाहिये ॥८८-८९॥

ऐसा करने से वृत्तों के समूह चन्द्रमा की चांदनी के समान निर्मल हो जाते हैं—

यतः सर्वेगुणैः सादृशं समस्ता वृत्तपंक्तयः । चन्द्रज्योत्स्ना इवात्यर्थनिर्मलाः स्फुटतद्बयात् ॥९०॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि प्रतिदिन प्रतिक्रमण और आलोचना करने से समस्त वृत्तों के समूह समस्त गुणों के साथ साथ चन्द्रमाकी चांदनी के समान अत्यंत निर्मल हो जाते हैं ॥९०॥

प्रतिक्रमण और आलोचना करने का विशेष फल—

चित्तशुद्धिरसंजायेत तथाध्यानं शिखप्रवम् । तेनकर्मविनाशश्चतप्रागे निवृत्तिः सताम् ॥९१॥

अर्थ—इसके सिवाय प्रतिक्रमण और आलोचना करने से चित्तकी शुद्धि होती है तथा चित्त की शुद्धि होने से मोक्ष देनेवाला ध्यान प्रगट होता है उस ध्यानसे समस्त कर्मों का नाश होता है और समस्त कर्मों के नाश होने से सज्जनों को मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥९१॥

प्रमादी और अहंकारी मुनि का प्रतिक्रमण व्यर्थ है—

प्रमादो योऽथवा गर्भीमत्वा निजं तपोमहत् । मूढधीः प्रत्यहं कुर्यात्प्रतिक्रमणादिकम् ॥६२॥
दोषमलीमसं तस्य व्यर्थस्यात्तपोऽस्त्रितम् । दीक्षा च निष्फला पापलाभा जन्म निरर्थकम् ॥६३॥

अर्थ—जो मुनि अपने तपश्चरणा को बहुत बड़ा समझकर प्रमादी तथा अहंकारी हो जाता है और इसीलिये जो भूखं प्रतिदिन प्रतिक्रमण आदि नहीं करता उसका समस्त तपश्चरण दोषों से भलिन रहता है और इसीलिये व्यर्थ समझा जाता है । इसी प्रकार पापों का आश्रय करनेवाली उसकी दीक्षा भी निष्फल समझी जाती है और उसका जन्म भी निरर्थक माना जाता है ॥६२-६३॥

अतः आलोचना पूर्वक प्रतिक्रमण आवश्यक है—

मत्वेत्यालोचनायुक्तं सत्प्रतिक्रमणं विदः । कुर्वन्तु सर्वयत्नेन निष्पद्युक्त्या शिवाप्तये ॥६४॥

अर्थ—इसलिये चतुर पुरुषोंको मोक्ष प्राप्त करने के लिये पूर्ण प्रयत्नके साथ युक्ति पूर्वक प्रतिदिन आलोचना पूर्वक प्रतिक्रमण करना चाहिये ॥६४॥

मुनियों को प्रतिक्रमण प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये—

सर्वेषां व्रतगुप्तियोगसमितीनां शुद्धिहेतुं परमन्तातीतगुणात्मनां च सिद्धं दोषापहं निमलम् ।
पापघ्नं मुनयः कलंकहतकं यत्नात्कुरुध्वं सदा स्वान्तः शुद्धिकरं प्रतिक्रमणं नामावश्यकं मुक्तये ॥

अर्थ—यह प्रतिक्रमण नामका आवश्यक अनंत गुणों को धारण करनेवाले समस्त व्रत गुप्ति योग और समितियों को शुद्ध करनेवाला है, सर्वोत्कृष्ट है, मोक्ष देने वाला है, दोषों को दूर करनेवाला है, अत्यंत निर्मल है, पापों को नाश करनेवाला है, कलंक को दूर करनेवाला है और अंतःकरण को शुद्ध करनेवाला है । इसीलिये मुनियों को ऐसा यह प्रतिक्रमण नामका आवश्यक प्रयत्न पूर्वक प्रतिदिन करते रहना चाहिये । ॥६५॥

शुभ प्रत्याख्यान का स्वरूप कहने की प्रतिज्ञा—

प्रतिक्रमणनियुक्तिमिमांशुषश्वा समासतः । सत्प्रत्याख्यानं नियुक्तिं प्रवक्ष्यामि ततः शुभम् ॥६६॥

अर्थ—इसप्रकार हमने संक्षेप से प्रतिक्रमण का स्वरूप कहा अब आगे शुभ प्रत्याख्यान का स्वरूप कहते हैं ॥६६॥

प्रत्याख्यान का स्वरूप —

अयोग्यानां स्वयोग्यानां वस्तूनां तपसेथवा यत्निराकरणं यत्नारिक्त्यते नियमेन च ॥६७॥

नामादि षड्विधानां वा कमसंवरहेतवे । आगतानामनागतानां तत्प्रत्याख्यानं सतंजिनैः ॥६८॥

अर्थ—जो पदार्थ अपने योग्य हैं अथवा अयोग्य हैं उन पदार्थोंका नियम पूर्वक तपश्चरण के लिये त्याग कर देना प्रत्याख्यान है । अथवा कमोंका संवर करने के लिये नामादिक छहों निक्षेपों के द्वारा आगत अथवा अनागत पदार्थोंका त्याग करना भगवान् जिनेन्द्रदेव ने प्रत्याख्यान बतलाया है ॥६७-६८॥

प्रत्याख्यान के भी ६ भेद हैं—

नामानुस्थापना द्रव्य क्षेत्रं कालोऽशुभाश्रितः । भावश्चेत्यत्र निक्षेपः प्रत्याख्यानेऽपि षड्विधः ॥

अर्थ—इस प्रत्याख्यान में भी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये छह निक्षेप माने गये हैं, अर्थात् छहों निक्षेपोंसे यह प्रत्याख्यान भी छह प्रकार है ॥६९॥

नाम प्रत्याख्यान का स्वरूप—

पापरागादिहेतूनि क्रूराशुभान्धनेकशः । नामानि बुधनिद्यानि स्वान्धेषां दोषदानि च ॥११००॥

जातुचिद्यन्नोच्छन्ते हास्यार्थः स्वपरादिभिः । नियमेनैव तन्नामप्रत्याख्यानं स्मृतं बुधैः ॥११०१॥

अर्थ—इस संसार में अनेक नाम ऐसे हैं जो पाप और रागके कारण हैं, क्रूर हैं, अशुभ हैं, विद्वानों के द्वारा निन्दनीय हैं, और अपने तथा दूसरों के लिये दोष उत्पन्न करनेवाले हैं ऐसे नामों को हंसी आदि के कारण वा अपने पराये की किसी प्रेरणा से भी नियम पूर्वक उच्चारण नहीं करना विद्वानों के द्वारा नाम प्रत्याख्यान कहलाता है । ॥११००-११०१॥

उत्तम स्थापना प्रत्याख्यान का स्वरूप—

मिथ्यादेवादिमूर्तीनां रवनीनां सकलैकसाम् । मिथ्यात्वहेतुमुत्तमानां धीमते नियमो व्रथः ॥११०२॥

कृतार्थं वासरागाणां क्रूरणां गृह्यते निशम् । पापभीतैश्च तत्स्थापनाप्रत्याख्यानमद्भुतम् ॥

अर्थ—पाप के डरसे मुनि लोग समस्त पापों की खानि, मिथ्यात्व बढ़ाने का कारण, क्रूर और सरागी मिथ्या देवों की मूर्तियों के देखने का कृत कारित अनुमोदना से त्यागकर देते हैं उनके न देखने का नियम कर लेते हैं उसको उत्तम स्थापना प्रत्याख्यान कहते हैं ॥११०२-११०३॥

उत्तम द्रव्य प्रत्याख्यान का स्वरूप—

कर्मबंध करा द्रव्या शुभा वा तपसेखिलाः । स्थेन जातु न भोक्तव्या भोजितव्या न चापरैः ॥११॥

मनसा नानुमंतव्या एवं चो नियमो वरः । मुनीशैर्गृह्यते द्रव्यप्रत्याख्यानं तद्वर्जितम् ॥१२॥

अर्थ—जो द्रव्य कर्मबंध को करमधाते हैं अथवा शुभ हैं ऐसे पदार्थों को तप-श्चरण पालन करने के लिये कभी उपभोग नहीं करना और न दूसरों से कभी उपभोग कराना और मनसे उनके उपभोग करने की अनुमोदना भी नहीं करना, इसप्रकार मुनि-राज जो नियम कर लेते हैं उसको उत्तम द्रव्य प्रत्याख्यान कहते हैं ॥४-५॥

क्षेत्र प्रत्याख्यान का लक्षण—

रागवाहुल्यकस्तुंणामसंयमप्रवृत्तिनाम् । सेवितानां विदुष्याद्यः संबोधविधायिनाम् ॥६॥

क्षेत्राणां दुष्टमिथ्यादृष्टानां परिहापनम् । नियमाद्यस्ततां क्षेत्रप्रत्याख्यानं तदुच्यते ॥७॥

अर्थ—जो क्षेत्र अत्यंत राग उत्पन्न करनेवाले हैं, असंयमकी प्रवृत्ति करनेवाले हैं, जो व्यभिचारी वा कुट्टिनियों के रहने के स्थान हैं जो समस्त दोषों को उत्पन्न करने वाले हैं और दुष्ट वा मिथ्यादृष्टियों से भरे हुए हैं ऐसे क्षेत्रोंका नियम पूर्वक त्यागकर देना क्षेत्र प्रत्याख्यान कहलाता है ॥६-७॥

काल प्रत्याख्यान का वर्णन—

यच्चवृष्टितुषारादि व्याप्तकालस्य वर्जनम् । असंयमादि हेतोः कालप्रत्याख्यानमेव तत् ॥८॥

अर्थ—जिस समय वृष्टि पड़ रही हो वा तुषार पड़ रहा हो ऐसे काल का असंयमादि के डर से त्यागकर देना काल प्रत्याख्यान कहलाता है ॥८॥

उत्तम भाव प्रत्याख्यान का वर्णन—

मिथ्यात्वासंयमानां प्रमादानां चाशुभात्सनाम् कषायवेदहास्यपीनां सर्वेषां जितेन्द्रियः ॥९॥

सर्वथा शुद्धभावेन त्यजनं क्रियते बुधैः नियमाद्यश्च यद्भावप्रत्याख्यानं तदुत्तमम् ॥१०॥

अर्थ—जितेन्द्रिय बुद्धिमान पुरुष अपने पूर्ण शुद्ध भावों से नियम पूर्वक मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद, अशुभ, कषाय, वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा आदि का त्यागकर देते हैं उसको उत्तम भाव प्रत्याख्यान कहते हैं ॥९-१०॥

उक्त छहों प्रकार का प्रत्याख्यान आवश्यक—

एतेश्च षड्विधोपाधेर्निक्षेपैः षड्विधं शुभैः । प्रत्याख्यानं विधातव्यं प्रत्यहं संयमाप्तये ॥११॥

अर्थ—मुनियों को अपना संयम पालन करने के लिये ऊपर लिखे शुभ छहों प्रकारके निक्षेप रूप उपायोंसे छहों प्रकारका प्रत्याख्यान अवश्य करना चाहिये ॥११॥

प्रत्याख्यापक तथा प्रत्याख्यातव्य का स्वरूप—

प्रत्याख्यापक आत्मात्र यः प्रत्याख्यानमेव यत् । प्रत्याख्यातव्यमन्यद्यदेतेषां विस्तरं ब्रूषे ॥१२॥

अर्थ—यहां पर प्रत्याख्यान करनेवाला आत्मा प्रत्याख्यापक कहलाता है, त्याग करना प्रत्याख्यान है और जिसका त्याग किया जाता है उसको प्रत्याख्यातव्य कहते हैं । आगे संक्षेप से इनका स्वरूप कहते हैं ॥१२॥

प्रत्याख्यान करनेवाले का स्वरूप—

श्रीगुणे जिनदेवस्याज्ञया चरणपालकः । मूलोत्तर गुणान् सर्वासिर्मली कर्तुं मुद्यतः ॥१३॥
जिनसूत्रानुचारी यो बोधागमन भीतिकृत । तयोऽर्थीजितकामाक्षः स प्रत्याख्यापकोमहान् ॥१४॥

अर्थ—जो मुनि श्री गुरुकी आज्ञासे वा भगवान् जिनेश्वरदेवकी आज्ञासे चारित्र्य का पालन करता है, समस्त मूलगुण और उत्तरगुणोंको निर्मल करने को जो सदा उद्यत रहता है, जो जिन शास्त्रों के अनुसार अपनी प्रवृत्ति करता है, जो दोषों के आगमनसे सदा भयभीत रहता है, जो निर्मल तपश्चरण करना चाहता है, जो इन्द्रिय और काम को जीतने वाला है और जो उत्कृष्ट है उसको प्रत्याख्यापक कहते हैं ॥१३-१४॥

१० प्रकार के त्याग को प्रत्याख्यान कहते हैं—

अनागतादिपरित्यागप्रत्याख्यानमनेकधा । मूलोत्तर गुणादौ च दशधा नागतादि वा ॥१५॥

अर्थ—भोजन पानका त्याग करना प्रत्याख्यान है वह अनेक प्रकार है, अथवा मूलगुण वा उत्तरगुणों में अनागत आदि जो दश प्रकार का त्याग है उसको भी प्रत्याख्यान कहते हैं ॥१५॥

उनके १० प्रकार के प्रत्याख्यान के नाम मात्र—

अनागतमतिक्रांत कोटीसहितसंशकम् । अखंडितं च साकारमनाकारसमाह्वयम् ॥१६॥

परिणामगतं नाभा परिशेषाभिधानकम् । तयाध्वगतसंज्ञं च प्रत्याख्यानं सहेतुकम् ॥१७॥

अर्थ—अनागत, अतिक्रांत, कोटीसहित, अखंडित, साकार, अनाकार, परिणामगत, परिशेष, अध्वगत और सहेतुक ये दश प्रकार के प्रत्याख्यान हैं ॥१६-१७॥

(१) अनागत प्रत्याख्यान का स्वरूप—(चतुर्दशी शुद्धरूप)

कर्तव्यमुपवासादि चतुर्विंश्याधिके च यत् । क्रियतेऽत्रयोदश्याभावनागतमेवतत् ॥१८॥

अर्थ—जो उपवास चतुर्दशीके दिन करता है उसका नियम त्रयोदशी के दिन ही कर लेना अनागत प्रत्याख्यान कहलाता है ॥१८॥

(२) अतिक्रांत प्रत्याख्यान का लक्षण—

विधेयमुपवासादि चतुर्विंश्याधिके च यत् । ततः प्रसिपदादौ क्रियतेऽतिक्रांतमेवतत् ॥१९॥

अर्थ—जो उपवास चतुर्दशी के दिन करना है, उसका नियम प्रतिपदाके दिन ही कर लेना अतिकांत प्रत्याख्यान है ॥१६॥

(३) कोटिसहित प्रत्याख्यान का स्वरूप—

प्रातः स्वाध्यायसंपूर्णं यदि शक्ति भविष्यति । उपवासं करिष्यामि तत्कोटिसहितमतम् ॥२०॥

अर्थ—प्रातःकाल स्वाध्याय पूर्ण होने पर यदि शक्ति होगी तो मैं उपवास करूंगा इसप्रकार के नियम करने को कोटिसहित प्रत्याख्यान कहते हैं ॥२०॥

(४) अर्खंडित प्रत्याख्यान का लक्षण—

अवश्यं यद्विधातव्यं पक्षमासादिगोचरम् । उपवासादिकं तस्याप्रत्याख्यानमर्खंडितम् ॥२१॥

अर्थ—किसी पक्ष वा किसी महीने में जो उपवास अवश्य किया जाता है उसको अर्खंडित प्रत्याख्यान कहते हैं ॥२१॥

(५) साकार प्रत्याख्यान का वर्णन—

सर्वतोभद्रनक्षत्ररत्नावल्याद्यनेकधा । विधानकरणयद्विधासाकारमत्रतत् ॥२२॥

अर्थ—सर्वतोभद्र, नक्षत्रमाला, रत्नावली आदि अनेक प्रकारके विधान वा वृत्त करना साकार प्रत्याख्यान कहलाता है ॥२२॥

(६) अनाकार प्रत्याख्यान का स्वरूप—

निजेच्छयोपवासादि करणं यद्विधि बिना । प्रत्याख्यानमनाकारं कथ्यते तत्तपस्विनाम् ॥२३॥

अर्थ—बिना किसी विधि के अपनी इच्छानुसार उपवास आदि करना तपस्वियों का अनाकार प्रत्याख्यान कहा जाता है ॥२३॥

(७) परिणामगत प्रत्याख्यान का लक्षण—

यत्षष्ठाष्टमपक्षमासादि वर्षगोचरम् । करणं स्वोपवासादेःपरिणामगतं हि तत् ॥२४॥

अर्थ—जो दो दिन का, तीन दिन का, एक पक्ष का, एक महीने का वा एक वर्ष का उपवास किया जाता है उसको परिणामगत प्रत्याख्यान कहते हैं ॥२४॥

(८) परिशेष प्रत्याख्यान का लक्षण—

चतुर्विधासिलाहार वर्जनं यद्विधीयते । यावज्जीवं स्वसंन्यासे परिशेषं सङ्गृह्यते ॥२५॥

अर्थ—अपने सन्यास मरण के समय जीवन पर्यंत तक जो चारों प्रकार के

आहार का त्याग किया जाता है उसको परिशेष प्रत्याख्यान कहते हैं ॥२५॥

(९) अध्वगत प्रत्याख्यान का स्वरूप—

मार्गदिव्याद्विनद्यादिगमनानां प्रतिज्ञया क्रियतेऽत्रोपवासावि यत्तदध्वगतं स्मृतम् ॥२६॥

अर्थ—किसी मार्ग में, वन में, पर्वत पर वा नदी आदि के गमन करने में जो उपवास आदि की प्रतिज्ञा की जाती है उसको अध्वगत प्रत्याख्यान कहते हैं ॥२६॥

(१०) सहेतुक प्रत्याख्यान का स्वरूप—

उपसर्गेनिमित्तेऽत्रजातेसति विधीयते उपवासाविकं यत्तत्प्रत्याख्यानं सहेतुकम् ॥२७॥

अर्थ—किसी उपसर्ग आदि के निमित्त मिलने पर जो उपवास आदि की प्रतिज्ञा की जाती है उसको सहेतुक प्रत्याख्यान कहते हैं ॥२७॥

तत्पश्चरणां की वृद्धि के लिये उपलिखित प्रत्याख्यान करना चाहिये—

प्रत्याख्यानविधेः सारान् दशभेदानिभान् सदा । ज्ञात्वा नाना तपोवृष्ट्यं ह्युपचरन्तु तपोधनाः ॥

अर्थ—ये ऊपर लिखे हुए प्रत्याख्यान विधिके सारभूत दश भेद हैं इन सबको समझकर मुनियों को अपने अनेक प्रकार के तपश्चरणों की वृद्धि के लिये इन प्रत्याख्यानो का पालन करना चाहिये ॥२८॥

त्याग करने योग्य पदार्थ प्रत्याख्यान है—

अशनं पानकं स्वाद्यं सर्वं चतुर्विधम् । आहारं विशिष्टं द्रव्यं सचित्ताग्निसमिश्रकम् ॥२९॥

उपधिः शमणयोग्यः क्षेत्रं कालादयोऽलिलाः इत्याद्यन्यसरं वस्तु प्रत्याख्यातव्यमंजसा ॥३०॥

अर्थ—अन्न, पान, स्वाद्य, खाद्य के भेद से चार प्रकार का आहार है । इनके सिवाय सचित्त अचित्त मिश्र के भेद से अनेक प्रकार के पदार्थ हैं, मुनियों के अयोग्य अनेक प्रकार के उपकरण हैं, अयोग्य क्षेत्र अयोग्य काल आदि सब त्याग करने योग्य प्रत्याख्यान पदार्थ हैं ॥२९-३०॥

किसी द्रव्यसे मिला हुआ सचित्त जल भी अपेय है—

द्रव्यमिश्रितपानेनोपवासो याति खंडताम् । सचित्तं न कलं पातुं योग्यं तस्मात्पजेद्बुधः ॥३१॥

अर्थ—किसी द्रव्यसे मिला हुआ पानी पीने से उपवास खंडित हो जाता है तथा सचित्त जल भी पीने के अयोग्य है । इसलिये बुद्धिमानों को इन सबका त्याग कर देना चाहिये ॥३१॥

किस समय उष्ण जल पेय है—

रागोष्ण कालवाह्यार्थं यदि त्यक्तं न शक्यते । नीरं बष्ठाष्टमाथी सहासां प्राह्यं श्वसितज्वरः ॥३२॥

अर्थ—रागकी अधिकताके कारण वा उष्ण काल होने के कारण अथवा वाह होने के कारण यदि बेला तेला आदि में पानी का त्याग न हो सके तो लोगों को ऐसे समय में उष्ण जल ग्रहण करना चाहिये ॥३२॥

भोजन के बाद जल ग्रहण है—

पारणाहनि जातासु रागक्लेशादिकादिषु । प्राणान्तेपि न चादेयं भोजनानन्तरेजलम् ॥३३॥

अर्थ—पारणाके दिन यदि रोग क्लेश भी उत्पन्न हो जाय और प्राणों के अंत होनेका समय आ जाय तो भी उस दिन भोजनके बाद जल ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥३३॥

निम्नलिखित ४ शुद्धि सब जगह रखनी चाहिये—

आद्यं विनयशुद्धाख्यमनुभाषासमाह्वयम् । प्रतिपालनशुद्धाख्यं भावशुद्ध्याभिधानकम् ॥३४॥

शुद्धं चतुर्विधंहीदं प्रत्याख्यानं भवापहम् । मुक्तये मुक्तिमद्वाक्यैः पृथक् पृथक् सूत्रैस्तथा ॥३५॥

अर्थ—इस प्रत्याख्यान में चार प्रकार की शुद्धि रखनी चाहिये पहली विनय-शुद्ध, अनुभाषाशुद्ध, प्रतिपालनशुद्ध और भावशुद्ध इसप्रकार चार प्रकार की शुद्धतापूर्वक जो प्रत्याख्यान है वही संसार को नाश करनेवाला है । अब हम सज्जनोंको मोक्ष प्राप्त करने के लिये युक्ति पूर्वक वचनों के द्वारा अलग-अलग इनका स्वरूप कहते हैं । ॥३४-३५॥

(१) विनयशुद्ध प्रत्याख्यान का स्वरूप—

सिद्धयोगाभिधेभक्ति कृत्स्नान्त्वागुरुकर्मौ । पञ्चधा विनयेनात्मा प्रत्याख्यानं चतुर्विधम् ॥३६॥

गृह्यतेयसद्वन्तेचार्यभक्तिः प्रदीयते । शिष्यैर्विनयशुद्धं तत्प्रत्याख्यानं शिष्यव्रतम् ॥३७॥

अर्थ—प्रत्याख्यान लेते समय सिद्धभक्ति, योगभक्ति पढ़नी चाहिये फिर गुरुके दोनों चरण कमलों को नमस्कार कर पांच प्रकार की विनय के साथ चारों प्रकार का प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये तथा अंत में आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिये । इसप्रकार शिष्यों के द्वारा मोक्ष देनेवाला प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाता है उसको विनयशुद्ध प्रत्याख्यान कहते हैं ॥३६-३७॥

(२) अनुभाषण शुद्ध प्रत्याख्यान का स्वरूप—

प्रत्याख्यानाक्षराः सर्वे गुरुणोच्चरितायथा । व्यंजनस्वरमःप्राविशुद्ध्या ये तांस्तथैव च ॥३८॥

शिष्योनुभाषतेयत्रप्रत्याख्यानविधीशुभे । अनुभाषणशुद्धाख्यं प्रत्याख्यानं तदुच्यते ॥३६॥

अर्थ—प्रत्याख्यान के समस्त अक्षर जो गुरु ने उच्चारण किये हैं व्यंजन स्वर और मात्राएँ जिस प्रकार शुद्ध उच्चारण की हैं उसी प्रकार शिष्य को भी शुभ प्रत्याख्यान लेते समय उच्चारण करना चाहिये । इसप्रकार के प्रत्याख्यान को अनुभाषण शुद्ध नामका प्रत्याख्यान कहते हैं ॥३६-३६॥

(३) अनुपालन शुद्ध प्रत्याख्यान का लक्षण—

महोपसर्गं दुर्घ्याध्यश्मक्लेशादिराशिषु । जातेषु सुखदुःखादिव्वटव्याद्विवनादिषु ॥४०॥

दुर्भिक्षादिषुसर्वत्राखंड्यत्प्रतिपाल्यते । अनुपालनशुद्धाख्यं तत्प्रत्याख्यानमूर्जितम् ॥४१॥

अर्थ—किसी महा उपसर्ग के आ जानेपर किसी महा व्याधि के हो जानेपर, किसी दुःख या क्लेश के हो जानेपर अथवा किसी जंगल, वन, पर्वत आदि में किसी सुख-दुःख के उत्पन्न हो जानेपर अथवा दुर्भिक्षके उत्पन्न हो जानेपर सर्वत्र अपने प्रत्याख्यान का पालन करना अनुपालनशुद्ध नामका प्रत्याख्यान कहलाता है ॥४०-४१॥

(४) भावशुद्ध प्रत्याख्यान का स्वरूप—

रागद्वेषमदोन्मादः कषायारि व्रजेः क्वचित् । कामाद्वेकाख्यधूर्तेश्च परिणामेन योगिनाम् ॥४२॥

न मनाग्वृषितं शुद्धं प्रत्याख्यानं यदुत्तमम् । भावशुद्धाभिधं ज्ञेयं प्रत्याख्यानं तदेव हि ॥४३॥

अर्थ—राग, द्वेष, मद, उन्माद आदि के द्वारा वा कषायरूप शत्रुओं के द्वारा अथवा काम के उद्रेकरूपी धूर्तों के द्वारा मुनियों के परिणामों में किसी प्रकार की अशुद्धता नहीं आती है । उनका उसम प्रत्याख्यान शुद्ध बना रहता है उसको भावशुद्ध प्रत्याख्यान कहते हैं ॥४२-४३॥

शरीर की स्थिति के लिये आहार कब ग्रहण करें ?

प्रत्याख्यानमिवं सर्वं कृत्वा कायस्थितिं द्रुतम् । ग्राह्यं चतुर्विधं मुक्तये गुरोऽन्तेमुवाचुर्धः ॥४४॥

अर्थ—बुद्धिमान मुनियों को यह सब प्रत्याख्यान करके उसका नियम पूर्ण होनेपर शरीर स्थिति के लिये आहार ग्रहण करना चाहिये और फिर गुरु के समीप जाकर मोक्ष प्राप्त करने के लिये फिर चारों प्रकार का प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये ॥४४॥

प्रत्याख्यान की हानि कभी नहीं करनी चाहिये—

क्वचिद्धानिर्गं कर्तव्या प्रत्याख्यानस्यसंयतेः । ग्राह्यान्तेपि जगत्सिद्धा तीर्तः परीषहादिभिः ॥४५॥

अर्थ—मुनियों को अपने कंठगत प्राण होनेपर भी तीव्र परिग्रह आदि के द्वारा जगत भर में निवा उत्पन्न करनेवाली प्रत्याख्यान की हानि कभी नहीं करनी चाहिये ।

॥१९४५॥

शिथिलाचार कभी नहीं करना चाहिये—

प्रत्याख्यानस्य भंगेन भंगयान्तियतोखिलाः । गुणा मूलोत्तराद्याश्च तद्भंगाच्छूभ्रकारणम् ॥१९६॥

महापापं प्रजायेत तेनदुःखं वचोतिगम् । भ्रमणशिथिलानां च श्वभ्रादिवुर्गतीचिरम् ॥१९७॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि प्रत्याख्यानके भंग होने से मूलगुण, उत्तर-गुण आदि सबका भंग हो जाता है तथा मूलगुण, उत्तरगुण के भंग होने से नरक का कारण ऐसा महापाप उत्पन्न होता है और उस महापाप से बचनातीत दुःख होता है । तथा इसप्रकार शिथिलाचारको धारण करनेवाले मुनि नरकादिक दुर्गंतियों में चिरकाल तक परिभ्रमण करते रहते हैं ॥१९६-१९७॥

उपद्रव आनेपर भी इसे नहीं छोड़ें—

मत्वेति विश्वयत्नेनपालयन्तु तपोधनाः । प्रत्याख्यानं जगत्सारं सत्सूपद्रवकोटिषु ॥१९८॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को करोड़ों उपद्रव आनेपर भी जगत में सार-भूत यह प्रत्याख्यान पूर्ण प्रयत्न के साथ पालन करना चाहिये ॥१९८॥

प्रत्याख्यान का फल—

सर्वानर्थहरं मनोक्षयिनं कर्मरिविध्वंसकं स्वर्गोक्षकनिबन्धनं शुभनिधिं तीर्थेश्वरं लेवितम् ।
अन्तातीतगुणाम्बुधिं सुमुनयः संपालयेताखिलं प्रत्याख्यानवरं सवासुविधिना सर्वार्थसंसिद्धये ॥१९९॥

अर्थ—यह प्रत्याख्यान समस्त अनर्थों को हरण करनेवाला है, मन और इंद्रियों को जीतनेवाला है, कर्मरूप शत्रुओं को जीतनेवाला है, स्वर्ग और मोक्षका एक अद्वितीय कारण है, शुभकी निधि है, तीर्थकर परमदेव भी इसकी सेवा करते हैं और अनंत गुणों का समुद्र है । इसलिये श्रेष्ठ मुनियोंको संपूर्ण पुरुषार्थ सिद्धि करने के लिये विधि पूर्वक सदा पूर्ण प्रत्याख्यान पालन करना चाहिये ॥१९९॥

कायोत्सर्ग के वर्णन करने की प्रतिज्ञा—

प्रत्याख्यामस्य नियुक्तिं निरूप्येमासमासतः । कायोत्सर्गस्य नियुक्तिमितऊर्ध्वदिशाभ्यहम् ॥२००॥

अर्थ—इसप्रकार संक्षेप से प्रत्याख्यान का स्वरूप कहा अब आगे कायोत्सर्ग का स्वरूप कहते हैं ॥२००॥

कायोत्सर्ग का लक्षण—

त्यक्त्वांगाविममत्वं यद्विधासंगंविधीयते लब्धमानभुजास्थानं गुणचित्तनपूर्वकम् ॥११५१॥

परमेष्ठिगवादीनामहोरात्रादिगोचरः । कायोत्सर्गः स मन्तव्योमन्तव्योर्वि कारकः ॥११५२॥

अर्थ—रात्रि में वा अन्य किसी समय में अपने शरीर से ममत्त्व का त्यागकर तथा दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर खड़े होकर दोनों भुजाएँ लंबी लटका कर पाँचों परमेष्ठियों के गुणों का चिंतन करना कायोत्सर्ग कहलाता है । यह कायोत्सर्ग अनंत वीर्यको उत्पन्न करनेवाला है ॥११५१-११५२॥

कायोत्सर्ग के भी ६ भेद हैं—

नासत्यस्थापना द्रव्यक्षेत्रं कालोशुभाश्रितः । भावणोस्यनिर्धेयः कायोत्सर्गस्यषड्विधः ॥५३॥

अर्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और शुभ भावके भेदसे छहों निधेयों से यह कायोत्सर्ग भी छह प्रकार है ॥५३॥

नाम कायोत्सर्ग का लक्षण—

सरागक्रूरनिदाविनामोऽथदोषशुद्धये । कायोत्सर्गोत्र यो नाम कायोत्सर्गाह्वयोहि सः ॥५४॥

अर्थ—किसी सारंगी, क्रूर और निद्य आदि नामसे उत्पन्न हुए दोषों को शुद्ध करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको नाम कायोत्सर्ग कहते हैं ॥५४॥

स्थापना कायोत्सर्ग का लक्षण—

कुत्सितस्थापनाद्वारागतातीक्षारशांतये । कायोत्सर्गः कृतोय स स्थापनासंग एवहि ॥५५॥

अर्थ—किसी कुत्सित स्थापना के आये हुए अतीचारों को शांत करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको स्थापना कायोत्सर्ग कहते हैं ॥५५॥

द्रव्य कायोत्सर्ग का लक्षण—

सावद्यद्रव्यसेवाद्यैर्जसिदोषस्थहानये । क्रियते यस्तनूत्सर्गो द्रव्यव्युत्सर्ग एव सः ॥५६॥

अर्थ—पापरूप द्रव्योंके सेवन करने से उत्पन्न हुए दोषोंको दूर करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको द्रव्य कायोत्सर्ग कहते हैं ॥५६॥

क्षेत्र कायोत्सर्ग का लक्षण—

सरागक्रूरमिध्यात्वाद्यक्षेत्रजंमलात्मनाम् । विशुद्धयै यस्तनूत्सर्गः क्षेत्रव्युत्सर्ग एव सः ॥५७॥

अर्थ—सारंगी, क्रूर और मिध्यात्व से वृधित क्षेत्रसे उत्पन्न हुए दोषों को दूर

करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको क्षेत्र कायोत्सर्ग कहते हैं ॥५७॥

काल कायोत्सर्ग का लक्षण—

ऋत्वहोराश्रवर्षादि व्याप्तकालोद्भवस्य यः । दोषस्यहानये कायोत्सर्गः स कालसंज्ञकः ॥५८॥

अर्थ—ऋतु दिन रात और वर्षाऋतु आदि किसी भी काल से उत्पन्न हुए दोषों को नाश करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको काल कायोत्सर्ग कहते हैं ॥५८॥

भाव कायोत्सर्ग का स्वरूप—

मिथ्यासंयमकोपादिपुस्तदुभविजस्य यः । दोषस्यशुद्धये कायोत्सर्गः सभावनामकः ॥५९॥

अर्थ—मिथ्यात्व, असंयम और क्रोधादिक दुर्भावोंसे उत्पन्न हुए दोषों को दूर करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह शुभभाव कायोत्सर्ग कहलाता है ॥५९॥

छहों प्रकार के कायोत्सर्गों को करें—

अमीभिःषड्विधैःसारं निक्षेपैर्मुनिसत्तमैः । कायोत्सर्गः सदाकार्यो जातदोषविशुद्धये ॥६०॥

अर्थ—उत्तम मुनियों को उत्पन्न हुए दोषों को विशुद्ध करने के लिये सारभूत इन छहों निक्षेपों से होनेवाला कायोत्सर्ग सदा करते रहना चाहिये ॥६०॥

कायोत्सर्गादि के कथन की प्रतिज्ञा—

कायोत्सर्गश्च कायोत्सर्गोकायोत्सर्गकारणम् । अमीषां त्रितयानां हि प्रत्येकं लक्षणं श्रुत्वे ॥६१॥

अर्थ—अब आगे कायोत्सर्ग, कायोत्सर्गों और कायोत्सर्ग के कारणों का अलग-अलग लक्षण कहते हैं ॥६१॥

कायोत्सर्ग का स्वरूप—

बाह्यास्तः सकलैः संगैः समं कायस्य धीधनैः । क्रियते यः परित्यागः कायोत्सर्गः समुक्तये ॥६२॥

अर्थ—जहांपर बुद्धिमानों के द्वारा बाह्य और आभ्यंतर समस्त परिग्रहों के साथ-साथ शरीर का भी त्याग कर दिया जाता है परिग्रह और शरीरके समस्त सर्वथा त्याग कर दिया जाता है उसको कायोत्सर्ग कहते हैं । ऐसा कायोत्सर्ग मोक्ष देनेवाला होता है ॥६२॥

कायोत्सर्ग के ४ भेद हैं—

प्रालंबितभूजः पादांतरचतुःस्वांगुलाश्रितः । सर्वांग चलनातीतः कथ्यते च चतुर्विधः ॥६३॥

अर्थ—उस कायोत्सर्ग में भुजाएँ लंबायमान होती हैं दोनों पैरोंमें चार अंगुल का अंतर रहता है और समस्त शरीर का हलन-चलन बंद कर दिया जाता है । ऐसा यह कायोत्सर्ग चार चार प्रकार का होता है ॥६३॥

चारों के नाम—

उत्थितोत्थितनामोत्थितोपविष्टसमाह्वयः । उपविष्टोत्थितास्यकिसासीनासीनसंज्ञकः ॥६४॥

अर्थ—पहला उत्थितोत्थित, दूसरा उत्थितोपविष्ट, तीसरा उपविष्टोत्थित और चौथा उपविष्टोपविष्ट अथवा आसीनासीन ये चार कायोत्सर्ग के भेद हैं ॥६४॥

इनमें २ अशुभ कायोत्सर्ग नहीं करने चाहिये—

एतः शुभाशुभभेदः कायोत्सर्गचतुर्विधः । द्विधा त्याजोद्विधा ग्राह्यस्तेषां मध्येसयोगिभिः ॥६५॥

अर्थ—इन चारों प्रकार के कायोत्सर्ग में दो शुभ हैं और दो अशुभ हैं । मुनियोंको दोनों अशुभ कायोत्सर्गों का त्यागकर लेना चाहिये और दोनों शुभ कायोत्सर्ग ग्रहण कर लेना चाहिये ॥६५॥

धर्मशुक्लाभिर्ध्वंष्टे ध्यानं चत्क्रियते ब्रूधेः । कायोत्सर्गेण मुक्त्यं सः व्युत्सर्ग उत्थितोत्थितः ॥६६॥

अर्थ—जो बुद्धिमान मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिये खड़े होकर कायोत्सर्ग करते समय धर्मध्यान वा शुक्लध्यान का चिंतन करते हैं उसको उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग कहते हैं ॥६६॥

आर्तैरौद्रास्वबुद्ध्यनि कायोत्सर्गेण यः स्थितः ध्यायेत्तस्य तनूत्सर्गः उत्थितासीनसंज्ञकः ॥६७॥

अर्थ—जो मुनि खड़े होकर कायोत्सर्ग के द्वारा आर्तध्यान और रौद्रध्यान का चिंतन करता है उसको उत्थितासीन कायोत्सर्ग कहते हैं ॥६७॥

निविष्टोत्थित नामक कायोत्सर्ग का स्वरूप—

धर्मशुक्लशुभध्यानानि विष्टो भजतेऽथः । ह्रवा तस्य तनूत्सर्गो निविष्टोत्थितनामकः ॥६८॥

अर्थ—जो मुनि बैठकर कायोत्सर्ग करता है और उसमें हृदय से धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानका चिंतन करता है उसके निविष्टोत्थित नामका कायोत्सर्ग कहलाता है ॥६८॥

आसीनासीन नामक कायोत्सर्ग—

ध्यायत्यत्र निविष्टो यः आर्तैरौद्राणि चेतसा । ध्यातानि तस्य आसीनासीनव्युत्सर्ग एव हि ॥६९॥

अर्थ—जो मुनि बैठकर कायोत्सर्ग करता है और उसमें हृदय से आर्तध्यान वा लौकिक्यजन का चिन्तन करता है उसके आसीनासीन नाम का कायोत्सर्ग होता है । ॥६६॥

उत्थानासीन दोष का त्याग—

उत्थितासीनएकोन्य आसीनासीनसंज्ञकः । द्वाविमौ सर्वथा त्याज्यौ शेषौ कार्यौ प्रयत्नतः ॥७०॥

अर्थ—इनमें से एक उत्थितासीन और दूसरा आसीनासीन इन दोनों कायोत्सर्गोंका सदाके लिये त्याग कर देना और बाकी के दोनों कायोत्सर्ग प्रयत्नपूर्वक धारण करने चाहिये ॥७०॥

उत्तम ध्यान का स्वरूप—

सम्यग्दर्शनचारित्र्यधृताभ्यासयमादिषु । महाव्रतेषु सर्वेषु संयमाचरणेषु च ॥७१॥
ब्रह्मलक्षणधर्मेषु तपःसमितिगुप्तिषु । प्रत्याख्याने कथायाक्षाशुभध्यानाविरोधने ॥७२॥
आत्मतत्त्वेऽन्यतत्त्वेषु ध्यानेषु परमेष्ठिनाम् । कर्मास्त्रविनिरोधे च संवरे निर्जरा शिवे ॥७३॥
हृदि शुद्धसंकल्पः क्रियते यो गुरुरात्मने । महान् व्युत्सर्गमापन्नेस्तत्प्रयाममुत्तममतम् ॥७४॥

अर्थ—कायोत्सर्ग धारण करनेवाले मुनि गुण प्राप्त करने की इच्छा से जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य, शास्त्रोंका अभ्यास, यम, नियम, समस्त महाव्रत समस्त संयमाचरण, ब्रह्म लक्षण धर्म, तप, समिति, गुप्ति, प्रत्याख्यान, कथाओं का निरोध, इन्द्रियों का निरोध, अशुभ ध्यानका निरोध, आत्म तत्त्व, अन्य तत्त्व, परमेष्ठियों का ध्यान, कर्मोंके आस्त्र का निरोध, संवर, निर्जरा और मोक्ष प्राप्त करने के लिये जो हृदय में शुद्ध संकल्प करते हैं महा संकल्प करते हैं उसको उत्तम ध्यान कहते हैं ॥७१-७४॥

अशुभध्यान का स्वरूप—

परिवारमहासम्यग्पूजासत्कारहेतवे । अन्नपानादिमिष्टान्सर्वख्यातिकीर्तिप्रसिद्धये ॥७५॥
स्वमाहात्म्यप्रकाशाय स्वेष्टवस्त्राप्तयेऽन्वहम् । स्वर्गराज्यपदादीनांप्राप्तयेऽमुत्र वा हृदि ॥७६॥
इत्याद्यन्यतमाप्त्यै यः संकल्पः क्रियतेशुभः । कायोत्सर्गसमापन्नेस्तदध्यानमशुभंस्मृतम् ॥७७॥

अर्थ—इसी प्रकार कायोत्सर्ग करनेवाले जो मुनि अपने परिवार को महा संपत्ति प्राप्त करने के लिये, वा पूजा सत्कार कराने के लिये, वा मीठे-मीठे अन्न-पान प्राप्त करने के लिये वा अपनी कीर्ति फैलाने वा प्रसिद्ध होने के लिये, वा अपना माहा-

तस्य प्रगट करने के लिये, वा प्रतिदिन अपनी इच्छानुसार इष्ट पदार्थ प्राप्त करने के लिये वा परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति, राज्य की प्राप्ति वा सेना की प्राप्ति के लिये वा इनमें से किसी एक की प्राप्ति के लिये अपने हृदय में अशुभ संकल्प करते हैं उसको अशुभध्यान कहते हैं ॥७५-७७॥

अशुभध्यान का त्याग एवं शुभध्यान आवश्यक—

अप्रशस्तं प्रशस्तं च ध्यानं ज्ञात्वाबुधा इदम् । त्वत्स्वाशुभं शुभध्यानं कायोत्सर्गं भजन्तुभोः ॥७८॥

अर्थ—इसप्रकार प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यान को समझ कर बुद्धिमानों को कायोत्सर्ग में अशुभध्यान का त्याग कर देना चाहिये और शुभ ध्यान धारण करना चाहिये ॥७८॥

कायोत्सर्ग करनेवाले मुनि का स्वरूप—

मोक्षार्थो जितनिद्रोयस्तत्त्वज्ञास्त्रविशारदः । मनोवाक्कायसंशुद्धो बलवीर्याद्यलं कुतः ॥७९॥

महातपासहाकाशोमहाधैर्योजितेन्द्रियः परीक्षहोयसर्गादि जयशीलो चलाकृतिः ॥८०॥

महाव्रती परात्मज्ञः इत्याद्यन्यगुणाकरः । कायोत्सर्गो भवेन्नूनमुत्तमो मुक्तिसाधकः ॥८१॥

अर्थ—जो मुनि मोक्षकी इच्छा करनेवाला है, निद्राको जीतने वाला है, तत्त्व और शास्त्रोंके जानने में अत्यंत चतुर है, जिसके मन-वचन-काय शुद्ध हैं, जो बल और वीर्यसे (शक्ति से) सुशोभित है, जो महा तपस्वी है, हृष्ट, पुष्ट, पूर्ण शरीर को धारण करनेवाला है, महा धीर वीर है, जितेन्द्रिय हैं, परिषद् और उपसर्गों को जीतने वाला है, जिसकी आकृति निश्चल रहती है, जो महाव्रती है, परमात्मा को जानने वाला है और मोक्षको सिद्ध करनेवाला है तथा और भी ऐसे ही ऐसे गुणों की खानि है, ऐसा मुनि उत्तम कायोत्सर्ग (कायोत्सर्ग करनेवाला) कहा जाता है ॥७९-८१॥

कायोत्सर्ग करने का कारण—

प्रतानां समितीनां च गुप्तीनां संयमात्मनाम् । क्षमादिलक्षणां च मूलान्यगुणाद्वक चिदाम् ॥
कषायं नेकिषायैश्चमदोन्माद भयादिभिः । घातायातः प्रमादश्च मनोक्षवाग्वपुश्चलः ॥८३॥
आता येऽतिक्रमास्तेषां बध्नः शुद्धचर्चमत्र यः । विधीयते तमूत्सर्गः तद्वर्ज्यं तस्य कारणम् ॥८४॥

अर्थ—प्रत, समिति, गुप्ति, संयम, क्षमा, मार्दव आदि धर्म, मूलगुण, उत्तर-गुण, सम्यग्दर्शन और आत्माकी शुद्धता आदि में कषाय, नोकषाय, मद, उन्माद, भय, गमनागमन, प्रमाद, मन ईद्रियां वचन और शरीर की चंचलता से जो अतिचार लगते

हैं चतुर पुरुष उन्हीं को शुद्ध करने के लिये कायोत्सर्ग करते हैं । इसीलिये व्रतादिकों में दोष लगना कायोत्सर्ग का कारण समझना चाहिये ॥८२-८४॥

पुनः कायोत्सर्ग के कारण—

वृद्धं रा उपसर्गं ये नृषेवावि कृता भवि सर्वे परोषहा घोराभहन्तस्तपसादयः ॥८५॥
कायोत्सर्गेण तान् विप्रवान्सद्देहं मुक्तिहेतवे । इत्यावि कारणैर्नित्यं कुर्वंतु मुनयोऽत्र तम् ॥८६॥

अर्थ—इस संसार में मनुष्य वा देवों के द्वारा किए हुए जितने भी कुर्धर उपसर्ग हैं, जितनी घोर परिषह हैं और जितने महान् तपश्चरण हैं उन सबको मैं मोक्ष प्राप्त करने के लिये कायोत्सर्ग धारण कर सहन करूँगा, यही समझकर वा इन्हीं कारणों से मुनियों को प्रतिदिन कायोत्सर्ग धारण करना चाहिये ॥८५-८६॥

कायोत्सर्ग का फल—

कायोत्सर्गे कृते यद्वद्वंगोपांगाविसंधयः । मिश्रन्ते सुधियां तद्वद्भुक्कर्माणि क्षणेक्षणं ॥८७॥

अर्थ—कायोत्सर्ग के करने में जिस प्रकार अंग उपांग की संधियां मिश्र-भिन्न होती हैं उसी प्रकार बुद्धिमानों के कर्म भी क्षण-क्षण में नष्ट होते रहते हैं ॥८७॥

कायोत्सर्ग से ऋद्धियों की प्राप्ति—

कायोत्सर्गप्रभावेन जायन्ते हिमहृष्यः । समस्ता अचिरेण योगिनां तावत्संशयः ॥८८॥

अर्थ—इस कायोत्सर्ग के प्रभाव से मुनियों को बहुत ही शीघ्र समस्त महा ऋद्धियां प्राप्त हो जाती हैं इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥८८॥

कायोत्सर्ग से शुभध्यान की प्राप्ति—

धर्मशुक्लशुभाध्यानाः शुभालेश्याः प्रयान्त्यहो । कायोत्सर्गेण धर्मात्मनां सर्वोत्कृष्टतामिह ॥८९॥

अर्थ—इस कायोत्सर्ग के प्रभाव से धर्मात्मा पुरुषों के धर्मध्यान वा शुक्लध्यान तथा शुभ लेश्याएँ सर्वोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं ॥८९॥

कायोत्सर्ग के प्रभाव से इंद्रों के आसन कंपायमान हो जाते हैं—

प्रकंपन्ते सुरेशानामासनादि क्षणान्तरे । महाध्यानप्रभावेन कायोत्सर्गस्थयोगिनाम् ॥९०॥

अर्थ—कायोत्सर्ग में विराजमान हुए मुनियों के महाध्यानके प्रभाव से क्षण-भर में ही इंद्रों के आसन कंपायमान हो जाते हैं ॥९०॥

इसके फलसे क्रूर व्याघ्रादि भी शांत हो जाते हैं—

व्याघ्रादिहादयः क्रूरा शाम्यन्ति नतमस्तकाः कायोत्सर्गस्थधीराणां महायोगप्रभावतः ॥९१॥

अर्थ—इस कायोत्सर्ग में विराजमान हुए महा धीर वीर मुनियोंके महाध्यान के प्रभावसे सिंह व्याघ्र आदि क्रूर पशु भी शांत हो जाते हैं और उनके चरणोंमें आकर अपना भस्तक झुका देते हैं ॥६१॥

इससे करोड़ों विघ्नों के जाल क्षण भरमें नष्ट होते हैं—

उपसर्ग व्रजाः सर्वे विघ्नादिजालकोटयः । कायोत्सर्गस्थमाहात्म्याद्विधटन्ते च तत्क्षणम् ॥६२॥

अर्थ—इस कायोत्सर्ग में विराजमान हुए मुनियों के माहात्म्य से क्षणभर में ही समस्त उपसर्गों के समूह नष्ट हो जाते हैं और करोड़ों विघ्नों के जाल क्षणभर में कट जाते हैं ॥६२॥

केवल ज्ञानकी प्राप्ति भी इसका फल है—

कायोत्सर्गेण दक्षाणां केवलज्ञानमाशुभोः । जायतेप्रकटं लोकेऽत्रान्यस्यज्ञानस्यकाफया ॥६३॥

अर्थ—चतुर पुरुषों को इस कायोत्सर्ग के प्रभाव से इसी लोक में शीघ्र ही केवलज्ञान प्रगट हो जाता है फिर भला अन्य ज्ञानोंकी तो बात ही क्या है ॥६३॥

केवलज्ञान रूपी स्त्री वरण करती है—

व्युत्सर्गं कुक्षेधीरो यो धर्मशुक्लपूर्वकम् । अत्यासक्त्या स्वयं हेत्यमुक्तिरामावृणोतितम् ॥६४॥

अर्थ—जो धीर वीर पुरुष धर्मध्यान और शुक्लध्यान पूर्वक कायोत्सर्ग धारण करता है उसपर मुक्तिरूपी स्त्री अत्यंत आसक्त हो जाती है और स्वयं आकर उसको वर लेती है ॥६४॥

यह सर्वोत्कृष्ट तप है—

कायोत्सर्गेणसावृष्यं नापरं परमं तपः । उपायस्तत्समो नान्यः कर्मरातिनिकंखने ॥११६५॥

अर्थ—इस कायोत्सर्ग के समान न तो अन्य कोई परमोत्कृष्ट तप है और न कर्मरूपी शत्रुओं को नाश करने के लिये अन्य कोई उपाय है ॥११६५॥

इस तप करनेवाले के करोड़ों कर्म जाल नष्ट हो जाते हैं—

यतो व्युत्सर्गकर्तृणां कर्मजासनि कोटिशः । नश्यति क्षणमात्रेण तमांसि भानुना यथा ॥६६॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जिसप्रकार सूर्यके उदय होते ही अंधकार क्षणभर में ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार कायोत्सर्ग करने वालों के करोड़ों कर्म जाल क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं ॥६६॥

कायोत्सर्ग के फल का उपसंहार—(मुक्ति प्राप्ति)

इत्यादि प्रवरं चास्य फलमस्त्वा शिवायिनः । स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य सिद्धं कुर्वन्तु तं सदा ॥६७॥

अर्थ—इसप्रकार इस कायोत्सर्ग का सर्वोत्कृष्ट फल समझकर मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपनी शक्ति प्रगट कर वह कायोत्सर्ग सदा करते रहना चाहिये ॥६७॥

विभिन्न प्रतिक्रमणों में कायोत्सर्ग का काल—

कायोत्सर्गस्य चोत्कृष्टेन वर्षेकं प्रमाणकम् । अन्तर्मुहूर्तमात्रं स्याज्जघन्यं कालसंख्यया ॥६८॥
मध्यमेन तयोर्मध्येप्रमाणं बहुधाभवेत् । अहोरात्रादिपक्षकमासद्विध्यादिगोचरम् ॥६९॥-१२००॥

अर्थ—इस कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट काल एक वर्ष है और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है तथा मध्यका जो एक दिन, एक रात, एक पक्ष, एक महीना, दो महीना, तीन महीना, छह महीना आदि काल है वह सब कायोत्सर्ग का मध्यम काल गिना जाता है ॥६८-१२००॥

श्वासोच्छ्वास पूर्वक कायोत्सर्ग विधि—

सत्प्रतिक्रमणे वीरभक्तौ वैधसिकाभिधे । कायोत्सर्गे स्यादुच्छ्वासा अष्टोत्तर शतप्रभाः ॥१२०१॥
उच्छ्वासारान्निके कार्वाणश्चतुः पञ्चाश एव च । परमेष्ठिपदोच्चारैः शतानित्रीणि पाक्षिके ॥
उच्छ्वासानां च चातुर्मासिके चतुःशतानि वै । शतानि पञ्च सांख्यसरके स्युःनियमात्सताम् ॥
वीरभक्तिं विना शेषसिद्धभक्त्या विबुधैरुक्तम् । सर्वेषु स्युरन्तर्नूत्सर्गे उच्छ्वासाः सप्तविंशतिः ॥

अर्थ—श्रेष्ठ प्रतिक्रमण करते समय, वीरभक्ति करते समय और वैधसिक कायोत्सर्ग में एकसौ आठ उच्छ्वासों से छत्तीस बार नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिये । रात्रि के कायोत्सर्ग में चौवन श्वासोच्छ्वासों से अठारह बार नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिये । पाक्षिक कायोत्सर्गमें तीनसौ उच्छ्वासों से परमेष्ठी वाचक पदोंका उच्चारण करना चाहिये अर्थात् सौबार नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिये । चातुर्मास कायोत्सर्ग में चारसौ श्वासोच्छ्वासोंसे नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिये और वार्षिक कायोत्सर्ग में पांचसौ उच्छ्वासों से पंच नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिये । वीरभक्ति के विना शेष सिद्धभक्ति आदि में जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह सत्ताईस श्वासोच्छ्वास से करना चाहिये । ॥१२०१-१२०४॥

व्रत शुद्धि के लिये कायोत्सर्ग की आवश्यकता—

प्राणिहिसानूस्तेया ब्रह्मोपधिप्रसंगतः । सप्तमहाव्रतपञ्चानां जातातिचारशुद्धये ॥५॥

पृथक्पृथग्विधातव्यः कायोत्सर्गो व्रतार्थिभिः । अष्टोत्तरशतोच्छ्वासः प्रमाणोविधनाश्चचित् ॥

अर्थ—हिंसा, भूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहके निमित्तसे जो पाँचों महाव्रतोंमें अतिचार लगे हों तो उनको शुद्ध करने के लिये व्रतियों को अलग-अलग व्रतके अलग-अलग अतिचार एकसौ आठ उच्छ्वासके द्वारा विधिपूर्वक कायोत्सर्ग धारण कर अलग ही शुद्ध करना चाहिये । भावार्थ—एकसौ आठ उच्छ्वासों के द्वारा अहिंसा व्रतके दोष शुद्ध करने चाहिये फिर एकसौ आठ उच्छ्वासों द्वारा सत्यव्रतके दोष दूर करने चाहिये इसप्रकार सबके लिये अलग-अलग कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥५-६॥

स्वाध्याय और वन्दना में कायोत्सर्ग विधि—

ग्रंथारम्भे समाप्ते च स्वाध्याये वंदनाविषु । कायोत्सर्गेण कर्तव्या उच्छ्वासाः सप्तविंशतिः ॥७॥

अर्थ—ग्रंथके प्रारंभ में वा ग्रंथ की समाप्ति में, स्वाध्याय में, वंदना करने में वा और भी ऐसे कार्यों में सत्ताईस श्वासोच्छ्वास से कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥७॥

कायोत्सर्ग में ध्याने योग्य पद और उसका फल—

कायोत्सर्गेषु सर्वेषु होत्सुच्छ्वासान् विधाय च । परमेष्ठिपदानां जपनेनाधविशुद्धये ॥८॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए समस्त कायोत्सर्गों में ऊपर कहे हुए उच्छ्वासोंके द्वारा पंच परमेष्ठियों को कहने वाले पदों को जपना चाहिये । ऐसे ही जपसे पापों की शुद्धि होती है ॥८॥

प्रशस्त ध्यान करने की प्रेरणा—

प्रशस्तं धर्मशुक्लाख्यं द्विधाध्यानं शिवप्रदम् । स्वशक्त्या स्वैकचित्तेन चिरंध्यायन्तु धीधनाः ॥९॥

अर्थ—धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दो ध्यान ही प्रशस्त हैं और ये ही दो ध्यान मोक्ष देनेवाले हैं इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को अपनी शक्ति के अनुसार एकचित्त होकर चिरकाल तक ये दोनों ध्यान धारण करने चाहिये ॥९॥

निर्दोष कायोत्सर्ग का फल—

यतोऽयुत्सर्ग एकोऽथ धर्मशुक्लशुभाश्रितः । द्वाविंशदोषनिष्क्रान्तः कुतः आशुसुयोगिनाम् ॥१०॥

महती सकला ऋद्धौ ध्योमगत्यादिकारिणी । ज्ञानं च केवलं विश्वप्रवीणं जनयत्यहो ॥११॥

अर्थ—क्योंकि यह कायोत्सर्ग यदि बत्तीस दोषों से रहित तथा शुभ धर्मध्यान और शुक्लध्यान पूर्वक किया जाय तो इस एक ही से मुनियों को आकाश गामिनी

आदि बड़ी-बड़ी समस्त ऋद्धियां प्राप्त हो जाती हैं तथा लोक अलोक सबको दिखलाने वाला केवलज्ञान प्रगट हो जाता है ॥१०-११॥

कायोत्सर्ग के बत्तीस दोषों के नाम—

घोटकोऽथलताख्यस्तंभकुड्यमालसंज्ञः । दोषः स वरवध्वाख्यस्ततो निगलनामकः ॥१२॥
लम्बोत्तराभिधोदोषस्तनदृष्टिश्चषायसः । खलिनो युगकपित्थो शिरः प्रकंपिताख्यकः ॥१३॥
मूकितोगुलिदोषोयभ्रूविकारसमाह्वयः । दीर्घश्चवारुणीपायी दिग्दशालोकनादिशः ॥१४॥
ग्रीवोन्नमनदोषोय दोषः प्रणमनाख्यकः । निष्ठीवनोगमंशस्थोऽथाभीषां लक्षणं द्रुवे ॥१५॥

अर्थ—कायोत्सर्ग के बत्तीस दोषों के नाम कहते हैं । घोटक, लता, स्तंभ, कुड्य, माल, वरवधू, निगल, लम्बोत्तर, स्तनदृष्टि, वायस खलीन, युग, कपित्थ, शिर, प्रकंपित, मूकित, अंगुलि, भ्रूविकार, वारुणीपायी, दिग्दशालोकन ग्रीवोन्नमन प्रणमन, निष्ठीवन अंगमर्श ये कायोत्सर्ग के बत्तीस दोष हैं आगे अनुक्रम से इनका लक्षण कहते हैं ॥१२-१५॥

घोटक दोष का स्वरूप—

यः स्वेकं पादमुत्क्षिप्यविन्यस्य वात्र तिष्ठति । अश्वचद्वित नूत्सर्गे सः स्याद्घोटकदोषभाक् ॥

अर्थ—जो मुनि कायोत्सर्ग करते समय घोड़े के समान एक पैर को उठाकर अथवा एक पैर को रख कर कायोत्सर्ग करता है उसके घोटक नाम का दोष लगता है ॥१६॥

लता दीप का स्वरूप—

लतेवात्रनिजांगानि चालयन् यः प्रतिष्ठते । कायोत्सर्गेण तस्य स्याल्लतादोषश्चलात्मनः ॥१७॥

अर्थ—जो मुनि लता के समान अपने शरीर को वा अंग उपांगों को हिलाता हुआ कायोत्सर्ग करता है उस अंचल मुनि के लता नाम का दोष लगता है । ॥१७॥

स्तंभ दोष का स्वरूप—

स्तंभमाश्रित्य यस्तिष्ठेत् कायोत्सर्गेण संयतः । वा शून्यहृदयस्तस्य स्तंभदोषोऽत्र जायते ॥१८॥

अर्थ—जो मुनि किसी खंभेके आश्रय खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है अथवा खंभे के समान शून्य हृदय होकर कायोत्सर्ग करता है उसके स्तंभ नामका दोष लगता है ॥१८॥

कुड्य दोष का स्वरूप—

कुड्यमाश्रित्य तिष्ठेद्यो व्युत्सर्गेणाववापरम् । कुड्यदोषो भवेत्तस्य कायोत्सर्गमलप्रदः ॥१६॥

अर्थ—जो मुनि किसी बीवाल के सहारे खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है उसके कायोत्सर्ग को दूषित करनेवाला कुड्य नामका दोष लगता है ॥१६॥

माल दोष का स्वरूप—

पीठिकादिकमारुह्य बोध्वभागंस्वयस्तकात् । आश्रित्य यस्तनूत्सर्गं कुर्यात्स मालदोषवान् ॥२०॥

अर्थ—जो मुनि किसी पीठिका पर (बेदी आदि पर) चढ़ कर और उसके ऊपर के भाग पर मस्तक का सहारा लेकर कायोत्सर्ग करता है उसके माल नामका दोष प्रगट होता है ॥२०॥

वर-वधू दोष का स्वरूप—

जंघाभ्यांजघनंपीड्य सवरादिबधूरिव । यस्तं धत्तेऽत्र स स्यात्सवरवध्वाप्रव्यहोयभाक् ॥२१॥

अर्थ—जो मुनि वर-वधू के समान दोनों जंघाओं से जंघाको दबाकर कायोत्सर्ग करता है उसके वरवधू नामका दोष लगता है ॥२१॥

निगल दोष का स्वरूप—

कुर्यात् बह्वन्तरालं यः पादयोर्निगलस्यवत् । कायोत्सर्गं विधत्ते स निगलाख्यमलंभवेत् ॥२२॥

अर्थ—जिसके पैर सांकल से बंधे हैं, पैरों के बीच में बेड़ी वा लोहे के डंडे पड़े हैं उसके समान जो अपने पैरों को बहुत दूर-दूर रखकर कायोत्सर्ग करता है उसके निगल नामका दोष लगता है ॥२२॥

लंबोदर दोष का स्वरूप—

व्युत्सर्गस्थायस्यात्रोन्नमनं च भवेन्मुनेः बह्वधोनमनं तस्य दोषोलम्बोत्तराह्वयः ॥२३॥

अर्थ—कायोत्सर्ग करते समय जो मुनि ऊंचेको अधिक तन जाय अथवा नीचे को नम जाय उसके लंबोत्तर नामका दोष लगता है ॥२३॥

स्तन दृष्टि दोष का स्वरूप—

व्युत्सर्गस्थोत्र यः पश्येत्स्वस्तनी चंचलोवृणा । तस्य दोषः प्रजायेत स्तनदृष्टिस्तमाह्वयत् ॥२४॥

अर्थ—जो चंचल मुनि कायोत्सर्ग करते समय नेत्रों से अपने स्तनों को देखता है उसके स्तनदृष्टि नामका दोष लगता है ॥२४॥

वायस दोष का स्वरूप—

कायोत्सर्गस्थ एवाप्यपार्श्ववश्यति यो दूषा । काकवत्तस्य जायेतदोषो वायससंज्ञकः ॥२५॥

अर्थ—कायोत्सर्ग करता हुआ जो मुनि कौए के समान इधर-उधर दोनों बगलों की ओर देखता है उसके वायस नामका दोष लगता है ॥२५॥

खलीन दोष का स्वरूप—

कायोत्सर्गं विधत्ते चाश्ववत्खलिनपीडितः । यो वन्तकटकमस्तकं तस्यखलिनोमलः ॥२६॥

अर्थ—लगाम से दुःखी हुए घोड़े के समान जो मुनि मस्तक को हिलाता हुआ और दांतों को कट कटाता हुआ कायोत्सर्ग करता है उसके खलीन नामका दोष होता है ॥२६॥

युग दोष का स्वरूप—

प्रोवां प्रसार्यं तिष्ठेद्युगपीडितवृषादिवत् । कायोत्सर्गेण तस्यास्ति युगदोषोविरूपकः ॥२७॥

अर्थ—जिसप्रकार जुआ से दुःखी हुआ बैल अपनी गर्दन को लंबी कर देता है उसी प्रकार जो मुनि अपनी गर्दनको लंबी कर कायोत्सर्ग करता है उसके युग नामका अशुभ दोष होता है ॥२७॥

कपित्थ दोष का स्वरूप—

कपित्थफलवन्मुष्टिं कृत्वातिष्ठति यो मुनिः । व्युत्सर्गेण भवेत्तस्य कपित्थदोष एवहि ॥२८॥

अर्थ—जो मुनि कैथ के समान अपनी मुट्टियों को बांधकर कायोत्सर्ग करता है उसके कपित्थ नामका दोष लगता है ॥२८॥

शिरः प्रकंपित दोष का स्वरूप—

कायोत्सर्गान्वितो यः शिरः प्रकंपयतिस्फुटम् । शिरः प्रकंपितं दोषं लभते समलप्रवम् ॥२९॥

अर्थ—जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ शिरको हिलाता जाता है उसके शिरः प्रकंपित नामका मल उत्पन्न करनेवाला दोष लगता है ॥२९॥

मूकित दोष का स्वरूप—

करोति चंचलत्वेन कायोत्सर्गस्थसंयतः । मुखनासाधिकारं यस्तस्यदोषोहिमूकितः ॥३०॥

अर्थ—जो मुनि अपनी चंचलतासे कायोत्सर्ग करता हुआ भी मुख वा नासिका में विकार उत्पन्न करता रहता है उसके मूकित नामका दोष लगता है ॥३०॥

अंगुलि चलित दोष का स्वरूप—

कायोत्सर्गं यतो योऽत्र विकारं कुरुतेयतिः । हस्तपादंगुलीशतंगुलिरोऽं तमेव सः ॥३१॥

अर्थ—कायोत्सर्ग करता हुआ जो मुनि हाथ पैर वा अंगुली से विकार उत्पन्न करता रहता है उसके अंगुली नामका दोष लगता है ॥३१॥

भ्रू-विकार दोष का स्वरूप—

व्युत्सर्गस्थोमयी नेत्रे भ्रूविकारं तनोति यः । नर्तनं बागुलीनां पादयोः सभ्रूविकारभाक् ॥३२॥

अर्थ—जो मुनि कायोत्सर्ग करते समय नेत्रों में वा भोंहों में विकार उत्पन्न करता है अथवा अपने पैर की अंगुलियों को नचाता है उसको भ्रूविकार नामका दोष लगता है ॥३२॥

वारुणी-पायी दोष का स्वरूप—

सुरापायीव यो घूर्णमानास्तिष्ठत्सिंघसंघी । व्युत्सर्गे वारुणीपायी दोषस्तस्य चलत्तमनः ॥३३॥

अर्थ—जो मुनि मद्य पीने वाले मनुष्य के समान लहरें लेता हुआ कायोत्सर्ग करता है उस चंचल मुनि के वारुणीपायी नामका दोष लगता है ॥३३॥

दश दिगालोकन के दश दोषों का स्वरूप—

ध्युत्सर्गस्थः प्रपश्येद्यो नेत्राम्बुजां हि दिशोदश । लभते दश दोषान् स दिगालोकनसंज्ञकाम् ॥३४॥

अर्थ—जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ भी अपने नेत्रों से दशों दिशाओं की ओर देखता है उसके दश दिगालोकन नामके दश दोष लगते हैं । भावार्थ—एक एक दिशाको देखना एक-एक दोष है । इसप्रकार दशों दिशाओंको देखना दश दोष हैं ॥३४॥

ग्रीवोन्नमन दोष का स्वरूप—

कायोत्सर्गसंयुक्तः स्वग्रीवोन्नमनं हि यः । करोति तस्य दोषः स्याद्ग्रीवोन्नमन नामकः ॥३५॥

अर्थ—जो मुनि अपनी गर्दन को ऊंची कर कायोत्सर्ग करता है उसके ग्रीवोन्नमन नामका दोष लगता है ॥३५॥

प्रणमन दोष का स्वरूप—

कायोत्सर्गाकितो यः प्रणमनं कुरुतेयतिः । तस्यप्रणमनाख्योऽस्ति दोषो दोषकरोऽशुभः ॥३६॥

अर्थ—जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ भी नीचे की ओर झुक जाता है उसके अनेक दोष उत्पन्न करनेवाला प्रणमन नामका अशुभ दोष होता है ॥३६॥

निष्ठीवन दोष का स्वरूप—

व्युत्सर्गालंकृतो यत्र निष्ठीवनं करोति च तथा षड्वारणं तस्य बोधो निष्ठीवनाद्वयः ॥३७॥

अर्थ—जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ भी बंधूना भी बंधूना रहता है अथवा लकारता रहता है उसके निष्ठीवन नामका दोष होता है ॥३७॥

श्रंगमर्श दोष का स्वरूप—

कायोत्सर्गयुतः कुर्याच्चपलत्वेन यो मुनिः । त्वशरीरपरामर्शं सौगम्यसंस्थितोऽप्यन्यथा ॥३८॥

अर्थ—जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ भी चंचल होने के कारण अपने शरीर को स्पर्श करता रहता है उसके श्रंगमर्श नामका दोष लगता है ॥३८॥

प्रयत्न पूर्वक दोषों के त्याग की प्रेरणा—

एते दोषाः प्रयत्नेन द्वात्रिंशत्संख्यकाः सदा । योगशुद्ध्या परित्याज्याः कायोत्सर्गस्य संयतेः ॥३९॥

अर्थ—कायोत्सर्ग धारण करनेवाले मुनियोंको अपने मन-वचन-कायकी शुद्धता पूर्वक प्रयत्नपूर्वक इन बत्तीस दोषों का त्याग कर देना चाहिये ॥३९॥

निर्दोष कायोत्सर्ग का फल—

यतो मीभिर्विनिर्मुक्तं दोषः सर्वं प्रकुर्वते । व्युत्सर्गं प्रकटीकृत्य ये सामर्थ्यं पराक्रमम् ॥४०॥

तेषां नश्यन्ति चत्वारि घातिकर्माणि जायते । केवलावगमं सर्वगुणैः सहाचरेण भोः ॥४१॥

अर्थ—क्योंकि जो मुनि अपने पराक्रम वा सामर्थ्य को प्रगट कर इन समस्त दोषों से रहित होकर कायोत्सर्ग करते हैं उनके चारों घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं और शीघ्र ही अनंत चतुष्टय आदि गुणों के साथ-साथ केवलज्ञान प्रगट हो जाता है । ॥४०-४१॥

कायोत्सर्ग की प्रेरणा—

विज्ञायेति फलं चास्य शक्ता वा संवशक्तयः । कुर्वन्तु प्रत्यहं कायोत्सर्गं सर्वार्थसिद्धये ॥४२॥

अर्थ—इस कायोत्सर्ग का ऐसा फल समझकर समर्थ मुनियोंको व कम समर्थ मुनियों को भी अपने समस्त पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिये प्रतिदिन कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥४२॥

कायोत्सर्ग की प्रमाणिकता—

यतोऽत्र निजशक्त्या स क्रियमाणोजगत्सताम् । भवत्येष न संदेहो महाफलनिबन्धनः ॥४३॥

अर्थ—क्योंकि अपनी शक्तिके अनुसार किया हुआ कायोत्सर्ग जगत्के सज्जन पुरुषों को महा फलका कारण होता है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥४३॥

कायोत्सर्ग बिना शारीरिक बल की निस्सारता—

सत्यं वसिष्ठो ज्ञानं प्रमादेन न कुर्वते । कायोत्सर्गं भवेत्सोऽथ द्युर्ध्वं जंघावलाविकम् ॥४४॥

अर्थ—जो मुनि समर्थ और बलवान होकर भी प्रमाद के कारण कायोत्सर्ग नहीं करते हैं उनकी जंघा का बल द्युर्ध्व ही समझना चाहिये ॥४४॥

कायोत्सर्ग में प्रमाद त्याग की प्रेरणा—

सत्वेति कर्मनाशाय कायोत्सर्गो भवापहः । कर्तव्यः प्रश्यहं धीरैः प्रमादेन विनाशिलः ॥४५॥

अर्थ—यही समझकर धीर वीर पुरुषोंको अपने कर्म नष्ट करने के लिये प्रमाद को छोड़कर संसारको नाश करनेवाला यह कायोत्सर्ग प्रतिदिन करना चाहिये ॥४५॥

कायोत्सर्ग की महिमा—

विश्वायथ धर्ममूलं सकलविधिहरं तीर्थनार्यनिषेव्यं
मुक्तिश्चीवानदक्षंगुणमणिजलधि धीरवीरकगम्भम् ।
दुःखघ्नं शर्मस्तानि कुरुत मुचिधिना ध्यानमार्जव्य दक्षाः
कायोत्सर्गशिवाप्त्यैवपुंषि जगतिषानिर्ममत्वं विधाय ॥४६॥

अर्थ—यह कायोत्सर्ग संसार भरमें मुख्य है, धर्मका मूल है, समस्त कर्मों को नाश करनेवाला है, भगवान तीर्थंकर परमदेव भी इसको धारण करते हैं, यह मोक्षरूपी लक्ष्मी के देने में अत्यंत चतुर है, गुणरूपी मणियों को उत्पन्न करने के लिये समुद्र के समान है, धीर वीर पुरुष ही इसको धारण कर सकते हैं, यह समस्त दुःखों को नाश करनेवाला है और कल्याण की खानि है । ऐसा यह कायोत्सर्ग चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपने शरीर से तथा संसार से ममत्व छोड़कर और शुभध्यान को आलंछन कर विधि पूर्वक अवश्य करना चाहिये ॥४६॥

आवश्यक के नाम की सार्थकता और प्रयत्नपूर्वक पालन की प्रेरणा—

अवश्यकरणावेते प्रोक्ता आवश्यका जिनैः । सर्वे सार्थक नामनो योगिनां योगकारिणः ॥४७॥

अथवा मुक्तिरामावश्यवशीकरणा बुधैः । आवश्यका महातः षडुक्ताः सर्वार्थसाधकाः ॥४८॥

ज्ञात्वेति परिपूर्णानि दक्षैरावश्यकानि षट् । काले काले विधेयानिमहाफलकराण्यपि ॥४९॥

अर्थ—इसप्रकार जो छह आवश्यक कहे हैं वे मुनियों को अवश्य करने चाहिये

इसलिये भगवान् जिनेन्द्रदेव इनको आवश्यक कहते हैं । ये सब आवश्यक सार्थक नाम को धारण करते हैं और योगियों को ध्यान उत्पन्न करनेवाले हैं । अथवा इनके द्वारा मुक्तिरूपी स्त्री अवश्य ही वशमें हो जाती है इसलिये बुद्धिमान लोग इनको आवश्यक कहते हैं । ये छहों आवश्यक महान् हैं और समस्त अर्थों को सिद्ध करनेवाले हैं । यही समझकर चतुर पुरुषों को अपने-अपने समयपर महाफल देनेवाले ये छहों आवश्यक पूर्ण रूपसे पालन करने चाहिये ॥४७-४८॥

योग्य समय पर किये गये आवश्यक का फल—

यथा धान्यानि सर्वाणि काले काले कृतानि च । महाफलप्रदानि स्युःसामग्र्यान् कुटुम्बिनाम् ॥५०॥
तथावश्यक कृतानि योग्यकाले कृतान्यपि । इन्द्राहमिन्द्रतीर्थेशादिश्रीप्रदानि योगिनाम् ॥५१॥

अर्थ—जिसप्रकार समय-समय पर उत्पन्न किये हुये धान्य कुटुम्बी लोगों को पूर्ण सामग्री के साथ महाफल देनेवाले होते हैं उसी प्रकार योग्य समय पर किये हुए समस्त आवश्यक भी मुनियों को इन्द्र अहमिन्द्र और तीर्थेश आदि के समस्त पद और उनकी लक्ष्मी को देनेवाले होते हैं ॥५०-५१॥

असमय में आवश्यक करने से हानि—

अकाले कृतसस्यानि यथा नाभीष्टसिद्धये । कृतान्यावश्यकान्यत्रसामग्र्यादिविना तथा ॥५२॥

अर्थ—जिसप्रकार असमय पर उत्पन्न किये हुये धान्यों से अपनी इष्ट सिद्धि नहीं होती उसी प्रकार सामग्री आदि के बिना किये हुए आवश्यकों से भी मुनियों को इष्ट सिद्धि नहीं होती ॥५२॥

त्रियोग शुद्धि पूर्वक आवश्यक करने की प्रेरणा—

विज्ञापेति विचारज्ञाः षडावश्यकमंजसा । कालेकालेप्रकुर्वन्तु त्रिशुद्ध्या शिवभूतये ॥५३॥

अर्थ—यह समझकर विचारवान् पुरुषों को मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त करने के लिये मन-वचन-कायको शुद्धकर समयानुसार छहों आवश्यक करने चाहिये ॥५३॥

आवश्यक की प्रमाणिकता—

सर्वसिद्धांतसारार्थमाश्रय धीगणाधिपैः । रचितानि मुनीनां च त्रिशुद्धयैः समसिद्धये ॥५४॥

अर्थ—गणधर देवों ने धर्मकी सिद्धि के लिये और मुनियों के चारित्र्यको शुद्ध रखने के लिये समस्त सिद्धांत के सारभूत अर्थ को लेकर ये आवश्यक बतलाये हैं । ॥५४॥

शास्त्र पठन के लोभसे आवश्यक नहीं करने से हानि—

यान्धावश्यकसाराणि तानि योगतधीर्यतिः । हीनानि कुरुते मूढाः शास्त्रपाठादिलोभतः ॥५५॥

तस्मात्पलायते बुद्धिर्जडतवं तस्यहीकते । इहामुत्रसुखं नश्येत् व्रताविसद्गुणैः समम् ॥५६॥

अर्थ—जो बुद्धि रहित मूर्ख मुनि शास्त्रों के पठन-पाठन के लोभसे सारभूत समस्त आवश्यकों को पूर्णरूप से नहीं करता है, कर्म करता है उसकी बुद्धि बुरा भाग जाती है मूर्खता उसपर सवार हो जाती है और व्रत आदि श्रेष्ठ गुणोंके साथ-साथ इस लोक और परलोक दोनों लोकों के उसके समस्त सुख नष्ट हो जाते हैं ॥५५-५६॥

आवश्यक करने के पश्चात् ही अन्य कार्यों की प्रेरणा -

मत्वेति योगिनः पूर्वं कृत्वावश्यकमंजसा । ततः पठन्तु शास्त्रावीन् धैः स्युः सर्वार्थसिद्धयः ॥५७॥

अर्थ—यही समझकर योगी पुरुषों को सबसे पहले आवश्यक करने चाहिये और फिर शास्त्रादिक का पठन-पाठन करना चाहिये । ऐसा करने से ही समस्त पदार्थों की सिद्धि होती है ॥५७॥

बिना आवश्यक के मोक्ष प्राप्ति असम्भव—

बिनाआवश्यकैर्यो धीरावासमोहृतेषिवे । कायक्लेशेन गंतुं स मेवग्रं चरणादृते ॥५८॥

अर्थ—जो धीर धीर रहित मुनि बिना आवश्यकों के केवल काय क्लेशके द्वारा मोक्ष चाहते हैं । वे बिना पैरों के मेरुपर्वत पर चढ़ना चाहते हैं ॥५८॥

धर्मके बिना कार्य की असिद्धि—

बलभग्नो यथा हस्तीदंष्ट्राहीनोभृगाधिपः । त्यक्तधर्मोजनो जातु न क्षमः कार्यसाधने ॥५९॥

अर्थ—जिसप्रकार टूटे दांत वाला हाथी अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता बिना डाढ़ों के सिंह अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता उसी प्रकार धर्म रहित मनुष्य भी कभी अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता ॥५९॥

दृष्टान्त पूर्वक आवश्यक बिना कर्म के नाश नहीं—

तथावश्यकहोतश्च यतिः स्वप्तिप्रजायते । कुशलो वा समर्थोऽत्रस्वर्गमोक्षादिसाधने ॥६०॥

राज्यांगरहितो यद्वशास्तीन्हंतुं क्षमो नृपः । कर्मरहितो भुविस्तदवावश्यक वसातिगः ॥६१॥

अर्थ—इसी प्रकार आवश्यक रहित मुनि भी स्वर्ग मोक्ष की सिद्धि करने में कभी कुशल वा समर्थ नहीं हो सकते । जिसप्रकार राज्य के अंगों से रहित राजा अपने

शत्रुओंको नष्ट नहीं कर सकता उसीप्रकार आवश्यक रूपी बलसे रहित मुनि भी कर्म-
रूपी शत्रुओं को कभी नाश नहीं कर सकता ॥६०-६१॥

आवश्यक की महिमा—

मत्थेति सर्वयस्तेन रत्नत्रयविशुद्धये । सम्पूर्णानि सवा वक्षाः कुर्वन्त्वावश्यकानिषद् ॥६२॥

विश्वार्थान् विश्वबन्धान् शिवसुखजनकान् सधर्माधारिहस्तुन्,
सेव्यान् लाकोसमार्थं गणधरजिनपैः धर्मवाद्धीननघनन् पूतान्सारान् ।
गुणान्श्रुतसकलमहार्थं विवृद्धांस्त्रिगुह्या पूरान्निर्णय-
प्रयत्नात्कुक्षतधुमुनयः षड्विधावस्थकान् भवैः ॥६२-६३॥

अर्थ—यही समझकर चतुर पुरुषों को अपना रत्नद्वय विशुद्ध रखने के लिये
पूर्ण प्रयत्न के साथ समस्त छहों आवश्यक पालन करने चाहिये । ये छहों आवश्यक
तीनों लोकों में पूज्य हैं, तीनों लोकों में वंदनीय हैं, मोक्ष सुखको देने वाले हैं, समस्त
दोषरूपी शत्रुओं को नाश करनेवाले हैं, भगवान् जिनेन्द्रदेव वा गणधरदेव आवि संसार
के समस्त उत्तम पुरुष इनकी सेवा करते हैं, इनको धारण करते हैं, ये आवश्यक धर्मके
स्वरूपको कहनेवाले हैं, पापरहित हैं, पवित्र हैं, सारभूत हैं, अनेक गुणों से सुशोभित हैं
और श्रुतज्ञान के समस्त महा अर्थोंसे भरे हुए हैं । इसलिये हे मुनिराजों मन-वचन-काय
की शुद्धता पूर्वक पूर्ण प्रयत्न से इन छहों आवश्यकों को पूर्ण रीति से सवा पालन
करो ॥६२-६३॥

१३ क्रियायें में सारभूत दो क्रिया—

त्रयोदशक्रियाणां हि मध्ये येत्रोचिते जिनः । निषिद्धिकासिके सारे धुनातेष्व दिशाम्यहम् ॥६४॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने तेरह क्रियाओं में निषिद्धिका और आसिका ये
सारभूत दो क्रियाएँ बतलाई हैं आगे इन्हीं दोनों का स्वरूप कहते हैं ॥६४॥

निषिद्धिका का स्वरूप और उसकी महिमा—

भवेद्योत्र निषिद्धात्मा महायोगीजितेन्द्रियः । कषायगममत्वादी मनोवाक्कायकर्मभिः ॥६५॥

प्रोक्ता महामुनेस्तस्यसार्थापूज्यानिषिद्धिका । तीर्थभूता जगद्वद्धा धर्मलानिर्गताधिपैः ॥६६॥

अर्थ—जो जितेन्द्रिय महायोगी कषाय और शरीर के समत्व आदि में मन-
वचन-काय के तीनों योगों से निषिद्ध स्वरूप रहते हैं कषाय और शरीर समत्व नहीं
करते उन महा मुनियोंके पूज्य और सार्थक निषिद्धिका कही जाती है । यह निषिद्धिका

तीर्थभूत है, जगतबंध है और धर्मकी खानि है, ऐसा गणधरदेवों ने कहा है ॥६५-६६॥

कषाय, ममत्व घटे बिना निषिद्धिका व्यर्थ—

अपरस्यानिषिद्धस्य योगिनश्चंचलात्मनः । निषिद्धिकाभिधः शब्दो भवत्येवात्र केवलम् ॥६७॥

अर्थ—जिन मुनियोंके मन-वचन-काय चंचल हैं और जिनके कषाय और ममत्व घटे नहीं हैं उनके लिये निषिद्धिका शब्द केवल नाममात्र के लिये कहा गया है ॥६७॥

आसिका का स्वरूप, ज्ञाति पूजा की इच्छा करनेवाले के आसिका क्रिया व्यर्थ—

इहामुत्राक्षभोगादौख्यातिपूजावि कीर्तिषु । सर्वाशाम्योविनिर्मुक्तो मुक्तिकांक्षो मुनीश्वरः ॥६८॥

यत्र तस्ययतीन्द्रस्यासिका संज्ञा जिनोविता । आकांक्षिणोऽपरस्यासिका शब्दः केवलं भवेत् ॥६९॥

अर्थ—जो मुनिराज इस लोक और परलोक दोनों लोक संबंधी इन्द्रिय भोगों में तथा ख्याति पूजा और कीर्ति में समस्त आशाओं से रहित हैं और जो केवल मोक्ष की इच्छा रखते हैं उन मुनिराजों की आसिका संज्ञा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने बतलाई है । तथा जो मुनि भोगादिकों की इच्छा करते हैं अथवा ख्याति पूजा वा कीर्ति की इच्छा करते हैं उनके लिये आसिका शब्द केवल नाममात्र के लिये कहा गया है ॥६८-६९॥

वचन पूर्वक निषिद्धिका आसिका करने की प्रेरणा—

यथायोग्यमिमेषु कृत्यं निषिद्धिकासिकेशुभे । त्रयोदशक्रियासिद्धयं क्रियते वक्षसा बुधैः ॥७०॥

अर्थ—बुद्धिमान पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये तथा तेरह क्रियाओं को सिद्ध करने के लिये यथायोग्य रीति से वचन पूर्वक निषिद्धिका और आसिका ये दोनों क्रियाएँ करनी चाहिये ॥७०॥

केशलोच का स्वरूप—

इत्यावश्यकमाख्याययतीनां हितसिद्धये । शेषमूलगुणान् वक्ष्ये लोचादिप्रमुखानहम् ॥७१॥

हस्तेनमस्तके कूर्चश्मश्रूणां यद्विधीयते । उत्पाटनं विना क्लेशं सद्भिः लोचः स उच्यते ॥७२॥

अर्थ—इसप्रकार यतियों का हित करने के लिये आवश्यकों का स्वरूप कहा अब आगे केशलोच आदि अन्य मूलगुणों को कहते हैं । मुनिराज जो बिना किसी क्लेश के अपने हाथ से ही मस्तकके तथा डाढ़ी मूछों के बाल उखाड़ डालते हैं उसको सज्जन पुरुष लोच कहते हैं ॥७१-७२॥

उत्कृष्ट मध्यम जघन्य केशलोच का स्वरूप—

क्रियते यो द्विमासाभ्यां लोचः उत्कृष्ट एव सः । त्रिमासेर्मध्यमस्तुर्यमासेर्जघन्य एव च ॥७३॥

अर्थ—जो लोच दो महीने में किया जाता है वह उत्कृष्ट कहलाता है, जो तीन महीने में किया जाता है वह मध्यम कहलाता है और जो चार महीने में किया जाता है वह अधन्य कहलाता है ॥७३॥

चौथे महीने के उल्लंघन का निषेध—

तुदर्यामासान्तरे लोचः कर्तव्यो मुनिभिः सदा । रागक्लेशादिकोटीभिः पञ्चमेमासि जातु न ॥७४॥

अर्थ—मुनियोंको चौथे महीने के भीतर ही लोच कर लेना चाहिये । करोड़ों रोग वा क्लेश होनेपर भी पांचवें महीने में लोच नहीं करना चाहिये ॥७४॥

केशलोच की महिमा—

लोचेन प्रकटं वीर्यं जिनलिंगं च योगिनाम् । अहिंसाव्रत सत्यर्थं कायक्लेशं तपो भवेत् ॥७५॥

तयास्य करणेनैव वैराग्यं वर्द्धतेतराम् । ह्यियते रागशत्रुर्वाणादौनिर्ममता परा ॥७६॥

अर्थ—केश लोच करने से मुनियों की तामस्य व्रत होती है जिनलिंग प्रकट होता है अहिंसा व्रतकी वृद्धि होती है और कायक्लेश नामका तपश्चरण होता है । इसके सिवाय इस केशलोचके करने से वैराग्य की वृद्धि होती है, राग, रूप, शत्रु, तद्वत् होता है और शरीर से होनेवाले निर्ममत्व की अत्यंत वृद्धि होती है ॥७५-७६॥

उपवास पूर्वक केशलोच करने की प्रेरणा—

इत्याविगुणं वर्द्धयथ योगिभिल्लोच एव हि । उपवासदिने कार्या न जातुमुज्जनादिकः । ७७॥

अर्थ—इस प्रकार अनेक गुणों की वृद्धि करने के लिये मुनियों को उपवास के दिन लोच ही करना चाहिये उन्हें मुंडन आदि कभी नहीं करना चाहिये । ॥७७॥

क्षौर कर्म का निषेध—

यतो न काकमीमात्रः संग्रहोस्तिमहात्मनाम् । येनात्र कार्यते क्षौरं तस्मात्सोऽयः कृतोमहान् ॥७८॥

हिंसाहेतुभयाद्यस्मात्क्षमात्रं न चाभितम् । मुनिभिः पापभीतैर्ये तेषां लोचोर्जिर्नमंतः ॥७९॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि महात्मा मुनियोंके पास सलाई मात्र भी परिग्रह नहीं होता जिससे वह क्षौर करले इसीलिये मुनियों को लोच करना ही सर्वोत्कृष्ट माना है । कोई भी अस्त्र रखना हिंसा का कारण है अतएव पापों से डरने वाले मुनि हिंसा के हेतुके भय से कोई अस्त्र नहीं रखते । इसलिये भगवान् जिनैन्द्रदेव ने मुनियों के लिये लोच ही बतलाया है ॥७८-७९॥

केशलोच का उपसंहारात्मक विवरण—

इतिगुणमणिखानि सर्वतीर्थशेषं मुनिवरगतिहेतुं सत्तपो धर्मबीजम् ।

सुरशिवगतिमार्गं मुक्तिकामाः कुर्वन् दुरिततिमिर भानुं लोचमात्माविशुद्धयं ॥८०॥

अर्थ—यह केश लोच ऊपर लिखे हुए अनेक गुणरूपी मणियों की खानि है, समस्त तीर्थकर इसकी सेवा करते हैं अर्थात् लोच करते हैं, यह मुनियों को श्रेष्ठ गति का कारण है, धर्म का बीज है. मोक्ष वा स्वर्गगति का मार्ग है, और पापरूपी अंधकार को नाश करने के लिये सूर्य के समान है । ऐसा यह लोच मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियोंको अपने आत्मा की शुद्ध करने के लिये अवश्य करना चाहिये ॥८०॥

अचेलकत्व मूलगुण का स्वरूप—

वस्त्रेणाजिनवल्काभ्यां रोमपत्रतृणादिभिः पदकूलेन वाग्यैश्च सर्वरावरणैः परैः ॥८१॥

संस्कारैर्वर्जितं जातरूपं यदुच्यते भुवि । सर्वदामुक्तिकामस्तदचेलकत्वमुच्यते ॥८२॥

अर्थ—मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनि न तो वस्त्र धारण करते हैं न चमड़े से शरीर ढकते हैं, न वृक्षोंकी छाल पहनते हैं, न ऊनी वस्त्र पहनते हैं, न पत्ते तृण आदि से शरीर ढकते हैं, न रेशमी वस्त्र धारण करते हैं तथा और भी किसी प्रकार का आवरण धारण नहीं करते । समस्त संस्कारोंसे रहित उत्पन्न होनेके समय जैसा इसका नग्न रूप धारण करते हैं इसको अचेलकत्व मूलगुण कहते हैं ॥८१-८२॥

अचेलकत्व मूलगुण की पूज्यता—

इदमेव जगत्पूज्यं मोक्षमार्गप्रदीपकम् । गृहीतं श्रीजिनेन्द्रार्घ्यं देवनराधिपैः ॥८३॥

यतः पुरुषसिंहा ये जिनधक्त्रिबलादयः । एतत्सिंघं गृहीतं तैर्धौरेविवर्धयंसिद्धये ॥८४॥

अर्थ—यह नग्नरूप धारण करना ही जगत में पूज्य है मोक्षमार्गको दिखलाने वाला दीपक है, भगवान् जिनेन्द्रदेव भी इसकी धारण करते हैं और इसीलिये यह देवेन्द्र और नरेन्द्रों के द्वारा भी वंदनीय है । क्योंकि तीर्थकर चक्रवर्ती बलभद्र आदि जितने उत्तम पुरुष हुए हैं उन समस्त धीर वीर पुरुषों ने अपने समस्त पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिये यह जिर्नाल धारण किया है ॥८३-८४॥

कायर ही वस्त्र धारण करते हैं—

कातरा ये निराकर्तुमक्षमा हि कुलंगिनः । कामादिकविकारास्तैर्गृहीतं चोदराविकम् ॥८५॥

अर्थ—जो कुलिंगी और कातर पुरुष कामादिक विकारों को नष्ट करने में

समर्थ नहीं हैं वे ही वस्त्र ग्रहण करते हैं शूरवीर नहीं ॥८५॥

अचेलकरव मूल का पालने का फल—

जायन्ते जैननिर्ग्रन्थरूपेण त्रिजगच्छिद्यः । शक्रचक्रिजिनेशादिपदाभ्यचिरतः सताम् ॥८६॥
तथा नैर्ग्रन्थवेधेन रत्नत्रितयभागिनाम् । किकरा हवसेवन्ते पादपद्मान् सुरेश्वराः ॥८७॥
अहो मुक्तिवधूरेत्य दत्तेत्रासिगनं मुदा । क्षिगलंकार भाजा का कथादेवादियोषिताम् ॥८८॥

अर्थ—इस जिनर्लिग वा निर्ग्रन्थ अवस्था से सज्जन पुरुषों को तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त होती है और इन्द्र चक्रवर्ती तीर्थंकर आदि के उत्तम पद शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं । इसके सिवाय इस निर्ग्रन्थ अवस्थाको धारण करने से रत्नत्रय धारण करने वाले मुनियों के चरण कमलों को इन्द्र भी आकर किकर के समान सेवा करते हैं । आश्चर्य तो यह है कि दिशा रूपी वस्त्र अलंकार धारण करनेवाले मुनियों को मोक्ष रूपी स्त्री भी स्वयं आकर आलिगन करती है फिर देवियों की तो बात ही क्या है । ॥८६-८८॥

ब्रह्मचर्य की महिमा—

ब्रह्मचर्यं परं मन्ये तेषां ब्रह्ममयात्मनाम् । सर्वमाचरणं त्यक्तं यं नर्गादृतवहिनाम् ॥८९॥
नग्नता अपि न तेनग्ना ये ब्रह्मांशुक भूषिताः । वस्त्रावृताश्च ते नग्ना ये ब्रह्मजतद्वरगाः ॥९०॥
नग्नत्वे ये गुणा व्यक्ता ब्रह्मचर्यप्रदीपकाः । वस्त्रावृते च ते सर्वे दोषाः स्युर्ब्रह्मघातकाः ॥९१॥

अर्थ—जिन्होंने अपने वस्त्र लंगोटी आदि समस्त आवरणोंका त्याग कर दिया है जिनके शरीर पर कुछ भी आवरण नहीं है परंतु पूर्ण ब्रह्मचर्य की पालन करते हैं । उन्हीं का ब्रह्मचर्य सर्वोत्कृष्ट समझना चाहिये । जो मुनि ब्रह्मचर्य रूपी वस्त्रों से सुशो-
भित हैं वे नग्न होते हुए भी नग्न नहीं कहलाते । तथा जो ब्रह्मचर्य व्रत से दूर रहते हैं और वस्त्रावरण धारण करते हैं वे नग्न न होने पर नग्न वा नंगे कहलाते हैं । नग्न अवस्था धारण करने से ब्रह्मचर्य को दिखलाने वाले वीपक के समान जो जो गुण हैं वे सब वस्त्र पहन लेने पर ब्रह्मचर्य को घात करनेवाले दोष कहलाते हैं ॥८९-९१॥

अल्प परिग्रह भी दुःख का कारण—

तथा कोपीनमात्रेपि सतिभोगे भवत्यपि । योगिनां बहुषो दोषाश्चिन्तादुर्ध्यानहेतवः ॥९२॥
कोपीनेपि क्वचिन्नष्टे चित्तं ध्याकुलता भवेत् । तथा दुर्ध्यानमन्यस्य प्रार्थना विश्वनिविता ॥९३॥

अर्थ—यदि कोपीन मात्र का भी उपयोग किया जाय तो भी योगियों को

उससे चिंता और अशुभध्यान के कारण ऐसे अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं । यदि कहीं वह कोपीन नष्ट हो जाय तो चित्त में व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है और आर्तध्यान होने लगता है तथा संसार में अत्यंत निवनीय ऐसी उसके लिये प्रार्थना दूसरों से करनी पड़ती है ॥६२-६३॥

शुभध्यान की सिद्धि नग्नता से ही होती है—

इत्यादि चेतसंगस्य ज्ञात्वा दोषान् बहून्विदः । अचेतस्य गुणान् सारान् धर्मशुक्लाविसिद्धये ॥
दुर्ध्यानहानये नित्यं कुर्वन्ति धीजिनावयः । निर्दोषं स्वाखिलान्गे हो दिगष्टावरणं परम् ॥६५॥

अर्थ—इसप्रकार इस वस्त्र धारण करने के अनेक दोष समझकर और नग्नत्व के सारभूत अर्थात् गुण समझकर परतुर तीर्थंकर परमदेव भी धर्मध्यान और शुक्लध्यान की सिद्धि के लिये तथा अशुभध्यानोंको दूर करने के लिये अपने समस्त शरीर पर सब दोषों से रहित ऐसा दिशाओं का आवरण ही धारण करते हैं ॥६४-६५॥

मोक्ष सिद्धि में वस्त्र की बाधकता—

यतस्तीर्थेश्वरोप्यत्र यावद्वस्त्रं त्यजेन्न च । तावन्न स भवेत् मोक्षं काकषापरयोगिनाम् ॥६६॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि तीर्थंकर परमदेव भी जब तक वस्त्रों का त्याग नहीं करते हैं तब तक उनकी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती फिर भला अन्य योगियों की तो बात ही क्या है ॥६६॥

नग्नता धारण करने की प्रेरणा—

मत्वेति मुक्तिं कामा हि त्यक्त्वा चेलादिमंजसा । कलंकमिव मुक्याप्ये स्वाचेतत्वं भजन्तु च ॥

अर्थ—यही समझकर मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियों को कलंक के समान वस्त्रादि का त्याग बड़ी शीघ्रता के साथ कर देना चाहिये और मोक्ष प्राप्त करने के लिये नग्न अवस्था धारण करनी चाहिये ॥६७॥

अचेत मूलगुण का उपसंहारात्मक विवरण—

असमगुण निधानं मुक्तिधामाप्रमार्गं जिनगणधरसेव्यं विश्वसौख्यादितानिम् ।

त्रिभुवनपतिवन्द्यं धोधनाः स्वीकुरुष्व शुभशिक्षणतयेवा चेत्कत्वं त्रिशुद्धया ॥६८॥

स्नानोद्धर्तनसेकादीन् मुखप्रक्षालनादिकान् । संस्कारान्तकलान् त्यक्त्वा स्वेव जलमलादिभिः ॥

लिप्तान् धार्यते यच्च स्वान्तः शुद्धयं विशुद्धये । तवस्नानं व्रतं प्रोक्तं जिनैरन्तर्मलापहम् ॥१३००॥

अर्थ—यह नग्नत्व गुण अनेक सर्वोत्कृष्ट गुणों का निधान है, मोक्ष महल का

मुख्य मार्ग हैं, तीर्थंकर और गणधरके। भी इसकी धारणा करते हैं, समस्त सुखों की प्राप्ति है और लोगों लोकों के स्वामी। तीर्थंकर भी इसकी वंदना करते हैं ॥ इसीसे बुद्धिमान पुरुषों को स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करने के लिये मान-काम-मद-मयी शुद्धता पूर्वक यह नानत्य धारणा करना चाहिये ॥ जो मुनि अस्त्रकाला को शुद्ध करने के लिये और आत्माकी शुद्धता प्राप्त करने के लिए स्नात, उज्ज्वल, शरीर का सिक्का और मुख प्रकाशक आदि समस्त संस्कारों का त्याग कर देते हैं तथा पसीना कास आदि मल से लिप्त हुए शरीर को धारणा करते हैं उसको भगवान् विनेन्द्रके समस्त मल को दूर करनेवाला अस्नात नामका व्रत कहते हैं ॥ १२६५-१२७०॥

स्नात त्याग मूलगुण का स्वरूप—

प्रतेन व्रतसादेण निर्ममस्वकर्मो गुणाः ॥ जायते प्रमितं नूतं शुद्धये धमनान्तका ॥ १२७१॥

रागाद्वैदिसोहातां ह्यसमय व्रतस्य ॥ अहिंसविक्रम संपूर्णं वैराग्यविक्रमस्य ॥ १२७२॥

अर्थ—इस अस्नात नामके उत्तम व्रतसे मुनियों के निर्ममस्व आदि पापस्वी मलको दूर करनेवाले शुद्ध गुण प्रकट होते हैं ॥ इस अस्नात व्रतसे रागाद्वैदिसोहाता मोह आदि सब विकार नष्ट हो जाते हैं तथा अहिंसविक्रम पूर्ण वैराग्य को प्रगट करनेवाले व्रत बुद्धिमान प्राप्त होते रहते हैं ॥ १२७१-१२७२॥

स्नात करनेसे हानि—

यतः स्नातेन जायते षड्जीवतां परित्यज्य ॥ तैस्तथा परंरतो महात्मा ब्रह्मविद्यतकः ॥ १२७३॥

ततः स्नातेन जायतेऽस्मत्तरे बुद्धिमां तरम् ॥ रागाद्वैदिसोहातास्तस्य गुण नास्ति ॥ ४४॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि स्नात करने से छहों काय के जीवों का घात होता है और उस जीवोंका घात होने से परम पाप होता है ॥ इससे सिक्का स्नात करने से ब्रह्मचर्य को घात करनेवाला महा राग प्रगट होता है ॥ अतएव स्नात करने से उत्पन्न हुए राग के कारण बुद्धि के हृदयमें उनके आत्मगुणों को नाश करनेवाले पाप-कर्म रूप महा मल प्रगट होते हैं ॥ १२७३-१२७४॥

स्नात त्याग मूलगुण अस्तरंग शुद्धि का कारण—

अस्नात व्रतमूलाभासतः शुद्धिः परममेव ॥ रागाद्वैदिसोहातां कर्मनाशकमुत्तिष्ठतृणम् ॥ ४५॥

अर्थ—जो मुनि अस्नात व्रतसे सुशोभित हैं उनके रागाद्वैदिसोहाता हो जाने के कारण कर्मों को नाश करनेवाले और मोक्ष को देनेवाले सर्वोत्कृष्ट अस्त्रकरण को

शुद्धि प्रगट होती है ॥५॥

स्नान अन्तरंग शुद्धि का कारण नहीं—

मद्यकुम्भा यथा घौता जलैः शुद्धा न जातुचित् । तथा मिथ्यावृषः स्नानैरन्तः पापमलोमसाः ॥६॥

अर्थ—जिसप्रकार मद्य से भरा हुआ घड़ा जलसे धोने पर भी कभी शुद्ध नहीं होता उसी प्रकार अंतःकरण के पापोंसे महा मलिन मिथ्या दृष्टि भी स्नान से कभी शुद्ध नहीं हो सकते ॥६॥

मुनि अन्तरंग शुद्धि के कारण सदा निर्मल ही होते हैं—

घृतकुम्भा यथा शुद्धा मलिनाः क्षालनैर्विना । तथान्तः शुद्धिमापन्ना योगिनो निर्मलाः सदा ॥७॥

अर्थ—जिसप्रकार घी का घड़ा ऊपर से मलिन होने पर भी बिना धोने पर शुद्ध माना जाता है उसी प्रकार अंतःकरण में अत्यन्त शुद्धता को धारण करनेवाले मुनिराज भी सदा निर्मल रहते हैं ॥७॥

देह स्नान अन्तरंग शुद्धि का कारण नहीं—

यदि स्नानेन शुद्धिरचेत्तद्विषंश्चा विशुद्धये । मूर्धर्मत्स्यादयो व्याधा नान्तःशुद्धाश्चलज्जनाः ॥८॥

अत्यन्त मलिनः कायः पूतो जातु न जायते । जलैर्निसर्गशुद्धोस्ति स्वात्मापूर्वं अलावृते ॥९॥

अर्थ—यदि स्नान करने से ही शुद्धि मानी जाय तो फिर मूढ पुरुषोंको अपनी शुद्धता प्रगट करने के लिये मछलियों की वा धोवरों की वंदना करनी चाहिये । अन्तरंग में शुद्धता धारण करनेवाले सज्जनों की वंदना कभी नहीं करनी चाहिये । देखो यह शरीर अत्यन्त मलिन है इसलिये वह जलसे कभी शुद्ध नहीं हो सकता । इसीप्रकार यह अपनी आत्मा बिना जलके स्नान के ही स्वभाव से ही शुद्ध है ॥८-९॥

चतुर पुरुष स्नान त्याग करते हैं मूर्ख ही इसे स्वीकार करते हैं—

तस्माद् व्यर्थं जलस्नानं रागपापाविबद्धकम् । दक्षस्त्यक्तं महामूर्खैः स्वीकृतं धर्मवृत्तैः ॥१०॥

अर्थ—इसलिये मुनियों के लिये जलसे स्नान करना व्यर्थ है और राग तथा पापों को बढ़ाने वाला है । इसलिये चतुर लोगों ने इसका त्याग कर दिया है और धर्म से दूर रहने वाले महा मूर्खों ने इसको स्वीकार कर लिया है ॥१०॥

जल से शुद्धि मानने वाला मनुष्य पशु के समान है—

सप्तधातुभयेवेहे सर्वाशुषि कुटीरके । मग्नन्ते ये जलैः शुद्धिं पशवस्ते नरा व च ॥११॥

अर्थ—यह शरीर सप्त धातुओं से भरा हुआ है और समस्त अशुद्ध पदार्थोंका घर है । ऐसे इस शरीर की शुद्धि जो जल से मानते हैं उन्हें मनुष्य नहीं समझना चाहिये किन्तु उन्हें पशु समझना चाहिये ॥११॥

बुद्धिमानों को आत्मशुद्धि के लिये अस्नान व्रत स्वीकार करना चाहिये—

हृत्स्नानगुणान् ज्ञात्वा दोषान् स्नानभवान् ब्रून् । अयम् धो घनाः शुद्धयं ह्यस्नानव्रतभूजितम् ॥

अर्थ—इस प्रकार अस्नान व्रतके अनेक गुणों को समझकर और स्नानसे उत्पन्न होनेवाले बहुत से दोषों को समझकर बुद्धिमान लोगों को अपने आत्मा को शुद्ध करने के लिये सर्वोत्कृष्ट अस्नान व्रतको ही स्वीकार करना चाहिये ॥१२॥

अस्नान व्रतकी महिमा—

रहितनिखिलदोषरागनिर्नाशहेतु मसमगुणसमुद्रं लोक नार्थकपूज्यम् ।

जगति परपवित्रं शुद्धिदं पापहान्यै भजतविगतसंगाः नित्यमस्नानसारम् ॥१३॥

अर्थ—यह अस्नान व्रत समस्त दोषों से रहित है, राग को नाश करने का कारण है, सर्वोत्कृष्ट गुणोंका समुद्र है, तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर भी इसको पूज्य समझते हैं, यह संसार भरमें पवित्र है और आत्मा को शुद्ध करनेवाला है । इसलिये परिग्रह रहित मुनियों को अपने पाप नष्ट करने के लिये इस अस्नान व्रतको नित्य ही पालन करना चाहिये ॥१३॥

भूमि शयन नामक मूलगुण का स्वरूप—

संस्तरे निर्जनेतिर्यक्स्त्री वसीष्ठाविधिवजिते । अल्पसंसरिते प्रासुकभूम्यादिक गोचरे ॥१४॥

एकपाश्वर्धनुर्दृष्टा विशम्भाभिर्विधीयते । शयनं यच्छ्रमोत्थित्ये धराशयनमेव तत् ॥१५॥

अर्थ—मुनिराज अपना परिश्रम दूर करने के लिये तिर्यक् स्त्री नपुंसक आदि रहित निर्जन एकांत स्थान में किसी थोड़ी सी बिछी हुई घास आदि पर अथवा प्रासुक भूमि पाषाण तखता आदि पर किसी एक कर्वट से अथवा धनुषके समान पैर समेट कर वा डंडेके समान शयन करते हैं उसको भूमिशयन नामका मूलगुण कहते हैं ॥१४-१५॥

भूमि शयन करने में गुण और कोमल शय्यापर सोने से उत्पन्न दोष—

व्रतेनानेन जायते दुःखं तुर्यमहाव्रतम् । निद्राजयश्च रागाविहानिः संवेगऊजितः ॥१६॥

मृदुशय्याविना निद्रा वर्द्धते पापकारिणी । तथा ब्रह्मविनाशश्च स्वप्ने शुक्ल्युते नृणाम् ॥१७॥

एषः सर्वप्रभावानां निद्राप्रमाद ऊजितः । विश्वपापकरीमूलोऽनेका नर्थाविज्ञागरः ॥१८॥

अर्थ—इस सुनिश्चयित चलासे कह्यज्यो महावृत्त उत्पन्न हुई हो जाता है, निद्रा का विचित्र होता है, न्यायकी हानि होती है और उत्पन्न होने पर घट होता है ॥ कोमल आत्मापर होने से पाप उत्पन्न करनेवाली निद्रा बढ़ती है, और स्वप्न में धीमे स्थिति हो जाने के कारण बहुतों का कह्यज्यो घट हो जाता है ॥ समस्त प्रकारों में यह निद्रा न्यायका प्रभाव ही प्रकट है ॥ यह निद्रा न्यायका प्रभाव स्वप्न पापों को उत्पन्न करने वाला है और अनेक व्यक्तियों का उद्भव है ॥१६-१७॥

‘सुप्रसिद्धायास्तत्त्वविद्या चिन्मयसंज्ञा संशयहरा—

भारतेभ्यस्तत्प्राप्तमज्ञानमूर्खैः स्वार्थिभ्यः प्राप्यतामन्तैः ॥ सिद्धा ज्ञयं अनुसूयिष्यं सुनीहाः जयन्तसिद्धये ॥१५॥

अर्थ—यही सामान्यतः बुनियादी को अपने ध्यानकी सिद्धि के लिये प्रारंभिक पानकी मातापिता का कर्म करने से लिया करिना आत्मनों पर बैठने से और कठिन श्रमपर होने से निद्रा का निजम कर्तव्य करिने ॥५५॥

अध्यात्म सिद्धि के लिये निम्ना विषय की आवश्यकता—

अथो विद्यामिमांसायां शेषवशा जेतुमिच्छामासाः ॥ अथान्यथा हिः कुतस्तैको लो विद्या निष्पन्नं तपः ॥२०॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जो सोच इस निज्जल रूपी विशाखिनी को जीतने में असमर्थ हैं उनके अज्ञानकी शक्ति कम हो सकती है और बिना ध्यानकी शक्ति के उनका तत्त्वज्ञान भी सब व्यर्थ हो सकता है । ॥२०॥

द्विजा यो सिद्धा हितकालमे स्या निषेध—

विज्ञानाभिरिति नव कर्त्तव्यता निश्चयप्रपञ्चस्यो कथं विदुः । निश्चयो सति श्रेयसाख्यौ ध्यात्विनिश्चिन्त्यौ नान्तरिमौ ॥

उत्तर — इसकी आवश्यकता कदाचित् करनेवाले मुनियों को रोगाधिक के होनेपर भी
 कार्य की आवश्यकता और कदाचित् करनेवाले ऐसे निश्चय दिन में कभी नहीं लेनी
 चाहिये ॥२१॥

राजि से प्रथम स्त्रीर शान्तिम फहर में निद्रा लेने का निषेध—

विभक्तु आध्यात्मिकानो च विज्ञापनां भोविनामकाः । अग्निसमुद्भूतिर्को निद्रां मित्राभूकलकाविभु ॥२२॥

कुर्वन्तु स्वामाहायोरथ श्रमान्तर्यामि हानये ॥ स पूर्वं पश्चिमे वासे सति प्राप्स्यत्ययेपि भोः ॥२३॥

वर्ष—इसलिये हे योगिराजों ! अपने महायोग से उत्पन्न हुए परिश्रम को संत करने या दूर करने के लिये जितना ज़ूमि वा तख्ते पर रात्रि के मध्य भाग में संतर्पित होकर निद्रा लो । रात्रि के पहले भाग में या रात्रि के पिछले भाग में कठिना

आग होनेपर भी निद्रा मत लो ॥२२-२३॥

भूमि शयन मूलगुण की महिमा और धारण करने की प्रेरणा—

दुष्पजन परिसेव्य धर्मशुक्लादि मूलं, अमहरसपवोषं योगधीर्जं गुणाब्धिम् ॥

निहृतमदनसर्पं निष्प्रमावस्थहेतुं, क्षितिशयनमतं द्वामुक्तये स्वीकुरुध्वम् ॥१२२४॥

अर्थ—इस भूमिशयन नामके मूलगुण को विद्वान लोग धारण करते हैं, यह धर्मशयन और शुक्लध्यानिका का कारण है, परिश्वस को हरण करनेवाला है, समस्त दोषों से रहित है, योगसाधन का कारण है, गुणों का समुद्र है, कामरूपी सर्पको नाश करने वाला है और प्रमाद को दूर करने का कारण है । इसलिये मोक्ष प्राप्त करने के लिये तथा तेंद्रा दूर करने के लिये इस भूमिशयन वृत्त को अवश्य धारण करना चाहिये ॥ ॥२४॥

अदन्त धावन मूलगुण की स्वरूप—

स्वनखानुलिपाधारलेखिनीखर्परादिभिः । तुरगत्वजाविकैर्यश्चदलानां मलसंखयः ॥२५॥

म निराक्रियते जातु वैराग्याय मुनीश्वरैः । अदन्तधनमिवात्र तद्व्यागविनिवारकम् ॥२६॥

अर्थ—मुनिराज अपना वैराग्य बढ़ाने के लिये अपने नखों से, उंगली से, पत्थर से, कलम से, खप्पर से, तृण से वा छाल से दांतों में इकट्ठे हुए मल को कभी दूर नहीं करते हैं उसको रागादिकको दूर करनेवाला अदन्तधावन नामका मूलगुण कहते हैं ॥२५-२६॥

अदन्त धावन से लाभ और दन्त धावन से हानि—

अनेन भीतरभावाद्ययो व्यक्तागुणः सत्ताम् ॥ आपन्ते च प्रणश्यन्ति दोषा रागादयोऽखिलाः ॥२७॥

शुक्लादिधोवनं वंतघर्षणं ये विलम्बते अंगसेत्कारमवर्ष्यं तेषां रागोत्कटो भवेत् ॥२८॥

रागात्कामश्च कामेन वलभोगोऽखिलोद्भूतः । तेन पापं महापापं नभज्जनं नरकाम्बुधौ ॥२९॥

अर्थ—इस अदन्तधावन वृत्तसे सज्जनोंके भीतरागादिक गुण प्रगट हो जाते हैं तथा रागादिक समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं । जो पुरुष अपना मुख धोते हैं वंतधावन करते हैं और शरीर का खूब संस्कार करते हैं उनके उत्कट राग उत्पन्न होता है । उस उत्कट रागसे काम के विकार उत्पन्न होते हैं काम के विकारों से वृत्तोंका भंग होता है, समस्त वृत्त भंग होने से महापाप उत्पन्न होता है और उस महापाप से इस जीव को नरकस्थली महासागर में डूबना पड़ता है ॥२७-२९॥

दन्त धावन त्याग की प्रेरणा—

मत्वेति यत्तयो नित्यं त्यजन्तु दूरतोऽस्त्रिमम् । मुखप्रक्षालनांगादिसंस्कारदन्तपावनम् ॥३०॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को मुखप्रक्षालन करना, शरीर का संस्कार करना, दंतधावन करना आदि सबका त्याग दूरसे ही सदा के लिये कर देना चाहिये । ॥३०॥

अदन्त धावन की महिमा—

शम यमदमसौधं वीतरागत्वमूलं वरयतिगुण वाद्धि दुर्विकारावि दूरम् ।

सुरशिवगतिमार्गं त्यक्तसंगा अदन्तवनमपगतदोषं शुद्धये हो भजन्तु ॥३१॥

अर्थ—यह अदन्तधावन नामका गुण समतापरिणाम, यम नियम और इन्द्रिय दमनके रहने के लिये राजभवन है, वीतरागता का कारण है, श्रेष्ठ मुनियों के गुणों का समुद्र है, अशुभविकारों से सर्वथा रहित है स्वर्ग मोक्षका कारण है और समस्त दोषोंसे रहित है । इसलिये परिग्रह रहित मुनियों को अपनी आत्मा शुद्ध करने के लिये यह अदन्तधावन नामका गुण अवश्य धारण करना चाहिये ॥३१॥

स्थिति भोजन मूलगुण का स्वरूप—

स्वपादस्थापनो ऽसृष्टपात्रवातृजमाश्रिते । धरात्रिके विशुद्धोऽधोस्थापयित्वासमी बुधः ॥३२॥

पाणिपात्रेण कुङ्घादीननाश्रित्यान्यधामनि । अशनं भुज्यते शुद्धं यस्तस्यास्थिति भोजनम् ॥

अर्थ—अपने पैरों के रखने के बाद बची हुई भूमि में दाप्ता वा बर्तन आदि आहार सामग्री के रखने की जगह हो ऐसी तीन प्रकार की विशुद्ध पृथ्वीपर अपने दोनों पैरों को समान स्थापन कर बुद्धिमान मुनियों को दूसरे के घर में जाकर दीवाल आदि के सहारे के बिना खड़े होकर करपात्रमें शुद्ध भोजन लेना चाहिये इसको स्थिति भोजन नामका मूलगुण कहते हैं ॥३२-३३॥

स्थिति भोजन के गुण—

स्थितिभोजनसारेण व्यक्तं धीर्यं प्रजायते । आहारगृद्धिहानिश्च जिह्वायाति वशं सताम् ॥३४॥

निविष्ट भोजने नैवाहारसंज्ञा च वर्द्धते । लापट्यं रसमाक्षारामिह वंशयिके सुखे ॥३५॥

कातरत्वं यतोमौर्धा प्रतिज्ञेमा परा सताम् । पाण्योः संयोजनं यावत्स्थिरी पादौ समस्थितौ ॥३६॥

तावद्गृह्णामि चाहारमन्ययानशनं परम् । इत्यादिगुणसंसिद्धयं स्थितिभोजनमूर्जितम् ॥३७॥

अर्थ—इस सारभूत स्थिति भोजन से सज्जन पुरुषों की सामर्थ्य प्रगट होती

है, आहार की लंपटता नष्ट होती है और जिह्वा इंद्रिय वश में हो जाती है । बँठकर भोजन करने से आहार संज्ञा बढ़ती है और रसना इंद्रिय से उत्पन्न हुए वैषयिक सुखोंमें अत्यन्त लंपटता बढ़ जाती है । इसके सिवाय बँठकर भोजन करने में कातरता सिद्ध होती है । इसलिये सज्जन मुनियोंकी यह प्रतिज्ञा रहती है कि जब तक मेरे दोनों हाथ मिल सकते हैं और मेरे दोनों पैर खड़े होने के लिये स्थिर रह सकते हैं तभी तक मैं आहार ग्रहण करूँगा अन्यथा उपवास धारण करूँगा । इसप्रकार के अनेक गुण प्रगट होने के लिये स्थिति भोजन नामका उत्कृष्ट गुण बतलाया है ॥३४-३७॥

स्थिति भोजन नहीं करने से हानि—

ज्ञात्वेति मुनिभिः सर्वे ध्याधिव्लेशादि कोटिषु । प्राणनाशेपि न ग्राह्यमुपविष्टेन भोजनम् ॥३८॥

तियंक् स्थितेन सुप्तेन वाग्माधोनमनेन च । सुखाय वा प्रभादेनसंत्यज्य स्थितभोजनम् ॥३९॥

यतो मूलगुणस्यास्य भगेन पापमुत्थरणम् । पापेन दुर्गती पुंसां भ्रमणं चायशश्चिरम् ॥४०॥

इति दोषं परिज्ञाय निविष्टैः संयतैः स्वचित् । जलपानं च पूगादि भक्षणं न विधीयते ॥४१॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को करोड़ों व्याधि और क्लेश होनेपर भी तथा प्राणों का नाश होनेपर भी बँठकर भोजन कभी नहीं करना चाहिये । जो मुनि टेढ़ी रीतिसे खड़े होकर आहार लेता है वा खड़े ही खड़े सोता हुआ आहार लेता है वा अपने शरीर को नीचा नवाकर आहार लेता है अथवा सुख के लिये वा प्रमाद के कारण खड़े होकर आहार नहीं करता तो उसका यह मूलगुण भंग हो जाता है । मूलगुण भंग होने से महापाप उत्पन्न होता है तथा महापाप उत्पन्न होने से इस मनुष्य को दुर्गति में परिभ्रमण करना पड़ता है, तथा चिरकाल तक उसका अपयश घना रहता है । इसप्रकार दोषों को समझकर मुनियों को बँठकर कभी भी जलपान वा सुपारी आदि का भक्षण नहीं करना चाहिये ॥३८-४१॥

१ वर्ष के उपवास के पारणे पर भी मुनि बँठकर आहार नहीं करें—

यतः श्रोजिनदेवाद्याः षण्मासाब्दादिपारणे । कायस्थित्येहि गृह्णन्ति स्थित्याहारं च नान्यथा ॥

ज्ञात्वेति यमिनः कृत्वा त्राग्नरं निजपादयोः । चतुरंगुलसंख्यानं कुर्वतु स्थितिभोजनम् ॥४३॥

अर्थ—बेखो तीर्थंकर परमदेव छह महीने वा एक वर्ष का उपवास करके भी शरीर को स्थिर रखने के लिये खड़े होकर ही आहार लेते हैं वे बँठकर कभी आहार नहीं लेते । यही समझकर मुनियों को चार अंगुल का अंतर रखकर अपने दोनों पैरोंसे खड़े होना चाहिये और इसप्रकार खड़े होकर आहार ग्रहण करना चाहिये ॥४२-४३॥

स्थितिः भोजनः मूलगुणः की महिमा—

परमगुणसमुद्रं व्यक्तं वीर्याधिकारं जित्तमुनिगणसेव्यं धीरयोगीन्द्रात्म्यम् ।

रहितनिखिलं दोषं स्वाक्षजिह्वाजिघास्त्रिभिह कुरुत वक्ष्यते भोजनं स्वोद्धा कायम् ॥४४॥

अर्थ—यह स्थिति भोजन परम गुणोंका समुद्र है, अपनी शक्तियों प्रगट करने वाला है, तीर्थंकर मुनिराज और गणधरदेव भी इसकी सेवा करते हैं, धीर वीर मुनि ही इस गुणको पालन कर सकते हैं, यह समस्त दोषों से रहित है और जिह्वा इन्द्रिय रूपी अग्निको दमन करने के लिये मेघ के समान है। इसलिये चतुर पुरुषों को खड़े होकर ही आहार ग्रहण करना चाहिये ॥४४॥

एक भक्त मूलगुण का स्वरूप—

नाडीत्रिकविहायाश्रवयास्तमनकालयोः । एकद्वित्रिमुहूर्तासा मध्येयमुहूर्जनं भुवि ॥४५॥

क्रियते मुनिभिर्योग्यकाले धावक सद्यनि । एकस्यानिजर्वेलायामेक भुक्तं तदुच्यते ॥४६॥

अर्थ—मुनिराज सूर्योदय के तीन घड़ी बाद और सूर्य अस्त होने से तीन घड़ी पहले तक योग्य काल में धावक के घर जाकर एक ही बार एक मुहूर्त दो मुहूर्त या तीन मुहूर्त के भीतर-भीतर तक आहार लेते हैं उसको एक भुक्त नामका मूलगुण कहते हैं ॥४५-४६॥

एक भक्त मूलगुण से लाभ और इस व्रत भंग से हानि—

एकभक्तेन ज्ञानादेर्दुराशानाशमिच्छति । संतोषस्तपसासाढं वर्द्धते योगिनां महान् ॥४७॥

एकभक्तस्य भोगेन प्रणश्यत्सखिलाः गुणाः । तन्नाशतः परं पापं पापाद्दुःखं महन्तराणाम् ॥४८॥

अर्थ—एकबार आहार करने से अज्ञात्रिक की दुराशा नष्ट हो जाती है और योगियों का महान् संतोष तपश्चरण के साथ-साथ वृद्धि को प्राप्त हो जाता है। इस एक भक्त व्रतका भंग करने से समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं गुणोंके नाश होने से पाप उत्पन्न होता है और उस पाप से मनुष्यों को महा दुःख भोगने पड़ते हैं ॥४७-४८॥

दूसरी बार जल ग्रहण का भी सिधेय—

मथेति संयतेरेक वेलां गोचरगोचराम् । मुक्त्वा पानाकिनं प्राह्यं तीव्रवाहज्वरादिषु ॥४९॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को तीव्र वाह वा ज्वर आदि के होने पर भी आहार के योग्य ऐसे एक समयको छोड़कर दूसरी बार कभी जल भी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥४९॥

एक भक्त मूलगुण की महिमा—

विषयसंकर जालं सत्तपोवृद्धिहेतु सुरगति शिवमार्गं ध्यान्नसंज्ञादिवूरम् ।

श्रुतवनमहाध्यानांगयोगादि कर्तुं भजत विगत कामा एकभक्तं शिष्याय ॥१३५०॥

अर्थ—यह एक भक्त व्रत विषयरूपी मछलियोंके लिये जाल है, श्रेष्ठ तपश्चरण की वृद्धिका कारण है, स्वर्ग मोक्षका मार्ग है, आहार संज्ञासे दूर है और श्रुतज्ञान तथा महाध्यान के अंगभूत योगको उत्पन्न करनेवाला है । इसलिये इच्छाओं का त्याग करने वाले तपस्वियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस एक भक्त व्रत को अवश्य पालन करना चाहिये ॥१३५०॥

२= मूलगुण की महिमा व उसके पालन करने की प्रेरणा—

एते मूलगुणाः सारा अष्टाविंशतिर्लज्जिताः । तपो विश्वमहायोगाधारभूता जिनोदिताः ॥५१॥

सर्वोत्तर गुणाद्याप्त्यै गुणानां मूलहेतवः । प्राणान्तेपि न मोक्षव्या बुधैः सर्वार्थसिद्धिदाः ॥५२॥

अर्थ—ये अट्ठाईस मूलगुण सर्वोत्कृष्ट और सारभूत हैं तथा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने इनको तपश्चरण आदि समस्त महा योगों के आधारभूत बतलाये हैं । समस्त उत्तरगुणों की प्राप्ति के लिये ये गुण मूलरूप हैं मूल कारण हैं और समस्त पुरुषार्थोंकी सिद्धि करनेवाले हैं इसलिये बुद्धिमानों को कंठगत प्राण होनेपर भी इनका त्याग कभी नहीं करना चाहिये ॥५१-५२॥

मूलगुण के बिना उत्तरगुण फलदायी नहीं—

कृत्स्नोत्तरगुणा यस्माद्धीमाः मूलगुणैः सताम् । परं फलं न कुर्वन्ति मूलहीना यथाघ्रियाः ॥५३॥

अर्थ—जिसप्रकार मूलरहित वृक्षों पर कोई किसी प्रकार का फल नहीं लगता उसी प्रकार सज्जनों के मूलगुणों से रहित समस्त उत्तरगुण कभी फल देनेवाले नहीं हो सकते ॥५३॥

मूलगुणों को नष्ट करके उत्तरगुण पालने का दृष्टान्त पूर्वक निषेध—

येनोत्तरगुणाद्याप्त्यै त्यजन्ति मूलसद्गुणान् । ते करांगुलिकोद्व्यर्थं छिदन्ति स्वशिरः शठाः ॥

अर्थ—जो मूल उत्तरगुण प्राप्त करने के लिये मूलगुणोंका त्यागकर देते हैं वे लोग अपने हाथकी करोड़ों उंगलियां बढ़ानेके लिये अपने मस्तकको काट डालते हैं ॥५४॥

व्रत भंग दुःख का कारण—

इमान्मूलगुणान्सर्वान् त्रिजगच्छीसुखप्रदान् । साक्षी कृत्य गृहीत्वा जितसंभ्रुतसद्गुरुन् ॥५५॥

त्यजन्ति ते लभन्तेऽत्र दुःखं वाचामगोचरम् । अमुत्र इव भ्रमत्यादौ व्रतभंगोत्थपापतः ॥५६॥

अर्थ — ये मूलगुण तीनों जगल की लक्ष्मी और समस्त सुख देनेवाले हैं ऐसे इन मूलगुणों को भगवान् अरहंतदेव, संघ, श्रुत और सद्गुणों की साक्षी पूर्वक ग्रहण करके जो छोड़ देते हैं वे व्रत भंग होने के कारण उत्पन्न हुए पापों से बारी के अगोचर ऐसे महा दुःखों को प्राप्त होते हैं तथा परलोक में नरकादिक दुर्गतियों में महा दुःख भोगते हैं ॥५५-५६॥

मूलगुण पालन करने की पुनः प्रेरणा—

इहैव चोत्तमाचार स्यात्कालां दुधियां बुधेः । विधोयतेपमानं च सबन्नाहो शुनामिव ॥५७॥
मत्वेति यमितो निश्च सर्वयत्नेन सर्वथा । सर्वत्र पालयस्वत्र विश्वान्मूलगुणान्परान् ॥५८॥
शशांकनिर्मलान्सारान् स्वप्नेपि भा स्थजंतु च । घोरोपसर्गरोमाहर्षः पक्षमासादिपारणः ॥५९॥

अर्थ—जो मूल लोग उसम आचरणों का त्याग कर देते हैं उनके कुत्ते के समान अपमान सर्वत्र बुद्धिमान लोग करते हैं । यही समझकर मुनियों को सर्वोत्कृष्ट ये समस्त मूलगुण पूर्ण प्रयत्न के साथ सर्वत्र सर्वथा सदा पालन करते रहना चाहिये । ये मूलगुण चन्द्रमाके समान निर्मल हैं और सर्वोत्कृष्ट हैं । इसलिये घोर उपसर्गके आने पर वा रोगादिक के हो जानेपर अथवा पक्षोपवास, मासोपवास की पारणा होनेपर भी स्वप्न में भी इन मूलगुणों को कभी नहीं छोड़ना चाहिये ॥५७-५९॥

मूलगुणों में अतिक्रमादि लगाने का निषेध—

तथामूलगुणानां च न कर्तव्यो ह्यतिक्रमः । व्यति क्रमोप्यतीचारो नाचारः संघर्ष इवचित् ॥६०॥

अर्थ—इसी प्रकार इन मूलगुणों में न तो अतिक्रम लगाना चाहिये न व्यतिक्रम लगाना चाहिये न अतिचार लगाना चाहिये और न अनाचार लगाना चाहिये । ॥६०॥

अतिक्रम का स्वरूप—

अहिंसादि व्रतानां च षडावश्यक कर्मणाम् । पालने या मनः शुद्धेर्हानिः सोति क्रमोयतः ॥६१॥

अर्थ—अहिंसादिक महाव्रतोंके पालन करने में तथा ज्यों आवश्यकों के पालन करने में जो मनकी शुद्धता की हानि है उसको अतिक्रम कहते हैं ॥६१॥

व्यतिक्रम का स्वरूप—

षडावश्यक कर्तृणां महाव्रत धरात्मनाम् । विषयेष्वभिलाषो यो जायते स व्यतिक्रमः ॥६२॥

अर्थ—महाव्रत पालन करने वालों को तथा छहों आवश्यक पालन करनेवालों की जो विषयों में अभिलाषा होना है उसको व्यतिक्रम कहते हैं ॥६२॥

अतिचार का स्वरूप—

महाव्रतसमित्यावश्यादि परिपालने । आलस्यं क्रियते यत्सोतीचारो व्रतदूषकः ॥६३॥

अर्थ—महाव्रत समिति आवश्यक आदि के पालन करने में जो आलस करना है उसको व्रतोंमें दोष लगाने वाला अतिचार कहते हैं ॥६३॥

अनाचार का स्वरूप—

व्रतावश्यकशीलानां भंगो योद्ध दुरात्मभिः । विधीयते सधर्मघ्नोऽनाचारः स्वभ्रसाधकः ॥६४॥

अर्थ—दुरात्मा वा पापियोंके द्वारा व्रत आवश्यक वा शीलोंका जो भंग करना है वह धर्मको नाश करनेवाला और नरकमें पहुंचाने वाला अनाचार कहलाता है ॥६४॥

अतिक्रमादि चारों दोष मल उत्पत्ति के कारण—

एते दोषा हि चत्वारः सर्वमूलगुणात्मनाम् । सर्वथा यतिभिस्त्याज्याधत्तेन मल कारिणः ॥६५॥

यतोमोभिश्चतुर्विधैर्विश्वेभ्यः मूलगुणा नृणाम् । दूषिता न फलं त्यक्त्वा स्वर्गमोक्षादौ महत्फलम् ॥६६॥

अर्थ—ये चारों दोष समस्त मूलगुणों में मल उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिये मुनियों को पूर्ण प्रयत्न करके इनका सर्वथा त्यागकर देना चाहिये । क्योंकि इन चारों दोषों से समस्त मूलगुण दूषित हो जाते हैं और फिर मनुष्यों को स्वर्ग मोक्षादिक के महाफल उन मूलगुणों से कभी प्राप्त नहीं हो सकते ॥६५-६६॥

मूलगुणों का उपसंहारादि विवरण और मूलगुण प्राप्ति की भावना—

असमगुणमिधानान् स्वर्गमोक्षादिहेतून् गणपतिमुनिसेष्मांस्तोषनार्थः प्रणीतान् ।

दुरिततिमिरसूर्यान् धर्मबाह्यान् महान्तो भजत निखिलघटनात् मूलसंज्ञान् गुणीभान् ॥६७॥

येऽमूलमूलगुणान् प्रमादरहिताः संपासयन्स्वयम्

तेलोकत्रयसंनवाश्चपरमान् सौख्योत्तमान् सर्वगुणान् ।

संप्राप्यानुजिनेष्वचकि पदवीं देवाचनं केवलं ज्ञानं

कर्मरिपून् निहत्य तपसा मोक्षं लभन्तेऽचिरम् ॥६८॥

विज्ञायेतिफलं महद् भजनाः मोक्षारिमाहृत्य च निर्वेदासिद्धयेण सार्द्धं मखिलैर्लक्ष्मी कृटंवादिभिः ।

दीक्षा मुक्तिसाध्यां परार्थजननीं ह्यावश्यमोक्षाप्तये

सर्वान् मूलगुणान्मलाविरहितान् भोः पासयन्स्वयम् ॥६९॥

ये सर्वपरमेष्ठिनोऽत्रपरमान् मूलोत्तराख्यानं गुणान्
निस्थं यत्नपराभजन्ति यमिनामाचारयन्तुजितान् व्याख्या-
त्येवांगरा जगत्त्रयसता सर्वोत्सर्गसिद्धये ते ये मूलगुणान्
प्रदद्युरखिलान् सारान्स्वकीयान् स्तुताः ॥१३७०॥

इति श्रीमूलाचार प्रदीपाख्ये भट्टारक श्रीसकलकीर्ति विरचिते मूलगुणव्यावर्णने प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान
कायोत्सर्ग लोचा चेलकत्वास्नान क्षितिशयनावतवन स्थितिभोजनैकभक्त वर्णनोनाम चतुर्थोधिकारः ।

अर्थ—ये समस्त मूलगुण अनुपम गुणों के निधि हैं स्वर्ग मोक्ष के कारण हैं, भगवान् तीर्थंकर परमदेव ने इनका स्वरूप बतलाया है तथा गणधरदेव और मुनिराज इनको पालन करते हैं, पापरूपी अंधकार को नाश करने के लिये ये सूर्य के समान हैं, धर्म के समुद्र हैं और सबमें उत्तम हैं । इसलिये महापुरुषों को अपने समस्त प्रयत्नों के साथ इनका पालन करना चाहिये । जो मुनि प्रमाद रहित होकर प्रतिदिन इन समस्त मूलगुणों का पालन करते हैं वे तीनों लोकों में उत्पन्न होनेवाले परम और उत्तम सुखों को तथा उत्तम सद्गुणों को प्राप्त होते हैं फिर वेबों के द्वारा पूज्य ऐसे चक्रवर्ती और तीर्थंकर के पद प्राप्त करते हैं तदनंतर तपश्चरण कर केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं और समस्त कर्मरूपी शत्रुओं को नाश कर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं । इसप्रकार विद्वान् लोगों को इन मूलगुणों को महाफल देनेवाले समझकर वैराग्य रूपी तलवार से मोहरूपी शत्रुको भारकर तथा लक्ष्मी कुटुम्ब आदि सबका त्यागकर मोक्ष प्राप्त करने के लिये मोक्षस्त्री की सखी और सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थको सिद्ध करनेवाली ऐसी जिनदीक्षा धारण करनी चाहिये और फिर उनको प्रतिदिन समस्त दोषों से रहित ऐसे ये समस्त मूलगुण पालन करने चाहिए । इस संसार में जो जो अरहंत आचार्य उपाध्याय साधु परमेष्ठी प्रयत्नपूर्वक सर्वोत्कृष्ट मूलगुणों को वा उत्तरगुणों को प्रतिदिन पालन करते हैं वा इन्हीं सर्वोत्तम मूलोत्तर गुणों को मुनियों से पालन कराते हैं अथवा तीनों जगत के सज्जन पुरुषों को समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए अपनी वाणी से इन्हीं मूलोत्तर गुणों का व्याख्यान करते हैं उन समस्त परमेष्ठियों की मैं स्तुति करता हूँ । वे समस्त परमेष्ठी मेरे लिये अपने समस्त उत्कृष्ट मूलगुणों को प्रदान करें ॥१३६७-१३७०॥

इसप्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप में मूलगुणों के वर्णन में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, लोच, अचेलकत्व, अस्नान, क्षितिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन, एक भक्तको वर्णन करनेवाला यह चौथा अधिकार समाप्त हुआ ।

पंचमोधिकारः

मंगलाचरण—

पंचाचारप्रभावेन ये प्राप्तास्तीर्षं कुच्छ्रियः । अनंतमहिमोपेता बंदे तेषां पद्मम्बुजान् ॥७१॥
 त्रिजगन्नाथसंप्राप्त्या गताः सिद्धगतिं हि ये । पंचाचारेण तान् सिद्धान्ममाभ्यस्तातिगान्परान् ॥
 येत्राचरन्ति यत्नेन पंचाचारान् सिधाप्तये । आचारयन्ति शिष्याणां तानाचार्यान्स्तुवेनिशम् ॥
 ये व्याख्यान्तिसतां सिद्धयं ह्यंगैः पूर्वं प्रकीर्णकैः । पंचाचारानुपाध्यायान् साधनाभिधुताप्तये ॥
 त्रिकालयोगयुक्ता यैर्द्विकंदरगुहादिषु । साधयन्त्यखिलाचारैस्तान्साधून् नौमिशक्तये ॥७२॥

अर्थ—पंचाचार के प्रभाव से हैं जिन्होंने तीर्थंकर जी परम लक्ष्मी प्राप्त की है, और जो अनंत महिमा से विभूषित हैं ऐसे अरहंत भगवान के चरण कमलों को मैं नमस्कार करता हूं । तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर भी जिनकी स्तुति करते हैं और जो इन पंचाचारों के प्रभाव से ही सिद्ध गति को प्राप्त हुए हैं ऐसे सर्वोत्कृष्ट अनंत सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूं । जो आचार्य मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्न पूर्वक पंचाचारों का पालन करते हैं तथा शिष्यों से प्रतिदिन पालन कराते हैं उन आचार्योंकी भी मैं स्तुति करता हूं । जो उपाध्याय मोक्ष प्राप्त करने के लिये अंग पूर्व और प्रकीर्णकों के द्वारा पंचाचारों का व्याख्यान करते हैं उन उपाध्यायों को मैं श्रुतज्ञान प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूं । त्रिकाल योग धारण करनेवाले जो मुनि पर्वत कंदरा वा गुफा में बैठकर समस्त पंचाचारों को सिद्ध करते हैं उन साधुओं को मैं शक्ति प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूं ॥७१-७२॥

पंचाचार निरूपण की प्रतिज्ञा—

इत्यमून् शिरसा नत्वा पञ्च सत्परमेष्ठिनः । धृत्वा च स्वगुरुं शिष्यते श्रीजिनास्यज नारतीम् । ७६॥
 पंचाचारान् प्रवक्ष्यामि विश्वाचारप्रसिद्धये । मुनीनां स्वस्य वा नूनं समासेन शिवाय च ॥७७॥

अर्थ—इसप्रकार पांचों श्रेष्ठ परमेष्ठियोंको मस्तक झुकाकर नमस्कार करके तथा अपने गुरु और भगवान जिनेन्द्रदेव के मुखसे प्रगट हुई सरस्वती देवी को अपने हृदय में विराजमान करके तीनों लोकों में पंचाचारों की प्रसिद्धि करने के लिये तथा स्वयं मोक्ष प्राप्त करने के लिये वा मुनियों को मोक्षकी प्राप्ति होने के लिये मैं संक्षेपसे पंचाचारों का निरूपण करता हूं ॥७६-७७॥

पंचाचार की प्रमाशिकता—

दर्शनाचार एवाद्यो ज्ञानाचारस्ततोद्भूतः । चारित्र्याचार नामान्यस्तप आचार ऊजितः ॥७८॥

वीर्याचार इमे पंचाचाराः सर्वांशंसाधकाः । प्रोक्ताविश्वे जिनाधीशोर्मुनीनां मुक्तिसिद्धये ॥७९॥

अर्थ—दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्र्याचार, तपसाचार और वीर्याचार ये पांच पंचाचार कहलाते हैं ये पंचाचार समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि करनेवाले हैं और समस्त तीर्थंकर परमदेवों ने मुनियों को मोक्ष की प्राप्ति के लिये निरूपण किये हैं । ॥७८-७९॥

सम्यग्दर्शन की प्रमुखता और उसके भेद—

तेषामादौ प्रसिद्धं यत्सम्यक्त्वं शुद्धिकारणम् । तद्वक्ष्येहं समासेन निर्दोषं गुणभूषितम् ॥८०॥

तन्निर्गम्यभिर्धं वृष्ट्यधिगमाख्यं ततोपरम् । इति द्वेधाजिनैः प्रोक्तं सम्यक्त्वं भव्यदेहिनाम् ॥८१॥

अर्थ—इनमें भी सबसे प्रसिद्ध सम्यग्दर्शन है जो शुद्धि का कारण है, गुणोंसे सुशोभित है और दोषों से रहित है । ऐसे सम्यग्दर्शन को ही मैं सबसे पहले कहता हूँ । भव्य जीवोंके होनेवाला यह सम्यग्दर्शन भगवान् जिनेन्द्रदेव ने दो प्रकार का बतलाया है एक निसर्गज और दूसरा अधिगमज ॥८०-८१॥

निसर्गज सम्यग्दर्शन का स्वरूप—

भव्यः पंचेन्द्रियः संज्ञी यो भवाब्धितटास्थितः । तस्यात्रकाललब्ध्वा यो जायते निश्चयो महान् ॥

जिनेन्द्रतत्त्वगुर्वावो मुक्तिमार्गं स्वयं द्रुतम् । विनागुरुपदेशाद्ये निसर्गतद्विदर्शनम् ॥८३॥

अर्थ—जो भव्य जीव है, पंचेन्द्रिय है, संज्ञी है और संसाररूपी समुद्रके किनारे आ लगा है उसके काल लब्धि मिलने पर जो देवशास्त्र गुरु में तत्त्वों में और मोक्षमार्ग में विना गुरुके उपदेश के बहुत शीघ्र स्वयं महा निश्चय हो जाता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥८२-८३॥

अधिगमज सम्यग्दर्शन का स्वरूप—

तत्त्वदेवागमादीनां श्रवणेनात्र या रुचिः । प्राबुर्भवतिसम्भारं सतामधिगमं हि तत् ॥८४॥

अर्थ—तत्त्व और देवशास्त्र गुरु के स्वरूप को सुनकर जो मोक्षमार्ग में रुचि उत्पन्न होती है वह सज्जनों का अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥८४॥

सम्यग्दर्शन के श्रोपशमिकादिक ३ भेद—

तथोपशमिकं श्रायिकं मुक्तिस्त्रीवशीकरम् । श्रायोपशमिकं चेति त्रिविधं दर्शनं मतम् ॥८५॥

अर्थ—अथवा औपशमिक, मुक्तिस्त्री को बश में करनेवाला क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से इस सम्यग्दर्शन के तीन भेद हैं ॥८५॥

औपशमिक सम्यग्दर्शन का स्वरूप—

आद्याश्चतुः कषाया अनन्तानुबन्धसंज्ञकाः । तिस्रोमिथ्यात्वसम्यक्त्वमिश्रप्रकृतयोऽशुभाः ॥८६॥

आसां सप्तविधानां प्रकृतीनां अंतरे सताम् । समस्तोपशमेनोपशमिकाख्यं च दर्शनम् ॥८७॥

अर्थ—इस सम्यग्दर्शन को घात करनेवाली मोहनीय कर्म की सात प्रकृति हैं मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व ये तीन तो दर्शन मोहनीय की अशुभ प्रकृति हैं तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार चारित्र मोहनीय की प्रकृति हैं इन सातों प्रकृतियोंका जब पूर्ण रूपसे उपशम होसा है तब भव्य जीवोंके औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है ॥८६-८७॥

क्षायिक सम्यग्दर्शन का स्वरूप—

निःशेष क्षययोगेन क्षायिकं जयते परम् । साक्षान्मुक्तिवरं ह्यासन्नभव्यानां च शाश्वतम् ॥८८॥

अर्थ—तथा इन्हीं सातों प्रकृतियों का जब पूर्ण रूपसे क्षय हो जाता है तब आसन्न भव्य जीवों को क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है । यह क्षायिक सम्यग्दर्शन साक्षात् मोक्ष देनेवाला है और प्रगट होने के बाद सदा बना रहता है ॥८८॥

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का स्वरूप—

षण्णां हि प्रकृतीनामुदयाभावे नृणां सति । सति सम्यक्त्वस्योदयोऽन्यद्विजायोपशमिकाद्वयम् ॥

अर्थ—इसीप्रकार सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्वको छोड़कर बाकी की छहों प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय होनेपर तथा सत्तावस्थित इन्हीं छहों प्रकृतियों के उपशम होने पर और सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्वप्रकृति के उदय होनेपर मनुष्योंके क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है ॥८९॥

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का अधिकारी भव्य जीव ही है—

एतस्त्रिविधसम्यक्त्वं भव्यानामिह केवलम् । प्रणीतं तीर्थनाथेन न दूराभव्यदेहिनाम् ॥९०॥

अर्थ—यह तीनों प्रकार का सम्यग्दर्शन केवल भव्य जीवों के ही होता है अभव्यों के नहीं । ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहा है । दूरभव्योंके भी यह सम्यग्दर्शन नहीं होता ॥९०॥

वीतराग देव प्रणीत पदार्थ ही यथार्थ है—

जनतत्त्वपदार्थेभ्यः सर्वज्ञोक्तेभ्य एव हि । तत्त्वेभ्यो नापरे तत्त्वपदार्थाः सूनृताः क्वचित् ॥६१॥

अर्थ—भगवान् वीतराग सर्वज्ञदेव ने जो तत्त्व और पदार्थ बतलाये हैं वे ही यथार्थ हैं उनसे भिन्न अन्य पदार्थ कभी यथार्थ नहीं हो सकते ॥६१॥

सम्यग्दृष्टि का अरहंतदेव के प्रति ही श्रद्धान होता है—

अहंभ्योघानिहंतृभ्योनिर्दोषेभ्यो जगत्सताम् । भुक्तिमुक्त्यादिदातारो नाग्यदेवाः शुभप्रदाः ॥

अर्थ—घातिया कर्मोंको नाश करनेवाले तथा अठारह दोषोंसे रहित भगवान् अरहंतदेव ही देव हैं और वे ही जगत के समस्त सज्जन पुरुषों को भुक्ति और मुक्ति दे सकते हैं । उनके सिवाय अन्य कोई भी देव, देव नहीं हो सकता और न वह भुक्ति मुक्ति दे सकता है । तथा भगवान् अरहंतदेव के सिवाय अन्य कोई देव शुभप्रद नहीं हो सकता ॥६२॥

अरिहन्त प्रणीत धर्म ही श्रेष्ठ है—

कैवल्यभाषिताद्धर्माद्यतिश्रावकगोचरात् । नापरोन्नोजितो धर्मो धर्मार्थं काममोक्षदा ॥६३॥

अर्थ—भगवान् अरहंतदेव ने जो मुनि और श्रावकों का धर्म निरूपण किया है वही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन पुरुषार्थोंको देनेवाला सर्वोत्कृष्ट धर्म है इसके सिवाय अन्य कोई धर्म नहीं हो सकता और न अन्य कोई धर्म पुरुषार्थोंको दे सकता है ॥६३॥

दिगम्बर गुरु ही सच्चे गुरु हैं—

विश्वसत्त्वहितेभ्योऽत्रनिर्गन्धेभ्योऽपरे परा । भवान्निधं तरितुं तारयितुं न गुरवःक्षमाः ॥६४॥

अर्थ—समस्त जीवों का हित करनेवाले दिगम्बर गुरु ही उत्कृष्ट गुरु हैं और वे ही इस संसार रूपी समुद्र से पार हो सकते हैं तथा दूसरों को पार कर सकते हैं । दिगम्बर गुरुओं के सिवाय अन्य कोई गुरु नहीं हो सकता है वा न अन्य किसी को पार कर सकता है ॥६४॥

जिनेन्द्रदेव प्रणीत मोक्षमार्ग ही सच्चा है—

रत्नत्रयात्मकामार्गाज्जिनोक्तात्परमार्थतः । नापरो विद्यते जातु मोक्षमार्गोति निस्तुषः ॥६५॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने मोक्षका मार्ग रत्नत्रय स्वरूप बतलाया है परमार्थ से वही मोक्षका मार्ग है और वही निर्दोष है उसके सिवाय अन्य कोई भी निर्दोष और यथार्थ मोक्षका मार्ग नहीं है ॥६५॥

जिन शासन ही शरण लेने योग्य है और सुपात्र दान ही हितकारी है—

जैनशासनतो नान्यत् शासनं शरणं सताम् । सुपात्रदानतो नान्यद् दानं स्वान्यहितकरम् ॥६६॥

अर्थ—यह जैन शासन ही सज्जनों को शरण लेने योग्य उत्तम शासन है । इसके सिवाय अन्य कोई शासन शरण लेने योग्य नहीं है । अपना और दूसरों का हित करनेवाला सुपात्र दान ही दान है इसके सिवाय अन्य कोई दान हित करनेवाला नहीं है ॥६६॥

जिन सिद्धांत और जिन सूत्र ही यथार्थ शास्त्र है—

द्विषड्मेवतपोभ्योज्यश्च तपः कर्मघातकम् । जिनसिद्धांतसूत्रेभ्यो नान्यच्छास्त्रं च सूनुतम् ॥६७॥

अर्थ—बारह प्रकार का तपश्चरण ही कर्मों को नाश करनेवाला तपश्चरण है । इसके सिवाय अन्य कोई तपश्चरण कर्मों को नाश करनेवाला नहीं है । जिन सिद्धांत और जिन सूत्र ही यथार्थ शास्त्र है । इनके सिवाय अन्य कोई शास्त्र यथार्थ नहीं है । ॥६७॥

जिनेन्द्रदेव प्रणीत धर्मादि की रुचि करना, श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है —

इत्याद्यपर धर्माणां जिनोक्तानां महीतले । प्रामाण्यपुरुषाद्यस्थ श्रद्धानं बुधसत्तमः ॥६८॥

क्रियते या रुचिश्चित्ते निश्चयो योग्यमहान् । तत्सर्वं वृष्टि कल्प वृमस्य स्थान्मूलकारणम् ॥६९॥

अर्थ—इस संसार में पुरुष के प्रमाण होने से उसके वचन प्रमाण माने जाते हैं । भगवान् जिनेन्द्रदेव वीतराग और सर्वज्ञ हैं अतएव सर्वोत्कृष्ट प्रमाण हैं । इसलिये उत्तम पुरुष उन्हीं के कहे हुए धर्मका श्रद्धान करते हैं उसी में रुचि करते हैं और अपने हृदय में उसी का महान् निश्चय करते हैं । इसके सिवाय अन्य धर्मका वे कभी श्रद्धान नहीं करते । इसप्रकार के श्रद्धानमें सम्यग्दर्शन रूपी कल्पवृक्ष ही मूल कारण समझना चाहिये । अर्थात् ऐसा श्रद्धान होना ही सम्यग्दर्शन है अथवा सम्यग्दर्शन के होने से ही ऐसा श्रद्धान होता है ॥६८-६९॥

तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है सप्त तत्त्वों के नाम—

अथ तेषां तत्त्वानां श्रद्धानेनात्र लभ्यते । निर्मलं दर्शनं तानि तत्त्वान्येव विशाम्यहम् ॥७०॥

जीवाजीवाश्रवा बधः संवरो निर्जरा परा । मोक्षोमूर्ति सुसत्त्वानि भाषितानि जिनाधिपैः ॥

अर्थ—इस संसार में तत्त्वों का श्रद्धान करने से ही निर्मल सम्यग्दर्शन होता है इसलिये अब हम उन तत्त्वों का ही स्वरूप निरूपण करते हैं । भगवान् जिनेन्द्रदेव

ने जीव, अजीव, आत्सव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व बतलाये हैं ।
॥१४००-१४०१॥

जीवों के भेद—

मुक्त संसारिभेदाभ्यां द्विधा जीवा अभिर्भूताः । मुक्ता भेदविनिष्क्रान्ताः षड्विधा भववर्जिताः ॥

अर्थ—भगवान् जिनैन्द्रदेव ने मुक्त और संसारी के भेद से जीवों के दो भेद बतलाये हैं । इनमें भी मुक्त जीवों में कोई भेद नहीं है सब समान हैं । तथा संसारी जीवों के छह भेद हैं ॥१४०२॥

मुक्त जीवों का स्वरूप—

अष्टकर्मवपुर्मुक्ता दिव्याष्टगुणसूषिताः । लोकाग्रशिरवरावासाः सिद्धाः स्युरन्तर्जिताः ॥

अर्थ—जो जानावरण आदि आठों कर्मों से रहित हैं सम्यक्त्व आदि आठों दिव्य गुणों से सुशोभित हैं और लोक शिखरपर विराजमान हैं उनको सिद्ध कहते हैं । ऐसे सिद्ध अनंतानंत हैं ॥१४०३॥

संसारी जीवों के छः भेद—

पृथ्व्यप्तेजोमहकाया वनस्पत्यग्निस्त्रयाः । एते संसारिणो ज्ञेया षड्विधा जीवजातयः ॥१४०४॥

अर्थ—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसके भेद से संसारी जीवों के छह भेद समझना चाहिये ॥१४०४॥

कोमल पृथ्वी के १६ भेद—

पृथिवी बालुकाताम्रमयास्त्रिपुषसीसकी । सूर्यं सुवर्णमेवाथ हरितालं मनः शिलाः ॥५॥

हिगुलं सस्यकं वांजनमभ्रकोभ्रबालुकाः । लवणं चेति भेदाः स्युर्मुकुपृथ्व्या हि षोडशः ॥६॥

अर्थ—पृथिवी, बालू, तांबा, लोहा, रांगा, सीसा, चांदी, सोना, हरताल, मनशिल, हिगुल, सस्यक, सुरमा, अभ्रक, अभ्रबालुका, लवण ये सोलह कोमल पृथ्वी के भेद हैं ॥५-६॥

कठोर पृथ्वी के २० भेद—

शर्करा उपलं वज्रं शिला प्रवालकायिकाः । कर्कतं मणिश्चांकोरुजकः स्फटिकोमणिः ॥७॥

पद्मरागोपमं ह्यम्यं चन्द्रप्रभश्च चन्दनः । जलकान्तो धकः सूर्यकान्तो मरकतोमणिः ॥८॥

मोक्षोमक्षणपाषाणो रुचिराद्योमणिः स्फुटम् । अमीमेवाः बुधैर्ज्ञेयास्त्रिपृथ्व्या हि विंशतिः ॥९॥

अर्थ—कठिन बालू, पत्थर के गोल टुकड़े, वज्र (हीरा) बड़ी शिला, प्रवाल वा मूंगा, गोमेवमणि, पुलक मणि (प्रवाल के समान) राजक (राजवर्त मणि) स्फटिक मणि, पद्मरागमणि, वैडूर्यमणि, चन्द्रप्रभमणि, यश्वनमणि, जलकांतमणि, पुष्परागमणि, सूर्यकांतमणि, भरकतमणि, नीलमणि, विद्रुममणि और रुचिरमणि । बुद्धिमानों को ये बीस भेद कठिन पृथ्वी के समझने चाहिये ॥७-६॥

स्थूल पृथ्वीकायिक जीवों के २६ भेद हैं सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव सर्वत्र है—

षट्त्रिंशत्स्युरिमे भेदाः स्थूलपृथ्व्यंगिना भुवि । सूक्ष्माः पृथ्व्यंगिनो ज्ञेयाः से सर्वत्र जिनागमात् ॥

अर्थ—ये छत्तीस भेद पृथ्वीकायिक स्थूल जीवों के समझने चाहिये । तथा पृथ्वीकायिक सूक्ष्म जीव आकाश में सब जगह फैले हुये हैं ऐसा जैन शास्त्रों में कहा है ॥१४१०॥

आठों पृथ्वीकायिकादि कठोर पृथ्वी में ही गर्भित—

पृथ्व्यष्ट पञ्च भेदाद्या पर्वतः सकला भुवि । द्वीप वेदी विमाना हि प्रतोली तोरणाय च ये ॥११॥

जम्बूशाल्मलि चैत्यवृक्षास्तूपभवनानवयः । कल्पवृक्षाः स्वरा विश्वेह्यतेष्वन्तर्भवन्ति ते ॥१२॥

अर्थ—आठों पृथ्वी पांचों मेरुपर्वत द्वीप वेदी विमान प्रतोली (गली) तोरण, जम्बू शाल्मलि, चैत्यवृक्ष, भवन कल्पवृक्ष आदि कठिन प्रकार की पृथ्वी सब इसी में अंतर्भूत समझनी चाहिये ॥११-१२॥

पृथ्वीकायिक जीवों की विराधना का निषेध—

ज्ञात्वेति पृथिवीकायान्खननाद्यैः शिवायिभिः । तेषां जातु न कर्तव्या स्वेनान्येन विराधना ॥१३॥

अर्थ—यही समझकर मोक्ष की इच्छा करनेवाले पुरुषों को खोद पीट कर पृथ्वीकायिक जीवों की विराधना न तो स्वयं करनी चाहिये और न किसी दूसरे से करानी चाहिये ॥१३॥

अपकायिक जीवों का स्वरूप—

अवश्यायजलं पश्चिमरात्रिपतितं हिमम् । महिकाव्यजलं घूमाकारं हरज्जलं ततः ॥१४॥

स्थूलबिन्दुपुतं वाणु जलं सुदोषकं तथा । चन्द्रकान्तभवं नीरं सामान्यं नीहारादिजम् ॥१५॥

घनोदकं घनाकारं ह्रदाभिधनवातजम् । वा मेघोद्भवमि त्याद्या ज्ञेया अपकायिकाग्निः ॥१६॥

सरिस्तागरमेघोत्थाः कूपनिर्भरं सूस्थिता । चन्द्रकान्ताविजा अत्रैवान्तर्भवजलाग्निः ॥१७॥

अर्थ—बरफ का पानी, पिछली रातमें पड़ी हुई ओस, तुषार, भापका पानी,

हरज्जल, बड़ी बूंदें, छोटी बूंदें, शुद्ध पानी, चन्द्रकांत मणिसे उत्पन्न होनेवाला पानी जमाई हुई बरफ का पानी घनोदक, घनाकार, सरोवर समुद्र आदि का पानी घनवात का पानी, बादल से बरसा हुआ पानी आदि सब तरह का पानी अपकायिक जीवमय ही समझना चाहिये । नदी समुद्र का पानी, मेघोंका बरसा पानी, कुएँ वा निर्भरने का पानी, पृथ्वी के भीतर रहनेवाला पानी, चन्द्रकांत मणि से निकला हुआ पानी इनके जलकायिक जीव सब इन्हीं में अंतर्भूत समझना चाहिये ॥१४-१७॥

अपकायिक जीवों की विराधना का निषेध—

इति ज्ञात्वा सदाभीषां रक्षा कार्या प्रयत्नतः । पादादिक्षासनैर्जातु न हिंस्याः सर्वथा ब्रुवः ॥१८॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान पुरुषों को प्रयत्न पूर्वक इनकी रक्षा करनी चाहिये और पदप्रक्षालन आदि के द्वारा इन जीवों की हिंसा कभी नहीं करनी चाहिये । ॥१४१८॥

अग्निकायिक जीवों का स्वरूप—

ज्वालांगारमथाग्निर्मुं सुरः शुद्धधाग्निसंज्ञकः । सूर्यकान्तादिज्योतिः सामान्य इत्यग्निकायिकः ॥

नंदीश्वरादि चैत्यालय धूमकुंडिकानलाः । मुकुटान्याचयो त्रैवान्तर्भवन्त्यग्निकायिका ॥२०॥

अर्थ—ज्वाला, अंगार, ज्वाल का प्रकाश, बारीक कोयलों के फुलिंगे, शुद्ध अग्नि, सूर्यकांतसे उत्पन्न हुई अग्नि इत्यादि सामान्य अग्नि अग्निकायिक जीव विशिष्ट है । नंदीश्वर द्वीपके चैत्यालयों में रखे हुए धूप कुंडकी अग्नि अग्निकुमार देवों के मुकुट की अग्नि में रहनेवाले अग्निकायिक जीव सब इसी में अंतर्भूत समझने चाहिये । ॥१९-२०॥

अग्निकायिक जीवों की हिंसा का निषेध—

इत्यग्निकायिकान् ज्ञात्वा भीषारोगादिशान्तये । हिंसा क्वचिन्न कार्या ज्वालनविध्यापनाविभिः ॥

अर्थ—इसप्रकार अग्निकायिक जीवों को समझकर किसी रोगको शांत करने के लिये भी अग्निको जला कर वा बुझा कर अग्निकायिक जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिये ॥२१॥

वायुकायिक जीवों का स्वरूप—

वातःसामान्यरूपश्चोद्भ्रमः ऊर्ध्वं सजन् सरत् । उत्कलिमंडलिर्वायुः पृथ्वीलग्नो भ्रमन् वजेत् ॥

गुंजामरुग्महावाती वृक्षादि भंगकारकः । घनवातश्च तन्वाय्यो व्यजनादि कृतोपवा ॥२३॥

उदरस्थान्धिमूस्थानविमानाधार वायवः । अश्र्वान्तर्भवा ज्ञेयाः भवनस्थादिकालिलाः ॥२४॥

अर्थ—सामान्य वायु को वात कहते हैं, ऊपर को जाने वाली वायुको उद्भ्रम कहते हैं, गोलाकार घूमते हुए वायु को उत्कलि वायु कहते हैं पृथ्वी से लगकर चलने वाले वायुको गुंजावात कहते हैं वृक्षादिकों को तोड़ देनेवाला महावात कहलाता है । घनवात तनुवात पंखा आदि से उत्पन्न किया हुआ वायु, पेट में भरा हुआ वायु, पृथ्वी समुद्र विमान आदि को आश्रय देने वाला वायु तथा भवनों में रहने वाला वायु सब सामान्य वायु में अंतर्भूत है ॥२२-२४॥

महावाह होनेपर भी वायुकायिक जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिये—

इमान् वातांगिनो मत्वा आत्वमोषां विराधना । न विधेया महावाहे वातादिकरणबुधेः ॥२५॥

अर्थ—यह सब वायु वातकायिक जीवमय है । यही समझकर बुद्धिमान पुरुषों को महा वाह होनेपर भी वायु को उत्पन्न कर वातकायिक जीवों की विराधना नहीं करनी चाहिये ॥२५॥

वनस्पतिकायिक और अनन्तकायिक वनस्पति का स्वरूप—

मूलाप्रपौरबीजाः कंदस्कंधबीजसंज्ञकाः । बीज बीजरूपा एते कंदाद्यारोहसंभवा ॥२६॥

जीवाः सम्मूर्च्छिमा मूलाद्यभावेपितमुद्भूताः । प्रत्येककायिका जीवा अनन्तकायवेहिनाः ॥२७॥

कंदमूलांगिनास्त्वक्स्कंधः पत्रं कुसुमफलम् । प्रवालं गुच्छकायश्च गुल्मं वल्लीतृणान्यथ ॥२८॥

पर्वकाया इमे ज्ञेयाः पृथ्वीतोयादिसंभवाः । विना बीजेन नाना भेदा वनस्पतिकायिकाः ॥२९॥

सेवालं पणकं भूमिगतसैवालमेव हि । कवगं नाम भृंगालं वकच्छत्रं हरिप्रभम् ॥३०॥

कुहराण्यंस्थिताहारकं जिह्वाविष्यपुष्पिका । एतेषु वादरा ज्ञेया अनन्तकायिका बुधेः ॥३१॥

अर्थ—मूलबीज, अप्रबीज, पर्वबीज, कंदबीज, स्कंधबीज, बीजरूपा ये सब कंदादिक से उत्पन्न होनेवाले वनस्पतिकायिक जीव हैं । इनके सिवाय सम्मूर्च्छित जीव हैं जो मूलादिक का अभाव होने पर भी उत्पन्न हो जाते हैं । इनमें से कोई प्रत्येक कायिक हैं और कोई अनन्तकाय हैं । कंद मूल त्वक् (छाल) स्कंध पत्र कुसुम फल तथा कोंपल, गुच्छ गुल्म वेल तृण आदि सब अनन्तकायिक हैं । तथा विना बीजके पृथ्वी जल आदि के संयोगसे उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकार के पर्व कायिक हैं जो अनन्तकाय कहलाते हैं । सेवाल, पणक, भूमिगत, सैवाल, कवग, भृंगाल, वकच्छत्र, हरिप्रभ, कुहरा, स्थिताहारक, जिह्वादि, पुष्पिका ये सब वादर अनन्तकाय हैं ऐसा विद्वानों को समझ लेना चाहिये ॥२६-३१॥

सूक्ष्म जीवों की अवगाहना का प्रमाण—

पृथ्व्यप्तेजोमहज्जीवाः सूक्ष्मादृष्ट्याद्यगोचराः । अंगुलस्याप्यसंख्यातभागप्रभवपुष्टताः ॥३२॥

अर्थ—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक सूक्ष्म जीव दृष्टिके अगोचर होते हैं और उनका शरीर अंगुल के असंख्यात बें भाग प्रमाण होता है ॥३२॥

सूक्ष्म-स्थूल वनस्पतिकायिक जीव सब जगह है—

सर्वत्र द्विविधा ज्ञेया जलस्थलनभोखिले । सर्ववनस्पतिप्राणिनः प्रत्येकेतरात्मकाः ॥३३॥

अर्थ—वनस्पतिकायिक सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकारके जीव जल स्थल और आकाश आदि सब स्थानों में भरे हुये हैं । इनमें से कुछ प्रत्येक वनस्पति हैं और कुछ साधारण हैं ॥३३॥

साधारण और प्रत्येक वनस्पति का स्वरूप—

येषां गूढसिरासंधिपर्वाणि स्थुरहोरकम् । समभंगं तथा छेदकं च विद्यते भुवि ॥३४॥

साधारणशरीरास्तेवानन्त जीवसंकुलाः । एतेष्वो विपरीता ये हि प्रत्येकप्राणिनोभूताः ॥३५॥

अर्थ—जिनकी सिरा संधि पर्व आदि गूढ़ हैं दिखाई नहीं देते तोड़नेसे जिनका भंग समान होता है और जो काटनेपर भी उत्पन्न हो जाते हैं । उनको साधारण शरीर कहते हैं ऐसे साधारण शरीर अनंत जीवों से भरे हुए होते हैं । इनसे जो विपरीत हैं अर्थात् जिनका सिरा संधि प्रगट हो गया है और तोड़ने से जिनका समभंग नहीं होता उनको प्रत्येक कहते हैं ॥३४-३५॥

अनन्तकाय का स्वरूप व उसका अनन्तकाय नामकी सार्थकता—

यत्रको म्रियते तत्र म्रियन्तेनन्तदेहिनः । यत्रको जायते तत्र जायन्तेनन्तकायिकाः ॥३६॥

अतोऽनन्ते जिनैः प्रोक्ताः जीवा अनन्तकायिकाः । भुवि सार्थक नामानोऽनन्तप्राणिमयाः स्फुटम् ॥

अर्थ—एक जीव के मरने पर जहां अनन्त जीव मर जाय और एक जीव के उत्पन्न होनेपर जहां पर अनन्त जीव उत्पन्न हो जाय ऐसे जीवों को भगवान् जिनेन्द्रदेव ने अनन्तकाय बतलाया है । उनमें का एक-एक शरीर अनन्त जीव स्वरूप होता है इसलिये वे अनन्तकाय इस सार्थक नामको धारण करते हैं ॥३६-३७॥

नित्य अनन्तकायिक जीवों का स्वरूप—

अनन्तैः प्राणिभि र्येष्व महामिथ्याघपूरितैः । असत्त्वं जातु न प्राप्तं नित्यास्तेनन्तकायिकाः ॥

अर्थ—महा मिथ्यात्व के पाप से परिपूर्ण हुए जिन अनंत जीवों ने आज तक त्रस पर्याय नहीं पाई है उनको नित्य अनंतकायिक कहते हैं ॥३८॥

एक निगोद शरीर में दृष्टान्त पूर्वक निगोद जीवों की संख्या का प्रमाण—

जम्बूद्वीपे यथाक्षेत्रं भरतं भरते भवेत् । कौशलः कौशलेऽयोध्यायोध्यायां गृहपत्नयः ॥३९॥
तथा स्कंधा असंख्याता लोकमात्रा भवन्ति च । एकैकस्मिन् पृथक् स्कंधे प्रोविता ग्रंडरा जिनेः ॥
असंख्यलोकमात्राश्चैके कस्मिन्नंडरे तथा । आवासाः स्फुरसंख्यातलोकतुल्या न संशयः ॥४१॥
एकैकस्मिन् किलावासे मता पुलवयो बृधः । असंख्यलोकमाना यैकैकस्मिन् पुलवी भुवि ॥४२॥
शरीराणि ह्यसंख्येय लोकमानानि सन्ति च । एकैकस्मिन्निकोतस्य शरीरे जंतवः स्फुटम् ॥४३॥
अतीत कालसिद्धेभ्यः सर्वानन्तेभ्य एव हि । प्रोक्ता स्तीर्थकरं रागमेत्रानन्तगुणापरे ॥४४॥

अर्थ—जिस प्रकार जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्रादिक क्षेत्र हैं भरत क्षेत्र में कौशल आदि देश हैं, कौशलदेश में अयोध्या आदि नगर हैं और अयोध्या आदि नगरों में घरों की पंक्तियां हैं उसी प्रकार इस संसार में असंख्यात लोक प्रमाण स्कंध हैं । एक-एक स्कंध में असंख्यात लोक प्रमाण ग्रंडर हैं । एक-एक ग्रंडर में असंख्यात लोक प्रमाण आवास हैं एक-एक आवास में असंख्यात लोक प्रमाण पुलवी हैं । एक-एक पुलवी में असंख्यात लोक प्रमाण शरीर हैं तथा उस एक-एक निगोद शरीर में अतीत काल के समस्त अनंतानंत सिद्धों से अनंतगुणों जीव हैं ऐसा भगवान् जितेन्द्रदेव ने आगम में बतलाया है ॥३९-४४॥

पांच स्थावर जीवों की रक्षा की प्रेरणा—

इत्यादीन् स्थावरान् पंचविधान् विज्ञाययोगिभिः । प्रयत्नेन दया कार्या मीषां वाक्कायमानसैः ॥

अर्थ—मुनियों को इसप्रकार स्थावरों के पांचों भेद समझकर मन-वचन-काय से प्रयत्नपूर्वक उन सब जीवों की दया करनी चाहिये ॥४५॥

त्रस जीवों का स्वरूप और उसके भेद—

सकला विकलाश्चेति द्विधा जीवास्त्रसामताः । विकला द्वित्रितुर्याधाः शेषा हि सकलेन्द्रियाः ॥

अर्थ—दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीवों को त्रस कहते हैं । उनके दो भेद हैं । एक विकलेन्द्रिय और दूसरा सकलेन्द्रिय । दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय जीवों को विकलेन्द्रिय कहते हैं और पंचेन्द्रिय जीवों को सकलेन्द्रिय कहते हैं । ॥४४६॥

दो इन्द्रिय जीवों का स्वरूप—

क्रमयः मुक्तिकाः शंखा कपर्दकाश्च बालकाः । जलूकाद्याः भुते ज्ञेया द्वीन्द्रिया द्वीन्द्रियान्विताः ॥

अर्थ—लट, सीप, शंख, जोंक, लोह आदि जीवों के स्पर्शन और रसना दो इन्द्रियां हैं इसलिये इन जीवों को दो इन्द्रिय कहते हैं ॥४७॥

तीन इन्द्रिय जीवों का स्वरूप—

कुंथवोवृश्चिका यूकामत्कुण्डलचपिपीलिकाः । उद्देहिकाद्या गोपानिकास्त्रीन्द्रियशरीरिणः ॥४८॥

अर्थ—कुंथु, बीछू, जू, खटमल, घींटी, उद्देहिका, गोपानिका आदि जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन इन्द्रियां हैं इसलिये इनको त्रेन्द्रिय कहते हैं ॥४८॥

चार इन्द्रिय जीवों का स्वरूप—

अमरामशका वंशाः पतंगामधुमक्षिका । कीटका भिक्षकाद्याश्च चतुरिन्द्रियजातयः ॥४९॥

अर्थ—भौरा, मच्छर, डांस, पतंगा, मधुमक्खी, मक्खी, दीपक पर पड़ने वाले जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और स्पर्श इन्द्रियां हैं इसलिये इनको चौद्विन्द्रिय कहते हैं ॥४९॥

पंचेन्द्रिय जीवों का स्वरूप—

जलस्थलनभोगामिनस्तिर्यचोनराः सुराः । मारकाः सकलाः प्रोक्ता जीवाः पंचेन्द्रियाः भुते ॥५०॥

अर्थ—मगरमच्छ आदि जलचर, कबूतर आदि नभचर और गाय, भैंस आदि स्थलचर जीव पंचेन्द्रिय हैं मनुष्य देव और समस्त नारकी जीव भी पंचेन्द्रिय हैं ऐसा शास्त्रों में कहा है ॥५०॥

चौरासी लाख योनियों के स्वामी—

पृथ्व्यप्तेजोमहत्काया लक्षणां सप्तसप्त च । नित्यैसरनिकोताः क्लृप्तवनस्पतयोदश ॥५१॥
द्विद्विलक्षप्रमा द्वित्रि चतुरक्षाः पृथक्सुराः । तिर्यैचो नारकालक्षणां चत्वारः पृथक्पृथक् ॥५२॥
द्विसप्तलक्षसंख्यनां आर्यस्तेच्छालिला नराः । इति सर्वाणि लक्षणांमशीतिश्चतुस्ताराः ॥५३॥

अर्थ—इनमें से पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक और अग्निकायिक जीवोंकी सात सात लाख योनियां हैं । नित्यनिगोत और इतरनिगोत की भी सात-सात लाख योनियां हैं वनस्पतिकायिक की दश लाख योनियां हैं, दोइन्द्रिय की दो लाख, त्रेन्द्रिय की दो लाख और चौद्विन्द्रिय की दो लाख योनियां हैं । देवों की चार लाख,

तिर्यचोंकी चार लाख और नारकियों की चार लाख योनियां हैं तथा आर्य और म्लेच्छ के भेदसे दोनों प्रकार के मनुष्यों की चौदह लाख योनियां हैं । इसप्रकार समस्त जीवों की चौरासी लाख योनियां हैं ॥५१-५३॥

एक सौ साढ़े नित्यानवे लाख करोड़ कुलों के स्वामी कौन कौन —

इत्थंविश्वंमि जातीः सम्यग्निरूप्य जिनागमात् । ततः सतां दयासिद्धयं वक्ष्ये कुलानिदेहिनाम् ॥
पृथ्वीनांकुलकोटी लक्षारणां द्वाविंशति स्फुटम् । अप्कायिकाग्निनां सप्तत्रयश्चानलदेहिनाम् ॥५५॥
मरुतां कुल कोटीलक्षारणि सप्तकुलानि च । कोटीलक्षारणि चष्टाविंशतिर्हरितजन्मिनाम् ॥५६॥
द्वीन्त्रियाणां तथा त्रीन्त्रियाणां तुर्येन्द्रियात्मनाम् । कोटीशतसहस्रारिसप्तचाण्डौ नवक्रमात् ॥
अपचराणां नभोगामिनां किलाद्धत्रयोदश । द्वादशैवक्रमात्सन्ति लक्षारणि कुलकोटयः ॥५८॥
वशंव कोटि लक्षारणि चतुष्पदांकुलानि च । पंचविंशतिकोटीलक्षारिणानारकदेहिनाम् ॥५९॥
स्युः षड्विंशतिकोटीलक्षारणि वैव कुलानि च । नवैव कोटि लक्षारिण्युरः सर्वात्मनां भुविः ॥
कुलान्यत्रमनुष्याणामार्येभ्यःलक्षणैस्मनाम् । द्विसप्तकोटिलक्षारिण सर्वेषामितिजन्मिनाम् ॥६१॥
एकैव कोटि कोटीसाध्वनिवति नैवाधिका । कोटीशतसहस्रारिण कुलसंख्याजिमोदिता ॥६२॥

अर्थ—इसप्रकार जैन शास्त्रों के अनुसार समस्त जीवों की जातियों का स्वरूप बतलाया अब आगे सज्जनों को दया पालन करने के लिये जीवों के कुल बतलाये हैं । पृथ्वीकायिक जीवों के बाईस लाख करोड़, जलकायिक जीवों के सात लाख करोड़, अग्निकायिक जीवों के तीन लाख करोड़, वायुकायिक जीवों के सात लाख करोड़ और वनस्पतिकायिक जीवों के अठ्ठाईस लाख करोड़ कुल हैं । दोइन्द्रिय जीवों के सात लाख करोड़, तेइन्द्रिय जीवों के आठ लाख करोड़, चौइन्द्रिय जीवों के नौ लाख करोड़ कुल हैं । जलचर जीवों के साढ़े बारह लाख करोड़, नभचर जीवों के बारह लाख करोड़ कुल हैं । चतुष्पदों के दश लाख करोड़ कुल हैं, नारकियों के पच्चीस लाख करोड़ कुल हैं, देवों के छब्बीस लाख करोड़ कुल हैं और सरीसर्पों के नौ लाख करोड़ कुल हैं । आर्य, म्लेच्छ और विशाधरों के चौदह लाख करोड़ कुल हैं । इसप्रकार समस्त जीवोंके कुलोंकी संख्या एकसौ साढ़े नित्यानवे लाख करोड़ होती है । इसप्रकार भगवान् जिनेन्द्र-देव ने इनके कुल बतलाये हैं ॥५४-६२॥

जाति कुलादि से जीवों का स्वरूप जानकर उनकी रक्षा की प्रेरणा—

इति जाति कुलाम्यत्रगुणस्थानानिमार्गणाः । सम्यग्विज्ञाय जीवानांश्रुते कार्या दया न्वहम् ॥६३॥

अर्थ—इसप्रकार जीवों की जाति कुल गुणस्थान और मार्गणाओं को शास्त्रों

के अनुसार अच्छी तरह जानकर प्रतिदिन जीवों की दया करनी चाहिये ॥६३॥

अध्यात्म शोका निश्चय नयसे जीव तत्त्वका स्वरूप—

जीवतत्त्वानिरूप्येदं प्रसिद्धागमभाषया । सर्वा ब्रूवे समासेनाधुनाध्यात्मसुभाषया ॥६४॥

द्रव्यभावात्मकः प्राणैर्जीविताः प्राण्यतीगिनः । जीवन्ति च तथा जीविष्यन्ति जीवास्ततोमताः ॥

केवलज्ञानवृत्तेषाः कर्तृभोक्तृत्ववर्जिताः । उत्पत्तिमरणातीता बन्धमोक्षातिगा भुवि ॥६६॥

असंख्यातप्रवेशा सर्वेऽमूर्ताः सिद्धसन्निभाः । सादृश्यागुणयोगेनानिश्चयेनांगिनः स्मृताः ॥६७॥

अर्थ—इसप्रकार आगम की प्रसिद्ध भाषा के अनुसार जीव तत्त्व का स्वरूप कहा अब आगे सज्जनों के लिये अध्यात्म भाषाके द्वारा संक्षेप से जीवका स्वरूप कहते हैं । जो प्राणी द्रव्य प्राण और भाव प्राणों के द्वारा पहले जीवित थे, अब जीवित हैं और आगे जीवित रहेंगे उनको जीव कहते हैं । निश्चय नय से देखा जाय तो समस्त जीव केवलज्ञान और केवलदर्शनको धारण करनेवाले हैं कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों से रहित हैं, जन्म मरण से रहित हैं, बंध मोक्षसे रहित हैं, असंख्यात प्रवेशी हैं और सिद्ध के समान सब असूत हैं तथा आत्म गुणों के समान होने से सब समान हैं । इसप्रकार निश्चय नय जीवों का स्वरूप है ॥६४-६७॥

व्यवहार नय से जीवका स्वरूप—

युक्त्या मत्यादिभिर्ज्ञानैश्चसुरार्द्यैश्चवर्णनेः । कर्मणां कर्तृभोक्तारो बन्धमोक्षविधायिनः ॥६८॥

चतुर्गतिमतामूर्ताः सुखदुःखादिभोगिनः । व्यवहारनयेनात्र प्रोक्ता जीवा गणाधिपः ॥६९॥

अर्थ—इसप्रकार गणधरादिक देवों ने व्यवहार नयसे जीवोंका स्वरूप मति-ज्ञान, श्रुतज्ञान आदि ज्ञानों को धारण करनेवाला चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन आदि दर्शनों को धारण करनेवाला, कर्मों का कर्ता भोक्ता, बंध वा मोक्षको करनेवाला, चतुर्गति में परिभ्रमण करनेवाला मूर्त और सुख दुःख भोगने वाला बतलाया है ॥६८-६९॥

अजीव तत्त्व और उसके भेद—

रूप्यरूपिप्रकाराभ्यामजीवाद्विविधामताः । चतुर्धा पुद्गलरूपिणश्चस्कंधादिभेदतः ॥७०॥

अर्थ—आगे अजीव को बतलाते हैं अजीव के दो भेद हैं रूपी और अरूपी । उनमें से पुद्गल रूपी हैं और स्कंधादिक के भेद से चार उसके भेद हैं ॥७०॥

पुद्गल के चार भेद और उनका स्वरूप—

स्कंधाद्याः स्कंधदेशाश्च स्कंधप्रवेशपुद्गलाः । अणवः पुद्गला अत्रेत्युक्ताजिनैश्चतुर्विधाः ॥७१॥

सर्वः स्कंधः समेदश्चवह्णूद्भवऊजितः । स्कंधस्याद्धं बृद्धंरक्तः स्कंधदेशोजिनागमे ॥७२॥

तस्याद्धाद्धं न संजातोद्वणुपर्यंतमेवभाक् । स्कंधप्रदेशएवाविभागी स्याद्वणुः पुद्गलः ॥७३॥

अर्थ—स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और अणु इसप्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेवने पुद्गल के चार भेद बतलाये हैं । जो बहुत से परमाणुओं से बना है जिसके अनेक भेद हैं ऐसे बड़े स्कंधको स्कंध कहते हैं । स्कंधका जो आधा भाग है उसको विद्वानों ने जैन शास्त्रों में स्कंधदेश बतलाया है । उस स्कंधदेश के आधे भाग को तथा उसके भी आधे भाग को इसप्रकार दो अणु के स्कंध तक के भागों को स्कंधप्रदेश कहते हैं तथा अविभागी पुद्गल के परमाणु को अणु कहते हैं ॥७१-७३॥

पुद्गल द्रव्य का उपकार—

जीवितं मरणं दुःखं सुखं वेहादिवर्जनम् । जीवानां पुद्गलाः कुर्युः कर्मबंधाद्युपग्रहम् ॥७४॥

अर्थ—जीवन मरण सुख दुःख तथा शरीर के त्याग के द्वारा पुद्गल द्रव्य जीव का उपकार करते हैं । ये पुद्गल कर्मबंध के द्वारा भी जीव का उपकार करते हैं ॥७४॥

अरूपी अजीव द्रव्य के भेद और उपाकार—

धर्मोऽधर्मो नभः कालः इमेरूपादिवर्जिताः । जीवपुद्गलयो लोके निष्क्रियाः सहकारिणः । ७५॥

अर्थ—धर्म अधर्म आकाश और काल ये अरूपी अजीव द्रव्य हैं, ये चारों ही द्रव्य क्रिया रहित हैं और जीव पुद्गल के उपकारक हैं ॥७५॥

धर्म द्रव्य का स्वरूप और उसका उपकार—

सहकारीगतौधर्मो जीवपुद्गलयोर्मतः । असंख्यातप्रदेशोऽत्र मत्स्थानां जलराशिवत् ॥७६॥

अर्थ—जिसप्रकार जलकी राशि मछलियोंके चलने में सहायक है उसीप्रकार धर्म द्रव्य जीव पुद्गलों के चलने में सहकारी होता है यह धर्म द्रव्य असंख्यातप्रदेशी है ॥७६॥

अधर्म द्रव्य का स्वरूप और उसका उपकार—

छायावत्पथिकान्तामधर्मः साह्यकारः स्थितौ । जीवपुद्गलयोः प्रोक्तः संख्यानीतप्रदेशवानु ॥७७॥

अर्थ—जिसप्रकार पथिकों के ठहरने में छाया सहायक होती है उसी प्रकार अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलों के ठहरने में सहकारी होता है । तथा यह द्रव्य भी असंख्यात

प्रदेशी है ॥७७॥

आकाश द्रव्य का स्वरूप और उसके भेद—

लोकलोक हिमेवाभ्यां हिवाकाशः स्मृतो जिनैः । अवकाशप्रदः सर्वद्रव्याणां खंडवर्जितः ॥७८॥
धर्मोऽधर्मो गिनः कालः पुद्गलाः क्षेत्र यावति । एते तिष्ठन्ति तावन्मानः लोकाकाशएव हि ॥७९॥
तस्मात्स्थितात्परतो नंतप्रवेश एकको महान् । सर्वद्रव्यातिगो नित्योऽलोकाकाशो जिनोदितः ॥८०॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने आकाश के दो भेद बतलाये हैं एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश । यह आकाश समस्त पदार्थों को जगह देता है । तथा यह आकाश अखंड द्रव्य है । जितने आकाशमें जीव पुद्गल धर्म अधर्म और काल रहता है उतने आकाश को लोकाकाश कहते हैं । उस लोकाकाश के बाहर सब ओर जो एक महान् और अनंत प्रदेशी आकाश है जिसमें अन्य कोई द्रव्य नहीं है और जो नित्य है उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव ने अलोकाकाश बतलाया है ॥७८-८०॥

व्यवहार काल का स्वरूप—

नवजीर्णविभिः कालः परिवर्तनहेतुकत् । जीवपुद्गलयो लोके व्यवहारो विनादिकः ॥८१॥

अर्थ—काल द्रव्य नवीन पदार्थों को भी पुराना बना देता है और जिसप्रकार जीव पुद्गल आदि समस्त पदार्थोंमें परिवर्तन करता रहता है । तथा लोकमें दिन रात घड़ी घंटा आदि के भेद से जो काल माना जाता है वह सब व्यवहार काल है ॥८१॥

निश्चय काल का स्वरूप—

लोकाकाशप्रवेशे यः पृथग्भूतोऽसंचयः । स निश्चयविधः कालो रत्नराशिरिवोदितः ॥८२॥

अर्थ—जिस प्रकार रत्नों की राशि पास पास जड़ी रहती है उसी प्रकार लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जो अलग अलग काल के परमाणु निश्चयमान हैं, उन कालाणुओं को निश्चय काल कहते हैं ॥८२॥

पांच अस्तिकाय द्रव्य के नाम—

एतेऽत्र सह जीवेन षड्द्रव्या उदिता जिनैः । कालद्रव्यं विनापंचास्तिकायाधोजिनागमे ॥८३॥

अर्थ—इसप्रकार पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच अजीव के भेद बतलाये हैं उनमें जीव द्रव्य को मिला देने से भगवान् जिनेन्द्रदेव ने छह नाम बतलाये हैं तथा काल द्रव्य को छोड़कर बाकी के पांच जैन शास्त्रों में अस्तिकाय बतलाये हैं ॥८३॥

आत्माको रोकना चाहिये और पूर्ण प्रयत्न के साथ समस्त आलस्योंको रोकना चाहिये ।
॥६१॥

भावबन्ध और द्रव्यबन्ध का स्वरूप—

रागद्वेषमयेनात्र परिणामेन येन च । द्रव्यगते कृत्स्नकर्माणि भावबन्ध स उच्यते ॥६२॥
भावबन्धनिमित्तेनसाद्धं यः कर्मपुद्गलैः । संश्लेषोगिप्रवेशानां द्रव्यबन्धः स कथ्यते ॥६३॥

अर्थ—जिन रागद्वेषमय परिणामों से समस्त कर्म बंधते हैं उन परिणामों को भावबन्ध कहते हैं । उस भावबन्ध के निमित्तसे कर्मपुद्गलों के साथ-साथ जो आत्मा के प्रवेशों का सम्बन्ध हो जाता है उसको द्रव्यबन्ध कहते हैं ॥६२-६३॥

बन्ध के भेद और उनके कारणों का वर्णन—

प्रकृतिस्थितिवन्धोनुभागः प्रवेशसंश्लेषः । इति चतुर्विधो द्रव्यबन्धोबन्धकरोऽंगिनाम् ॥६४॥
प्रकृत्यामा प्रवेशस्य बन्धोवाक्यमानसैः कषायैर्भक्तो बन्धोपसां स्थित्यनुभागयोः ॥६५॥
यथारजसि तैलादिस्निग्धगात्रेणदेहिनाम् । लगन्ति च तथा कर्माण्वोरागादिभिः सदा ॥६६॥

अर्थ — प्राणियोंको बंध करनेवाला यह द्रव्यबन्ध, प्रकृतिबन्ध, स्थितिवन्ध, अनुभागबन्ध और प्रवेशबन्ध के भेद से चार प्रकार का बतलाया है । इन चारों प्रकार के बंधों में से प्रकृतिबन्ध और प्रवेशबन्ध मन-वचन-कायके योगों से होते हैं और स्थितिवन्ध तथा अनुभागबन्ध कषाय से होते हैं । जिसप्रकार तेल आदि के द्वारा चिकने हुए मनुष्यों के शरीर पर धूल जम जाती है उसी प्रकार रागद्वेष आदि कारण आत्मा के प्रवेशों में कर्मों के परमाणु आकर मिल जाते हैं ॥६४-६६॥

बन्ध का फल—

यथा बंधनं बद्धोऽत्र भुंक्ते दुःखमनारतम् । पराधीनस्तथाप्राणी चतुर्गतिषुसाधिकम् ॥६७॥
अक्षमः कर्मबन्धं यः छेत्तुं ध्यानायुधाविभिः । कथं मुक्तो भवेत्सोऽत्रकुर्वन्नापि तपोमहत् ॥६८॥
यावच्छिन्नचित्तबन्धं न कर्मणां सत्तपोसिता । तावत्सुखी नव जायेत्समुनिर्भ्रमन् भवाटवीम् ॥६९॥

अर्थ—जिसप्रकार बंधन में बन्धा हुआ मनुष्य पराधीन होकर अनेक प्रकारके दुःख भोगता है उसीप्रकार कर्मबन्धसे बंधा हुआ यह प्राणी पराधीन होकर चारों गतियों में बहुत से दुःख भोगता है । जो मुनि महा तपश्चरण करता हुआ भी ध्यानरूपी शस्त्र से कर्मबन्ध को नाश करने में असमर्थ है वह मुक्त कभी नहीं हो सकता । यह मुनि जब तक श्रेष्ठ तपश्चरण रूपी तलवार से जब तक कर्मों के बंधन को छिन्न-भिन्न नहीं कर

सकता तब तक वह संसाररूपी वनमें ही धूमता रहता है और तब तक वह कभी सुखी नहीं हो सकता ॥६७-६८॥

रत्नत्रय रूपी शस्त्र से कर्मबन्ध नष्ट करने की प्रेरणा—

विज्ञायेतिप्रयत्नेन मुक्तिकामाः स्वमुक्तये । रत्नत्रयायुधैर्मेवछिन्तु कर्मशास्त्रवम् ॥१५००॥

अर्थ—यही समझकर मोक्ष की इच्छा करनेवाले पुरुषों को स्वयं मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्न पूर्वक रत्नत्रयरूपी शस्त्र से कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर डालना चाहिये ॥१५००॥

भावसंवर का स्वरूप और उसके कारण—

चेतन्यपरिणामो यः कर्मास्त्रविनिरोधकः । स्वात्मध्यानरतः शुद्धो भावसंवर एव सः ॥१५०१॥

त्रयोदशविधं वृत्तं धर्मा दशविधोमह न् । अनुप्रेक्षाद्विषयमेवाः परीषहजयोस्त्रिषः ॥१५०२॥

चारित्र्यं पञ्चधा योगा ध्यानाध्ययनवक्षता । तपो यमादिका एते भावसंवरकारिणः ॥१५०३॥

अर्थ—कर्मोंके आस्त्रव को रोकनेवाला जो आत्माका शुद्ध परिणाम है अथवा ध्यान में लीन हुआ जो अपना शुद्ध आत्मा है उसको भावसंवर कहते हैं । तेरह प्रकार का चारित्र्य, दश प्रकार का सर्वोत्कृष्ट धर्म, बारह अनुप्रेक्षाएं, समस्त परिषहों का जीतना, पांच प्रकारका चारित्र्य, योग ध्यान और अध्ययन की चतुरता, तप यम नियम आदि सब भावसंवर के कारण हैं ॥१५०१-१५०३॥

भावसंवर से ही दीक्षादि की सार्थकता—

संवरः कर्मणां यस्यमुनेर्योगादिनिग्रहैः । तस्यैव सफलं जन्मसार्थादीक्षा शुभंशिवम् ॥१५०४॥

अर्थ—जो मुनि अपने मन-वचन-काय के योगों का निग्रह कर कर्मोंका संवर करता है उसीका जन्म सफल समझना चाहिये उसी की दीक्षा सार्थक समझनी चाहिये और उसी को शुभ मोक्षकी प्राप्ति समझनी चाहिये ॥१५०४॥

भावसंवर के अभाव में दीक्षादि की निरर्थकता—

अक्षमः संवरं कर्तुं यो यतियोगचंचलः । तस्य जातु न मोक्षोऽङ्गवशेशस्तुषष्ट्यङ्गम् ॥५॥

सन्नद्धः संगरेयद्वृद्धोहृत्ति रिपून् बहून् । तद्वत् संवरितो योगी कर्मरितोस्तपोबलात् ॥६॥

संवरेणविनापुंसां वृथा दीक्षा तपोल्लभम् । यतः कर्मास्त्रवेणव बद्धते संसृतिस्तराम् ॥७॥

अर्थ—जो मुनि अपने योगों की चंचलता के कारण कर्मों का संवर करने में असमर्थ है उसको कभी भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती ऐसी अवस्था में उसका तप

करना चावलों की भूसी को कूटने के समान केवल शरीर को क्लेश पहुंचाना है । जिस प्रकार युद्ध के लिये तैयार हुआ थोड़ा युद्ध में बहुत से शत्रुओं को मार डालता है उसी प्रकार संवर को धारण करनेवाला मुनि अपने तपश्चरण के बल से बहुत से कर्मरुधी शत्रुओं को नाश कर डालता है । बिना संवर के मनुष्यों की जिनदीक्षा वा तपश्चरण आदि सब व्यर्थ है क्योंकि कर्मों का अभाव होने से संसार की पराजय बराबर बढ़ती जाती है ॥५-७॥

भावसंवर की प्रेरणा—

मत्वेति धीधनः कार्यः संवरो मुक्तिकारकः । सर्वं व्रतादिभिर्योगिः प्रयत्नेन शिवाप्तये ॥८॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये समस्त चारित्र्य तपश्चरण आदि धारण कर प्रयत्न पूर्वक मोक्ष देनेवाला कर्मों का संवर सदा करते रहना चाहिये ॥८॥

अशुभ कर्मों के संवर पश्चात् ही शुभ संवर करने की प्रेरणा—

कर्तव्यो मुनिभिः पूर्वं संवरोऽप्राप्तकर्मणाम् । स्वात्मध्यानं ततः प्राप्य सिद्धयं च शुभकर्मणाम् ॥९॥

अर्थ—मुनियों को सबसे पहले पापरूप अशुभ कर्मों का संवर करना चाहिये और फिर मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपने आत्मध्यानमें लीन होकर शुभ कर्मों का भी संवर करना चाहिये ॥९॥

निर्जरा का स्वरूप उसके भेद और स्वामी—

सविपाका विपाकाभ्यां कर्मणां निर्जरा द्विधा । सविपाकात्र सर्वेषां सदा कर्मविपाकतः ॥१०॥

अविपाका मुनीनां सा केवलं जायतेतराम् । तपोभिर्बुधैर्द्वैविश्वैर्यमाद्यैर्मुक्तिमातृका ॥११॥

अर्थ—कर्मों के एक देश क्षय होने को निर्जरा कहते हैं उसके सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा के भेद से दो भेद हैं । उनमें से सविपाक निर्जरा समस्त संसारी जीवों के सदा होती रहती है क्योंकि संसारी जीवों के कर्मों का विपाक प्रति समय सबके होता रहता है । तथा अविपाक निर्जरा मोक्षकी माता है और वह घोर तपश्चरण तथा समस्त कर्मों को धारण करने से केवल मुनियों के ही होती है ॥१०-११॥

अविपाक निर्जरा का दृष्टान्त उसका फल—

यद्वहाम् फलाभ्यत्रपद्यते हो ब्रह्मसणा । तद्वच्च कृत्स्नकर्मसितपस्तापैर्मुनीश्वरैः ॥१२॥

यथा जीर्णयुतो रोगी मलनिर्झरणाद्भवेत् । महासुखी मुनिस्तद्वत्कर्मनिर्जरणाद्भुवि ॥१३॥

यथायथात्र जायेत कर्मणा निर्जरासताम् । तथातथासमायातिनिकटमुक्तिनाथका ॥१४॥
यदेव निर्जरा सर्वा तपसास्तिलकमंगलम् । तदेव जायते मोक्षोऽनन्तसौख्याकरः सताम् ॥१५॥

अर्थ—जिसप्रकार आम के फल अधिक गर्मों से जल्दी पक जाते हैं उसीप्रकार मुनिराज भी अपने तीव्र तपश्चरण की गर्मों से समस्त कर्मों को पका डालते हैं । जिस प्रकार अजीर्ण रोग का रोगी मल निकल जाने से (दस्त हो जाने से) अधिक सुखी होता है उसी प्रकार मुनिराज भी कर्मों की निर्जरा हो जाने से अधिक सुखी हो जाते हैं । मुनियों की जैसे-जैसे कर्मों की अधिक निर्जरा होती जाती है वैसे ही वैसे मुक्तिरूपी नाथका उनके निकट आती जाती है । जब तपश्चरण के द्वारा सज्जनों के समस्त कर्मों की निर्जरा हो जाती है उसी समय उनको अनंत सुख देनेवाली मोक्ष प्राप्त हो जाती है ॥१४-१५॥

निर्जरा के कारण तपश्चरणादि की प्रेरणा—

जात्येति मुक्तिकारमः सा विधेयामुक्तिकारिणी । खनोसमस्तसीत्यानां तपोरत्नत्रयाविभिः ॥१६॥

अर्थ—यही समझकर मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुषों को तपश्चरण और रत्नत्रय आदि के द्वारा समस्त सुखों की खानि और मोक्ष को देनेवाली यह कर्मों की निर्जरा अवश्य करनी चाहिये ॥१६॥

भाव मोक्ष द्रव्य मोक्ष का स्वरूप—

सर्वेषां कर्मणां योऽप्रत्ययहेतुजितात्मनः । विशुद्धः परिणामः सः तावन्मोक्षोऽशुभास्तकः ॥१७॥
केवलज्ञातिनो योऽविश्लेषः कर्मजीवयोः । सर्वथा द्रव्यमोक्षः सोऽनन्तशर्मकरोमहान् ॥१८॥

अर्थ—अपने आत्मा को बश करनेवाले मुनियों के समस्त कर्मों के क्षय होने का कारण ऐसा जो अत्यन्त शुद्ध परिणाम होता है उसको समस्त पापों का नाश करने वाला भाव मोक्ष कहते हैं । केवली भगवान के जो कर्मों का सम्बन्ध आत्मा से सर्वथा भिन्न हो जाता है । उसको अनन्त सुख देनेवाला महान् द्रव्य मोक्ष कहते हैं ॥१७-१८॥

उभय मोक्ष का फल—

यथापादशिरोमं हि बद्धस्य बद्धबन्धनैः । मोचनाच्च परंशर्म तथा कृत्स्नविधिक्षयात् ॥१९॥
ततः ऊर्ध्वस्वभावेन व्रजेदात्मा शिवालयम् । कृत्स्नकर्मवपुर्नाशावगुणाष्टकमयोमहान् ॥२०॥

अर्थ—जिसप्रकार कोई मनुष्य अत्यन्त बद्ध बन्धनों से सिर से पैर तक बंधा हो और फिर उसको छोड़ दिया जाय तो छूटने से वह सुखी होता है उसी प्रकार कर्मों

से बंधा हुआ आत्मा समस्त कर्मों के नाश हो जाने से अनंत सुखी हो जाता है । तदन-
न्तर ऊर्ध्वस्वभाव होने के कारण यह आत्मा मोक्ष में जा विराजमान होता है । इसके
समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं और शरीर भी नष्ट हो जाता है इसलिये भी यह मोक्ष में
पहुंच जाता है । उस समय यह सम्यक्त्व आदि आठों गुणों से सुशोभित हो जाता है
और सर्वोत्कृष्ट हो जाता है ॥१६-२०॥

सिद्धों के सुख का वर्णन और उसका प्रभाव—

तत्रभुंक्तेनिराकारं सुखं काचामगोचरम् । अमृतं आश्चर्यं सिद्धः स्वात्मजं विषयातिगम् ॥२१॥
यत्सुखं सकलोत्कृष्टं कालजितयगोचरम् । विश्वदेवमनुष्याणां तिरश्चां भोगभागिनाम् ॥२२॥
तस्मादन्तातिगं लौक्यं निरौपमसुखोद्भवम् । एकस्मिन् समये भुंक्ते सिद्धोऽमूर्तोऽखिलार्थवित् ॥२३॥

अर्थ—वहाँपर सिद्ध भगवान् जिस सुख का अनुभव करते हैं वह सुख निराकार
है, वाणी के अगोचर है, अनंत है, नित्य है, केवल स्वात्मासे प्रगट होता है और विषयों
से सर्वथा रहित है । समस्त देव, समस्त मनुष्य, समस्त तिर्यंच और समस्त भोगभूमियों
का भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में होनेवाला जो सर्वोत्कृष्ट सुख है उससे
अनंतगुना अनुपम सुख समस्त पदार्थों को जानने वाले अमूर्त सिद्ध भगवान् एक समय
में अनुभव करते हैं ॥२१-२३॥

मोक्ष सुख प्राप्ति की प्रेरणा—

विज्ञायेति बुधाः शीघ्रं मोक्षं नित्यगुणाम्बुधिम् । साधयन्तु प्रयत्नेन तपोभिर्दीक्षयायमः ॥२४॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान् पुरुषों को तपश्चरण दीक्षा और यम आदि
धारण कर प्रयत्नपूर्वक सदा रहनेवाले अनुपम गुणों का समुद्र ऐसा यह मोक्ष अवश्य
सिद्ध कर लेना चाहिये ॥२४॥

सप्त तत्त्वों के अज्ञान की प्रेरणा—

इमानि सप्ततत्त्वानि भावितानि जिनाणसे । जर्नद्वं शुद्धये नित्यं अद्वेयानिदुग्धनिर्लेः ॥२५॥

अर्थ—इसप्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेव ने अपने आगममें ये सात तत्त्व निरूपण
किये हैं । सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको अपना सम्यग्दर्शन शुद्ध रखने के लिये सदा इनका अज्ञान
बनाये रखना चाहिये ॥२५॥

गुण, पाप का स्वरूप और उन प्रकृतियों के नाम—

गुणयोगक्रियाद्यं च पुण्यमुत्पद्यते नृणाम् । अगुणैः पापमत्यर्थं प्रत्यहं दुःखकारणम् ॥२६॥

सद्वैद्यसुरतिर्बन्धनरायुर्नाममुभानि च । उच्छेर्गोत्रमिमाज्जेमाद्विजस्वारिशवेव हि ॥२७॥

पुण्यप्रकृतयस्तीर्थपदाविमुखस्तान्तयः । पापप्रकृतयः शेषाविष्वक्तुःखनिबन्धनाः ॥२८॥

अर्थ—मनुष्यों को मन-वचन-कायकी शुभ क्रियाओं से पुण्य उत्पन्न होता है और अशुभ क्रियाओंसे प्रतिदिन दुःख देनेवाला अत्यन्त पाप उत्पन्न होता है । सात्ता वेद-नीध, वैवायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु, मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, पाँचों शरीर, तीनों अंगोपांग, समचतुरश्र संस्थान, बज्रवृषभनाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण रस गंध स्पर्श, मनुष्यगति प्रयोग्यान्पूर्वो देवगतिप्रयोग्यान्पूर्वो अमुक्तं परमात्, उच्छेर्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, अस, बाबर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति निर्माण, तीर्थंकर ऊंच गोत्र ये कर्मों की व्याप्ति प्रकृतियां शुभ कहलाती हैं तथा इन्हीं को पुण्य कहते हैं ये पुण्य प्रकृतियां तीर्थंकरादिक षडों के सुख देनेवाली हैं । इनके सिवाय जो कर्म प्रकृतियां हैं, ये सब पाप प्रकृतियां कहलाती हैं और समस्त दुःखों को देनेवाली हैं ॥२६-२८॥

पुण्य पाप सहित सात तत्त्व ही नौ पदार्थ है—

प्रागुक्तसप्ततत्त्वानिपुण्यपापयुतानि च । पदार्था नव कथ्यन्तेसम्यग्ज्ञानगोचराः ॥२९॥

अर्थ—पहले कहे हुए सातों तत्त्व पुण्य पाप के मिलाने से नौ पदार्थ कहलाते हैं । ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के गोचर हैं ॥२९॥

सम्यग्दर्शन के आठ अंगों के नाम व उनके पालन की प्रेरणा—

तेषुतरवपदार्थेषु परां श्रद्धां विधाय च । वृष्टेरंगान्यपीमान्यावेयान्यष्टीविशुद्धये ॥३०॥

निःशंकितं च निःकांक्षितांगं निर्विचिकित्सितम् । अमूढदृष्टिनामांगं ह्युपगूहनसंशकम् ॥३१॥

सुस्थितीकरणं वात्सल्यप्रभावनामकम् । एतान्यष्टीमहानि वृष्टेर्यायास्तद्व्युत्तः ॥३२॥

अर्थ—इन तत्त्व और पदार्थों में परम श्रद्धा धारण कर इस सम्यग्दर्शन को शुद्ध करने के लिये आगे कहे हुए सम्यग्दर्शन के आठों अंगों का पालन करना चाहिये । निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यग्दर्शन के महा अंग हैं । सम्यग्दृष्टियों को इनका पालन अवश्य करना चाहिये ॥३०-३२॥

निःशंकित अंग का स्वरूप—

उक्ततरवपदार्थेषु तीर्थशेखरसागमे । निर्विचिकित्सितं च गुरीषमदयापूर्णे जिनोदिते ॥३३॥

रत्नत्रयमये मोक्षमार्गे शंकाबुधोत्तमैः । त्यज्यते वा सदासत्याग्निःशंकितंग आदि भः ॥३४॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए समस्त तत्त्वों में, पदार्थों में, तीर्थंकर परमदेव में, उनके कहे हुए आगम में, निर्णय गुरु में भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुये दयामय धर्म में और रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग में विद्वान् पुरुषोंको सब तरह की शंकाओं का त्याग कर देना चाहिये । इसको सम्यग्दर्शन का पहला निःशंकित अंग कहते हैं ॥३३-३४॥

तीर्थंकरदेव के वचन को ही प्रमाणिक मानने की प्रेरणा—

कुलादिमेरुभूभागवच्चिद्वाक्यलेदहो । न जातुवेशकालेपि वाक्यं श्रीजिनभाषितम् ॥३५॥

इति मत्वात्रसर्वजनिर्वोषंगुणसागरम् । प्रमाणोक्त्यतीर्थेशं तद्वाक्येनिश्चयं कुरु ॥३६॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि कदाचित् देवयोग से कुलपर्वत वा मेरु-पर्वत का भूभाग चलायमान हो सकता है परन्तु किसी भी देश वा किसी भी काल में भगवान् जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ वचन चलायमान वा अन्यथा नहीं हो सकता । यहाँ समझकर और सर्वज्ञ निर्दोष तथा गुणोंके समुद्र ऐसे तीर्थंकर परमदेव को प्रमाण मान कर उनके वचनों का निश्चय करना चाहिये ॥३५-३६॥

सप्तभय व उनके त्याग की प्रेरणा—

इहलोकभयनाम परलोकभयंभुवि । अत्राणुशुद्धिमृत्पात्यवेदनाकस्मिकाह्वयाः ॥३७॥

इमे सप्तभयास्त्वाज्या भयकर्मभवाबुधैः । वृत्तिशुद्धयं विविस्थानुल्लंघ्यं भाविशुभाशुभम् ॥३८॥

अर्थ—इस संसार में सात भय हैं इस लोकका भय, परलोक का भय, अपनी अरक्षा का भय, मृत्यु का भय, वेदना वा रोग का भय, आकस्मिक भय और परकोटा आदि के न होने से सुरक्षित न रहने का भय ये सातों भय, भय नाम के कर्मसे उत्पन्न होते हैं इसलिये सम्यग्दर्शन को विशुद्ध रखने के लिये बुद्धिमानों को इन सातों भयोंका त्याग कर देना चाहिये । क्योंकि जो होनहार शुभ तथा अशुभ है उसको कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता ॥३७-३८॥

निःकाक्षित अंग का स्वरूप—

इह पुत्रकलत्रभ्रीराज्यभोगाविशर्मसु । समुत्तस्यर्गं चक्री न्राह्मिस्त्रादिपदेषु च ॥३९॥

कुदेवश्रुतगुर्वादी कुधर्मवारिनिजंये । धर्मायमूढभावेनतपोधर्मफलादिभिः ॥४०॥

या निराक्रियतेमिर्त्यबुराकांश्चाविरागिभिः । तन्नि.काक्षाह्वयं सारं ह्य'गं स्वमु'क्तिभूतिदम् ॥४१॥

अर्थ—बीतरागी पुरुष धर्म के लिये किये हुए तपश्चरणा आदि धर्मके फल से

अज्ञान रूप परिणामों से भी पुत्र स्त्री लक्ष्मी राज्य भोग आदि कल्याण करनेवाले इस लोक संबंधी पदार्थों की आकांक्षा नहीं करते तथा परलोक में होनेवाले स्वर्ग के सुख वा इन्द्र अर्हमिन्द्र चक्रवर्ती आदि के पदों की आकांक्षा भी नहीं करते । इसीप्रकार कुर्वेव कुशास्त्र कुगुरु और कुधर्म की भी इच्छा कभी नहीं करते और न शत्रुओं के जीतने की इच्छा करते हैं । इस प्रकार की दुराकांक्षा जो दूर करना है उसको स्वर्ग मोक्ष की विभूति देनेवाला सारभूत निःकांक्षित अंग कहते हैं ॥३६-४१॥

इन्द्रिय सुखादि की आकांक्षा के त्याग की प्रेरणा—

भंगुरं त्रिजगत्सर्वं भोगांगं बभूवकारणम् । कारागारं यपुर्मत्वा कांक्षा हेया सुखादिषु ॥४२॥

अर्थ—ये समस्त तीनों लोक क्षणभंगुर हैं भोगोपभोग के साधन सब नरक के कारण हैं और कालीन कारागार के समान हैं यहाँ सबभरकर सुखादिक की आकांक्षा सर्वथा दूर कर देनी चाहिये ॥४२॥

विचिकित्सा का स्वरूप व भेद—

द्रव्यभावद्विमेवान्यां विचिकित्सा द्विधा मता । आश्यामुनिवपुर्जातवितीयात्रक्षुधाविजा ॥४३॥

अर्थ—द्रव्य और भाव के भेद से विचिकित्सा के दो भेद हैं । पहली मुनियों के शरीर से उत्पन्न हुई द्रव्यविचिकित्सा है और दूसरी भूख प्यास से उत्पन्न होनेवाली भावविचिकित्सा है ॥४३॥

द्रव्य भाव विचिकित्सा का स्वरूप—

मुनीनां मलमूत्रादीन् वातकण्ठादिरुग्मजान् । पश्यतां याधूणा द्रव्यविचिकित्सात्र सा शुभा ॥४४॥

जनेत्रशासने घोराः क्षुत्क्षुधादिपरीषहाः । यदि सन्ति न चेदन्यत्समीचीनं किलास्ति लम् ॥४५॥

इत्यादि चिन्तनं यच्च कातरैः क्रियते हृदि । भावाख्याविचिकित्सा सा स्मृता मिथ्यात्वकारिणी ॥

अर्थ—मुनियों के मलमूत्र को देखकर अथवा वायु के रोग को वा उनके अन्य रोगों को देखकर जो घृणा करता है वह अशुभ द्रव्यविचिकित्सा कहलाती है । यदि जैन शासन में भूख प्यास की घोर परीषह न हों तो बाकी का समस्त जैन शासन अत्यंत समीचीन है इसप्रकार का चिंतन कातर लोग ही करते हैं और हसी को मिथ्यात्व बढ़ानेवाली भावविचिकित्सा कहते हैं ॥४४-४६॥

विचिकित्सा का त्याग ही निविचिकित्सा अंग है—

एषात्रिविधा चित्ते हृष्यते वा विवेकिभिः । तत्स्माच्चि विचिकित्सास्यसंगं विश्वसुखप्रदम् ॥४७॥

अर्थ—विवेकी पुरुष इन दोनों प्रकार की विचिकित्साओं का जो त्याग कर देते हैं उसको समस्त संसार को सुख देनेवाला निविचिकित्सा अंग कहते हैं ॥४७॥

मुनिराज के शरीर से घृणा करने का निषेध—

मुनीन्द्रसद्गुणान्सारां जगद्भूषाहस्तकरान् । विश्वासाधारणान् आत्मा तद्गात्रेत्यज भोघुणाम् ॥

अर्थ—मुनिराज में समस्त संसार में न होनेवाले अनेक असाधारण सद्गुण हैं वे सब गुण सारभूत हैं और जगत के समस्त भव्य जीवों का हित करनेवाले हैं । यही समझकर मुनिराज के शरीर को देखकर कभी घृणा नहीं करनी चाहिये ॥४८॥

अमूढ दृष्टि अंगका स्वरूप मूढ़ता त्याग का उपदेश—

बौद्धादिसमयेसर्ववेदस्मृत्यादिदुःश्रुते । हरहर्यादिदेवे च संप्रथेकुगुरोत्तले ॥४९॥

श्रेयोर्थं दक्षभावेन भक्तिरागाद्युपासनम् । यन्निराकियतेस्वार्थैर्मूढत्वं तद्वर्जितम् ॥५०॥

विवेकलोचनेनाप्ररोक्ष्यनिष्किलान्मतान् । सारासाराश्च धर्मादीन् पूढत्वं जहि सर्वथा ॥५१॥

अर्थ—चतुर पुरुष अपने आत्माका कल्याण करने के लिये बौद्ध आदि अन्य समस्त मतों में, वेद स्मृति आदि समस्त अन्य शास्त्रों में, हरि हर आदि अन्य देवों में और परिग्रह सहित समस्त कुगुरुओंमें न तो कभी भक्ति करते हैं और न कभी उपासना करते हैं तथा उनकी भक्ति और उपासना दूसरों से भी कभी नहीं कराते उसको श्रेष्ठ अमूढदृष्टि अंग कहते हैं । चतुर पुरुषों को विवेक रूपी नेत्रों से समस्त मतों की परीक्षा कर लेनी चाहिये उन सबका सार असार समझ लेना चाहिये धर्मका स्वरूप समझ लेना चाहिये और फिर अपनी मूढ़ता का त्याग कर देना चाहिये ॥४९-५१॥

उपगूहन अंग का स्वरूप और उसके पालने की प्रेरणा—

निर्दोषस्य निसर्गेण जिनेन्द्रशासनस्य च । चतुःसंघमुनीशानां बालाशक्त जनार्दनः ॥५२॥

आगतस्यावदोषस्याच्छादनं यद्विधीयते । दक्षैर्नानाविधोपायैरुपगूहमेव तत् ॥५३॥

निष्कलंकशरण्यं च महच्छ्रीजिनशासनम् । विविक्वागतसद्वोषं छादयन्तु बुधा द्रुतम् ॥५४॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ यह जिनशासन स्वभाव से ही निर्दोष है, इसलिये उसमें तथा चारों प्रकार के मुनियों के संघमें यदि किसी बालक वा असमर्थ मनुष्य के आश्रय से कोई दोष आ जाय तो चतुर पुरुषों को अनेक उपायों से उसका आच्छादन ही कर देना चाहिये । इसको उपगूहन अंग कहते हैं । यह भगवान् जिनेन्द्र-देवका महा जिन शासन निष्कलंक है और शरणभूत है, यही समझकर चतुर पुरुषोंको

शीघ्र ही उसमें आये हुए दोषोंको आच्छादन करते रहना चाहिये ॥५२-५४॥

स्थितिकरण अंगका स्वरूप और उसके पालन करने की प्रेरणा—

सम्यग्दर्शनधारित्रैश्चोद्योतपसोभुवि । परीषहोपसर्गाद्यं स्थलतां गृह्योगिनाम् ॥५५॥

सुस्थितिकरणं यच्च क्रियते स्वप्न्यादिषु । हितैषमंकरैर्वाक्यैः सुस्थितिकरणं हि तत् ॥५६॥

परिज्ञाय जगत्सारांस्तपोधर्मव्रतादिकान् । स्वमुक्तिसाधकास्तेषु स्थितिकरणमाचरेः ॥५७॥

अर्थ—यदि कोई श्रावक वा भुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य वा घोर तपश्चरण से अथवा परीषह वा उपसर्ग से चलायमान होते हों तो हित करने वाले धर्मरूप वचनों से उनको उनकी उसी क्रिया में स्थिर कर देना स्थितिकरण अंग कहलाता है । ये तप धर्म और व्रतादिक सब जगतमें सारभूत हैं और स्वर्गमोक्षके साधन हैं यही समझकर उनमें स्थितिकरण अवश्य करना चाहिये ॥५५-५७॥

वात्सल्य अंग का स्वरूप और उसके पालन करने की प्रेरणा—

चतुर्विधेषुसंघेषु नाकनिर्वाणगामिषु । धर्मप्रवर्तकेष्वनसद्यः प्रसूतधेनुवत् ॥५८॥

स्नेहंभक्त्यादिकं यच्च धर्मबुद्ध्या विधीयते । धार्मिकधर्मसिद्धयर्थं तद्वात्सल्यं जगद्वितम् ॥५९॥

चतुर्विधमहासंघं विश्वलोकोत्तमंपरम् । गुणैरन्तातिगं ज्ञात्वा तद्वात्सल्यं भजान्वहम् ॥६०॥

अर्थ—धर्मत्मा पुरुष अपने धर्मकी सिद्धि के लिये स्वर्गमोक्ष में जाने वाले चारों प्रकार के संघमें तथा धर्मकी प्रवृत्ति करने वालों में धर्म बुद्धि से जो अपने बच्चे में हाल की प्रसूता गाय के समान स्नेह करते हैं और भक्ति करते हैं उसको जगत का हित करनेवाला वात्सल्य अंग कहते हैं । यह चारों प्रकार का संघ समस्त लोक में उत्तम है और अनंत गुणोंसे सुशोभित होने के कारण सर्वोत्कृष्ट है । यही समझकर प्रतिदिन इस वात्सल्य अंग का पालन करना चाहिये ॥५८-६०॥

प्रभावना अंगका स्वरूप और उसके माहात्म्य प्रकट करने की प्रेरणा—

मूलोत्तरगुणैर्योगवृक्षमूलाविपूर्वकः । तपोभिर्बुध्करं ज्ञानविज्ञानभानुरश्मिभिः ॥६१॥

उच्छिद्यान्यमतस्त्वान्तविद्विषलोके प्रकाशकम् । धर्महिंसासनादीनां यत्साप्रभावना मता ॥६२॥

सत्यमृतं जगत्पूज्यं भव्यात्तं जितशासनम् । भवध्वं मोक्षवं वीक्ष्य वपस्वीकुर्वन्तु धीधमाः ॥६३॥

अर्थ—जिसप्रकार वृक्ष में जड़ होती है और फिर उसकी शाखाएँ डालियाँ आदि होती हैं उसीप्रकार मुनियों के मूलगुण और उत्तरगुण होते हैं । इन मूलगुणों को धारण करके तथा घोर तपश्चरण और ज्ञान विज्ञान रूपी सूर्यकी किरणों से अन्य मत

रूपी अंधकार को नाश कर विद्वान लोग इस लोकमें जो धर्मस्वरूप भगवान् अरहंतदेव के शासनको प्रकाशित करते हैं उसको प्रभावना अंग कहते हैं । वह जिनशासन यथार्थ है, जगत्पूज्य है, भव्य जीवों के द्वारा ग्रहण किया जाता है संसार को नाश करनेवाला है और मोक्षको देनेवाला है । यही समझकर बुद्धिमान लोगोंको इसका माहात्म्य प्रगट करना चाहिये ॥६१-६३॥

सम्यग्दर्शन शुद्धि के लिये अष्ट अंग की रक्षा करने की प्रेरणा—

इमान्यष्टांगसाराणि दर्शनस्यविशुद्धये । विशुद्धिर्वाभि यत्नेनरक्षणीयानि धीधनैः ॥६४॥

यथाग्राण्यांगहीनोशकसोहन्तुंरिपून् नृपः । तथाह्यंगविना सम्यग्दृष्टिः कर्मरिपून्धवचित् ॥६५॥

अर्थ—इसप्रकार सम्यग्दर्शनके निःशंकित आदि आठ अंग हैं । ये अंग सारभूत हैं और सम्यग्दर्शन को शुद्ध करनेवाले हैं । इसलिये बुद्धिमानों को अपना सम्यग्दर्शन शुद्ध करने के लिये यत्न पूर्वक इनकी रक्षा करनी चाहिये । जिसप्रकार राज्य के अंगों से रहित हुआ राजा अपने शत्रुओं को नहीं जीत सकता, उसी प्रकार निःशंकित आदि अंगों के बिना सम्यग्दृष्टि पुरुष भी कर्मरूपी शत्रुओं को कभी नहीं जीत सकता । ॥६४-६५॥

२५ मल दोषों के नाम व उन्हें त्यागने की प्रेरणा—

इतिमत्त्वामुदादायाष्टांगानि दर्शनस्य च । पञ्चविंशतिस्त्रेमेदोषास्त्याज्या मलप्रदाः ॥६६॥

त्रिषामौढ्यमदाग्रष्टौ षडनायतनानि च । शोषाः शंकादधोऽन्तेदूढोषाः पञ्चविंशतिः ॥६७॥

अर्थ—यही समझकर सम्यग्दर्शनके इन आठों अंगोंको प्रसन्नता पूर्वक धारण करना चाहिये तथा मलिनता उत्पन्न करनेवाले पचचोसों दोषों का त्याग कर देना चाहिये । तीन मूढ़ताएँ आठ मल छह अनायतन और आठ शंकादिक दोष ये सम्यग्दर्शन के पचसीस दोष कहे जाते हैं ॥६६-६७॥

देव मूढ़ता, लोक मूढ़ता, समय मूढ़ता का स्वरूप—

चंडिका क्षेत्रपालेषु ब्रह्मकृष्णेश्वरादिषु । उपासनं कुदेवेषुयद्द्विमौढ्यमेवतत् ॥६८॥

मिथ्यामतानुसारेणलोकाचारोद्यकरकः । आचार्यते शठैर्लोकं लोकमूढत्वमेवतत् ॥६९॥

जीहृषीमांसकादीनांसमयेऽव्यवसंसु । मूढभावेन यो रागस्तन्मौढ्यंसमयाभिधम् ॥७०॥

अर्थ—चंडी क्षेत्रपाल या ब्रह्मा विष्णु महेश आदि कुदेवों की उपासना करना देवमूढ़ता कहलाती है । मिथ्यामत के अनुसार जो लोकाचार है वह पाप उत्पन्न करने वाला है उसको जो अज्ञानी लोक आचरण करते हैं उसको लोकमूढ़ता कहते हैं । अपनी

अज्ञानतासे बौद्ध मीमांसक आदि के शास्त्रोंमें या अन्य मतमें जो राग करना है उसको समय मूढ़ता कहते हैं ॥६८-७०॥

मूढ़ताओं के त्याग की प्रेरणा—

एतन्मूढत्रयं निष्ठां मूढलोकप्रतारकम् । धर्मध्वंसकरं त्याज्यं श्वभ्रदं दूरतो दुर्धः ॥७१॥

अर्थ—ये तीनों प्रकार की मूढ़ताएँ अत्यन्त निष्ठा हैं अज्ञानी लोगों को ठगने वाली हैं धर्मको नाश करने वाली हैं और नरकादिक के दुःख देनेवाली हैं । इसलिये बुद्धिमानों को दूर से ही इनका त्याग कर देना चाहिये ॥७१॥

आठ मदों के नाम—

महाजातिकुलैश्वर्यरूपज्ञानतपो बलाः । शिल्पित्वं दुर्मवाप्तेष्टीहंसव्यागुणान्वितैः ॥७२॥

अर्थ—उत्तम जाति, कुल, ऐश्वर्य, रूप, ज्ञान, तप, बल और शिल्पित्व इन आठों का मग करना दुर्मद है गुणी पुरुषों को इनका अवश्य त्याग कर देना चाहिये । ॥७२॥

उत्तम जाति कुल के मद के त्याग की प्रेरणा हेतु पूर्वक—

भिन्नभिन्नाविजातीनां स्त्रीणांच तिर्यग्योनिषु । भ्रमद्भिर्न्ययः पीतमण्ड्यं चोरविकं हि तत् ॥७३॥

तिर्यग्यमनुष्यनारीणां तु निक्षयोगजशोकतः । अनन्तानां यदश्र्वं ब्रू तत्समुद्रांभ शोषिकम् ॥७४॥
इति स्वमातृपितृश्च नोचोच्छ्वांस्तानि गान्भवे । शात्वा वक्ष्ये सर्वस्य ज्यः सज्जातिकुलयोस्त्रिधा ॥

अर्थ—तिर्यच योनि में परिभ्रमण करने वाली भिन्न-भिन्न जातियों की स्त्रियों का जो दूध पिया गया है उसका प्रमाण भी समस्त समुद्रों के जल से भी बहुत अधिक है । तिर्यच और मनुष्यों की स्त्रियों की अनन्त पर्यायों में अपने पुत्रके वियोग से उत्पन्न हुए शोक के कारण जो आंसू निकले हैं उनका प्रमाण भी समुद्रों के जलसे बहुत अधिक है । इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को अपने माता-पिता के कुलको ऊंच नीचसे रहित समझ कर मन-वचन-कायसे उत्तम जाति और ऊत्तम कुल का अभिमान छोड़ देना चाहिये । ॥७३-७५॥

ऐश्वर्य और रूप मदके त्याग की प्रेरणा हेतु पूर्वक—

क्षणविध्वंसि विज्ञाये श्वर्यं च क्षयादिसूभृताम् । अरिचोराविभिः साद्धैर्ह्योत्रैश्च वयं जीमदः ॥७६॥

रोगभ्लेशविषास्त्रार्थः स्वरूपं क्षणभंगुरम् । मत्वा न सत्कृतो गवो जातु कार्यो विचक्षणैः ॥७७॥

अर्थ—इस संसार में क्षणवर्ती आदि महाराजाओं का ऐश्वर्य भी क्षणभंगुर

है इसके सिवाय इस धनको चोर चुरा ले जाते हैं शत्रु ले जाते हैं । यही समझकर ऐश्वर्य से उत्पन्न हुए मदका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये । यह सुन्दर रूप रोग बलेश विष और शास्त्राविक के द्वारा क्षणभर में नष्ट हो जाता है । यही समझकर बुद्धिमानों को कभी भी अपने रूपका मद नहीं करना चाहिये ॥७६-७७॥

ज्ञान, तप, बल, कलाओं के मद त्याग की प्रेरणा—

अंगपूर्वाम्बुधेः संख्यां विविक्षाश्रीजिनायमे । किञ्चिच्छ्रुतं परिश्रय नादेयस्तन्मदः भवचित् ॥७८॥

उग्रोग्यादिमहाघोरतपोविधीन्सुयोगिनाम् । प्राक्तनानां मुदा ज्ञात्वा हंतव्यस्तत्कृतो मदः ॥७९॥

जिनश्चक्रिमहर्षीणामप्रमाणं महाबलम् । विदित्वा स्वबलस्यात्र न कार्यो बलिभिर्मदः ॥८०॥

शिल्पिस्थं विविधं ज्ञात्वा विज्ञान लेखनादिजम् । जातुशिल्पमदो नात्र विधेयो ज्ञानशालिभिः ॥८१॥

अर्थ — जैन शास्त्रों से ग्यारह अंग और चौबह पूर्वों की संख्या समझकर थोड़े से श्रुतज्ञान को पाकर उसका मद कभी नहीं करना चाहिये । पहले के मुनि उग्र-उग्र तप महा घोर तपश्चरणा का मद भी प्रसन्नता पूर्वक छोड़ देना चाहिये । भगवान तीर्थंकर परमदेव का बल भी बहुत अधिक है, चक्रवर्ती का बल भी बहुत है और महर्षियों का बल भी बहुत है, यही समझकर बलवान् पुरुषों को अपने अधिक बलका मद कभी नहीं करना चाहिये । इस संसार में विज्ञान और लेखन आदि की कलाएँ भी अनेक प्रकार की हैं उन सबको जानकर ज्ञानी पुरुषों को उन कलाओं का मद भी कभी नहीं करना चाहिये ॥७८-८१॥

मद करने से हानि और कण्ठगत प्राण रहने पर भी मद नहीं करने का उपदेश—

एते प्राण्ठीमदा निष्ठा निष्ठाकर्मकराभुवि । दुग्धमध्वंसकाहेयाः शत्रवोऽप्येव पंडितैः ॥८२॥

मदाष्टकमिवं योत्र विधत्ते मूढधोयतिः । तेन हृत्वा वृणादीन् सः नीचयोनीश्चिरं भवेत् ॥८३॥

विज्ञायेति न कर्तव्यो मदो जातु गुणान्वितैः । सज्जाया विषुसर्षुसत्सु प्राणाख्येऽप्यहो ॥८४॥

अर्थ—ये आठों मद अत्यन्त निष्ठ हैं निष्ठकर्म करनेवाले हैं और सम्यग्दर्शन रूपी धर्मको नाश करनेवाले शत्रु हैं । इसलिये विद्वान् लोगों को इन सबका त्याग कर देना चाहिये । जो अज्ञानी पुरुष इन आठों मदोंकी धारण करते हैं वे सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयको नष्ट कर चिरकाल तक नीच योनियों में परिभ्रमण करते रहते हैं । यही समझकर गुणी पुरुषों को कण्ठगत प्राण होने पर भी जाति आदि का मद कभी नहीं करना चाहिये ॥८२-८४॥

६ अनायतन और उनके त्याग की प्रेरणा—

मिथ्यासम्यक्त्वकुज्ञानकुचारित्राणिबुधियः । तद्वन्तश्च एतानि निद्यानायतनानिषद् ॥८५॥

श्वभ्रसंयमहेतूनिविश्वपापाकराणि च । त्याज्यानिदृष्टिद्योती नीमान्यनायतनानिषद् ॥८६॥

अर्थ— मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र और इन तीनों को धारण करनेवाले अज्ञानी ये छह निन्द्य अनायतन गिने जाते हैं । ये छहों अनायतन नरक के कारण हैं समस्त पापों को करनेवाले हैं और सम्यग्दर्शनका घात करनेवाले हैं । इसलिये बुद्धिमानों को इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥८५-८६॥

शंकादि दोष के त्याग की प्रेरणा—

दृष्टेः प्रागुक्तनिःशंकादिभ्यः शंकादयोऽशुभाः । विपरीता बुधजेया दृष्टौदोषा मलप्रदाः ॥८७॥

अर्थ— पहले सम्यग्दर्शन के जो निःशंकित आदि आठ अंग यत्नलाये हैं उनसे विपरीत शंका कांक्षा आदि आठ दोष कहलाते हैं ये दोष भी सम्यग्दर्शन में मलिनता उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिये बुद्धिमानों को इनका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये । ॥८७८८॥

२५ दोषों के त्यागने की पुनः प्रेरणा—

एतेवोषा त्रिशुद्ध्यापरिहर्तव्यादृग्गन्तकाः । पञ्चविंशतिरात्मज्ञैर्दृग्बिशुद्धयं कुमार्गदाः ॥८९॥

अर्थ—ये पच्चीसों दोष सम्यग्दर्शन को नाश करनेवाले हैं और कुमार्गको देने वाले हैं इसलिये आत्मा के स्वरूप को जाननेवाले विद्वानों को अपना सम्यग्दर्शन विशुद्ध रखने के लिये मन-वचन-कायसे इनका त्याग कर देना चाहिये ॥८९॥

मलिन सम्यग्दर्शन मुक्ति का कारण नहीं—

मलिने दर्पणे यद्वत्प्रतिबिम्बं न दृश्यते । सशेषेदर्शनेतद्वन्मुक्तिस्त्रीवदनाम्बुजम् ॥९०॥

मत्वेति दर्शनं जातुस्वप्नेपि सप्तसन्निधिम् । निर्मलं मुक्तिसोपानं न नेतव्यं शिवादिभिः ॥९०॥

अर्थ—जिसप्रकार मलिन दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता उसी प्रकार मलिन वा सदोष सम्यग्दर्शनमें मुक्तिस्त्री का मुखकमल दिखाई नहीं देता । यही समझकर मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषों को मोक्षका कारणभूत अपना निर्मल सम्यग्दर्शन स्वप्न में भी कभी मलिन नहीं करना चाहिये ॥९०-९०॥

निर्मल सम्यग्दर्शन की महिमा—

धन्यास्तएवसंसारे ब्रुवः पूज्याः सुरैः स्तुताः । दृष्टिरतनं न ये नीतिं कदाचिन्मलसन्निधौ ॥९१॥

तस्यैव सफलं जन्म मयेहं कृतिनोभूवि । शशांकनिर्मलं येन स्वीकृतं दर्शनं महत् ॥६२॥

अर्थ—जिन लोगों ने अपना सम्यग्दर्शन रूपी रत्न कभी भी मलिन नहीं किया है वे ही मनुष्य इस संसार में धन्य हैं विद्वान लोग उनकी ही पूजा करते हैं और देव लोग उन्हीं की स्तुति करते हैं । जिस पुरुष ने चन्द्रमा के समान निर्मल सम्यग्दर्शन स्वीकार कर लिया है उसी महा पुण्यवान् का जन्म में सफल मानता हूँ ॥६१-६२॥

सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट को मोक्ष प्राप्ति असम्भव है—

यतश्चारित्रतो भ्रष्टाः केचित्सम्यक्त्वशास्त्रिनः । सिद्धयन्ति तपसा लोके स्वीकृत्य चरणं पुनः ॥
ये भ्रष्टा दर्शनात्ते च भ्रष्टा एव जगत्त्रये । चारित्र्येसत्यपि ज्ञानेमोक्षस्तेषां न जातुचित् ॥६४॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि कितने ही सम्यग्दृष्टि ऐसे हैं जो चारित्र्य से भ्रष्ट हो जाते हैं परन्तु वे फिर भी चारित्र्य को धारण कर तपश्चरण के द्वारा सिद्ध हो जाते हैं परन्तु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हो जाते हैं, वे चारित्र्य के होनेपर भी तथा ज्ञान के होने पर भी तीनों लोकों में कहीं भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते ॥६३-६४॥

सम्यग्दर्शन की महिमा दृष्टान्त पूर्वक—

यस्मान्च ज्ञानचारित्र्ये मिथ्यात्वविषयवृधिते । भवतो न बवच्चिकाले परमेपि शिवास्तये ॥६५॥
भूतो विनात्रसम्यक्त्वं ज्ञानमज्ञानमेव भोः । दुश्चारित्र्यं च चारित्र्यं कुतपः सकलं तपः ॥६६॥
अन्यद्वाबुष्करं कायक्लेशमात्मपनाविकम् । कथ्यते निष्फलं पुंसां तुषलं हन वज्जिनेः ॥६७॥
यथा बीजाद्वृक्षे जातु क्षेत्रे न प्रवरंफलम् । दर्शनेन विना तद्वन्न चारित्र्ये शिवापि च ॥६८॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि मिथ्यात्वरूपी विषयसे वृधित हुए ज्ञानको और चारित्र्य कितने ही उत्कृष्ट क्यों न हों फिर भी उनसे मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती । इसलिये कहना चाहिये कि बिना सम्यग्दर्शन के ज्ञान अज्ञान है चारित्र्य मिथ्या चारित्र्य है और समस्त तप कुतप है । इनके सिवाय जो अत्यन्त कठिन आत्मपनादिक योग है वे भी सब बिना सम्यग्दर्शन के केवल शरीर को क्लेश पहुंचाने वाले हैं और चावल की भूसी को कूटने के समान सब निष्फल हैं ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहा है । जिसप्रकार बिना बीज के किसी भी खेत में कभी भी उसम फल उत्पन्न नहीं हो सकते उसी प्रकार बिना सम्यग्दर्शन के केवल चारित्र्य से कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥६५-६८॥

सम्यग्दर्शन का फल—

सम्यग्दर्शनसम्यग्भोगात्तत्त्वमपि भूतले । भाविभुक्तिवधूकात्तं देवा देवं वदन्त्यहो ॥६९॥

सम्यग्दृष्टमकंठस्थो निर्धनोपि जगत्त्रये । उच्यते पुण्यवान् सद्भिः स्तुत्यः पूज्योमहाधनी ॥१६००॥
 यतोत्रैकभवेत्सीर्यं दुःखं वा कुरुतेधनम् । इहामुत्र च सम्यक्त्वं केवलं सुखगूजितम् ॥१६०१॥
 सम्यक्त्वेन समं वासो नरकेपिहरं सताम् । सम्यक्त्वेन विना नैव निवासो राक्षतेष्वपि ॥१६०२॥
 यतः श्वभ्रातृनिर्गत्य क्षिपित्वा प्राक्तना शुभम् । सम्यग्दर्शनमहात्म्यासीर्थनाथो भवेत्सुखीः ॥१६०३॥
 सम्यक्त्वेन विना देवा आर्तघ्नानं विधाय भोः । दिवश्च्युत्वा प्रजायन्ते स्यादरेण्वत्तत्कलात् ॥४॥
 सम्यग्दृष्टिर्गृहस्थोपि कुर्वन् आरंभं जसा । पूजनीयो भवेत्लोके नृनां किंपतिभिः स्तुतः ॥५॥
 दृष्टिहीनो भवेत्साधुः कुर्वन् अपि तपो महत् । दृष्टिशुद्धः सुरैर्मर्त्ये निबन्धनोऽप्यपदेपदे ॥६॥
 इन्द्राहमिन्द्रतीर्थेश लोकांतिकमहात्मनाम् । बलादीनां पदान्यत्र महान्ति च सुरासये ॥७॥
 यानि तानि न लभ्यन्ते कुर्वद्भिः परमं तपः । मुनिभिश्च विना दृष्टिं संयमाद्वर्जितैः परैः ॥८॥

अर्थ—यदि चांडाल भी सम्यग्दर्शन से सुशोभित हो तो गणधरादिक देव उसको होनहार मुक्ति रूपी स्त्री का स्वामी और इसीलिये देव कहते हैं । जिसके हृदय में सम्यग्दर्शन रूपी रत्न शोभायमान है वह यदि निर्धन हो तो भी सज्जन पुरुष उसको तीनों लोकों में पुण्यवान् कहते हैं उसको पूज्य समझते हैं उसकी स्तुति करते हैं और उसको महाधनी समझते हैं । इसका भी कारण यह है कि धन इसी एक भव में सुख वा दुःख देता है परंतु सम्यग्दर्शन इस लोक और परलोक दोनों लोकों में सर्वोत्कृष्ट सुख देता है । सज्जन पुरुषों को इस सम्यग्दर्शन के साथ-साथ नरक में रहना भी अच्छा है परंतु सम्यग्दर्शन के बिना स्वर्ग में निवास करना भी सुशोभित नहीं होता । इसका भी कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि पुरुष नरक में से निकल कर तथा उस सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से पहले के समस्त अशुभ कर्मों को नाशकर महा बुद्धिमान तीर्थंकर हो सकता है । परंतु बिना सम्यग्दर्शन देव आर्तघ्नान धारण कर लेते हैं और फिर मिथ्यात्व के माहात्म्य से स्वर्गसे आकर स्थावरों में उत्पन्न होता है । सम्यग्दृष्टि पुरुष गृहस्थ होकर भी तथा आरंभ करता हुआ भी इन्द्र नरेन्द्र आदि सबके द्वारा पूजनीय होता है और सब उसकी स्तुति करते हैं । परंतु साधु होने पर भी जो सम्यग्दर्शनसे रहित है वह घोर तपश्चरणा करता हुआ भी शुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण करनेवाले देव और मनुष्यों से पद-पद पर निबन्धीय माना जाता है । इन्द्र अहमिन्द्र तीर्थंकर लौकांतिक बलभद्र आदि के जो जो सर्वोत्कृष्ट पद हैं वे बिना सम्यग्दर्शन के परम तपश्चरण करते हुए भी तथा समस्त संयमादिकों को धारण करने पर भी मुनियों को भी कभी प्राप्त नहीं होते ।
 ॥१५६६-१६०८॥

सम्यग्दृष्टि के अशुभ संयोगों की प्राप्ति का अभाव—

नारकत्वं च तिर्यक्त्वं कुगतिर्निन्दितकुलम् । स्त्रीत्वं च विकलांगत्वं क्लीबत्वं च कुजन्मताम् ॥१६॥

अल्पायुस्त्वं वरिद्रत्वं कातरत्वं ममायताम् अर्थकामदूरत्वं शुभभावाविधिच्युतिम् ॥१७॥

रोगित्वं बहुपापित्वं दुःखित्वं मूलतादिकाम् । अवतिनोपि दृष्ट्या कथा न लभन्तेऽत्र जातुचित् ॥१८॥

अर्थ—जो पुरुष सम्यग्दर्शन से सुशोभित हैं वे चाहे अवती ही क्यों न हों तथापि वे नरक गति में, तिर्यक्गति में, कुगति में, निन्दित कुल में, स्त्री पर्याय में, नपुंसक पर्याय में उत्पन्न नहीं होते । वे विकल वा अंगभंग शरीर को भी धारण नहीं करते, उनका कुजन्म भी नहीं होता, वे अल्पायु भी नहीं पाते, वरिद्री भी नहीं होते, कातर भी नहीं होते, अमाननीय भी नहीं होते, धर्म अर्थ काम पुरुषार्थ से दूर भी नहीं रहते, शुभभावों से रहित भी नहीं होते, वे रोगी भी नहीं होते, अधिक पापी भी नहीं होते, दुःखी भी नहीं होते और मूल भी नहीं होते । सम्यग्दृष्टि पुरुष इन अशुभ संयोगों को कभी प्राप्त नहीं होते ॥१६-१८॥

सम्यग्दृष्टि के ज्योतिषी आदि निच देवों में उत्पन्न होने का निषेध—

ज्योतिर्भावनभोगेषु दिवि कित्विषिकेषु च । प्रकीर्णकानियोधेषु हीनेषु बाहनेषु च ॥१९॥

अग्नेषु निष्ठभोगेषु कुसूयादौ दूगन्विताः । उत्पन्नान्ते कवाचिन्न वताविरहिता अपि ॥२०॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि पुरुष व्रत रहित हानेपर भी ज्योतिषी देवों में, भवनवासी देवों में, व्यंतर देवों में, वैमानिक देवों के कित्विषिक देवों में, प्रकीर्णक देवों में, आभि-योग्य देवों में, बाहनाधिक बनने वाले हीन देवों में उत्पन्न नहीं होते, जहांपर निवनीय भोगोपभोग की सामग्री मिलती है वहां कहीं भी उत्पन्न नहीं होते तथा कुभोग मूत्रि में भी उत्पन्न नहीं होते । सम्यग्दृष्टि इन स्थानों में कभी उत्पन्न नहीं होते ॥१९-२०॥

सम्यग्दृष्टि को पूज्य पद की प्राप्ति—

किन्तु स्वर्गोपजायन्ते दूगादधादृक् शुभो वयात् । इन्द्राः पूज्याः प्रतीन्द्राश्च लोकपाला महद्विकाः ॥

लोकान्तिकाश्च वेवाचर्याः सामानिका वयोमराः । विषयभोगोपभोगाद्या जिनधर्मप्रभावकाः ॥२१॥

मनुजत्वेऽपि तीर्थेशावताः चक्रेश्वरा वयः । कामदेवा गणेशाश्च पूजिता नृसुरासुरैः ॥२२॥

ओजस्तेजःप्रतापाद्याः महाविद्यायशोकिता । जिनभक्ताश्च जायन्ते चतुर्भार्यसाधकाः ॥२३॥

किमत्र बहुनोक्ते न सम्यग्दृष्टिसतां क्वचित् । सुदेवतृगती मुक्त्वान्यागतिविद्यते न भोः ॥२४॥

अर्थ—किन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुष सम्यग्दर्शन के प्रभाव से स्वर्गों में पूज्य इन्द्र होते हैं अहमिन्द्र होते हैं प्रतीन्द्र होते हैं बड़ी आदिको धारण करनेवाले लोकपाल होते

हैं, देवों के द्वारा पूज्य ऐसे लौकांतिक देव होते हैं अथवा समस्त भोगोपभोगोंकी सामग्री से सुशोभित और जैन धर्मकी प्रभावना करनेवाले सामानिक जाति के देव होते हैं । यदि वे मनुष्य होते हैं तो तीर्थंकर बलभद्र चक्रवर्ती, कामदेव और गणधर होते हैं जो मनुष्य देव और विद्याधर आदि सबके द्वारा पूज्य होते हैं । सम्यग्दृष्टि पुरुष बड़े ओजस्वी, तेजस्वी और प्रतापी होते हैं, अनेक महा विद्याएं तथा महा यश से सुशोभित होते हैं, भगवान् जिनेन्द्रदेव के भक्त होते हैं और चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाले होते हैं । बहुत कहने से क्या लाभ है थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि सम्यग्दृष्टि सज्जन पुरुषों को श्रेष्ठ देवगति और श्रेष्ठ मनुष्यगतिको छोड़कर अन्य कोई गति नहीं होती ॥१४-१८॥

सम्यग्दर्शन की उपसंहारादि विवरण—

इत्यादि प्रवरं ज्ञात्वा तन्माहात्म्यं सुखार्थिनः । सर्वयत्नेन कुर्वीध्वद्ग्विशुद्धिं जगत्सु ताम् ॥१६॥

निखिलगुणनिधानमुक्तिसोपानमाद्यं दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानम् ।

कुंगतिगृहकपाटं धर्ममूलं सुखार्थिं भजतपरम यशनाद्दर्शनं पुण्यभाजः ॥२०॥

अर्थ—इसप्रकार इस सम्यग्दर्शन का सर्वोत्कृष्ट माहात्म्य समझ कर सुख चाहने वाले पुरुषों को अपने समस्त प्रयत्नों के साथ-साथ तीनों लोकों में स्तुति करने योग्य ऐसी इस सम्यग्दर्शनकी विशुद्धताकी धारण करना चाहिये । यह सम्यग्दर्शन समस्त गुणों का निधान है, मोक्षकी प्रथम सीढ़ी है, पापरूपी वृक्षको काटने के लिये कुठार के समान है, पुण्य बढ़ाने के लिये तीर्थ है, सब में प्रधान है, कुंगति रूपी घरको बन्द करने के लिये कपाट के समान है, धर्मका मूल है और सुखका समुद्र है । इसलिये पुण्यवान् पुरुषों को परम यत्न से इस सम्यग्दर्शन को शुद्धता पूर्वक धारण करना चाहिये । ॥१६-२०॥

शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्ति की भावना—

विश्वाम्यर्जमनन्तशर्मजनकस्वर्गोक्षमार्गपरं विश्वानर्थहरंपरार्थशिवदंपापारिनाशंकरम् ।

सद्धर्माभूतसागरनिरुपमं श्रीदर्शनं मेहृदि सिष्ठत्वं त्रिशिवाप्तयेऽप्यनुदिनं संकीर्तनं क्षायिकम् ॥२१॥

तीर्थेशास्तीर्थभूताजिनधरवृषभाः क्षायिकैर्दक्षिवाह्यै-

रन्तातीर्तगुणोर्ध्वस्त्रिभुवनमहिताभूषिताः संस्तुताश्च ।

सिद्धाविश्वाम्रमूस्था हृतभवबपुषो ज्ञानदेहा अमूर्ताः

सर्वश्रीसाधवो मे त्रिपदगुणयुताद्ग्विशुद्धिं प्रवक्षुः ॥२२॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाव्ये महाग्रन्थे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते पञ्चाचार व्यावर्णने
दर्शनाचारवर्णनो नामपंचमोधिकारः ।

अर्थ—यह सम्यग्दर्शन तीनों लोकों में पूज्य है, अनंत सुख देनेवाला है, स्वर्ग मोक्षका सर्वोत्कृष्ट मार्ग है, समस्त अनर्थों को दूर करनेवाला है, मोक्षरूप परम पुरुषार्थ को देनेवाला है, पापरूप शत्रुको नाश करनेवाला है, सद्धर्मरूपी अमृतका समुद्र है, और समस्त उपमाओं से रहित है । ऐसा यह ऊपर कहा हुआ क्षायिक सम्यग्दर्शन मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन मेरे हृदयमें विराजमान रहो । भगवान् तीर्थंकर परमवैव संसार भर में तीर्थभूत हैं, जिनवरों में भी श्रेष्ठ हैं, तथा क्षायिक सम्यग्दर्शन आदि चैतन्यस्वरूप अनंत गुणों को धारण करने के कारण तीनों लोकों में पूज्य हैं, तीनों लोकों में सुशोभित हैं और तीनों लोक उनकी स्तुति करता है । इसी प्रकार भगवान् सिद्ध परमेष्ठी समस्त लोकके ऊपर विराजमान हैं संसार तथा शरीर से रहित हैं ज्ञान ही उनका शरीर है और वे अमूर्त हैं । तथा आचार्य उवाच्याय साधुपरमेष्ठी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य इन तीनों गुणों से सदा सुशोभित रहते हैं । इसप्रकार के ये पाँचों परमेष्ठी मुझे शुद्ध सम्यग्दर्शन प्रदान करें ॥१६२१-१६२२॥

इसप्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके महाग्रन्थमें पञ्चाचार के वर्णन में दर्शनाचार को वर्णन करनेवाला यह पाँचवां अधिकार समाप्त हुआ ।

षष्ठोधिकारः

मंगलाचरण और ज्ञानाचार के कथन की प्रतिज्ञा—

ज्ञानाचारफलप्राप्तानहंस्सिद्धत्रियोगिनः । तत्त्वावश्येष्टथा ज्ञानाचारं विश्वाग्रवीपकम् ॥१६२३॥

अर्थ—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांच परमेष्ठी ज्ञानाचारके फलको प्राप्त हुए हैं इसलिये इनको नमस्कार कर समस्त लोक-अलोक को दिला-लाने वाले आठ प्रकार के ज्ञानाचार का स्वरूप अब मैं कहता हूं ॥१६२३॥

ज्ञानाचार का स्वरूप और उसके भेद—

ये नात्माबुध्यसे तत्त्वं मनो येन निबुध्यसे । पापाद्विमुच्यतेयेनतज्ज्ञानं ज्ञानिनोविदुः ॥१६२४॥

येनरागादयो दोषाःप्रणश्यन्तिद्रुतसत्ताम् । संवेगाद्याःप्रवर्द्धंसेगुणा ज्ञानंतद्वृजितम् ॥२५॥

येनासविषयेभ्योत्र विरज्यशिववर्मनि । ज्ञानोप्रवर्ततेनित्यं तज्ज्ञानं जिनशासने ॥२६॥

कालाख्यो विनयाचारः उपधानसमाह्वयः । बहुमानाभिदोनिह्नुवाचारो व्यंजनाह्वयः ॥२७॥

अर्थाचाराभिधानश्च ततस्तनुभयाभिधः । ज्ञानाचारस्यविज्ञेया षष्टीभेदा इमे बुधेः ॥२८॥

अर्थ—जिस ज्ञानसे आत्माका स्वरूप जान जाय, जिस ज्ञानसे मन दशमें हो जाय और जिस ज्ञानसे समस्त पाप छूट जाय उसीको ज्ञानी पुरुष ज्ञान कहते हैं । जिस ज्ञानसे सज्जनोंके रागादिक दोष सब नष्ट हो जाय और संवेगादिक गुण वृद्धि को प्राप्त हो जाय उसको उत्तम ज्ञान कहते हैं । जिस ज्ञानसे ज्ञानी पुरुष इन्द्रियोंसे विरक्त होकर मोक्षमार्ग में लग जाता है जिनशासनमें उसी को ज्ञान कहते हैं । इस ज्ञानाचारके आठ भेद हैं—कालाचार, विनयाचार, उपधानाचार, बहुमानाचार, अनिह्नुवाचार, व्यंजनाचार, अर्थाचार और उभयाचार । इसप्रकार विद्वान् लोग ज्ञानाचार के आठ भेद बतलाते हैं ॥१६२४-२८॥

स्वाध्याय करने के अयोग्य काल—

पूर्वाह्णस्यापराह्णस्यपूर्वपश्चिमयामयोः । रजन्यामध्यवेलायाः पूर्वपश्चिमभागयोः ॥२९॥

तथामध्याह्नकालस्य कालंघटिकाप्रमम् । प्रत्येकंविद्धि सिद्धांतपाठाद्ययोग्यमेव च ॥३०॥

अर्थ—प्रातःकालके एक पहर पहले, सायंकाल के एक पहर बाद, आधी रात के एक पहर पहले तथा एक पहर बाद और मध्याह्न काल की दो घड़ी ये सब काल

सिद्धांत शास्त्र के पढ़ने के अयोग्य हैं ॥२६-३०॥

निर्दोष काल में स्वाध्याय करने की प्रेरणा—

एतान् सदोषकालांश्च त्यक्त्वास्वाध्यायऊर्जितः । आह्य आगमपाठाद्याः कार्याः कालेषुभेदरे ॥

अर्थ—इन सदोष कालों को छोड़कर श्रेष्ठ स्वाध्याय करना चाहिये । तथा आगम का पाठ आदि भी शुभ काल में ही करना चाहिये ॥३१॥

स्वाध्याय प्रारम्भ और समाप्ति के काल का वर्णन आषाढ़ादि माह की अपेक्षा—

पूर्वाह्ने यदासप्तपादच्छाया भवेत्तदा । स्वाध्यायो हि गृहीतध्वोनिर्विकल्पेनचेतसा ॥३२॥

आषाढे द्विपदच्छायापुष्यमासे चतुष्पदा । यदावतिष्ठते शेषा निष्ठापनीय एव सः ॥३३॥

तयोर्मासद्वयोर्मध्ये कालः स्वाध्यायमोचने । प्रत्येकं शेषमासानां वृद्धिहानियुतः स्फुटम् ॥३४॥

पादयोः षष्ठभागोत्र भवेत् जात्वेति योगिभिः । कर्तव्यो मुक्तये काले स्वाध्यायस्तत्स्वपूरितः ॥

अपराह्णे त्रिमध्याह्नाद्विमुख्यघटिका द्वयम् । स्वाध्यायोऽपराह्णोद्योप्राह्णोर्वर्षः प्रयत्नतः ॥३६॥

विनश्य पश्चिमे भागे सप्तपादप्रमाणा । यदावतिष्ठते छाया तदा मोक्तव्य एव सः ॥३७॥

पूर्वरात्रेः परित्यज्य किलाष्टघटिकाद्वयम् । गृह्णन्तु यतः पूर्वरात्रिस्वाध्यायसंज्ञता ॥३८॥

त्यक्त्वा मध्याह्नरात्रेश्च काले द्विघटिकामितम् । स्वाध्यायोऽत्र विधेयः पश्चिमरात्रिसमाह्वयः ॥३९॥

आद्यमध्याह्नसालानां प्रत्येकं विनरात्रयोः । त्यक्त्वा द्विघटिकाकालं स्वाध्यायो योग्यमंज्ञता ॥४०॥

पूर्वपश्चिमभागोत्थं शेषकालेषु सर्वदा । बुधा गृह्णन्तु मुचन्तु सिद्धं स्वाध्यायमूर्जितम् ॥४१॥

अर्थ—पूर्वाह्न के समय जब सात पैर छाया हो जाय तब मुनियों को अपने सब विकल्प छोड़कर स्वाध्याय प्रारंभ करना चाहिये । आषाढ़ महीने में जब छाया दो पद रह जाय तथा पौष मास में जब छाया चार पैर रह जाय तब मुनियोंको स्वाध्याय समाप्त कर देना चाहिये । यह आषाढ़ और पौष महीने में स्वाध्याय समाप्त करने का काल बतलाया । बाकी के महीनों में छाया की हानि वृद्धि के अनुसार स्वाध्याय की समाप्ति करनी चाहिये । प्रत्येक महीने में दो पैर का छठवां भाग घटाना बढ़ाना चाहिये अर्थात् श्रावण में दो पैर और एक पैर का तीसरा भाग, भादों में दो पैर और एक पैर का दो भाग, आश्विन में तीन पैर, कार्तिक में तीन पैर एक पैर का तीसरा भाग, मगसिर में तीन पैर एक पैर का दो भाग तथा पौष में चार पैर छाया रह जाय तब स्वाध्याय समाप्त करना चाहिये । मोक्ष प्राप्त करने के लिये इसप्रकार योग्य समय में तस्वों से भरा हुआ स्वाध्याय करना चाहिये । (माघ में तीन पैर एक पैर का दो भाग, फाल्गुन में तीन पैर एक पैर का तीसरा भाग, चैत में तीन पैर, वैशाख में दो पैर

और एक पैर का दो तिहाई भाग, जेठ में दो पैर एक पैरका तीसरा भाग और आषाढ़ में दो पैर छाया रहनेपर स्वाध्याय की समाप्ति का काल समझना चाहिये ।) मध्याह्न काल की दो घड़ी छोड़ चतुर पुरुषोंको प्रयत्न पूर्वक अपराह्न समय का स्वाध्याय स्वीकार करना चाहिये । दिन के पश्चिम भाग में जब छाया सात पैर बाकी रह जाय तब स्वाध्याय समाप्त कर देना चाहिये । पूर्व रात्रि की दो घड़ी छोड़कर मुनियों को पूर्व रात्रि का स्वाध्याय स्वीकार करना चाहिये । तथा मध्य रात्रि की दो घड़ी छोड़ कर पिछली रात्रि का स्वाध्याय प्रारंभ करना चाहिये । दिन के आदि मध्य अंत में तथा रात्रि के आदि मध्य अंतमें दो-दो घड़ी छोड़कर स्वाध्याय करना चाहिये । दिनरात का पूर्व भाग और अंतिम भाग स्वाध्याय के अयोग्य काल है उसकी छोड़कर बाकी के समय में बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये स्वाध्याय का प्रारंभ तथा समाप्ति करनी चाहिये ॥३२-४१॥

उल्कापातादि समय में सिद्धांत शास्त्र के स्वाध्याय का निषेध—

अग्निवर्ण हि बिम्बाहउल्कापातो नभोगणान् । विद्युद्विन्द्रधनुःसंध्यापीतलोहितवर्णभा ॥४२॥

दुर्दिनोभ्रमसंयुक्तो ग्रहणं चन्द्रसूययोः । कलहादिर्धराकंपो धूमाकारात्तमंवरम् ॥४३॥

मेघगर्जनमित्थाद्यादोषाविघ्नाविहेतवः । त्याज्याः सिद्धांतसूत्रे स्वाध्यायस्यपाठकादिभिः ॥४४॥

अर्थ—जिस समय अग्निवर्ण का विशाओं का बाह हो, आकाश से उल्कापात हो रहा हो, बिजली घमक रही हो, इन्द्रधनुष पड़ रहा हो, लाल पीले वर्णों की संध्या हो, भ्रमपूर्ण दुर्दिन हो, सूर्य वा चन्द्रमा का ग्रहण हो, युद्ध का समय हो, भूकम्प हो रहा हो, आकाश में धुंके आकार का कुहरा फैला हो वा बाबल गरज रहा हो ये सब दोष सिद्धांत सूत्रों के पढ़ने में विघ्न के कारण हैं । इसलिये पाठकों को इन समयों में स्वाध्याय नहीं करना चाहिये ॥४२-४४॥

काल शुद्धि पूर्वक स्वाध्याय करने का काल—

कालशुद्धिविधायेमां ये पठन्तिजिनागमम् । निर्जरा विपुला तेषां कर्मणामाश्रयोन्यथा ॥४५॥

अर्थ—जो मुनि इस काल शुद्धि को ध्यान में रखते हुए जिनागम का पठन-पाठन करते हैं उनके कर्मों की बहुत सी निर्जरा होती है । यदि वे अकाल में ही स्वाध्याय करते हैं तो उनके कर्मों का आश्रय ही होता है ॥४५॥

द्रव्य शुद्धि का स्वरूप, उसे रखने की प्रेरणा—

रुधिरं च वृणादीन मांसपुष्विडावयः । इत्याद्यन्याशुद्धिद्वयादेहे स्वस्यपरस्य वा ॥४६॥

वर्जनीयाः प्रयत्नेनपाठके द्रव्यशुद्धये । स्वाध्यायस्यसमारम्भेद्रव्यशुद्धिरियं मता ॥४७॥

अर्थ—स्वाध्याय करने वालों को अपनी द्रव्य शुद्धि बनाये रखने के लिये अपने वा दूसरे के शरीर पर रुधिर, घाव, मांस पीव घिठ्ठा आदि लगा हो वा ऐसे ही अन्य अशुद्ध द्रव्य लगे हों तो उनका प्रयत्न पूर्वक त्याग कर देना चाहिये तब स्वाध्याय का प्रारम्भ करना चाहिये । इसको द्रव्य शुद्धि कहते हैं ॥४६-४७॥

क्षेत्र शुद्धि का स्वरूप, क्षेत्र शुद्धि पूर्वक स्वाध्याय की प्रेरणा—

चतुर्दिक्षु शुभंक्षेत्रं चतुःशतकरप्रमम् । रक्ताक्तिरहितं पूतं संशोध्यक्रियते बुधैः ॥४८॥

स्वाध्यायो योगपूर्वाणां ज्ञानायाज्ञानहानये । कर्मणां निवृत्त्या क्षेत्रशुद्धिमंताच्च सा ॥४९॥

अर्थ—बुद्धिमान पुरुषों को अपने ज्ञानकी वृद्धि के लिये अज्ञान को दूर करने के लिये और कर्मों की निर्जरा करने के लिये अंग पूर्वो का स्वाध्याय करना चाहिये और उस समय चारों ओर का सौ-सौ हाथ क्षेत्र शुद्ध रखना चाहिये । सौ-सौ हाथ दूर तक के क्षेत्र में रक्त, मांस, हड्डी आदि अपवित्र पदार्थ नहीं रहने चाहिये । इसको क्षेत्र शुद्धि कहते हैं ॥४८-४९॥

भाव शुद्धि का स्वरूप और इस पूर्वक स्वाध्याय करने की प्रेरणा—

क्रोधमानादिकान्सर्वान् क्लेशेष्व्याशोकदुर्मदान् । हास्यारति भयादीश्च त्यक्त्वा प्रसन्नमानसम् ॥

कृत्वायोगगृह्यतेवक्षः स्वाध्यायोजिनसूत्रजः । त्रिशुद्धधासास्यविज्ञेयाभावशुद्धिविशुद्धिवा ॥५१॥

अर्थ—चतुर मुनि क्रोध, मान, माया, लोभ, क्लेश, ईर्ष्या, शोक, दुर्मद, हास्य, रति, अरति, भय आदि सबका त्यागकर तथा मनको प्रसन्न कर मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक जिनसूत्रों का स्वाध्याय करते हैं । इसको विशुद्धता उत्पन्न करनेवाली भाव शुद्धि कहते हैं ॥५०-५१॥

द्रव्यादिक शुद्धि पूर्वक स्वाध्याय का फल—

इतिसत्कालसद्द्रव्यक्षेत्रभावाभित्तांपराम् । कृत्वा चतुर्विधां शुद्धिस्वाध्याये ये पठन्त्यहो ॥५२॥

वा पाठयन्ति सिद्धांततेशामाविर्भवेत्स्वयम् । ऋद्धधाविभिर्गुणैः सर्वैःसहाजितं श्रुतंपरम् ॥५३॥

अर्थ—जो मुनि श्रेष्ठ कालशुद्धि, श्रेष्ठ द्रव्यशुद्धि, श्रेष्ठ क्षेत्रशुद्धि और श्रेष्ठ भावशुद्धि को धारण कर अर्थात् चारों प्रकार की शुद्धि को धारण कर स्वाध्याय में सिद्धांतशास्त्रों का पठन-पाठन करते हैं उनको समस्त ऋद्धि आदि श्रेष्ठ गुणों के साथ-साथ समस्त श्रुतज्ञान प्राप्त हो जाता है ॥५२-५३॥

स्वाध्याय काल में पढ़ने योग्य शास्त्र—

अंगपूर्वाण्यस्तुनिप्राभृतावीनि यानि च । भाषितानि गणाधीनैःप्रत्येकबुद्धियोगिभिः ॥५४॥

श्रुतकेवललिभिर्विद्विः वशपूर्वधरंभुं वि । अप्रस्खलितसंवेगस्तानि सर्वाणि योगिनाम् ॥५५॥

उक्तस्वाध्यायवेलायां युज्यन्ते चार्थिकात्मनाम् । पठितुं चोपवेष्टुं च न स्वाध्यायं विना क्वचित् ॥

अर्थ—अंग, पूर्व, वस्तु तथा जो प्राभृत गणधरों के कहे हुए हैं प्रत्येक बुद्ध योगियों के कहे हुए हैं, श्रुत केवलियों के कहे हुए हैं, वशपूर्वधारी विद्वानों के कहे हुए हैं अथवा जिनका संवेग कभी प्रस्खलित नहीं हुआ ऐसे योगियों के द्वारा कहे हुए हैं वे सब मुनियों को ऊपर लिखे हुए स्वाध्याय के समय में ही पढ़ने चाहिये तथा अन्य आर्य मुनियों को उनका उपदेश देना चाहिये । स्वाध्याय के बिना उनको अन्य किसी प्रकार से नहीं पढ़ना चाहिये ॥५४-५६॥

अन्य काल में पढ़ने योग्य शास्त्र—

चतुराराधनाग्रंथा मृत्युसाधनसूचकाः । पंचसंग्रहग्रंथाश्चप्रत्याख्यानस्तथोद्भवाः ॥५७॥

षडावयवकसंदुग्धा महाधर्म कथाश्विलाः । शलाकापुरुषाणांचानुप्रेक्षादिगुणैर्मुक्ताः ॥५८॥

इत्याद्या ये परे ग्रंथाश्चरित्रादय एव ते । सर्वथापठितुं योग्याः सस्वाध्यायविनासतम् ॥५९॥

अर्थ—मृत्यु के साधनों को सूचित करनेवाले चारों आराधनाओंके ग्रंथ, पंच-संग्रह (गोमट्टसार आदि) प्रत्याख्यान स्तुति के ग्रंथ, छहों आवयवकों को कहने वाले ग्रंथ, महाधर्म की कथाओं को कहने वाले ग्रंथ, शलाका पुरुषों के ग्रंथ, अनुप्रेक्षादिक गुणों से परिपूर्ण ग्रंथ तथा चरित्र आदि जितने अन्य ग्रंथ हैं उनको सज्जन पुरुष स्वाध्याय के बिना अन्य काल में भी पढ़ सकते हैं ॥५७-५९॥

अंग और पूर्वादिक शास्त्र का प्रारम्भ उपवासादि पूर्वक करना चाहिये—

अंगानां सर्वपूर्वाणां वस्तूनां प्राभृतात्मनाम् । प्रारंभेनसमाप्तीचकरोद्गमुत्तमा गुरोः ॥६०॥

उपवासी विधातव्यो व्युत्सर्गः पंच वा बुधैः । अकालादिजदोषस्यविमुद्धयर्थंशिवाप्तये ॥६१॥

अर्थ—ग्यारह अंग चौदह पूर्व वस्तु और प्राभृत शास्त्रों का स्वाध्याय प्रारंभ करने के समय तथा समाप्ति के समय गुरु की आज्ञासे एक-एक उपवास करना चाहिये अथवा बुद्धिमानोंको पांच कायोत्सर्ग करना चाहिये । ये उपवास वा कायोत्सर्ग अकाल से उत्पन्न हुए दोषों को शुद्ध करने के लिये तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिये करने चाहिये ॥६०-६१॥

विनयाचार का स्वरूप —

सुपर्वकाङ्क्षपर्यंकवीरासनादिकान् गृह्णन् । विधायहृदयेघृत्वाप्रतिलेख्य करद्वयम् ॥६२॥
नत्वा सिद्धांतसूत्राणि पठयन्ते यत्र योगिभिः । सूत्रार्थयोगशुद्ध्या स ज्ञानस्यविनयोमतः ॥६३॥

अर्थ—भुनि लोग जो पर्यंकासन अर्द्धपर्यंकासन बीरासन आदि में से कोई एक आसन लगा कर, हाथों को शुद्ध कर, सिद्धांत सूत्रों को ही नमस्कार कर तथा उन्हीं को हृदय में विराजमान मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक जो सूत्र वा सूत्रके अर्थ को पढ़ते हैं उसको ज्ञानका विनय वा विनयाचार कहते हैं ॥६२-६३॥

उपधान ज्ञानाचार का स्वरूप—

आचाम्लनिषिकृतार्थः पक्वाश्नादिरसोज्झनैः । विधायनियमं ग्रन्थसमाप्त्यस्तं श्रुतोत्सर्कः ॥६४॥
सिद्धास्तं पठयते यत्राग्रहेण स्वार्थसिद्धये । आचार उपधानाख्यः स ज्ञानस्यस्मृतोमहान् ॥६५॥

अर्थ—शास्त्रज्ञानकी उत्कृष्ट शुद्धता रखनेवाले भुनि ग्रन्थकी समाप्ति तक केवल भात मिला माड़ खाने का निषिकृति (विकार रहित पोष्टिक रहित) आहार ग्रहण करने का वा पक्वाश्च रसको त्याग करने का जो नियम लेते हैं और ऐसा नियम लेकर अपनी आत्माका कल्याण करने के लिये आग्रह पूर्वक जो सिद्धांतोंका पठन-पाठन करते हैं उसको ज्ञानका उपधान नामका आचार कहते हैं ॥६४-६५॥

बहुमान नामक ज्ञानाचार का स्वरूप—

अंगपूर्वश्रुतादीनां सूत्रार्थं च यथास्थितम् । तथैवाचोच्चरन् वाण्या यो ष्येवाप्रतिपादयेत् ॥६६॥
कर्मक्षयाय कुर्यान्नसूरिश्रुतादियोगिनाम् । कश्चिद्विपरिभवं गर्वाद्धुमानं लभेत सः ॥६७॥

अर्थ—अंग पूर्व और अन्य शास्त्रों सूत्र अर्थ जैसा है उसीप्रकार जो वाणी से उच्चारण करते हैं उसीप्रकार दूसरों के लिये प्रतिपादन करते हैं । यह सब पठन-पाठन केवल कर्मों के क्षय के लिये करते हैं तथा अभिमान से आचार्य शास्त्र वा किसी योगी का कभी तिरस्कार नहीं करते उसको बहुमान नामका ज्ञानाचार कहते हैं ॥६६-६७॥

अनिह्ववाचार का स्वरूप—

सामान्यादि यतिभ्योपि पठित्वा श्रुतमूजितम् । महर्षिभ्योऽप्यधीतं मानिभिर्यत्निगद्यते ॥६८॥
अधीत्य प्रवरं शास्त्रं पार्ष्वे निर्गन्धयोगिनाम् । कुल्लिगिनिकटेऽधीतमुच्यते य उज्ज्वात्मभिः ॥६९॥
नाधीतं न रक्षतं त्रिंशो नेत्यादि व्यूयते च यत् । पठितस्यापिशस्त्रस्य सर्वं निह्वनं हि तत् ॥७०॥
इमं निह्वनदोषं च त्यक्त्वाचार्यादियोगिनाम् । गुरुपाठकशास्त्राणांश्रुतस्य पठितस्य वा ॥७१॥

गुणप्रकाशनं लोकेह्यंतिश्च द्रूयतेतराम् । मुमुक्षुभिः स सर्वोप्यनिह्नुवाचार उच्यते ॥७२॥

अर्थ—कोई अभिमानी पुरुष किसी उत्तम शास्त्र को किसी सामान्य मुनि से पढ़कर यह कहे कि मैंने तो यह शास्त्र अमुक महा ऋषिसे पढ़ा है । अथवा किसी उत्तम शास्त्र को किसी निर्ग्रन्थ मुनि के समीप पढ़कर यह कहे कि मैंने तो यह शास्त्र अमुक मिथ्या साधु से, कुलिंगी से पढ़ा है । अथवा पढ़े हुये शास्त्रके लिये भी यह कहे कि मैंने यह शास्त्र नहीं पढ़ा है अथवा नहीं सुना है अथवा मैं इसको नहीं जानता इसप्रकार जो मूर्ख लोग कहते हैं उसको निह्नुव कहते हैं । इस निह्नुव दोषका त्याग कर आचार्य आदि योगियों की, गुरु की, उपाध्याय की, शास्त्रों की और सुनने वा पढ़नेकी प्रसिद्धि करना लोक में आचार्य गुरु उपाध्याय आदि के गुण प्रकाशित करना मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनियों के अनिह्नुवाचार कहलाता है ॥६८-७२॥

व्यंजनाचार, अर्थाचार और उभयाचार का स्वरूप—

अक्षरस्वरमात्राद्यर्थच्छुद्धं पठ्यतेभूतम् । दर्शगुरुपदेशेन व्यंजनाचार एव सः ॥७३॥

अर्थेनात्रविशुद्धं यत्सदर्थलंकृतंभूतम् । पठ्यते पाठ्यतेऽन्येषांसौर्याचारः श्रुतस्य वै ॥७४॥

अर्थक्षरविशुद्धं यदधीयतेजिनागमम् । विद्विस्तदुभयाचारो ज्ञानस्य कथ्यतेमहान् ॥७५॥

अर्थ—चतुर पुरुष गुरु के उपदेशके अनुसार जो अक्षर स्वर मात्राओं का शुद्ध उच्चारण करते हैं उसको व्यंजनाचार कहते हैं । अर्थ से अत्यंत सुशोभित शास्त्रों का शुद्ध अर्थ पढ़ना और शुद्ध ही अर्थ पढ़ाना ज्ञान का अर्थाचार कहलाता है । जो जिनागमको शब्द अर्थ दोनों से विशुद्ध अध्ययन करता है उसको विद्वान् लोग ज्ञानका महान् उभयाचार कहते हैं ॥७३-७५॥

विनयादि पूर्वक स्वाध्याय का फल—

एभिरष्टविधाचारैरधीतं यज्जिनागमम् । तविहैवास्मिन् ज्ञानं जनयेद्वाशु केवलम् ॥७६॥

विनयाद्यधीतं यत्प्रमादाद्विस्मृतंभूतम् । तथामुत्र च तदज्ञानं सूते च केवलोदयम् ॥७७॥

ज्ञानमष्टविधाचारेः पठितंयस्मिन्स्फुटम् । अनस्तकर्महान्यस्यात् कर्मबंधाय चाग्नया ॥७८॥

विज्ञायेति विदो ज्ञानं कालेनविनयादिभिः । पठन्तु योगशुद्ध्या वा पाठ्यन्तुसतांचित्ते ॥७९॥

अर्थ—इसप्रकार आठ प्रकार के ज्ञानाचारों के साथ-साथ जो जिनागम का अध्ययन किया जाता है उससे इसी लोकमें पूर्ण ज्ञान प्रगट हो जाता है तथा उसे शीघ्र ही केवलज्ञान प्रगट हो जाता है । जो जिनागम विनयादिक के साथ अध्ययन किया गया है तथा प्रमाद के कारण वह सूता जा चुका है तो भी उसके प्रभाव से परलोकमें

उसको केवलज्ञान प्रगट हो जाता है । इन आठ प्रकार के आचारों के साथ पढ़ा हुआ ज्ञान मुनियोंके अनंत कर्मोंको नाश कर देता है यदि वही ज्ञान आठों प्रकार के आचारों के साथ न पढ़ा हो तो फिर उससे कर्मों का बंध ही होता है । यही समझकर विद्वान् पुरुषों को योग्य काल में विनयादिक के साथ मन-वचन-काय को शुद्ध कर ज्ञान का अभ्यास करना चाहिये तथा आत्म ज्ञान प्राप्त करने के लिये इसी प्रकार दूसरों को पढ़ाना चाहिये ॥७६-७८॥

ज्ञानाचार की महिमा—

ज्ञानेन निर्मला कीर्ति भ्रमत्येव जगत्त्रये । ज्ञानेन त्रिजगन्मन्यं ज्ञानेनातिविवेकता ॥८०॥
 ज्ञानेन केवलज्ञानं ज्ञानेन पूज्यतापदम् । ज्ञानेन त्रिजगत्लक्ष्मी जितशक्तादिसत्पदम् ॥८१॥
 ज्ञानेनैव प्रभुत्वं च ज्ञानेन सकला कला । जायते ज्ञानिनां नूनं विशामादिगुणोत्करः ॥८२॥
 ज्ञानेन ज्ञानिनां सर्वशमाद्याः परमाः गुणाः । आश्रयस्ति क्षयं यास्ति दोषाः क्रोधमदावयः ॥८३॥
 स ज्ञानभूषणलावटो मनोदम्तो भ्रमन् सदा । दुर्धरो विषयारण्ये क्लेशमायाति योगिनाम् ॥८४॥
 ज्ञानपाशेन बद्धाः स्युः पञ्चेन्द्रियकुतस्कराः । क्षमा न विप्रियां कर्तुं धर्मरत्नापहारिणः ॥८५॥
 भवनान्निमहाज्वाला जगद्वाहविधायनी । सिक्ता ज्ञानाम्बुना नूनं पुंसां शान्त्यतिरक्षणम् ॥८६॥
 ज्ञानेन जायते विश्वं हस्तरेखेव निस्तुषम् । लोकालोकं सुतत्त्वं च परतत्त्वं किलाखिलम् ॥८७॥
 हेयोपादेयसर्वाणि हिताहिताश्च बोधता । कृत्स्नधर्मविचारादीन् ज्ञानी वेत्ति न चापरः ॥८८॥
 विश्वशोचसमर्थः स्यात्तरितुं च भवाम्बुधिम् । परांस्तारयितुं ज्ञानी ज्ञानोपेतेन नापरः ॥८९॥
 वीतरागस्त्रिगुप्तात्मान्तर्मुहूर्तेन कर्मयत् । क्षिपेव ज्ञानी न तच्छाश्वतपता भवकोटिभिः ॥९०॥
 यतोऽसौ कुक्कुरं घोरं तपः कुर्वन्नपि क्वचित् । आश्रयाद्यपरिज्ञानाम्बुबधते कर्मणा न हि ॥९१॥
 हेयावेयं विचारं च तत्त्वातत्त्वं शुभाशुभम् । सारासारास्त्रयावोनि ह्यज्ञानी जातु वेत्ति न ॥९२॥

अर्थ— इस ज्ञानसे मनुष्य की निर्मल कीर्ति तीनों लोकों में फैल जाती है इस ज्ञानसे ही तीनों लोकों में मान्यता बढ़ जाती है और ज्ञानसे ही उत्कृष्ट विवेक शीलता आ जाती है । ज्ञानसे ही केवलज्ञान प्रगट हो जाता है, ज्ञानसे ही पूज्यताके पद प्राप्त होते हैं, ज्ञानसे ही तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त होती है और ज्ञानसे ही तीर्थंकर और इन्द्र आदि के श्रेष्ठ पद प्राप्त होते हैं । ज्ञानसे ही प्रभुत्व प्राप्त होता है, ज्ञानसे ही समस्त कलाएं प्राप्त होती हैं तथा ज्ञानी पुरुषों के ही विज्ञान आदि गुणोंके समूह प्रगट होते हैं । इस ज्ञानसे ही ज्ञानी पुरुषों को उपशम आदि समस्त परम गुण अपने आप आ जाते हैं तथा ज्ञानसे ही क्रोध मद आदिक दोष सब नष्ट हो जाते हैं । अत्यंत दुर्धर ऐसा यह मन रूपी हाथी विषयरूपी बनमें सदा परिभ्रमण किया करता है यदि उसको

- ज्ञानरूपी सांकल से बांध लिया जाय तो फिर वह उन योगियों के वश में अवश्य हो जाता है । धर्मरूपी रत्नको अपहरण करनेवाले ये पंचेन्द्रियरूपी तुष्ट खोर जब ज्ञान के पाश में (जाल में) बंध जाते हैं तब फिर ये किसी प्रकार का विकार करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं । यह कामदेव रूपी महा ज्वाला संसार भरमें बाहु उत्पन्न करनेवाली है यदि इसको ज्ञानरूपी जलसे बुझा दी जाय तो फिर वह मनुष्योंकी भवनज्वाला उसी समय शांत हो जाती है । इस ज्ञानके ही द्वारा यह तीनों लोक हाथकी रेखा के समान स्पष्ट दिखाई पड़ता है तथा ज्ञानसे ही लोक, अलोक अपने तत्त्व और समस्त दूसरों के तत्त्व जाने जाते हैं । हेयोपादेय रूप समस्त तत्त्वों को, हित-अहित को और समस्त धर्म के विचारों को जानी पुरुष ही अपने ज्ञानसे जानता है, दूसरा कोई नहीं जान सकता ।
- समस्त तत्त्वों को जाननेवाला सर्वज्ञ ही संसाररूपी समुद्र से पार होने के लिये समर्थ हो सकता है तथा जानी पुरुष अपने ज्ञानरूपी जहाज के द्वारा अन्य पुरुषों को भी संसार समुद्र से पार कर सकता है । जानी पुरुषों के सिवाय अन्य कोई भी संसार से पार नहीं कर सकता । तीनों गुप्तियों को पालन करनेवाला धीतराज जानी अंतर्मुहूर्त में जितने कर्मों को नाश कर सकता है उतने कर्मों को अज्ञानी पुरुष करोड़ों भव के तपश्चरण से भी नहीं कर सकता । इसका भी कारण यह है कि अज्ञानी पुरुष घोर दुष्कर तपश्चरण करता हुआ भी आस्रवादि के स्वरूप को न जानने के कारण कभी कर्मों से मुक्त नहीं हो सकता । अज्ञानी पुरुष हेय उपादेय को, विचार अविचार को, तत्त्व अतत्त्व को, शुभ अशुभ को, सार असार को और आस्रवादि को कभी नहीं जान सकता ॥६०-६२॥

ज्ञानाभ्यास की प्रेरणा—

मत्वेति कृत्स्नयत्नेनप्रत्यहं श्रीजिनागमम् । अधीष्वं मुक्तयेदक्षाविश्वविज्ञानहेतवे ॥६३॥

ज्ञानाभ्यासं विनाजातु न नेतव्या हितार्थिभिः । एका कालकलालोके प्रमादेनशिवाप्तये ॥६४॥

अर्थ—यही समझकर चतुर पुरुषों को पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन पूर्ण प्रयत्न के साथ श्री जिनेन्द्रदेव के कहे हुए आगम का अभ्यास करते रहना चाहिये । अपने आत्मा का हित करने वालों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस संसार में ज्ञान के अभ्यास के बिना प्रमाद से भी कभी समय की एक घड़ी भी कभी नहीं खोनी चाहिये ॥६३-६४॥

श्रुतज्ञान की महिमा—

प्रखिलगुणसमुग्रं चित्तमातंगसिंहं विषयसफरं जालं मुक्तिमार्गकदीपम् ।

सकलसुखनिधानं ज्ञानविज्ञानमूलं श्रुतनिखिलमदोषं धीषणाः संपठन्तु ॥६५॥

ज्ञानाचारमिमं सम्यगाख्याय ज्ञानशालिनाम् । त्रयोवशधिर्षं वक्ष्ये चारित्राचारसूजितम् ॥६६॥

अर्थ—यह श्रुतज्ञान समस्त गुणों का समुद्र है, मनरूपी हाथी को वश करने के लिये सिंह के समान है, विषयरूपी मछलियों के लिये जाल है, मोक्षमार्गको दिखलाने वाला दीपक है, समस्त सुखों का निधान है और ज्ञान विज्ञान का मूल है, इसलिये बुद्धिमानों को ऐसे इस समस्त श्रुतज्ञान का पठन-पाठन निर्वोष रीति से करते रहना चाहिये । इसप्रकार ज्ञानियों के ज्ञानाचार का निरूपण अच्छी तरह किया । अब आगे तेरह प्रकार के उत्कृष्ट चारित्राचार का वर्णन करते हैं ॥६५-६६॥

चारित्राचार के कथन की प्रतिज्ञा—

महाव्रतानि पञ्चैव तथा समितयः शुभाः । पञ्चत्रिगुप्तयोभेदाश्चा रित्रस्यत्रयोदश ॥६७॥

अर्थ—पांच महाव्रत, पांच शुभ समिति और तीन गुप्ति ये तेरह चारित्र के भेद हैं ॥६७॥

चारित्राचार के भेद और महाव्रतों का स्वरूप—

सर्वस्मात्प्राणिघाताच्चमृषावाधाच्चसर्वथा । अवसादानतो नित्यं संधुनाद्विपरिग्रहात् ॥६८॥

सामस्त्येन निवृत्तिर्या त्रिशुद्ध्यात्रकृताविभिः । महान्ति तानि कथ्यन्ते महाव्रतानि पञ्च वै ॥६९॥

अमीषां लक्षणं पूर्वं प्रोक्तं मूलगुणोऽधुना । सप्रपञ्चं न वक्ष्यामि प्रपञ्चविस्तारभोक्तितः ॥७०॥

अर्थ—मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक कृत कारित अनुमोदना से पूर्ण रूपसे समस्त हिंसा का त्याग कर देना, सर्वथा असत्य भाषण का त्याग कर देना, सर्वथा चोरी का त्याग कर देना, सदा के लिये अन्नह्य का संधुन सेवन का त्याग कर देना और समस्त परिग्रहों का त्याग कर देना महाव्रत कहलाता है । ये पांचों व्रत सर्वोत्कृष्ट हैं इसलिये इनको महाव्रत कहते हैं । इन सबका लक्षण विस्तार के साथ पहले मूलगुणों के वर्णन में कह चुके हैं अतएव ग्रन्थ के विस्तार के भय से यहाँ नहीं कहते हैं । ॥६८-७०॥

रात्रि भोजन त्याग और अष्ट प्रवचन मातृका पालन करने की प्रेरणा—

महाव्रतत्रिशुद्धयर्थं त्याज्यं रात्री च भोजनम् । सेव्याः प्रवचनाख्याष्टमातरो यतिभिः सदा ॥

अर्थ—इन महाव्रतों की विशुद्धि के लिये रात्रि भोजन का त्याग कर देना चाहिये तथा मुनियों को आठ प्रवचन मातृका का पालन करना चाहिये । (तीन गुप्ति और पांच समितियों का पालन करना अष्ट प्रवचन मातृका कहलाती है) ॥१७०१॥

रात्रि चर्या के दोष—

रात्रिचर्यादिनेनैव सर्वव्रतपरिक्षयः । शीलभंगोपवादाश्च जायते यमिनां द्रुतम् ॥१७०२॥

रात्रिभिक्षाप्रविष्टानां चौरश्चारक्षकादिभिः । नाशः स्यान्महतीशंकासर्वत्र च व्रतादिषु ॥१७०३॥

अर्थ—मुनियों को रात्रि में चर्या करने से समस्त व्रतों का नाश हो जाता है, शील का भंग हो जाता है और सर्वत्र अपवाद वा निन्दा फैल जाती है । भिक्षाके लिये रात्रि में जाने से चोर डाकू आदि के द्वारा नाश होने का डर रहता है तथा व्रतादिकों में सर्वत्र महा शंका बनी रहती है ॥१७०२-१७०३॥

अयोग्य काल में आहार की वाञ्छा का निषेध—

विविधेति गते योग्यकाले जातु न भोजनम् । चिन्तनीयं हृदादक्षे षष्ठाशुभ्रतसिद्धये ॥१७०४॥

अर्थ—यही समझकर चतुर मुनियों को छूठे रात्रिभोजन त्याग व्रत की रक्षा करने के लिये हृदयसे भी कभी अयोग्य कालमें आहार की वाञ्छा नहीं करनी चाहिये । ॥१७०४॥

समिति के भेद—

ईर्याभाषणान्वाननिक्षेपस्तमाह्वया । उत्सर्गस्यात्रपञ्चेमाः शुभाः समितयोमताः ॥५॥

आसीत्सम्यक्पुराह्यातं लक्षणं विस्तरेण च । इतो ध्रुवे न शिष्याणां प्रेयगीरवजाङ्गयात् ॥६॥

अर्थ—ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति और उत्सर्ग समिति ये पांच शुभ समिति कहलाती हैं । शिष्यों के लिये विस्तारके साथ इनका वर्णन पहले अच्छी तरह कह चुके हैं । इसलिये अब ग्रन्थ के विस्तार के भय से यहां नहीं कहते हैं ॥५-६॥

गुप्ति के भेद और मनोगुप्ति का स्वरूप—

मनोगुप्तिश्च वागुप्तिः कायगुप्तिरिमाः पराः । तिस्रोत्रगुप्तयोक्तेयाः सर्वस्तिवनिरोधिकाः ॥७॥

पञ्चाक्षविषयार्थेभ्यः समस्तबाह्यवस्तुषु । संकल्पेभ्यो विकल्पेभ्यः कथायादिभ्य एव च ॥८॥

गच्छन्मनोनिर्व्याशु व्यानाध्ययनकर्मसु । यत्स्थिरं क्रियते लीनं सा मनोगुप्तिरब्रूता ॥९॥

अर्थ—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्तियां कहलाती हैं ये

तीनों गुप्तियाँ समस्त आसुओं को रोकने वाली हैं । यह मन पाँचों इन्द्रियों के विषयों में गमन करता है; समस्त बाह्य पदार्थों के संकल्प विकल्पों में गमन करता है और समस्त कषायों में गमन करता है । अतएव इस मन को इन सबसे रोक कर शीघ्र ही ध्यान अध्ययन आदि क्रियाओं में स्थिर कर देना सर्वोत्तम मनोगुप्ति कहलाती है ॥७-६॥

मनोगुप्ति के पालने हेतु अशुभध्यान के त्याग की प्रेरणा—

मनोगुप्तीप्रयत्नेन प्रणिधानं कुकर्मदम् । अप्रशस्तं ब्रुतं व्याख्यं ग्राह्यं प्रशस्तमंजसा ॥१०॥

अर्थ—इस मनोगुप्ति को पालन करने के लिये पाप कर्मों को उत्पन्न करने वाले समस्त अशुभ व्याख्यो का त्याग कर देना चाहिये और शुभ ध्यान धारण करना चाहिये ॥१०॥

इन्द्रिय प्रणिधान और नो इन्द्रिय प्रणिधान का स्वरूप—

इन्द्रियप्रणिधानं च पञ्चाधिविषयोद्भवम् । नोइन्द्रियाभिधं चान्यदप्रशस्तमिति द्विधा ॥११॥

अर्थ—पाँचों इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न होनेवाला ध्यान इन्द्रिय प्रणिधान कहलाता है और नोइन्द्रिय या मनसे उत्पन्न होनेवाला अशुभध्यान नोइन्द्रिय प्रणिधान कहलाता है । इसप्रकार प्रणिधान के दो भेद हैं ॥११॥

अप्रशस्त इन्द्रिय प्रणिधान का स्वरूप—

शब्दे रूपे रसे गंधे स्पर्शे सारे मनोहरे । मनोज्ञे वामनोज्ञे च सुखदुःखविधायिनि ॥१२॥

रागद्वेषाक्षमोहाद्वर्गमनचिन्तनावि यत् । इन्द्रियप्रणिधानंतदप्रशस्तं च पञ्चजा ॥१३॥

अर्थ—स्पर्श, रस, गंध, धरा, शब्द ये पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय हैं ये पाँचों विषय मनोज्ञ भी हैं और अमनोज्ञ भी हैं तथा सुख देनेवाले भी हैं और दुःख देने वाले भी हैं । इन मनोहर और सारभूत दिखने वाले विषयों में रागद्वेष इन्द्रियों की लंपटता और मोहादिक के कारण इन्द्रियों का प्राप्त होना वा इन विषयों में गमन करने के लिये इन्द्रियों की लंपटता होना अप्रशस्त इन्द्रिय प्रणिधान कहलाता है । ॥१२-१३॥

अप्रशस्त नोइन्द्रिय प्रणिधान का स्वरूप—

क्रोधेमानेखिलेमायालोभेनर्थाकरेऽशुभे । रागद्वेषाविभावेऽनमोव्यापार एव यः ॥१४॥

क्रूरोरसोऽव्या निधोविशवासातनिबन्धनः । प्रणिधानाप्रशस्तंततोइन्द्रियाभिधंसतम् ॥१५॥

अर्थ—अनेक प्रकार के अनर्थ करनेवाले और अशुभ क्रोध मान माया लोभमें

रागद्वेषमय परिणामों से मनका व्यापार होना नोद्वन्द्विय प्रणिधान कहलाता है । यह नोद्वन्द्विय प्रणिधान भी अप्रशस्त है, क्रूर है, निष्ठा है, समस्त दुःखों का कारण है और त्याज्य है ॥१४-१५॥

अप्रशस्त प्रणिधान के त्याग की प्रेरणा—

प्रणिधानाप्रशस्तस्यैते भेदा बहवो परे । परद्रव्यममत्वाविजास्याज्यागुप्तिधारिभिः ॥१६॥

अर्थ—इस अप्रशस्त प्रणिधान के अनेक भेद हैं और वे परद्रव्यों में ममत्व करने से उत्पन्न होते हैं । इसलिये गुप्ति पालन करनेवालों को इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥१६॥

प्रशस्त मनःप्रणिधान का स्वरूप—

व्रतगुप्तिसमित्यादिशीलानां रक्षणादिषु । दशलक्षणिके धर्मे ध्याने च परमेष्ठिनाम् ॥१७॥
स्वात्मनः श्रुतपाठार्थं यन्मनःप्रापणं सदा । प्रणिधानं प्रशस्तं तत्कार्यं यत्मात्मनोऽन्तर्कः ॥१८॥

अर्थ—व्रत, गुप्ति और समितियों की रक्षा करने में, शीलों की रक्षा करने में, दशलक्षणिक धर्म में, परमेष्ठियों के ध्यान में, अपने आत्मा के शुद्ध ध्यान में और शास्त्रों के पठन-पाठन में जो मनको लगाता है उसको प्रशस्त मनःप्रणिधान कहते हैं । मनको वश में करनेवाले मुनियों को यत्नपूर्वक प्रशस्त मनःप्रणिधान धारण करना चाहिये ॥१७-१८॥

प्रशस्त प्रणिधान मनोगुप्ति की पूर्णता का कारण—

निर्विकल्पं मनः कृत्वानिवेशयते यथा यथा । परमात्माभिधे तत्त्वे चिदानन्दमये यथा ॥१९॥
सिद्धाहंयोगिनां ध्याने वागमामृतसागरे । तत्त्वरत्नाकरे पूर्णा मनोगुप्तिस्तथा तथा ॥२०॥

अर्थ—मुनिराज अपने मनके समस्त विकल्पों को हटा कर चिदानन्दमय परमात्म तत्त्व में अथवा अरहंत सिद्ध वा आचार्यों के ध्यान में अथवा रत्नों से परिपूर्ण ऐसे आगमरूपी अमृत के समुद्र में अपने मनको जैसे-जैसे लगाते हैं वैसे ही वैसे उनकी मनोगुप्ति पूर्णता को प्राप्त होती जाती है ॥१९-२०॥

मनोगुप्ति पालन का फल—

सम्पूर्णा सम्मनोगुप्तिर्यस्यासीद्विमलात्मनः । व्रतगुप्तिसमित्याद्यास्तस्य पूर्णा भवन्त्यहो ॥२१॥
यतो येन मनोरुद्धं सवेगाविगुणोत्करं । तेन कर्माख्यः कुत्स्नोरुद्धः कृतव्यसंवरः ॥२२॥
तस्मात्कर्माख्याभावाज्जायस्तेनिर्मलागुणाः । सर्वव्रतसमित्याद्याः सम्पूर्णानि च समाख्यः ॥२३॥

अर्थ—निर्मल आत्माको धारण करनेवाले जिस मुनि को मनोगुप्ति पूर्ण हो जाती है उन्हींके महाव्रत गुप्ति समिति आदि सब पूर्ण हुए समझना चाहिये । जो मुनि संवेग आदि गुणों के समूह से अपने मनको रोक लेते हैं वे अपने समस्त कर्मोंके आखव को रोक लेते हैं तथा पूर्ण संवर को धारण करते हैं । आखव के रुकने और संवर के होने से व्रत समिति आदि समस्त निर्मल गुण प्रगट हो जाते हैं तथा उत्तम क्षमादिक भी समस्त गुण प्रगट हो जाते हैं ॥२१-२३॥

मनोगुप्ति पालन करने की प्रेरणा—

विज्ञायेति मनोगुप्तिस्तात्पर्येणमुखाकरा । विधेया सर्वदा वक्षः समस्तव्रतसिद्धये ॥२४॥
बाह्यार्थतोनिरोधुःसमयचंचलं मनः । कुतस्तस्यापरे गतो कथं शुद्धावतादयः ॥२५॥
यतः कर्मप्रसूतेषु वचः काय द्वयं वचचित् । सर्वदा चंचलं चित्तं घोरं श्वभ्रपवं नृणाम् ॥२६॥

अर्थ—अतएव चतुर पुरुषों को अपने समस्त व्रतों का पालन करने के लिये पूर्णरूप से सुख देनेवाली इस मनोगुप्ति का पालन सर्वथा करते रहना चाहिये । जो मुनि अपने चंचल मनको बाह्य पदार्थों से नहीं रोक सकता उसके अन्य गुप्तियां भी कैसे हो सकती हैं तथा व्रत भी शुद्ध कैसे रह सकते हैं अर्थात् कभी नहीं । क्योंकि वचन और काय से तो कभी कभी कर्म आते हैं परन्तु मनुष्यों के चंचल मनसे नरक देनेवाले घोर कर्म सदा ही आते रहते हैं ॥२४-२६॥

मनोगुप्ति की महिमा और उसका फल—

यतःकार्यामनोगुप्तिः सर्वसंवरदायनी । निर्जराकारिणी मुक्तिजननीसद्गुणाकरा ॥२७॥
मनोगुप्त्याक्षयकामकषायाद्यखिलद्विषाम् । निरोधो जायते तस्मात्प्रशस्तं ध्यानमंजसा ॥२८॥
तेन स्यातां च सम्पूर्णं परेसंवरनिजरे । ताभ्यां घातिविघनेर्नास्ततः प्रादुर्भवेत्सताम् ॥२९॥
केवलज्ञानमात्मोत्थं दिव्यं सर्वं गुणैःसमम् । ततो मुक्तिवधूसंशो ह्यनःसुखकारकः ॥३०॥
इत्यादि परमं ज्ञात्वातत्फलं मोक्षकांक्षिभिः । एकाग्रं मनोगुप्तिः कार्या सर्वार्थसिद्धये ॥३१॥
अनुलसुखनिधाना स्वर्गमोक्षकमाता जिनगणधरसेव्या कृत्स्नकर्मरिहंवी ।
व्रतसकलसुखीभ्यो चित्तगुप्तिः सदा तां अयतपरमयतनाद्योगिनोयोगसिद्धयै ॥३२॥

अर्थ—अतएव मुनियों को मनोगुप्ति का पालन सदा करते रहना चाहिये । यह मनोगुप्ति पूर्ण संवर को उत्पन्न करनेवाली है, निर्जरा को करनेवाली है, मोक्ष की माता है और श्रेष्ठ गुणों की ज्ञानि है । इस मनोगुप्ति से ही इन्द्रियों का निरोध हो जाता है, वचनगुप्ति और कायगुप्ति का पालन हो जाता है और कषायादिक समस्त

शत्रुओं का निरोध हो जाता है तथा इन सबका निरोध होने से प्रशस्त ध्यानकी प्राप्ति हो जाती है, प्रशस्त ध्यान की प्राप्ति होने से पूर्ण संवर और निर्जरा से घातिया कर्मों का नाश हो जाता है तथा घातिया कर्मों का नाश होने से समस्त सिद्धि गुणों के साथ-साथ सज्जनों को आत्मासे उत्पन्न होनेवाला केवलज्ञान प्रगट हो जाता है । तदनंतर केवलज्ञान प्रगट होने से अनंत सुख देनेवाला मोक्षरूप वधू का समागम प्राप्त हो जाता है । मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियोंको इसप्रकार इस मनोगुप्ति का परम उत्तम फल समझकर अपने समस्त पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिये इस संसार में एक मनोगुप्ति का परम उत्तम फल समझकर अपने समस्त पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिये इस संसार में एक मनोगुप्ति का ही पालन करना चाहिये । यह मनोगुप्ति अनुपम सुखोंकी खानि है, स्वर्ग मोक्षकी माता है, तीर्थंकर और गणधरादिकदेव भी इसका पालन करते हैं, यह समस्त कर्मों को नाश करनेवाली है और समस्त व्रतों के आने का मार्ग है अतएव मुनियों को ध्यान की सिद्धि के लिये प्रयत्न पूर्वक इस मनोगुप्ति का पालन करना चाहिये । ॥२७-३२॥

वचनगुप्ति का स्वरूप—

वार्तालापोत्तराविध्योऽशुभेभ्यो यत्तिवर्तनम् । वाचो विधाय सिद्धयर्थं स्थापनं क्रियतेन्यहम् ॥३३॥

सर्वार्थसाधकेनोनेसिद्धान्ताध्ययनेऽथवा । सा वागुप्तिर्भूतासर्वा वचोव्यापारद्वरगा ॥३४॥

अर्थ—मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपने वचन योग को अशुभ बात-चीत से तथा अशुभ उत्तर से हटा कर समस्त अर्थ को सिद्ध करनेवाले मौन में, अथवा सिद्धांतों के अध्ययन में प्रतिदिन स्थापन करते हैं, उसको समस्त वचनों के व्यापार से रहित वचनगुप्ति कहते हैं ॥३३-३४॥

श्रुतज्ञान की प्राप्ति हेतु वचन गुप्ति पालने की प्रेरणा—

यथा यथा वचोगुप्तिर्बद्धा ते धीमता सराम् । तथा तथास्त्रिंशद्विद्या विक्रयविविधजंतात् ॥३५॥

परिज्ञायेतिवागुप्ति विद्यार्थिभिः श्रुताप्तये । विधेयासंघनं कृत्वा सिद्धान्ताध्ययने न्यहम् ॥३६॥

ज्ञातविषयागमेनित्यं कर्तव्यं मौनमेवसा । पाठनं वा स्वशिष्याणामागमस्यप्रयत्नतः ॥३७॥

वचचिद्वात्रविधातव्यं सतां धर्मोपवेशनम् । अनुग्रहाय काव्यदान्मोक्षमार्गप्रबुद्धये ॥३८॥

अर्थ—बुद्धिमानों की वचनगुप्ति जैसी-जैसी बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे विक्रयाश्रों का त्याग होता जाता है और समस्त विद्याएं बढ़ती जाती हैं । यही समझ कर विद्या की इच्छा करनेवाले मुनियों को श्रुतज्ञान प्राप्त करने के लिये अपने वचनों

को प्रतिदिन सिद्धांत के अध्ययन में लगाकर इस वाग्नुप्ति का पालन करना चाहिये । समस्त आगम को जानने वाले मुनियों को या तो नित्य मौन धारण करना चाहिये अथवा प्रयत्न पूर्वक अपने शिष्यों को आगमका पाठ पढ़ाना चाहिये । अथवा मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति करने के लिये करुणा बुद्धि से सज्जनों का अनुग्रह करने के लिये कभी-कभी धर्मोपदेश देना चाहिये ॥३५-३८॥

मुनि को कैसे वचन नहीं बोलना चाहिये—

एहि गच्छ मुवा तिष्ठ कुरु कार्यमिदं द्रुतम् । इत्यादि न वक्षो वाच्यं प्राणत्यागेऽपि संयतः ॥३९॥

यतोऽत्रा संयतां ये प्रेक्षणाकारयन्ति वा । यातायातं कुतस्तेषां वताद्याः प्राणिघातनात् ॥४०॥

अर्थ—मुनियों को प्राणों के त्याग करने का समय आने पर भी “आओ जाओ, प्रसन्न होकर बैठो, इस काम को शीघ्र करो” इसप्रकार के वचन कभी नहीं बोलने चाहिये । क्योंकि जो मुनि अन्य असंयमी लोगोंको बाहर भेजते हैं अथवा उनसे आने जाने का काम लेते हैं उनके कारितजन्य प्राणियोंका घात होने से वतादिक निर्मल कैसे रह सकते हैं अर्थात् कभी नहीं ॥३९-४०॥

श्रेष्ठ ध्यान के लिये मौन धारण करने की प्रेरणा—

यथा यथात्रबाह्यार्थं ब्रूयते वाक् तथा तथा । बध्यते कर्म लोकोक्तिरिमं सत्या न चाग्नया ॥४१॥

बाह्योऽप्यत्रनिरोधं यो विधातुमक्षमोऽयमः । स मनोऽक्षकषायाणां निग्रहं कुरुते कथम् ॥४२॥

विदिश्वेति सदाकार्यं मौनं सर्वध्यानदीपकम् । निहृत्यसिद्धये निधं बाह्यं वाग्जालमंजसा ॥४३॥

अर्थ—“ये लौकिक प्राणी जैसे-जैसे बाह्य पदार्थों के लिये बातचीत करते हैं वैसे ही वैसे उनके कर्म बंधते जाते हैं” । यह जो लोकोक्ति है वह सत्य है इससे विपरीत कभी नहीं हो सकता । जो नीच मनुष्य वचनों को रोकने में भी असमर्थ है वह भला मन इन्द्रियां और कषायों का निग्रह कैसे कर सकता है ? अर्थात् कभी नहीं कर सकता । यही समझकर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अत्यंत निध ऐसे अपने बाह्य वाग्जाल को रोक कर श्रेष्ठ ध्यानको प्रगट करने के लिये दीपक के समान ऐसे इस मौनवृत्त को सदा धारण करते रहना चाहिये ॥४१-४३॥

मौन व्रत की महिमा—

यतोमौनेनवक्षणास्वप्नेऽपि कलहोस्ति न । मौनेनाशु श्रियन्तेहो रागद्वेषादयोरयः ॥४४॥

मौनेनगुणाराशिष्व सन्त्यते सकलागमम् । मौनेन केवलज्ञानं मौनेनश्रुतमुत्तमम् ॥४५॥

मौनेन ज्ञातिनां नूनं सर्वेषां निर्जयो भवान् । परीयहोपसर्गाणां गुणाः सर्वेतिनिर्मलाः ॥४६॥

मौनेन मुक्तिकास्ता त्यासकत्यावुरोति मौनिनम् । इवभार्येवाचिरादेत्य का कथाहोद्युयोषिताम् ॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि इस मौनको धारण करने से चतुर पुरुषों को स्वप्न में भी कभी कलह नहीं होता तथा इसी मौन व्रतसे रागद्वेषादिक शत्रु बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं । इसी मौन से समस्त गुणों की राशि प्राप्त होती है, इसी मौन से समस्त शास्त्रों का ज्ञान होता है, इसी मौन से केवलज्ञान प्रगट होता है, इसी मौन से उत्तम धृतज्ञान प्राप्त होता है । इसी मौन व्रतसे ज्ञानी पुरुष समस्त परीषद् और समस्त उपसर्गों का महान् विजय प्राप्त करते हैं और इसी मौनव्रत से समस्त निर्मल गुण प्राप्त होते हैं । इसी मौन व्रतसे मुक्तिरूपी स्त्री अत्यन्त आसक्त होकर अपनी स्त्री के समान बहुत ही शीघ्र मौनव्रत की स्त्रीकाद करती है फिर भला देवांगनाओं की तो बात ही क्या है ॥१७४४-१७४७॥

असंख्यात गुणों के कारणभूत वाग्गुप्ति त्याग का निषेध—

इमान् मौनगुणान् ज्ञात्वा संख्यातोस्तान् विवेकिभिः । शश्वद्विश्वार्थनिष्पत्ये ताकार्यं च सुखाकरम् ॥
तथा मौनप्रसायोर्ध्वविधातव्याघनाशिनी । वाग्गुप्तिः सर्वदा जातु न त्याज्या कार्यकोटिभिः ॥

अर्थ—विवेकी पुरुषोंको इसप्रकार मौनव्रतके असंख्यात गुण समझकर समस्त पुरुषार्थोंको सिद्ध करने के लिये सुख की खानि ऐसा यह मौनव्रत अवश्य धारण करना चाहिये । इस मौनव्रत को पालन करने के लिये समस्त पापों को नाश करनेवाली वाग्गुप्तिका पालन करना चाहिये तथा करोड़ों कार्य होनेपर भी इस वाग्गुप्ति का त्याग नहीं करना चाहिये ॥१७४८-१७४९॥

पुनः वचनगुप्ति की महिमा और उसे धारण करने की प्रेरणा—

शुभगुणमणिखानि स्वर्गमोक्षाधिधात्रीं दुरिततिमिरहंस्त्रीमर्गलां पापगेहे ।
वृषसुखजननीं वाग्गुप्तिमात्मार्यसिद्धं कुक्षतनिस्त्रियत्मान्मौनमाधायनित्यम् ॥१७५०॥

अर्थ—यह वचनगुप्ति शुभ गुणरूपी मणियों की खानि है, स्वर्ग मोक्ष को देने वाली है, पाप रूपी अंधकार को नाश करनेवाली है, पापरूपी घरको बंद करने के लिये अर्गल वा बेंडा के समान है तथा धर्म और सुख की माता है । अतएव शुद्ध आत्मा की प्राप्ति के लिये समस्त यत्नों से सदा मौन धारण कर इस वचनगुप्ति का पालन करना चाहिये ॥१७५०॥

कायगुप्ति का स्वरूप—

हस्तांघ्र्यवयवादींश्च स्वेच्छयावर्तितोयलात् । आहत्य निखिलं देहं विक्त्रियातिगमूजितम् ॥१५१॥

कृत्वा यत्स्थाप्यते धीरं व्युत्सर्गं वा दृढासने । निष्पन्नं काष्ठकमुक्त्यै सा कायगुप्तिरसमा ॥५२॥

अर्थ—जो मुनि अपने हाथ पैर आदि शरीर के अवयवों को अपनी इच्छानुसार नहीं हिलाते, और अपने शरीर में कोई विकार उत्पन्न नहीं होने देते, वे धीर वीर मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपने शरीर को कायोत्सर्ग में वा किसी दृढ़ आसनपर काष्ठके समान निश्चल स्थापन करते हैं उसको उत्कृष्ट कायगुप्ति कहते हैं ॥५१-५२॥

कायगुप्ति पालने का फल—

कायगुप्यात्र धीराणां सर्वप्राणिदया भवेत् । निष्प्रकंपं परं ध्यानं संवरो निर्जरा शिवम् ॥५३॥

अर्थ—इस कायगुप्तिको धारण करने से धीर वीर मुनियों के समस्त प्राणियों की दया पल जाती है, निश्चल ध्यान की प्राप्ति हो जाती है तथा संवर निर्जरा और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है ॥१७५३॥

शारीरिक चंचलता से हानि व उसे रोकने की प्रेरणा—

काय चंचलयोगेन म्रियन्तेऽन्तुराशयः । सम्भूते वृत्तभंगः स्यात्सतो नर्थपरंपरा ॥१७५४॥

मत्वेति विक्रियां सर्वां त्यक्त्वा नेत्रमुखादिनाम् । निद्राचपलतारुध्वा शाम्यंचित्रोपमं वपुः ॥५५॥

कृत्वामोक्षाय संस्थाप्य कायोत्सर्गसनादिषु । कायगुप्तिविधातव्या प्रत्यहं ध्यानमातृका ॥१७५६॥

अर्थ—शरीर की चंचलता के निमित्त से बहुत से जीवों की राशि मर जाती है, उनके मरने से वृत्तका भंग हो जाता है और वृत्त भंग होने से अनेक अनर्थों की परंपरा प्रगट हो जाती है । यही समझकर नेत्र वा मुखसे होनेवाले समस्त विकारों का त्याग कर देना चाहिये, निद्रा चपलता को रोकना चाहिये और चित्रके समान शरीरको अत्यंत शांत और निश्चल रखकर मोक्ष प्राप्त करने के लिये कायोत्सर्ग में वा किसी आसन पर दृढ़ रखना चाहिये । इसप्रकार ध्यान की माता के समान इस कायगुप्तिको प्रतिदिन पालन करना चाहिये ॥१७५४-१७५६॥

कायगुप्ति की महिमा—

सुरशिवगतिवीथी दीपिका ध्यानसौधे व्रतसकलवराम्बा कर्मवृक्षकुठारीम् ।

जिनमुनिगणसेव्यां कायगुप्ति एवित्रां श्रयतजितकषाया यत्नतोमुक्तिसिद्धये ॥१७५७॥

अर्थ—यह कायगुप्ति स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग है, ध्यानरूपी राजभवन की दिखलाने के लिये दीपक के समान है, समस्त वृत्तों की श्रेष्ठ माता है, कर्मरूपी वृक्षको काटने के लिये कुल्हाड़ी है, भगवान् जिनेन्द्रदेव और मुनियों के समूह

सब इसको पालन करते हैं तथा यह अत्यंत पवित्र है । अतएव कषायों को जीतने वाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्न पूर्वक इस कायगुप्ति का पालन करना चाहिये ॥१७५७॥

त्रिगुप्ति पालन करने की प्रेरणा—

शिवः सद्युक्तमौप्रेताविधेयाविधिनासेवा । विधिनाः शिवसर्वाभ्याः कृत्स्नकर्मास्तकारिकाः ॥

अर्थ—ये तीनों गुप्तियाँ कर्मों को नाश करनेवाली हैं, मोक्ष के सुखकी माता हैं, और समस्त कर्मों को नाश करनेवाली हैं अतएव मुनियों को विधि पूर्वक इनका पालन करना चाहिये ॥१७५८॥

गुप्तियों से सुरक्षित मुनि ही कर्म शत्रु से अपनी रक्षा कर सकता है—

बलवद्भिर्यथाविश्वैः शत्रुभिः स्वाश्रमान्नुपः । न नेतुं शक्यते गुप्तः प्राकारखातिकामटः ॥१७५९॥

तथा मुनि रोगुप्तो मनुवाक्कायगुप्तिभिः । न जातु विक्षिप्तो नेतुं शक्यः कर्मरिसंचयः ॥१७६०॥

अर्थ—जो राजा कोट, खाई और योद्धाओं से अत्यंत सुरक्षित है उसको अत्यंत बलवान् समस्त शत्रु भी उसके घर से बाहर नहीं ले जा सकते उसीप्रकार जो मुनि मन-वचन-काय की गुप्तियों से अत्यंत सुरक्षित है उसकी आत्मा में कर्मरूप समस्त शत्रु कभी किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं कर सकते ॥१७५९-१७६०॥

कोन योगी असंयमादि बाणों से घायल नहीं होता—

वर्मितः सगिरं पट्टद्वयी वार्ष्णेन निहते । तथा योगी जिगृप्तात्मा रागाद्यसंयमेषुभिः ॥१७६१॥

अर्थ—जिस प्रकार युद्ध में कंबुच पहनने वाला योद्धा बाणों से घायल नहीं होता उसीप्रकार मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्तिको धारण करनेवाला योगी असंयम-द्विक बाणों से कभी चलायमान नहीं हो सकता ॥१७६१॥

अष्ट प्रवचनमातृका किसे कहते हैं—

सार्थसमितिभिः पञ्चभिरिमाः गुप्तयः पराः । प्रोक्ता प्रवचनमाट्टमातरो हितकारिकाः ॥१७६२॥

अर्थ—ये तीनों गुप्तियाँ तथा पाँचों समितियाँ मिलकर आठों प्रवचनमातृका कहलाती हैं । ये आठों ही माता के समान हित करनेवाली हैं और सर्वोत्कृष्ट हैं ॥१७६२॥

अष्ट प्रवचनमातृका नामकी सार्थकता—

॥ रक्षन्ति मातरो यद्वन्मलविश्वं शान्तिताम् । तथेमाह्वतिपुत्रांश्च कुक्कुमांश्च पांगुतः ॥१७६३॥

विपत्तेः प्रतिपालयाम्बाः पोषयन्ति यथात्मजान् । तथैतांश्च यतीन् सर्वे हितैः स्वर्मुत्तिशर्मभिः ॥
 यथांगजान् जमन्यो न वध्नुर्गन्तुं कुर्विक्रियाम् । स्वयत्प्रसिसृजन्तस्मा पञ्चानन्दैः त्वत्सुमित्रैः ॥
 शिवं कुर्वन्ति सूनोश्चयद्वयम्बाः शिवार्यं भोः । दुःखक्लेशादिकास्तद्भवेताः साधोः प्रपालिताः ॥
 इत्यंबागुणसंयोगात्सामर्थ्या वरमातरः । उच्यन्ते श्रीजिनाधीशैः मातृतुल्यामहात्मनाम् ॥६७॥

अर्थ—जिसप्रकार माताएं अपने पुत्रों को धूलि मिट्टीसे बचाती हैं उसीप्रकार ये अष्ट प्रवचनमातृकाएं मुनियों को कर्मात्त्रिव रूपी धूलि से बचाती हैं । जिसप्रकार माताएं अपने पुत्रों को विपत्ति से बचाकर पालन पोषण करती हैं उसीप्रकार ये अष्ट प्रवचनमातृकाएं मुनियों को सब तरह का हित कर तथा स्वर्ग मोक्ष के सुख देकर मुनियोंका पालन पोषण करती हैं । जिसप्रकार माताएं अपने पुत्रोंको किसी भी आपत्ति में जाने नहीं देतीं उसी प्रकार ये अष्ट प्रवचनमातृकाएं भी अपने मुनिपुत्रों को राग-द्वेषादिक समस्त शत्रुओं से रक्षा करती हैं । जिसप्रकार माताएं अपने पुत्रों के समस्त दुःख और क्लेशों को दूर कर उनका कल्याण करती हैं उसीप्रकार ये गुप्तिसमिति रूप माताएं भी साधुओं की रक्षा करती हैं दुःख देनेवाले रागद्वेष वा कर्मों को उत्पन्न नहीं होने देतीं । इसप्रकार इन गुप्ति समितिधों में माताके समस्त गुण विद्यमान हैं इसीलिए भगवान् जिनेन्द्रदेव ने अष्ट प्रवचनमातृकाएं ऐसा इनका सार्थक नाम बतलाया है । वास्तव में महात्माओं के लिए ये माता के ही समान हैं ॥१७६३-६७॥

चारित्र के भेद—

एषवतर्विसम्पूर्णरचारित्राचार ऊजितः । त्रयोदशविधोवर्धविधातव्योतिनिर्मलः ॥१७६८॥

अर्थ—इसप्रकार पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्तियों से परिपूर्ण हुआ चारित्राचार तेरह प्रकार का है इसीलिए चतुर मुनियों को अत्यंत निर्मल और अत्यंत उत्कृष्ट ऐसा यह चारित्राचार अवश्य धारण करना चाहिए ॥१७६८॥

निर्मल चारित्र पालने का फल—

सर्वातिचारनिर्मुक्तं चारित्रं शशिनिरमलम् । ये चरन्ति प्रयत्नेन तेषामोक्षो न्यवेहिनाम् ॥६९॥

अध्ये ये मुनयोदकाश्चारित्राचार सूचिताः । त्रिजगच्छर्म भुक्त्वा ते क्रमाद्यान्तिशिवालयम् ॥७०॥

अर्थ—जो पुरुष समस्त अतिचारों से रहित और चन्द्रमा के समान निर्मल ऐसे इस चारित्रको प्रयत्न पूर्वक धारण करते हैं उन चरमशरीरियों को अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । और भी जो चतुर मुनि इस चारित्राचार से सुशोभित होते हैं वे तीनों लोकोंके सुखोंको भोगकर अनुक्रम से मोक्ष में जा विराजमान होते हैं ॥६९-७०॥

वृत्तों के बिना जीवन की निष्फलता—

जीवितं प्रवरं मन्ये विनैकं व्रतमुचितम् । तद्विना विफलं पुंसां पूर्वं कोट्यादिशोचरम् ॥१७७१॥

अर्थ—वृत्तों से सुशोभित होकर एक दिन भी जीवित रहना प्रशङ्का परन्तु वृत्तों के बिना मनुष्यों का करोड़ पूर्व तक जीवित रहना भी निष्फल है ॥१७७१॥

चारित्रवान की महिमा—

नमस्ति त्रिजगत्पायाश्चारित्र्यालंकृतात्मनाम् । पादपद्मान् मुवापूष्पां प्रत्यहं किकरा इव ॥१७७२॥

महाचारित्र्य भूषाणां प्रतापेन सुरेशिनाम् । आसनाणि प्रकम्पन्ते साम्यन्ति क्रूरजन्तवः ॥१७७३॥

धन्यः स एव लोकेस्मिन् सफलं तस्य जीवितम् । कवाचिच्चरणं येन न नीतं वससन्निधी ॥७४॥

अर्थ—जिनका आत्मा इस चारित्र्य से सुशोभित है उन मुनियों के चरण कमलोंको तीनों लोकों के इन्द्र सेवक के समान प्रसन्नता पूर्वक मस्तक नवाकर प्रतिदिन नमस्कार करते हैं । जो मुनि इस महा चारित्र्य से सुशोभित हैं उनके प्रताप से इन्द्रों के आसन भी कंपायमान हो जाते हैं तथा उन्हीं मुनियों के प्रताप से सिंहादिक क्रूर घातक जन्तु भी शांत हो जाते हैं । जिन मुनियों ने अपने चारित्र्य को कभी भी मलिन नहीं किया है संसार में वे ही मुनि धन्य हैं और उन्हीं का जीवन सफल है ॥१७७२-७४॥

चारित्र्य के बिना उत्कृष्ट ज्ञान दर्शन मोक्ष का कारण नहीं—

चारित्र्येण विना येनोत्कृष्टेऽपि ज्ञानवर्शने । समर्थं न शिवं कर्तुं तत्कथंश्लाघ्यते न भोः ॥१७७५॥

अर्थ—इस चारित्र्य के बिना अत्यंत उत्कृष्ट सम्यग्दर्शन और उत्कृष्ट ज्ञान भी मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ नहीं हो सकते फिर भला इस ऐसे चारित्र्य की प्रशंसा क्यों नहीं करनी चाहिये अवश्य करनी चाहिये ॥१७७५॥

चारित्र्य से शिथिल मुनि लंगड़े मनुष्य—

महाज्ञानदुगाढयोपि चारित्र्यशिथिलोऽयसिः । सम्मार्गगमनाशक्तः पंगुवद्भूतिं जातु न ॥१७७६॥

अर्थ—महा ज्ञान और महा सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला मुनि यदि चारित्र्य से शिथिल हो जाय तो वह लंगड़े के समान मोक्ष मार्ग में कभी यमम नहीं कर सकता तथा वह न कभी सुशोभित हो सकता है ॥१७७६॥

कौन निदनीय और कौन वंदनीय—

वरं प्राणपरित्यागः संयतानां शुभप्रवः । शैथिल्यं चरणे कर्तुं मनागद्योग्यं न निन्दितम् ॥१७७७॥

यथात्रैवसुचारिको बन्धः पूज्यः स्तुतो भवेत् । मान्यो विरज्यते धर्मयोगी तथा मुञ्च्यते भवद्वये ॥१७७८॥

अर्थ—मुनियों को कल्याणकारी प्राण त्याग कर देना अच्छा परन्तु चारित्र्य में शिथिलता धारण करना किंचित् भी योग्य नहीं है । क्योंकि चारित्र्य में शिथिलता धृष्ट्य करनः निवर्त्तीय है । जिसप्रकार भोक्तृ चारित्र्य को धारण करनेवाला योगी इस लोक में भी समस्त लोकों के द्वारा वन्दनीय, पूज्य, स्तुति करने योग्य और मान्य माना जाता है उसी प्रकार वह परलोक में भी तीनों लोकों में मान्य, पूज्य, वन्दनीय माना जाता है ॥ १७७७-१७७८ ॥

शिथिल चारित्र्य उच्च लोक में दुःख का कारण ॥ १७७७ ॥

चारित्र्यशिथिलीयदुःखोन्नय पक्षेवै । विश्वामनातमीयः श्यामामुज च कुन्तते ॥ १७७८ ॥

अर्थ—जिसप्रकार शिथिल चारित्र्य को धारण करनेवाला मुनि इस लोक में भी पक्षे-पक्ष पर निवर्त्तीय माना जाता है तथा सबके द्वारा अपमानित होता है उसीप्रकार परलोक में दुर्गतियीं में पड़कर निवर्त्तीय और अपमानित होता है ॥ १७७८ ॥

प्राण जानेपर भी चारित्र्य मलिन नहीं करें—

सर्वोत्तमो धीमतेऽसौ चारित्र्ये निमल महत् । मलपावके जलस्यैव प्राणान्तो विमुक्तये ॥ १७८० ॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान पुरुषोंको मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्राणों के त्याग का समय आने पर भी अपने निमल और सर्वोत्कृष्ट चारित्र्यको कभी मलिन नहीं करना चाहिये ॥ १७८० ॥

चारित्र्याचार की महिमा—

एषीमेतानुस्मृतकरोतुमर्हः स्वर्गोपायमोक्षकः । श्रीसीतेश्वरभाषितो मुनिपद्यः संवेष्टितः प्रत्यहम् ।
संसाराम्बुधितारको विमलो विप्रवापिभः सर्वं चरित्राचार इहोजितः । स्वर्गोपायमोक्षकः तिष्ठतु ॥ १७८१ ॥

अर्थ—यह चारित्र्याचार कहे—
→ जो हरण करनेवाला है, स्वर्गोपाय के सुख देनेवाला है, भगवान् द्वारा है अनेक मुनिगण प्रतिदिन इसका सेवन करते हैं, यह संसाररूपी समुद्र से पार करनेवाला है, अक्षय्य निमल है, सब में मुख्य है और सर्वोत्कृष्ट है । ऐसा यह पूर्ण चारित्र्याचार मेरे मनमें विराजमान रहो ॥ १७८१ ॥

तपाचार के कथन की प्रतिज्ञा—

चारित्र्याचार एषोत्र वक्षिषो हि महारमणम् । इतच्छब्दं प्रवक्ष्यामि तप आचारमङ्गलम् ॥ १७८२ ॥

अर्थ—इसप्रकार महात्माओं के इस चारित्र्याचारका वर्णन किया । अब आगे

सर्वोत्कृष्ट तप आचार को कहता हूं ॥१७८२॥

तपाचार का स्वरूप व उसके भेद—

स्वेच्छाया अक्षशर्मादौ निरोधो यो विधीयते । तपोऽयिभिस्तपः सिद्धयं तवेव प्रवरं तपः ॥१७८३॥

बाह्याभ्यन्तरभेदाभ्यां द्विधास्तप उच्यते । तद्बाह्यं षड्विधं सोढाभ्यन्तरं च भवान्तकम् ॥८४॥

अर्थ—तपश्चरण करनेवाले मुनि अपने तपश्चरणकी सिद्धि के लिये जो अपनी इच्छानुसार इन्द्रिय सुखों का निरोध करते हैं उसको श्रेष्ठ तप कहते हैं । इस तप के बाह्य अभ्यन्तर के भेद से दो भेद हैं उसमें भी बाह्य तप के छह भेद हैं और संसारको नाश करनेवाले अभ्यन्तर तपके भी छह भेद हैं ॥१७८३-१७८४॥

बाह्य तपका स्वरूप और उसके भेद—

यत्तपः प्रकटं लोकेऽन्येषां वात्र कुदृष्टिभिः । कर्तुं च शक्यते बाह्यं तपः सार्थकं भवेत् ॥८५॥

अनशनं ध्यानशनं सारमवभोधयंसंनकः । द्वितीयं तत्तपोवृत्तिपरिसंख्यानभूजितम् ॥१७८६॥

तत्तोरसपरित्यागो विविक्तशयनासनम् । कायक्लेशोन्नयोद्धेति तपो बाह्यं सुखाकरम् ॥१७८७॥

अर्थ—जो तप संसार में प्रगट दिखाई देता है अथवा अन्य मिथ्यावृष्टि भी जिसको धारण कर सकते हैं वह सार्थक नामकी धारण करनेवाला बाह्य तप कहलाता है । अनशन अवभोधयं, वृत्ति परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शयनासन और काय क्लेश इसप्रकार सुख देनेवाला बाह्य तप छह प्रकार है ॥१७८५-१७८७॥

अनशन तप का स्वरूप व उसके भेद—

तत्साकांशनिराकांश भेदाभ्यां धीजिनाधिपैः । द्विधानशनमाग्नातंसाकांशं बहुधाभवेत् ॥१७८८॥

अन्नपानकस्तत्वाद्यस्वाद्यभेदेष्वनुविधः । आहारस्त्यज्यतेमुक्तये यत्तपोनशनं हि तत् ॥१७८९॥

अर्थ— उसमें भी भगवान् जितेन्द्रदेव ने अनशन तप के दो भेद बतलाये हैं— एक साकांश और दूसरा निराकांश । इनमें से साकांश तपके भी अनेक भेद बतलाये हैं । मोक्ष प्राप्त करने के लिये जो अन्न पान स्वाद्य लाद्य के भेद से चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दिया जाता है उसको अनशन नाम का तप कहते हैं ॥१७८८-१७८९॥

साकांश अनशन के भेद—

क्रियते शोषवासस्य धारणेपारणे बुधैः । यद्वैकभक्तमाप्तिः सः चतुर्थः कथ्यते बुधैः ॥१७९०॥

चतुर्भोजनसंत्यागाच्चतुर्थः सार्थकोमहान् । षड्वेलाशनसंत्यागात् षष्ठो द्विप्रोषणात्मकः ॥१७९१॥

अष्टवेलाशनत्यागादष्टमस्त्रिचतुर्थजः । दशभोजनसंत्यागाद्दशमः कर्मनाशकः ॥१७६२॥
द्विषड्वेलाशनत्यागात्प्रोक्तो द्वादशमो जिनः । इत्याद्याः प्रोषधाज्ञेया साकांक्षानशनस्य च ॥१७६३॥
पक्षमासोपवासादि षण्मासान्तं तपोऽनघम् । क्रियते यन्महाधीरः सर्वे साकांक्षमेवतत् ॥१७६४॥
कनकैकावली सिंहनिःक्रीडितादयोखिलाः । भद्र त्रैलोक्यसाराद्याः साकांक्षेस्तर्भवामताः ॥१७६५॥

अर्थ—जिस उपवासमें धारणा पारणाके दिन एकाशन किया जाता है उसको भगवान सर्वाज्ञदेव चतुर्थ नामसे कहते हैं । इस उपवास में चार समय के भोजन का त्याग किया जाता है इसलिये यह चतुर्थ नाम का महा उपवास सार्थक नाम को धारण करनेवाला है । यदि छह समय के आहार का त्याग कर धारणा पारणा के दिन एकाशन कर मध्यमें जो उपवास किये जाय तो उसको षष्ठ नाम का उपवास कहते हैं । जिसमें आठ समय के आहार का त्याग किया जाय अर्थात् धारणा पारणा के मध्य में तीन उपवास किये जाय उसको अष्टम उपवास कहते हैं । तथा जिस उपवास में दश समय के आहार का त्याग किया जाय अर्थात् धारणा पारणाके मध्य में चार उपवास किए जाय उसको कर्मों का नाश करनेवाला दशम उपवास कहते हैं । जिस उपवास में बारह समय के आहार का त्याग किया जाय अर्थात् धारणा पारणा के मध्य में पांच उपवास किये जाय तथा धारणा पारणा के दिन एकाशन किया जाय उसको द्वादशम उपवास कहते हैं । इसप्रकार के जो प्रोषधोपवास हैं वे सब साकांक्ष अनशनके भेद हैं । इसीप्रकार महा धीर वीर पुरुष जो एक पक्ष का वा एक मास का उपवास करते हैं वा छह महीने तक का उपवास करते हैं तथा इसप्रकार जो पाप रहित तपश्चरण करते हैं उस सबको साकांक्ष अनशन कहते हैं । इसी प्रकार कनकावली, एकावली, सिंह, निष्क्रीडित आदि व्रतों के जितने उपवास हैं वा भद्र त्रैलोक्यसार आदि व्रतों के जितने उपवास हैं, वे सब साकांक्ष अनशन में ही अंतर्भूत होते हैं ॥१७६०-१७६५॥

निराकांक्ष अनशन का स्वरूप व भेद—

मरणं भक्तप्रत्याख्यानमिं गिनीमरणं । प्रायोपगमनं होत्याद्यान्यानि मरणानि च ॥१७६६॥
यानि तानि समस्तानि यावज्जीवाधिताभ्यपि । निराकांक्षोपवासस्य बहुभेदानि विद्धि भो ॥१७६७॥

अर्थ—भक्तप्रत्याख्यान मरण, इंगिनीमरण, प्रायोपगमनसंन्यास मरण इस प्रकारके जितने संन्यासमरण हैं उनमें जो जीवन पर्यंत आहारका त्याग कर दिया जाता है, उसको निराकांक्ष उपवास कहते हैं । उस निराकांक्ष उपवासके भी इसप्रकार के मरण के भेद से अनेक भेद हो जाते हैं ॥१७६६-१७६७॥

अनशन तपकी महिमा व उसे करने की प्रेरणा—

उपवासाग्निनापुंसां कायः संतप्यतेतराम् । बह्यन्ते सकलाक्षाणि कर्मेन्धनान्यनन्तश ॥१७६८॥
 शोकते त्रिजगत्सक्ष्मीर्नाक श्रीश्चसुशर्मदा । मुक्तिस्त्रो सन्मुखं पश्येदुपवासफलात्सताम् ॥१७६९॥
 इत्थस्य प्रवरं ज्ञात्वा फलं शक्या शिवाप्तये । बहूपवासभेवाश्च प्रकुर्वन्तु तपोधनाः ॥१८००॥

अर्थ— इस उपवास रूपी अग्नि से मनुष्यों का शरीर अत्यंत संतप्त हो जाता है और फिर उससे समस्त इन्द्रियां और अनंत कर्मरूपी ईंधन सब जल जाता है । इस उपवास के फल से सज्जनों की तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है, स्वर्ग की लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है, और श्रेष्ठ कल्याण करनेवाली मुक्तिस्त्री सामने आकर खड़ी हो जाती है । इसप्रकार इस उपवास का सर्वोत्कृष्ट फल समझकर तपस्वियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार अनेक भेद रूप उपवासों को सदा करते रहना चाहिये ॥१७६८-१८००॥

अवमोदर्य तपका स्वरूप और उसके जघन्यादि भेद—

सहस्र तंदुलैरेकः कथलोत्रादितो नृणाम् । द्वात्रिंशत्कवलैः पूर्णं आहारश्चागमेजिनैः ॥१८०१॥
 एकेन कथलेनैवोनाहारो येनमुच्यते । तपोर्यं हि जघन्यं तदवमोदर्यसत्तपः ॥१८०२॥
 अत्रैकप्रासमात्रो य आहारो गृह्यते चिदे । तपस्विभिस्तपोर्यं तदवमोदर्यमुत्तमम् ॥१८०३॥
 जघन्योत्कृष्टयोर्मध्येनातृप्ति भोजनं हि यत् । बहुधातपसे तदवमोदर्यमुत्तमम् ॥१८०४॥

अर्थ— भगवान् जिनेन्द्रदेव ने मनुष्यों के लिये एक हजार चावलों का एक प्रास बतलाया है, तथा जिनागम में बत्तीस प्रासों का पूर्ण आहार बतलाया है । जो मुनि अपना तप बढ़ाने के लिये एक प्रास कम आहार लेते हैं उसको जघन्य अवमोदर्य नामका श्रेष्ठ तप कहते हैं । जो तपस्वी अपना तपश्रवण बढ़ाने के लिये वा आत्माको शुद्ध करने के लिये केवल एक ही आहार का प्रास लेते हैं, वह उत्तम अवमोदर्य तप कहलाता है । एक प्रास से अधिक और इकसीस प्रास से कम प्रासों का आहार लेना मध्यम अवमोदर्य है । यह अवमोदर्य तपश्चरणके ही लिये किया है और इसमें उतना ही आहार लिया जाता है जिसमें पूरी तृप्ति न हो ॥१८०१-१८०४॥

अवमोदर्य तपकी महिमा व उसे करने की प्रेरणा—

अनेन तपसा नृणां निद्राजयः स्थिराशनम् । ग्लानिहानिः श्रुतं ध्यानं स्याज्जामुक्तिश्चमात्ययः ॥
 इत्यादीस्तद्गुणान् शास्त्रावमोदर्यं तपोनघम् । प्रासादिहापनैर्बद्धाः कुर्वन्तु ध्यानं सिद्धये ॥१८०५॥

अर्थ— इस तपश्चरण से मनुष्यों का निद्रा का विजय होता है, आसन स्थिर

होता है, किसी प्रकार की ग्लानि नहीं होती, शास्त्रज्ञान की वृद्धि होती है, ध्यानकी वृद्धि होती है और भोजन न करने से जो परिश्रम होता है वह भी नहीं होता । इस प्रकार इस तपश्चरण के गुणों को जानकर चतुर पुरुषों को अपने ध्यान की सिद्धि के लिये अपने आसों की संख्या घटाकर अवमोदर्य नामके निर्दोष तपश्चरणका पालन करते रहना चाहिये ॥१८०५-१८०६॥

वृत्तिपरिसंख्यान तपका स्वरूप—

चतुःपयाध्ववीथ्येकगृहादिपाटकः परैः । नानावग्रहसंकल्पैर्वर्तुभोजन भाजनैः ॥१८०७॥

बुध्नाप्याहारसंप्राप्त्यं या प्रतिज्ञात्रगृह्यते । तद्वृत्तिपरिसंख्यानं बहुभेदं तपोमहत् ॥१८०८॥

अर्थ—मैं चौराहे पर आहार मिलेगा तो लूंगा इस मार्ग में वा इस गली में आहार मिलेगा तो आहार लूंगा एक पहले ही घर में आहार मिलेगा तो लूंगा अथवा दाता ऐसा होगा उसके पात्र वा भोजन पात्र ऐसे होंगे तो आहार लूंगा नहीं तो नहीं । इसप्रकार कठिनता से आहार प्राप्त होने के लिये प्रतिज्ञा कर लेना अथवा इसप्रकार पड़गाहन होगा तो आहार लूंगा नहीं तो नहीं, इसप्रकार की प्रतिज्ञा कर लेना वृत्तिपरिसंख्यान तप है यह तप सर्वोत्कृष्ट है और इसके अनेक भेद हैं ॥१८०७-१८०८॥

वृत्तिपरिसंख्यान तपका फल, उसे धारण करने की प्रेरणा—

तपसानेन जायेत धीरत्वंयोगिनां परम् । आशान्तरायकर्माण्यप्रणश्यन्ति च लीत्यताः ॥१८०९॥

इत्याद्यस्य फलं मत्वादुर्लभाहारस्त्रिद्वये । चतुःपयाविभिर्धीराः प्रतिज्ञामाचरन्तु भोः ॥१८१०॥

अर्थ—इस तपश्चरण से योगियों में धीरवीरता उत्पन्न होती है, आशा और अन्तराय कर्म नष्ट होते हैं तथा लोलुपता नष्ट होती है । इसप्रकार इस तपके फल को समझकर धीर वीर पुरुषों को कठिनता से आहार प्राप्त करने के लिये ऊपर कहे अनुसार चौराहे आदि पर आहार लेने की प्रतिज्ञा अवश्य करनी चाहिये ॥१८०९-१८१०॥

रस परित्याग तपका स्वरूप—

वधिवुग्धगुडानां च रसतां तैलसपिषोः । लवणस्य कषायाम्लमधुराणाञ्जितेन्द्रियैः ॥१८११॥

तिक्तस्य कटुकस्यापि त्यागो नः क्रियतेजिनैः । उक्तं रसपरित्यागं तप्तपोकमवशन्तकम् ॥१८१२॥

अर्थ—इन्द्रियोंको जीतने वाले मुनिराज जो दही, दूध, गुड़, तैल, घी, लवण, कषायता, खट्टा, मीठा, कड़वा, तीखा आदि रसों का त्याग कर देते हैं उसको इन्द्रिय

और मद को नाश करनेवाला रसपरित्याग नामका तप भगवान् जिनेन्द्रदेव कहते हैं ।
॥१८११-१८१२॥

मद्यदि त्याग की प्रेरणा—

मद्यमांसमधुमध्वेधनवनीतमिमाः सदा । मिथ्या विकृतयस्तयाज्याभ्यतन्नः पापस्त्राभय ॥१८१३॥

अर्थ—मद्य, मांस, मधु और नवनीत ये चारों ही पदार्थ मिथ्य हैं, विकार उत्पन्न करनेवाले हैं और पापकी खानि हैं । इसलिये इन चारों का सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये ॥१८१३॥

आचाम्ल और निर्विकृत आहार का स्वरूप तथा उसे लेने की प्रेरणा—

सदुष्णेकांजिके शुद्धमाप्लाव्यभुज्यतेशानम् । जितेन्द्रियस्तपोर्थं यदाचाम्लउच्यतेन्नतः ॥१८१४॥

आहारो भुज्यते दुग्धाविकपंचरसातिगः । दमनापाक्षशत्रूणां य सा निर्विकृतिमंता ॥१८१५॥

आचाम्लनिर्विकृताख्ये तपसे तेनधे न्वहम् । पंचाभारातिघाताय कसंब्येविधिवदुर्वः ॥१८१६॥

अर्थ—जितेन्द्रिय पुरुष अपना तपश्चरण बढ़ाने वाले जो गर्म कांजी में (भात के मांड में) शुद्ध आहार मिलाकर आहार लेते हैं उसको आचाम्ल कहते हैं । मुनिराज अपने इन्द्रियरूपी शत्रुओं को दमन करने के लिये दूध, दही आदि पांचों रसों से रहित नीरस आहार लेते हैं उसको निर्विकृत कहते हैं । बुद्धिमान् मुनियोंको अपना तपश्चरण बढ़ाने के लिये और पांचों इन्द्रियरूपी शत्रुओंको नाश करने के लिये विधि पूर्वक पाप-रहित ऐसे आचाम्ल और निर्विकृत नामका आहार प्रतिदिन लेना चाहिये ॥१८१४-१८१६॥

रस परित्याग तपका फल एवं उसे करने की प्रेरणा —

रसत्यागतपोभिश्चबुद्धान्तेन्द्रियनिर्जयः । रसधर्माविमहर्षीर्यं जायते च सिवं सताम् ॥१८१७॥

विवित्तेति फलं चास्य महत्कुर्वन्सु संयताः । एक ह्याविरस त्यागैरसत्यागततपः सदा ॥१८१८॥

अर्थ—इस रसपरित्याग नामके तपसे प्रबल इन्द्रियों का विजय होता है, रस ऋद्धि आदि महा शक्तियां प्रगट होती हैं और सज्जनों को मोक्ष की प्राप्ति होती है । इसप्रकार इस तपका फल समझकर मुनियों को एक दो आदि रसों का त्याग कर इस रसपरित्याग तपको सदा धारण करते रहना चाहिये ॥१८१७-१८१८॥

विविक्त शय्यासन तपका स्वरूप—

नारीदेवीयशुक्लीवगुहृणादिविवर्जिते । शून्यागारेश्मशानेवा प्रवेशे निजनेवने ॥१८१९॥

विधोयतेगुहाधी वा मत्सवाशयनासनम् । ध्यानाध्ययनसिद्धयर्थं तद्विविक्तशयनासनम् ॥१८२०॥

अर्थ—मुनिराज अपने ध्यान और अध्ययन की सिद्धि के लिये स्त्री, देवी, पशु, नपुंसक आदि तथा गृहस्थ जहां निवास न करते हों ऐसे सूने प्रदेशों में वा श्मशान में वा निर्जन वन में अथवा गुफा आदि में शयन करते हैं वा बैठते हैं उसको विविक्त-शय्यासन नामका तप कहते हैं ॥१८१९-१८२०॥

विविक्त शय्यासन तपका फल उसे पालन करने की प्रेरणा—

ध्यानाध्ययननिर्विघ्नारागद्वेषाविहानयः । लभ्यन्तेतपसानेनसाम्प्रसादा महागुणाः ॥१८२१॥

मत्वेतीह तपः कार्यं ध्यानादिसिद्धये भवम् । सरागस्यानकास्त्यक्त्वा स्थित्वाशून्यगुहादिषु ॥२२॥

अर्थ—इस तपश्चरण से ध्यान और अध्ययन निर्विघ्न रीति से होते हैं तथा रागद्वेष आदि कषायों का सर्वथा नाश हो जाता है । इसके सिवाय इस तपश्चरण से समता आदि अनेक महागुण प्रकट हो जाते हैं । यही समझकर ध्यान अध्ययन आदि की सिद्धि के लिये मुनियों को राग उत्पन्न करनेवाले स्थानों का त्याग कर और निर्जन एकांत स्थान में निवास कर प्रतिदिन इस तपश्चरण का पालन करते रहना चाहिये । ॥१८२१-१८२२॥

कायक्लेश तपका स्वरूप—

कायोत्सर्गकपाश्वर्षादिशय्यावज्रासनाविभिः । आतपनादियोगैश्च त्रिकालगोचरैः परैः ॥१८२३॥

तपोबुद्ध्या मनः शुद्ध्या कायक्लेशोविधीयते । यः कायशर्महान्ये तत्कायक्लेशतपोमहत् ॥२४॥

अर्थ—मुनिराज शरीर के सुख की हानि के लिये तपश्चरण बढ़ाने के लिये मनकी शुद्धता के साथ-साथ कायोत्सर्ग धारण कर, एक कर्बटसे सोकर वज्रासन आदि कठिन आसन लगाकर, वा वर्षा ग्रीष्म आदि तीनों ऋतुओं में होनेवाले उत्कृष्ट आतापनादिक कठिन योग धारण कर जो कायक्लेश सहन करते हैं उसको सर्वोत्कृष्ट कायक्लेश नामका तप कहते हैं ॥१८२३-२४॥

कायक्लेश तप करने का फल एवं उसे धारण करने की प्रेरणा—

बलधर्माद्यामहदीश्व सुखं त्रैलोक्यसंभवम् । कामेन्द्रियजयादीनिलभ्यतेत्यफलाद्विदः ॥१८२५॥

विज्ञायेति सदा कार्यः कायक्लेशोद्युक्ताकरः । निजशक्त्यनुसारेण विद्वद्भिः शिवशर्मणो ॥१८२६॥

अर्थ—इस तपश्चरण के फल से विद्वानों को बल ऋद्धि आदि अनेक महा ऋद्धियां प्राप्त होती हैं तीनों लोकों में उत्पन्न होनेवाला सुख प्राप्त होता है और कामे-

न्द्रिय का विजय होता है । यही समझकर विद्वानों को मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार अनेक गुणों की खानि ऐसा यह कायक्लेश नामका तप अवश्य धारण करना चाहिये ॥१८२५-१८२६॥

बाह्य तपका स्वरूप—

येन नोत्पद्यते पुंसां संक्लेशो मनसोऽशुभः । वर्तते तपसाश्रद्धादुर्ध्वानाविपरिक्षयः ॥१८२७॥

न हीयन्ते महायोगा बद्धन्ते प्रवररागुराः । अभ्यन्तरतर्पास्यन्नतद्बाह्यं परमं तपः ॥१८२८॥

अर्थ—जिस तपश्चरणसे मनुष्यों के मनमें अशुभ संक्लेश उत्पन्न न हो, जिससे तपश्चरणमें श्रद्धा उत्पन्न होती रहे, अशुभध्यानों का नाश होता रहे, महायोग वा धर्म-शुक्ल ध्यान में किसी प्रकार की कमी न हो, श्रेष्ठ गुण बढ़ते जाय और अभ्यन्तर तपश्चरण भी जिससे बढ़ते जाय उसको बाह्य परम तपश्चरण कहते हैं ॥१८२७-२८॥

अभ्यन्तर तप की वृद्धि हेतु बाह्य तप करने की प्रेरणा—

अभ्यन्तरतपोवृद्धयर्थं बाह्यं निखिलं तपः । कीर्तितंवीतरागेण ध्यानाध्ययनकारणम् ॥१८२९॥

मत्वेत्यन्तस्तपो वृद्धयर्थं तपोबाह्यं तपोधनाः । सर्वशक्त्या प्रकुर्वन्तु कर्मणाम्बै शिवाय च ॥१८३०॥

अर्थ—भगवान् सर्वशिवेव ने अभ्यन्तर तप को बढ़ाने के लिये ही ध्यान और अध्ययन का कारण ऐसा यह अनेक प्रकार का बाह्य तपश्चरण बतलाया है । यही समझकर तपस्वी लोगों को अपने अंतरंग तपकी वृद्धि के लिये, कर्मों को नाश करने के लिये और मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपनी समस्त शक्ति लगाकर इस बाह्य तपश्चरण को पालन करना चाहिये ॥१८२९-३०॥

अभ्यन्तर के कथन की प्रतिज्ञा और उसका स्वरूप—

इति बाह्यं तपः सम्यगुच्यारूपाय धीजिनागमात् । इत ऊर्ध्वं सतां सिद्धयर्थं ब्रह्माभ्यन्तरं तपः ॥

व्यक्तं यन्नापरेषां वा तपः कर्तुं न शक्यते । मिथ्यादृष्टिः शक्यस्तन्नाभ्यन्तरं प्रवरं तपः ॥३२॥

अर्थ—इसप्रकार जैन शास्त्रों के अनुसार बाह्यतप का निरूपण अच्छी तरह से किया । अब आगे सज्जनों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अभ्यन्तर तपका निरूपण करते हैं । जो तप दूसरों के द्वारा प्रगट दिखाई न दे, तथा मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जिस तपको धारण न कर सके उसको श्रेष्ठ अभ्यन्तर तप कहते हैं ॥३१-३२॥

अभ्यन्तर तप के भेद—

प्रायश्चित्तं च बोधनं विनयं सवृण्णाकरम् । वैशाख्यं तपः सारं स्वाध्यायो धर्मसागरः ॥३३॥

कायोत्सर्गः शुभध्यानमित्यन्तः शुद्धिकारणम् । अभ्यन्तरं तपः शोढास्यादन्तः शत्रुघातकम् ॥३४॥

अर्थ—समस्त दोषों को दूर करनेवाला प्रायश्चित्त, श्रेष्ठ गुणोंकी खानि ऐसा विनय, तपश्चरण का सारभूत तप वैयावृत्ति, घर्मका सागर स्वाध्याय, तथा कायोत्सर्ग और अंतरंग को शुद्ध करनेवाला शुभध्यान यह छह प्रकार का अंतरंग तप है यह छहों प्रकार का अंतरंग तप समस्त अंतरंग शत्रुओं को नाश करनेवाला है ॥१८३३-३४॥

प्रायश्चित्त तपका स्वरूप व उसके भेद—

कृतदोषो मुनियेनविशुद्धयतितरां व्रतैः । दशभूषं दशभेदतप्रायश्चित्तं विशुद्धिवम् ॥१८३५॥

आलोचनं च दोषघ्नं प्रतिक्रमणमूजितम् । ततस्तदुभयं सारं विवेको गुणसागरः ॥१८३६॥

कायोत्सर्गस्तपश्छेदो मूलं दोषक्षयंकरम् । परिहारश्चश्रद्धानं प्रायश्चित्तं दश त्मकम् ॥१८३७॥

अर्थ—जिस ध्यानसे मुनियों के व्रतों में लगे हुए दोष शुद्ध हो जाय उसको प्रायश्चित्त कहते हैं, इस प्रायश्चित्त के दश भेद हैं और यह समस्त व्रतों को शुद्ध करने वाला है । दोषों को नाश करनेवाली आलोचना १, उत्कृष्ट प्रतिक्रमण २, सारभूत तदुभय ३, गुणोंका सागर ऐसा विवेक ४, कायोत्सर्ग ५, तप ६, छेद ७, दोषों को क्षय करनेवाला मूल ८, परिहार ९, और श्रद्धान १०, यह दश प्रकार का प्रायश्चित्त कहलाता है ॥१८३५-३७॥

आलोचना प्रायश्चित्त का स्वरूप—

प्रायश्चित्तादिसिद्धांतविधः सूत्रैः रहस्यपि । पञ्चाचाररतस्यान्ते स्थित्वामार्था निवेदतम् ॥३८॥

यद्विशुद्धयं व्रतादीनांयोगैः कृतादिकर्मभिः । कृतातीचारकृत्स्नानां तदालोचनमुच्यते ॥१८३९॥

अर्थ—जो आचार्य प्रायश्चित्त और सिद्धांतशास्त्रों के जानकार हैं और जो पञ्चाचार पालन करने में लीन हैं, उनके समीप एकांत में बैठकर अपने व्रत तप आदि की शुद्धि के लिये बिना किसी छलकपटके सन्-वचन-काय और कृत कारित अनुमोदना से किए हुए समस्त अतिचारोंका निवेदन करना आलोचना कहलाता है ॥१८३८-३९॥

आकंपितादि दोष से रहित आलोचना करना चाहिये—

आकंपिताख्यो दोषोऽनुमानितोदृष्टसंज्ञकः । वादरः सूक्ष्मदोषश्छद्मः शब्दाकुलिताह्वयः ॥४०॥

दोषो बहुजनो व्यक्तस्तत्सेविसप्तमाह्वयः । दशदोषा अमीत्याज्या आलोचनस्य संयतैः ॥१८४१॥

अर्थ—इस आलोचना के आकंपित, अनुमानित, दृष्ट, वादर, सूक्ष्म, छद्म, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त, तत्सेवित ये दश दोष हैं । मुनियों को इन दश दोषों से

रहित आलोचना करनी चाहिये ॥१८४०-४१॥

आकंपित दोष का स्वरूप—

रम्योपकरणे वस्ते ज्ञानासौ सति चापरे । तुष्ट्यै सूरिर्ममप्रायश्चित्तंस्तोक्तं हि दास्यति ॥१८४२॥

मत्वेति प्राक्प्रदायोच्चं ज्ञानोपकरणादिकम् । सूरैरालोचनं यत्स दोष आकंपिताह्वयः ॥१८४३॥

अर्थ—यदि आचार्य महाराज को कोई सुन्दर ज्ञानोपकरण दे दिया जाय तो आचार्य सन्तुष्ट हो जायेंगे और मुझे बहुत थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे । यही समझकर जो आचार्य को पहले ज्ञानोपकरणादिक देता है और फिर उनके समीप जाकर आलोचना करता है उसको आकंपित नामका दोष कहते हैं ॥१८४२-४३॥

अनुमानित दोष का स्वरूप—

पिसाधिकः प्रकृत्याहं दुर्बलोऽस्मान एव च । तालं कर्तुं समर्थोऽस्युपवासादिकमुत्स्वर्णम् ॥१८४४॥

यदि मे दीयते स्वल्पं प्रायश्चित्तं ततः स्फुटम् । करिष्ये स्वस्थदोषाणां सर्वेषां च निवेदनम् ॥४५॥

नाभ्यवेति वचोभोक्त्वा क्रियते सूरिसन्निधौ । शिष्यैरालोचनं यत्स दोषोऽनुमानिताभिधः ॥१८४६॥

अर्थ—मेरे शरीर में पित्त प्राकृतिका अधिक प्रकोप है अथवा मैं स्वभाव से ही दुर्बल हूं, अथवा मैं रोगी हूं इसलिये मैं अधिक बां तोत्र उपवासादिक नहीं कर सकता । यदि मुझे बहुत थोड़ा प्रायश्चित्त दिया जायगा तो मैं अपने समस्त दोषों का निवेदन प्रगट रीति से कर दूंगा अन्यथा नहीं इसप्रकार कहकर जो शिष्य आचार्य के समीप अपने दोष निवेदन करता है उसको अनुमानित दोष कहते हैं ॥१८४४-४६॥

दृष्ट दोष का स्वरूप—

अन्यैरदृष्ट दोषाणां कृत्वोपशूहनं च यत् । कथनं दृष्टदोषाणां दृष्टदोषः स उच्यते ॥१८४७॥

अर्थ—जो शिष्य दूसरों के द्वारा बिना देखे हुए दोषों को तो छिपा सेता है और देखे हुए दोषों को निवेदन कर वेता है उसके आलोचना का दृष्ट नाम का दोष लगता है ॥१८४७॥

वादर दोष का स्वरूप—

आलस्यवचप्रमादाद्वाह्य ज्ञानाद्वा लसंयतः । अल्पापराधराशीनां निवेदनादृते भुवि ॥१८४८॥

आचार्यनिकटे येष स्थूलदोषनिवेदनम् । विधीयते स दोषश्चतुर्थो वादरसंज्ञकः ॥१८४९॥

अर्थ—जो बालक मुनि वा अज्ञानी मुनि अपने आलस्य प्रमाद वा अज्ञान से छोटे-छोटे अपराधों को तो निवेदन नहीं करता किंतु अपने आचार्य से स्थूल दोषों को

निवेदन करता है उसको चौथा चादर नामका दोष कहते हैं ॥१८४८-४९॥

सूक्ष्म दोष का स्वरूप—

अयसो दुष्करप्रायश्चित्तादिभयतोयवा । अयं सूक्ष्मातिचारणं परिहारक ऊजितः ॥१८५०॥

अहोमत्सेतियःसूक्तः स्वगुणव्यापनेच्छया । स्थूलदोषशतादीनां कृत्वासंवरणमहत् ॥१८५१॥

सूरेर्महाव्रतादीनां स्वल्पदोषनिवेदनम् । मायया क्रियते यत्स दोषः सूक्ष्माभिधानकः ॥१८५२॥

अर्थ—जो अज्ञानी मुनि अपने अपयश के डर से अथवा कठिन प्रायश्चित्त के डरसे, अथवा “देखो इसके कंते शुद्ध भाव हैं जो सूक्ष्म दोषों को भी अच्छी तरह प्रगट कर देता है” इसप्रकार के अपने गुणों के प्रगट होने की इच्छा से सँकड़ों बड़े-बड़े स्थूल दोषों को तो छिपा लेता है तथा मायाचारी से आचार्यके सामने महाव्रतादिकों के सूक्ष्म दोषोंको निवेदन कर देता है उसको पाँचवां सूक्ष्म नामका दोष कहते हैं ॥१८५०-५२॥

छस्र नामक दोष का स्वरूप—

ईक्षुशेसत्पत्नीचारे प्रायश्चित्तं हि कीदृशम् । इत्युपायेनपृष्ट्वा स्वगुरुं सुश्रूषया ततः ॥१८५३॥

स्वदोषहानयेशिष्यः प्रायश्चित्तंविधीयते । यदकीर्तिभयात्लोके छस्रदोषः स दोषवः ॥१८५४॥

अर्थ—जो शिष्य लोक में फैलने वालो अपनी अपकीर्ति के भयसे अपने दोषों को दूर करने के लिये सुश्रूषा करके गुरुसे पूछता है कि हे स्वामिन् “इसप्रकार अतिचार लगने पर कैसा प्रायश्चित्त होना चाहिये” इसप्रकार किसी भी उपाय से पूछकर वह जो प्रायश्चित्त लेता है, वह अनेक दोषों को उत्पन्न करने वाला छस्र नाम का दोष कहलाता है ॥१८५३-५४॥

शब्दाकुलित दोष का स्वरूप—

पाक्षिके दिवसे चातुर्मासिके शुभकर्मणि । वा सांवत्सरिके तीव्र समवाये महात्मनान् ॥१८५५॥

स्वस्वास्तोषम संजाते बहुशब्दाकुलेसति । यदोष कथनं दोषः शब्दाकुलित एव स ॥१८५६॥

अर्थ—जिस समय पाक्षिक आलोचना हो रही हो अथवा वैवस्विक वा चातुर्मासिक आलोचना हो रही हो अथवा वार्षिक आलोचना हो रही हो अथवा किसी शुभ काम के लिये महात्माओं का समुवाय इकट्ठा हुआ हो, तथा सब इकट्ठे मिलकर अपनी-अपनी आलोचना कर रहे हों और उन सबके शब्द ऊँचे स्वर से निकल रहे हों उस समय अपने दोष कहना जिससे किसी को मालूम न हो सके उसको शब्दाकुलित दोष कहते हैं ॥१८५५-५६॥

बहुजन नामक दोष का स्वरूप—

गुरुपरावितं प्रायश्चित्तं युक्तिमिव नवा । प्रायश्चित्तविदग्धे हीतिशंका विधाय यत् ॥१८५७॥

निकटेऽपरसुरोणां प्रश्नो विधीयते बुधैः । दत्तदण्डस्य निघ्नः स दोषो बहुजनाख्यकः ॥१८५८॥

अर्थ—आचार्य ने किसी शिष्य को प्रायश्चित्त दिया हो और फिर वह यह शंका करे कि आचार्य महाराज ने जो यह प्रायश्चित्त दिया है वह प्रायश्चित्त ग्रंथों के अनुसार ठीक है या नहीं तथा ऐसी शंका कर जो दूसरे किसी आचार्य से पूछता है उस समय उस प्रायश्चित्त लेनेवाले के बहुजन नामका दोष लगता है ॥१८५७-१८५८॥

अव्यक्त नामक दोष का स्वरूप—

स्वसमानयतेरन्ते यद्दोषालोचनं महत् । जिनागमानभिज्ञस्य दोषोऽस्याव्यक्तसंज्ञकः ॥१८५९॥

अर्थ—जो मुनि जिनागमको न जानने वाले अपने ही समान किसी मुनि के समीप जाकर अपने बड़े-बड़े दोषों की आलोचना करता है, आचार्य से आलोचना नहीं करता है उसके अव्यक्त नामका दोष लगता है ॥१८५९॥

तत्सेवित नामक दोष का स्वरूप—

समानोऽपराधेन भेति चारो व्रतस्य वै । अस्मै यद्गुरुणा दत्तं प्रायश्चित्तं तदेव हि ॥१८६०॥

ममाप्याचरितुं युक्तं मत्वेत्यालोचनां विना । तपोभिः शोधनं यत्स दोषस्तत्सेविताभिधः ॥१८६१॥

अर्थ—जो मुनि यह समझकर कि मेरे व्रतों में जो अतिचार लगा है वह ठीक वंसा ही है जैसा कि अमुक मुनि के व्रतोंमें अतिचार लगा है इसलिये आचार्य महाराज ने जो प्रायश्चित्त इसको दिया है वही प्रायश्चित्त मुझे ले लेना चाहिये । यही समझकर जो बिना आलोचना के तपश्चरण के द्वारा अपने व्रतोंको शुद्ध करता है उसके तत्सेवित नामका दोष लगता है ॥१८६०-१८६१॥

दोष सहित आलोचना से व्रतों की शुद्धि नहीं—

अभीष्टां केनचिद्दोषेणान्वितालोचनं कृतम् । मायाविनां सशल्यानां मनाक्षुद्धिकरं न हि ॥१८६२॥

अर्थ—जो मायाचारी शल्यसहित मुनि इन दश दोषों में से किसी भी दोषके साथ आलोचना करते हैं उनकी उस आलोचना से व्रतों की शुद्धि थोड़ी सी भी नहीं होती ॥१८६२॥

दोष रहित आलोचना से ही व्रतों की शुद्धि—

दशदोषानिमांस्त्यक्त्वा जालकैरिवसंयतैः । स्वदोषकथनं यत्क्रियते शुद्धिकरं हि तत् ॥१८६३॥

अर्थ—जो मुनि इन वश दोषोंकी छोड़कर बालक के समान सरल स्वभाव से अपने दोषों को कह देते हैं उन्हीं की आलोचना से उनके सब अत शुद्ध हो जाते हैं ।
॥१८६३॥

मलीन दर्पण सदृश्य आलोचना बिना महाव्रत सार्थक नहीं—

महत्तपोव्रतसर्वे धानालोचनपूर्वकम् । न स्वकार्यकरं जातु मलिनावर्शवद्भूवि ॥१८६४॥

अर्थ—जिसप्रकार मलिन दर्पण अपना कुछ काम नहीं कर सकता उसमें मुख नहीं दिख सकता उसी प्रकार महा तपश्चरणा और महाव्रत भी बिना आलोचना के अपना कुछ भी काम नहीं कर सकते, अर्थात् उनसे कर्मों का संवर वा निर्जरा नहीं हो सकती ॥१८६४॥

शुद्ध हृदय से दोषों को प्रगट करना चाहिये—

विदित्वेतिधिरं चित्रे कथयथाप्यस्वदूषणम् । प्रकाशनीयमत्यर्थं गुरोरन्तेशुभाशयेः ॥१८६५॥

अर्थ—यही समझकर अपने हृदय में अपने दोषोंकी अच्छी तरह समझ लेना चाहिये और फिर अपने शुद्ध हृदय से गुरु के समीप उन दोषों को प्रगट कर देना चाहिये ॥१८६५॥

दोषों की आलोचना कब किस विधि से करें—

सुरेरेकाकिनः पार्ष्वे स्वदोषाणां प्रकाशनम् । अद्वितीयस्यशिष्यस्यैकान्तेप्युक्तं न धान्यथा ॥६६॥

प्रकाशे विषसेसुरेरन्ते स्वालोचनादिकम् । आधिकायाः सतामिष्टं तृतीये सज्जनेसति ॥१८६७॥

अर्थ—जिस समय आचार्य एकांत में अकेले विराजमान हों उस समय अकेले शिष्य को उनके समीप जाकर अपने दोष कहने चाहिये किसी के सामने अपने दोष नहीं कहने चाहिये । अजिकाएं दिन में ही प्रकाश में ही किसी को साथ लेकर आचार्य के समीप जाकर अपने दोषों की आलोचना करती हैं ऐसा सज्जन लोग कहते हैं ।
॥१८६६-१८६७॥

प्रायश्चित्त लेने में प्रमाद नहीं करना चाहिये—

कृतालोचनदोषो यो न तद्दोषापहं तपः । कुर्वन्तिस्म न जायेत मनाक्शुद्धिः प्रमादिनः ॥१८६८॥

विज्ञायेति ह्यसं कार्यं प्रायश्चित्तं मलापहम् । न चास्याचरणेकिञ्चिद्विषये काललंघनम् ॥१८६९॥

अर्थ—जो मुनि दोषों की आलोचना कर लेता है परन्तु उस दोष को दूर करनेवाले तपश्चरणको नहीं करता उस प्रमादीके दोषों की शुद्धि कभी नहीं हो सकती ।

यही समझकर शिष्यों को बहुत ही शीघ्र दोषों को दूर करनेवाला प्रायश्चित्त लेना चाहिये । प्रायश्चित्तके लेने में थोड़ीसी भी देर नहीं करनी चाहिये ॥१८६८-१८६९॥

प्रतिक्रमण का स्वरूप—

विनाविजयतातीचाराणां निदनगर्हणः । विशोचनं त्रिशुद्ध्या यत्प्रतिक्रमणमेव तत् ॥१८७०॥

अर्थ—दिन वा रात के व्रतों में जो अतिचार लगे हों उनको मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक निंदा, गर्हा आदि के द्वारा शुद्ध करना प्रतिक्रमण कहलाता है । ॥१८७०॥

आलोचना सहित प्रतिक्रमण का स्वरूप—

कश्चिद्दोषो व्रतादीनां नश्यत् आलोचनाद्भूतम् । दुःस्वप्नादिजकर्म यत्सत्प्रक्रमणेन च ॥१८७१॥

सत्त्वैव आलोचनापूर्वं प्रतिक्रमणं तज्जमा । यद्विनाशनीयं यत्प्रक्रमणे तदुभयं हि तत् ॥१८७२॥

अर्थ—व्रतादिकों के कितने ही दोष आलोचना से नष्ट होते हैं और दुःस्वप्न आदि से उत्पन्न होनेवाले कितने ही दोष प्रतिक्रमण से नष्ट होते हैं । यही समझकर पाक्षिक चानुर्मसिक वार्षिक दोषों को दूर करने के लिये वचनपूर्वक जो आलोचना सहित प्रतिक्रमण विद्या जाता है उसको तदुभय कहते हैं ॥१८७१-१८७२॥

विवेक नामक प्रायश्चित्त का स्वरूप—

द्रव्यक्षेत्राश्रयानोपकरणाविषु बोधतः । निर्धर्तनं हृदयात् सविवेको य नेकधाथवा ॥१८७३॥

प्रत्याख्यानस्य वस्तोर्ग्रहणे विस्मरणात्सति । स्मृत्वा पुनश्च तत्त्वानो यो विवेकः स कथ्यते ॥७४॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, अश्रय, पान, उपकरण आदि के दोषों से शुद्ध हृदयसे अलग रहना विवेक है । यह विवेक अनेक प्रकार का है । अथवा भूल से त्याग को हुई वस्तु का ग्रहण हो जाय और स्मरण हो आने पर फिर उसका त्याग कर दिया जाय उसको विवेक कहते हैं ॥१८७३-१८७४॥

कायोत्सर्ग नामक प्रायश्चित्त का वर्णन—

दुश्चिन्तनं सं दुःस्वप्नदुर्ध्यानाद्यं मूलं प्रवृत्तिः । मार्गव्रजनमद्याद्युत्तरणं परेदृशः ॥१८७५॥

जातातोचारशुद्धयर्थमासंख्यध्यानमुत्तमम् । कामस्य त्यजनं युक्त्यामत्स व्युत्सर्गं ऊजितः ॥१८७६॥

अर्थ—अशुभ चिन्तन, आसंख्यध्यान, दुःस्वप्न, दुर्ध्यान आदि से उत्पन्न हुए दोषों को शुद्ध करने के लिये अथवा मार्ग में चलना, नदी में पार होना तथा और भी ऐसे ही ऐसे कामों से उत्पन्न हुए अतिचारों को शुद्ध करने के लिये उत्तम ध्यान को

धारण कर जो युक्तिपूर्वक शरीर के ममत्व का त्याग करता है उसको श्रेष्ठ कायोत्सर्ग कहते हैं ॥१८७५-१८७६॥

तप नामक प्रायश्चित्त का वर्णन—

व्रतातीक्षारभाशयोपवासाचाम्लयोर्मुदा । तथा निविकृतेरेकस्यातादेः करणं तपः ॥१८७७॥

अर्थ—व्रतों के अतिचारों को दूर करने के लिये उपवास करना, आचाम्ल करना, निविकृति (रसत्याग) करना अथवा एकाशन करना आदि तप कहलाता है । ॥१८७७॥

मुनि को उपरोक्त ६ प्रकार के यथायोग्य प्रायश्चित्त देना चाहिये—

भयोन्मादप्रमादानवबोधाशक्तिकारणैः । अन्यैर्विस्मरणार्थं च जातातीक्षारहानये ॥१८७८॥

व्रतादीनां प्रज्ञातव्यं पूर्वोक्तं षड्विधं यते । प्रायश्चित्तं यथायोग्यं शक्तस्येहे तरस्य च ॥१८७९॥

अर्थ—यदि किसी भयसे, उन्मादसे, प्रमादसे, अज्ञानतासे वा असमर्थता से अथवा विस्मरण हो जाने से वा और भी ऐसे ही ऐसे कारणों से व्रतोंमें अतिचार लगे हों तो उनको दूर करने के लिये समर्थ अथवा असमर्थ मुनि को अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार ऊपर लिखे छहों प्रकार के प्रायश्चित्त देने चाहिये ॥१८७८-१८७९॥

छेद नामक प्रायश्चित्त का स्वरूप—

चिरं प्रवृजितस्येव शूरस्य गवितस्य वा । कृतदोषस्य भासादिविभागेन च योगिनः ॥१८८०॥

छित्वा प्रवृजनं तद्दीक्षया लघुमहात्मनाम् । अधोभागे किलावस्थापनं यच्छेद एव सः ॥१८८१॥

अर्थ—यदि कोई मुनि चिरकालका दीक्षित हो वा शूरवीर हो वा अभिमानी हो और वह अपने व्रतोंमें दोष लगावे तो उसको एक महीना, दो महीना, एक वर्ष, दो वर्ष आदि की दीक्षा का छेद कर देना और उसको उससे छोटे मुनियों से भी (उसके बाद दीक्षित हुए मुनियों से) नीचे कर देना छेद नाम का प्रायश्चित्त कहलाता है । ॥१८८०-१८८१॥

मूल नामक प्रायश्चित्त का स्वरूप—

पार्श्वस्थादिकर्पणानां महादोषकृता पुनः । ब्रह्मसेविनां दीक्षादानं मूलमिहोच्यते ॥१८८२॥

अर्थ—जो महा दोष उत्पन्न करनेवाले पार्श्वस्थ आदि पांच प्रकार के मुनि हैं अथवा जिन्होंने अपने ब्रह्मचर्य का घात कर दिया है, ऐसे मुनियों की सब दीक्षा का

छेद कर उनको फिर से दीक्षा देना मूल नामका प्रायश्चित्त है ॥१८८२॥

परिहार नामके प्रायश्चित्त का स्वरूप व उसके भेद—

परिहारोऽनुस्थापनपारंक्षिक प्रभेदतः । द्विविधः प्रोदितो आचि त्रिक संहननस्य च ॥१८८३॥

अर्थ—परिहार प्रायश्चित्तके दो भेद हैं एक अनुपस्थान और दूसरा पारंक्षिक । यही परिहार नामका प्रायश्चित्त पहले के तीन संहननों को धारण करने वालों को ही दिया जाता है ॥१८८३॥

अनुस्थापन प्रायश्चित्त का भेद—

स्वस्यापरस्यभेदाभ्यां गणस्य श्रीगणाधिपैः । अनुपस्थापनं द्वेधा कीर्तितं श्रीजिनागमे ॥१८८४॥

अर्थ—भगवान् गणधरदेव ने अपने जिनागम में अनुस्थापन के भी दो भेद कहे हैं, एक तो अपने ही संघमें अपने ही आचार्य से परिहार नामका प्रायश्चित्त लेना और दूसरा दूसरे गण में जाकर प्रायश्चित्त लेना ॥१८८४॥

स्वगण अनुस्थापन प्रायश्चित्त किसे देवें—

अन्यसंयतसम्बन्धिनं यति चार्थिकांशुभम् । छात्रं बालं गृहस्थं वा परस्त्री चेतनेतरम् ॥१८८५॥

द्रव्यपाण्डिनीं वा योऽपहरे च्चौर्यं कमणा । मुनीन्हन्ति तथेत्यादि विरुद्धाचरणं चरेत् ॥१८८६॥

नवानां वा दशानां वा पूर्वाणां धारकोमहान् । चिरप्रवृजितः शूरोजिताशेषपरीवहः ॥१८८७॥

दृढधर्मी च तर्क्य प्रायश्चित्तं जितैर्मलम् । अनुपस्थापनं स्वस्यगणाख्यं नापरस्य च ॥१८८८॥

अर्थ—जो मुनि चोरी करके अन्य मुनि के साथ रहनेवाले किसी मुनि को, अच्छी अजिका को, विद्यार्थी को, बालक को, गृहस्थ को वा परस्त्री को अथवा द्रव्य पाण्डियों के अन्य अचेतन पदार्थों को अपहरण करले अथवा किसी मुनिको मार डाले अथवा ऐसा ही कोई अन्य विरुद्धाचरण करे तथा वह मुनि नौ वा ब्रह्म पूर्वका चारी हो उत्कृष्ट हो चिरकाल का दीक्षित हो, शूर हो, समस्त परीवहों को जीतनेवाला हो और बृद्ध धर्मी हो ऐसे मुनिको भगवान् जिनेन्द्रदेव ने अपने ही गणका अनुस्थापन प्रायश्चित्त बतलाया है, उसके लिये परगण सम्बन्धी अनुस्थापन प्रायश्चित्त नहीं बतलाया । ॥१८८५-१८८८॥

स्वगण अनुस्थापन प्रायश्चित्त की विधि—

तेन शिष्याधमावृद्वात्रिशद्वर्णस्तम्भतलम् । विहरेत् ध्वजं नित्यं वीक्षया सद्युसंयतान् ॥८९॥

लभते महि तेभ्यः प्रतिवचनांसहासिलम् । गुरुणां लोचनं कुर्यान्मौनं सदा च योनिभिः ॥९०॥

धृत्वापरान्मुखापिच्छिकां चरेत्पारणं सदा । पंचपंचोपवासैर्जघन्येनोत्कृष्टतो मुदा ॥१८६१॥

षण्मासैर्मध्यमेः शक्या बहुभेदं महाबलः । प्रायश्चित्तं करोत्येवं द्विषड्वर्षान्तमद्भुतम् ॥१८६२॥

अर्थ—इस स्वगण अनुस्थापन प्रायश्चित्त को धारण करनेवाला मुनि शिष्यों के आश्रम से बत्तीस दंड दूर रहता है, जो अन्य मुनि दीक्षासे छोटे हैं उनको भी बंधना करता है परन्तु वे छोटे मुनि भी उसको प्रतिबंधना नहीं करते । वह मुनि मौन धारण करता है अन्य मुनियों के साथ गुरु के सामने मौन धारण करता हुआ ही समस्त दोषों को आलोचना करता है और अपनी पीछीको उलटी रखता है । कम से कम पांच-पांच उपवास करके पारणा करता है तथा अधिक से अधिक छह महीने का उपवास कर पारणा करता है और मध्यम वृत्ति से छह दिन, पन्द्रह दिन, एक महीना आदि का उपवास कर पारणा करता है । इसप्रकार वह शक्तिशाली मुनि अपनी शक्तिके अनुसार अनेक प्रकार के उपवास करता हुआ पारणा करता है और इसप्रकार के अद्भुत प्रायश्चित्तको वह बारह वर्ष तक करता है ॥१८६१-१८६२॥

परगण अनुस्थापन प्रायश्चित्त किसे देव—

स एष वर्पतो बोधान्प्रागुक्तान् नाचरेद्यदि । भयेत्परगणोपस्थापनं दोष क्षयंकरम् ॥१८६३॥

अर्थ—यदि वही चिर दीक्षित शूरवीर मुनि अपने अभिमान के कारण ऊपर लिखे दोषों को लगावे तो उसके लिये आचार्यों ने समस्त दोषों को दूर करनेवाला परगणोपस्थापन नामका परिहार प्रायश्चित्त बतलाया है ॥१८६३॥

परगण अनुस्थापन प्रायश्चित्त की विधि—

सापराधः प्रहेतव्यः सूरिणा गणितंप्रति । सोप्याचार्यो गिराकप्यं तस्यालोचनमंजसा ॥१८६४॥

प्रायश्चित्तमवस्थाप्यन्तरंप्रापयेच्च तम् । इत्येवं स प्रहेतव्योयावत्सूरिश्चसप्तमः ॥१८६५॥

प्रेक्षितः पश्चिमेनैव पूर्वाचार्यप्रतिस्फुटम् । प्रायश्चित्तं चरेत्सर्वप्रागुक्तं स बलान्वितः ॥१८६६॥

अर्थ—उसकी विधि यह है कि आचार्य उस अपराधी को अन्य संघके आचार्य के पास भेजते हैं । वे दूसरे आचार्य भी उसकी कहो हुई सब आलोचना को सुनते हैं तथा बिना प्रायश्चित्त दिये उसको तीसरे आचार्यके पास भेज देते हैं । वे भी आलोचना सुनकर चौथे आचार्य के पास भेज देते हैं । इसप्रकार वह सात आचार्यों के पास भेजा जाता है । सातवें आचार्य आलोचना सुनकर उसको उसके ही गुरुके पास अर्थात् पहले ही आचार्य के पास भेज देते हैं । तदनन्तर वे आचार्य ऊपर लिखा परिहार नामका प्रायश्चित्त देते हैं और वह शक्तिशाली मुनि उस सब प्रायश्चित्त को धारण करता है ।

॥१८६४-१८६६॥

पारंक्षिक प्रायश्चित्त कहने की प्रतिज्ञा—

परिहारस्य भेदोयं द्विधाप्रोक्तो जिनागमात् । पारंक्षिकमितो वक्ष्ये प्रायश्चित्तं सु दुष्करम् ॥६७॥

अर्थ—इसप्रकार जैन शास्त्रोंके अनुसार परिहार प्रायश्चित्तके दोनों भेद बतलाये । अब आगे अत्यंत कठिन ऐसे पारंक्षिक नामके प्रायश्चित्तको कहते हैं ॥१८६७॥

पारंक्षिक अनुपस्थान प्रायश्चित्त का स्वरूप—

तीर्थंकुद्गरणमृत्संघजिनसूत्रादिधर्मिणाम् । करोत्यासादनं राजाननुमत्या वधाति यः ॥१८६८॥
 जिनमुद्राममायादीनां भजेव्राजयोचितः । इत्याद्यन्ये दुराचारैः कुर्याद्धर्मस्य वृषणम् ॥१८६९॥
 तस्य पारंक्षिकप्रायश्चित्तं भवति निश्चितम् । क्षातुवर्णस्वसंघस्थाः संभूयधमरा भूवि ॥१८७०॥
 एषोऽबंधोमहापापी बाह्यः क्षोजितशासनात् । क्षोषयित्वेतिदत्त्वानुपस्थापनं सुदुष्करम् ॥१८७१॥
 प्रायश्चित्तं स्वदेशात् निर्घटयन्तिदोषिणाम् । स्वधर्मरहिते क्षेत्रे सोपिगत्वा महाबलः ॥१८७२॥
 दृढसंहननो धीरः प्रागुक्त क्रमतश्चरेत् । प्रदत्तां गुरुणा सर्वे प्रायश्चित्तां विशुद्धिदम् ॥१८७३॥

अर्थ—जो भुनि तीर्थंकर, गणधर, संघ, जिनसूत्रकी निंदा करता है धर्मत्माओं की निंदा करता है अथवा बिना राजा की सम्मति के उसके मंत्री आदि को जिनदीक्षा दे देता है अथवा राजघराने की स्त्रियों को सेवन करता है अथवा और भी ऐसे ही ऐसे दुराचार कर जो जिनधर्मको दूषित करता है उसके लिये आचार्यों ने पारंक्षिक नामका प्रायश्चित्त निश्चित किया है । उस प्रायश्चित्त को देते समय अपने संघके चारों प्रकार के मुनि इकट्ठे होते हैं और मिलकर घोषणा करते हैं कि यह मुनि महा पापी है, इसलिये अवंदनीय है और भी जिनशासन से बाहर है । तदनंतर वे आचार्य उसको अत्यंत कठिन अनुपस्थापन नामका प्रायश्चित्त देते हैं । तथा उस अपराधी मुनि को वे आचार्य अपने देश से निकाल देते हैं । मजबूत संहनन को धारण करनेवाला धीर वीर महाबलवान् वह मुनि भी जिस देश में जिनधर्म न हो उस क्षेत्र में जाकर गुरु के दिए हुए समस्त दोषों को शुद्ध करनेवाले पूर्ण प्रायश्चित्त को अनुक्रम से पालन करता है । इसको पारंक्षिक अनुपस्थापन प्रायश्चित्त कहते हैं ॥१८६८-१८७३॥

अद्वान नामक प्रायश्चित्त का स्वरूप—

मिथ्यादृष्ट्युपदेशार्थं मिथ्यात्वं च गतस्य या । वृत्तिशुद्धं दक्षितत्वाद्यौशद्धानं तवद्भूतम् ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टियों के उपदेशादिक से जिसने मिथ्यात्व को धारण कर

लिया है वह यदि अपना सम्यग्दर्शन शुद्ध करने के लिये तत्त्वों में वा देव शास्त्र गुरु में श्रद्धान कर लेता है उसको उत्तम श्रद्धान नामका प्रायश्चित्त कहते हैं ॥१६०४॥

१० प्रकार के प्रायश्चित्त पालन करने की प्रेरणा—

एतद्दशविधंप्रायश्चित्तं तद्व्रतशुद्धये । युक्त्वा कालानुसारेण कर्तव्यं मुनिभिः सदा ॥१६०५॥

अर्थ—श्रेष्ठ व्रतों को शुद्ध करने के लिये यह दश प्रकार का प्रायश्चित्त बतलाया है मुनियों को अपने-अपने समय के अनुसार युक्ति पूर्वक इनका पालन करना चाहिये ॥१६०५॥

प्रायश्चित्त नहीं लेने से हानि का वर्णन दृष्टान्त पूर्वक—

यो महत्स्रुतपो मत्वा प्रायश्चित्तं करोति न व्रतादिदोषशुद्धयर्थं शठात्मा गविताशयः ॥१६०६॥

तस्य सर्वतपोधृत्तां तद्दोषो नाशयेद्भुतम् । सहास्रलैर्गुणैर्घः कुथितताम्बूलपत्रवत् ॥१६०७॥

अर्थ—जो मूर्ख अभिमानी मुनि अपने तपश्चरणको महा तपश्चरण समझकर व्रतादिक के दोषों को शुद्ध करने के लिये प्रायश्चित्त नहीं करता उसके समस्त व्रतों को तथा समस्त तपश्चरण को वे दोष शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं तथा उन व्रत और तपके नाश के साथ-साथ उसके समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं । जैसे कि सड़ा हुआ एक पान अन्य सब पानों को सड़ा देता है । उसीप्रकार एक ही दोष से सब व्रत तप गुण नष्ट हो जाते हैं ॥१६०६-१६०७॥

प्रायश्चित्त पालन करने का फल—

प्रायश्चित्तेन निःशल्यं मनो भवति निर्मलाः । दृग्ज्ञानाद्यागुणोघाः स्युश्चारित्रं शशिनिर्मलम् ॥

संघमाग्न्यमभीतिः स्यात्तिः शल्यं मरणोत्तमम् । इत्याद्या बहुबोन्धे च जायन्ते सवर्गुणाः सताम् ॥

अर्थ—इस प्रायश्चित्त को धारण करने से मन शल्य रहित हो जाता है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानादिक गुणों के समूह सब निर्मल हो जाते हैं, चारित्र्य चन्द्रमा के समान निर्मल हो जाता है, वे मुनि संघ में माननीय माने जाते हैं, उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं रहता और उनका मरण शल्य रहित सर्वोत्तम होता है । इसप्रकार प्रायश्चित्त धारण करने से सज्जनों को बहुत से गुण प्रगट हो जाते हैं ॥१६०८-१६०९॥

पुनः प्रायश्चित्त धारण करने की प्रेरणा—

विज्ञायेति यदा कश्चिद्दोषः उत्पद्यते व्रते । प्रायश्चित्तं तदेवात्र कर्तव्यं तद्विशुद्धये ॥१६१०॥

अर्थ—यही समझकर मुनियोंको अपने व्रतोंमें जब कभी दोष लग जाय उसी

समय में अपने वृत्तोंको शुद्ध करने के लिये प्रायश्चित्त धारण करना चाहिये ॥१६१०॥

विनय का स्वरूप और उसके भेद—

कषायेन्द्रिय क्षौराणां शक्या विजयं वलात् । विनयो वा सतानीचैव सिरत्नत्रयस्य यः ॥१६११॥

तद्वत्तांसज्जनैः प्रोक्तोविनयोऽनिष्टघात कः । विषयविद्याकरीभूतः पञ्चधागुणसागरः ॥१६१२॥

दर्शनज्ञानचारित्र्यसपसां विनयोमहान् । उपचाराभिद्यश्चेति विनयः पञ्चधा मतः ॥१६१३॥

अर्थ—कषाय और इन्द्रिय रूपी क्षौरों को अपनी शक्ति के अनुसार बलपूर्वक जीतना विनय है । अथवा सज्जनों के प्रति भक्तता धारण करना वा रत्नत्रयकी विनय करना रत्नत्रय को धारण करनेवालों की विनय करना सज्जन पुरुषों के द्वारा विनय कहलाता है । यह विनय समस्त अनिष्टों को दूर करनेवाला है, समस्त विद्याओं की खानि है और गुणों का समुद्र है । ऐसा यह विनय तप पांच प्रकार का है । दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्र्यविनय, तपविनय और सर्वोत्कृष्ट उपचारविनय इसप्रकार विनय के पांच भेद हैं ॥१६११-१६१३॥

दर्शन विनय का स्वरूप उसका फल—

ये पदार्थाः जिनेः प्रोक्तास्तस्या स एव नान्यथा । क्षीतरागाश्चसर्वज्ञा यतो नास्त्यवाविनः ॥१६१४॥

इतियुक्तिविचारार्थस्तत्त्वावी निश्चयोऽखलः । क्रियते यो जिते जेनागमेर्द्धर्मयोगिषु ॥१६१५॥

निःशकिताविसर्बेधामंगानां यच्चधारणम् । शंकावि त्यज्यं कृत्स्नं सूक्ष्मतत्त्वविचारणे ॥१६१६॥

भक्तिर्द्वयरायैकाभूताहंमुनिर्धमिषु । सम्यग्बुद्धिजनावी च रुचिर्मुक्तिपथेद्वये ॥१६१७॥

इत्यादि यच्छुभाधारमपरं वा विधीयते । विनयो दर्शनाख्यः स सर्वोगुणकरोघहृत् ॥१६१८॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने जो तत्त्व बतलाये हैं तथा जिसप्रकार बतलाये हैं वे ही तत्त्व यथार्थ तत्त्व हैं तथा वे उसी प्रकार हैं अन्यथा नहीं हैं । क्योंकि भगवान् जिनेन्द्रदेव क्षीतराग और सर्वज्ञ हैं इसलिये वे असत्यवादी कभी नहीं हो सकते । इस प्रकार युक्ति और विचार पूर्वक तत्त्वाविकों में अचल श्रद्धान करना, समस्त जैन शास्त्रों में श्रद्धान करना, देव, धर्म, गुरु में अचल श्रद्धान करना, निःशंकित भावि समस्त अंगों का पालन करना, सूक्ष्म तत्त्वोंका विचार करते समय समस्त शंकादिक दोषों का त्याग कर देना, देवशास्त्र गुरु और धर्म में अत्यंत बृह भक्ति धारण करना, सम्यग्बुद्धि पुरुषों में, मोक्षके मार्ग में तथा जिनधर्म में गाढ़ रुचि वा प्रेम धारण करना तथा इसी प्रकार के और भी जो शुभाधार धारण करना है उसको दर्शनविनय कहते हैं । यह दर्शनविनय समस्त गुणोंकी खानि है और समस्त पापों को नाश करनेवाला है ॥१६१४-१६१८॥

ज्ञान विनय के स्वरूप का वर्णन—

कालाचारं रष्ट्राचारं विनयेनार्चनादिभिः । कृत्स्नानामंगपूर्वाणां ज्ञानायाज्ञानहानये ॥१६१६॥
त्रिशुद्ध्या पठनं शुद्धं पाठनं यच्च योगिनाम् । चिन्तनं हृदयेत्यर्थं परिवर्तनमंजसा ॥१६२०॥
व्यापनं कीर्तनं लोके प्रकाशनमनारतम् । ज्ञानिनां भक्तिसन्मानं ज्ञानाविगुणभाषणम् ॥१६२१॥
इत्याद्यन्यच्छ्रुतज्ञानगुणग्रहणभूजितम् । क्रियते स समस्तोपि ज्ञानाध्योविनयोद्भूतः ॥१६२२॥

अर्थ—अपने ज्ञान की वृद्धि करने के लिये और अज्ञान को दूर करने के लिये विनय के साथ तथा कालाचार, शब्दाचार, अर्थाचार आदि आठों आचारों के साथ-साथ समस्त अंग और पूर्वों की पूजा करना, मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक अंग पूर्वों की शुद्ध पढ़ना, अन्य योगियों की पढ़ाना, उनका चिंतन करना, हृदय में बार बार विचार करना, उनकी प्रसिद्धि करना, प्रशंसा करना, लोक में निरन्तर उनका प्रचार करना, ज्ञानी पुरुषों की भक्ति और उनका सन्मान करना, ज्ञानादिक गुणों का उपदेश देना तथा और भी श्रुतज्ञान के उत्कृष्ट गुणों को ग्रहण करना ज्ञानविनय कहलाता है । यह समस्त ज्ञानविनय बहुत ही अद्भुत है ॥१६१६-१६२२॥

चारित्र्य विनय के स्वरूप का वर्णन—

कषायेन्द्रियचौराणां प्रमादानां च वर्जनम् । अतगुप्तिसमित्याद्याचरणे ध्यानमन्त्रहम् ॥१६२३॥
महातपोधनानां च भुक्त्वाचरणमद्भुतम् । अंजली करणं भक्त्या प्रणामं वृत्तशालिनाम् ॥२४॥
इत्याद्यन्यत्सुचारित्र्यमाहात्म्यस्य प्रकाशनम् । लोके विधीयते यत्तु चारित्र्यविनयोत्तमः ॥२५॥

अर्थ—कषाय और इन्द्रिय रूपी चोरों का सर्वथा त्याग कर देना, प्रमादों का सर्वथा त्याग कर देना, अतगुप्ति समिति गुप्ति आदि के पालन करने में प्रतिदिन प्रयत्न करना, महातपस्वियों के अद्भुत आचरणों को सुनकर उनके लिये भक्ति पूर्वक हाथ जोड़ना, चारित्र्य पालन करनेवालों को भक्ति पूर्वक प्रणाम करना तथा इसीप्रकार और भी संसारमें चारित्र्य के माहात्म्य को प्रगट करना चारित्र्यविनय कहलाता है ॥१६२३-१६२५॥

तप विनय के स्वरूप का वर्णन—

आतापनादि सद्योगे ह्युत्तराख्ये गुणेद्भुते । दुष्करे च द्विषद्भेदे घोरे तपसि दुर्धरे ॥१६२६॥
भक्षोत्साहानुरोगाकांक्षादीनां करणं महत् । तपोधिकयतीनां च प्रणामस्तवनादिकम् ॥१६२७॥
बडावश्यकसम्पूर्णश्चित्तफलेशाविर्जनम् । तपसा करणं चौर्यादानं पंचाक्षनिर्जयः ॥१६२८॥
इत्याद्यन्यत्तपोज्जर्घ्यगुणानां यत्प्रकीर्तनम् । सतपोजमहर्द्धीनां स तपोविनयोत्तमः ॥१६२९॥

अर्थ—आतापन आदि श्रेष्ठ योगों में सर्वोत्कृष्ट उत्तरगुणों में तथा बारह प्रकार के घोर बुधेर और कठिन तपश्चरणमें श्रद्धा करना, उत्साह धारण करना, अनुराग करना तथा बहुत बड़ी आकांक्षा करना, महातपस्वियों को प्रणाम करना, उनकी स्तुति करना, छहों आवश्यकों को पालन करना, हृदय के समस्त क्लेशों का त्याग कर देना, अनेक प्रकार के तपश्चरण पालन करने के लिये अपनी शक्ति को प्रगट करना, पांचों इन्द्रियों को जीतना तथा इसी प्रकार तपश्चरण के श्रेष्ठ गुणों की प्रशंसा और तपश्चरणा से उत्पन्न हुई ऋद्धियों की प्रशंसा करना तपोविनय कहलाती है ॥१६२६-१६२६॥

उपचार विनय के भेद—

सत्कायवात्मनोभेदोपचारो विनयगमे । विनयस्त्रिविधः प्रोक्तः कायवाक्चित्तशुद्धिदः ॥१६३०॥

स प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां प्रत्येकं द्विविधः स्मृतः । इत्येतेष्वुपकारा उपचार विनये मताः ॥१६३१॥

अर्थ—जैन शास्त्रों में मन-वचन-कायको शुद्ध करनेवाला उपचार विनय तीन प्रकार का बतलाया है, काय से होनेवाला विनय वचन से होनेवाला विनय और मनसे होनेवाला विनय । यह मन-वचन-कायसे होनेवाला तीनों प्रकार का विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो दो प्रकार है । इसप्रकार उपचारविनय छह प्रकार का हो जाता है ॥१६३०-१६३१॥

शारीरिक विनय का स्वरूप—

अभ्युत्थानं क्रियाकर्म मुवाभक्तितयांकितम् । प्रणामः शिरसा भाले स्वांजलीकरणं सदा ॥१६३२॥

गुरोराणच्छतशब्दाभिमुखयानां प्रगच्छतः । अनुव्रजनमत्यर्थं भक्तिरागप्रकाशनम् ॥१६३३॥

नीचं स्थानं कियन्नीचं गमनं शयनासनम् । आसनज्ञानशौचोपकरणविस्मर्षणम् ॥१६३४॥

शून्यागारगुहावीनामन्विष्य च निवेदनम् । गुरुकायक्रमावीनां स्पर्शनं सर्वेन करैः ॥१६३५॥

आवेशकरणं संस्तरादिप्रस्तारणं निशि । जानोपकरणाधीनां प्रतिलेजनमन्यहम् ॥१६३६॥

इत्याद्यन्योपयायोग्यउपकारो विधीयते । कायेन सद्गुरो यः स विनयः कायिकोज्ज्वलः ॥१६३७॥

अर्थ—गुरु को देखकर उठ कर खड़े होना, प्रसन्नता पूर्वक श्रुतभक्ति आदि तीनों भक्तियों को पढ़कर क्रियाकर्म का बंदना करना, उनको प्रणाम करना, दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर रखना, गुरु के आनेपर उनके सामने जाना, गुरु के गमन करने पर उनके पीछे चलना, उनके प्रति अत्यन्त भक्ति और अनुराग प्रगट करना, नीचा स्थान हो तो कितना नीचा है यह बताना, गमन शयन आसन आदि का ज्ञान कराना, आसन

वेना, ज्ञान और शीशुके उपकरण समर्पण करना, सूने मकान वा गुफादिकों को ढूँढकर बतलाना, गुरु के शरीर को वा उनके चरणों को स्पर्श करना वा हाथों से दबाना, उनकी आज्ञा का पालन करना, उनके लिये संस्तर बिछाना, रात के समय प्रतिदिन ज्ञान के उपकरणों का प्रतिलेखन करना (पीछी से भाड़कर शुद्ध करना) तथा अपने शरीर से इसी प्रकार के गुरु वा आचार्य के अन्य उपकार करना यथायोग्य रीति से उपकार करना शारीरिक विनय कहलाती है ॥१६३२-१६३७॥

वाचनिक विनय का स्वरूप—

आचार्यभगवत्पूज्यपाद भट्टारकादिभिः । नामभिःप्रवरं पूज्य वचनं मधुरं वचः ॥१६३८॥
हिततथ्यभितादीनां वचसां भाषणं गिरा । जिनसूत्रानुसारेण भाषणं पापदूरगम् ॥१६३९॥
उपशान्त वचोवाच्यमगृहस्थवचः शुभम् । अकर्कशं वचःसारं सुखस्पृष्टमनिष्टुरम् ॥१६४०॥
इत्यादिनिष्कृष्टं यद्वच्यते वचनवरम् । गुरोरन्ते स सर्वोपि वाचिको विनयो महान् ॥१६४१॥

अर्थ—गुरुके समीप जाकर पूज्य और मधुर वचनों से आचार्य भगवान् पूज्य-पाद भट्टारक आदि उत्तम नामों से गुरु को सम्बोधन करना, वचन से सदा हित-मित तथा यथार्थ भाषण करना, सदा जैन शास्त्रों के अनुसार भाषण करना, पाप रहित वचन कहना, शांत वचन कहना, मुनियों के योग्य शुभ वचन कहना, सदा ऐसे वचन कहना जो कर्कश न हों सारमूलक हों स्पष्ट हों कठिन न हों उत्तम और अनिष्ट हों । इसप्रकार गुरुके समीप वचन कहना सर्वोत्कृष्ट वाचनिक विनय कहलाता है ॥१६३८-१६४१॥

मानसिक विनय का स्वरूप—

बुद्धकर्मागमनद्वारसम्मुखं स्वसुखावृतम् । दुर्ग्यानिद्वेषरागादिलीनं चिन्ताशताकुलम् ॥१६४२॥
स्थित्वा स्वपरिणामसुतत्त्वधरागधवासितम् । सदर्थधर्मसद्भावागमचिन्तादितत्परम् ॥१६४३॥
स्वाभ्येष्टाहितकृच्छ्रं धार्यते यस्मिन् मनः । गुरोः पार्श्वे स विश्वोभामसिको विनयो वरः ॥१६४४॥

अर्थ—जो परिणाम अशुभ कर्मों के आने के कारण हों, अपने सुखको चाहने वाले हों, अशुभध्यान वा रागद्वेष में लीन हों और संकड़ों चिन्ताओं से व्याकुल हों ऐसे परिणामों को छोड़कर गुरु के समीप बैठना तथा अपने मनमें श्रेष्ठ तत्त्व और वैराग्य की वासना रखना, श्रेष्ठ अर्थ, श्रेष्ठ धर्म और श्रेष्ठ भावनाओं के चिंतन में ही अपने मन को सदा लगाये रखना, अपने मन को सदा अपने और दूसरे के हित में लगाना, तथा अपने मन को अत्यंत शुद्ध रखना, इसप्रकार गुरु के समीप अपने मन की शुद्धता

रखना उत्तम मानसिक विनय है ॥१६४२-१६४४॥

प्रत्यक्ष विनय का स्वरूप—

प्रत्यक्षे सद्गुरुणां यो विनयः क्रियते बृथः । त्रिगुणैश्च त्रिविधः सोऽत्र प्रत्यक्ष विनयो मतः ॥४५॥

अर्थ—विद्वान् लोग मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक मन-वचन-काय तीनों से जो श्रेष्ठ गुरुओं की प्रत्यक्ष विनय करते हैं उसको प्रत्यक्ष विनय कहते हैं ॥१६४५॥

परोक्ष विनय का स्वरूप—

परोक्षे सद्गुरुणां यत् प्रणामकरणाविकम् । कायेनवचसा नित्यंस्तवाविगुण कीर्तनम् ॥४६॥

हृवाजापालनं सम्यक् सद्गुणग्रामचिन्तनम् । इत्यादिक्रियतेऽयत्सपरोक्षविनयोऽखिलः ॥१६४७॥

अर्थ—इसीप्रकार गुरुओं के परोक्षमें शरीर से तथा वचन से नित्य ही उनकी प्रणाम करना, उनकी स्तुति करना, उनके गुण वर्णन करना, हृदय से उनकी आज्ञा का पालन करना, उनके श्रेष्ठ गुणों के समूहको अच्छी तरह चिन्तन करना तथा और भी उनकी परोक्षमें उनकी विनय करना परोक्ष विनय कहलाती है ॥१६४६-१६४७॥

शारीरिक, वाचनिक एवं मानसिक विनय के भेद—

अथवा सप्तधाप्रोक्तः कायिको विनयो जिनेः । चतुर्धावाचिकः सारो द्विधामानसिकोऽमहत् ॥४८॥

अर्थ—अथवा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने शरीर से होनेवाली विनय के सात भेद बतलाये हैं । वाचनिक विनय चार प्रकारकी बतलाई है और मानसिक विनय दो प्रकार बतलाई है ॥१६४८॥

६ प्रकार के कायिक विनय का स्वरूप—

अभ्युत्थानप्रणामोद्भासनदानं महागुरोः । पुस्तकादिप्रदानं च क्रियाकर्मत्रिभक्तिजम् ॥१६४९॥

स्वोच्चासनपरित्यागः पृष्ठोत्तुलजनं कियत् । विनयाः कायिका एते सप्तभेदा वपुर्भवाः ॥१६५०॥

अर्थ—महा गुरुओं के आनेपर उठकर खड़े हो जाना, उनको प्रणाम करना, उनको आसन देना, पुस्तक देना, श्रुतभक्ति आदि तीनों भक्तियां पढ़कर उनकी वंदना करना उनके सामने अपने आसनको छोड़ देना, और उनके जाते समय थोड़ी दूर तक उनके पीछे जाना यह शरीर से होनेवाली सात प्रकार की कायिक विनय है ॥१६४९-१६५०॥

४ प्रकार के वाचनिक विनय का स्वरूप और धर्म वृद्धि का कारण—

हितभाषणमेकं च द्वितीयमितभाषणम् । वचः परिमितं सूत्रानुधीधीभाषणं स्फुटम् ॥१६५१॥

वाचिका विनया एते चतुर्भेदा बधोभवाः । निरवस्थाविवातारः स्वाम्येषां धर्मभूजितम् ॥१६५२॥

अर्थ—हितरूप भाषण अर्थात् धर्मरूप वचन कहना, मित भाषण अर्थात् थोड़े अक्षरों में बहुत सा अर्थ हो ऐसे वचन कहना, परिमित भाषण अर्थात् कारण सहित वचन कहना और सूत्रानुवीची भाषण अर्थात् आगत्य के अधिकृत वचन कहना यह चार प्रकार की वाचनिक विनय है । जो मुनि इन चारों प्रकार की विनयों को निरवस्था (पापरहित) रीति से पालन करता है वह अपने और दूसरों के श्रेष्ठ धर्म को बढ़ाता है ॥१६५१-१६५२॥

२ प्रकार के मानसिक विनय का स्वरूप—

पापादानमनोरोधो धर्मध्यानप्रवर्तनम् । हृवेति विनयो ज्ञेयो द्विधामानसिकोऽमलः ॥१६५३॥

अर्थ—जिस मनसे पाप कर्मों का आस्रव होता है ऐसे मन को रोकना और अपने मनको धर्मध्यान में लगाना दो प्रकार की मानसिक विनय है । यह मानसिक विनय अत्यंत निर्मल है ॥१६५३॥

प्रणाम आदि के द्वारा अपने से बड़े का विनय करना चाहिये—

वीक्षाधिक्यस्तीनां च तपोधिक्यमहात्मनाम् । श्रुताधिक्यमुनीनां च सद्गुणाधिक्ययोगिनाम् ॥१६५४॥

वीक्षाशिक्षाश्रुतज्ञानगुरुणां यत्नतोऽनिशम् । कार्यः सर्वः प्रणामार्थः विनयोऽत्रैवसंयतः ॥१६५५॥

अर्थ—जो मुनि अपने से अधिक कालके दीक्षित हैं, जो महात्मा बहुत अधिक तपस्वी हैं, जो मुनि अधिक श्रुतज्ञान को धारण करते हैं, जो मुनि अधिक गुणों को धारण करते हैं, जो दीक्षा गुरु हैं, शिक्षा के गुरु हैं, वा श्रुतज्ञान के गुरु हैं, उनके लिये प्रणाम आदि करके मुनियों को प्रतिदिन प्रयत्नपूर्वक सब तरह की विनय करनी चाहिये ॥१६५४-१६५५॥

अपने से छोटे को भी यथायोग्य विनय करना चाहिए—

वीक्षालघुतपोहीनस्त्वल्पश्रुताद्व्ययोगिनाम् । यथायोग्य सदा कार्यो विनयो मुनिपुंगवः ॥१६५६॥

अर्थ—जो मुनि दीक्षा से छोटे हैं, जो तपश्चरण में भी अपने से हीन हैं और जो थोड़े से श्रुतज्ञानको धारण करते हैं ऐसे मुनियों के लिये भी श्रेष्ठ मुनियों को यथायोग्य रीति से सदा विनय करते रहना चाहिये ॥१६५६॥

आयिका और श्रावक का भी यथायोग्य विनय करने चाहिये—

आयिकाश्चायिकावीनां ज्ञान धर्मादिदेशनैः । जिनमार्गानुरागेण यथाहं कार्य एव सः ॥१६५७॥

अर्थ—इसी प्रकार मुनियों को ज्ञान वा धर्मादिक का उपदेश देकर वा जिन मार्ग से असुरजन कर शक्तिका और अशक्तों का जिनसे भी यथायोग्य रीति से करते रहना चाहिये ॥१६५७॥

चतुर्ष्व का यथायोग्य विनय की प्रेरणा—

सर्वथा विनयो वक्षः कर्तव्यः कार्यसाधकः । चातुर्ष्वर्णस्वसंधानायथायोग्यो हितकरः ॥१६५८॥

अर्थ—चतुर पुरुषों को चारों प्रकार के संघ का विनय यथायोग्य रीति से सर्वथा करते रहना चाहिये । क्योंकि यह विनय समस्त कार्यों को सिद्ध करनेवाला है और सबका हित करनेवाला है ॥१६५८॥

विनय रहित जीव के शिक्षा निरर्थक है—

यतो विनय होनानां शिक्षानिरर्थकाखिला । धृताविपठनं व्यर्थमकीर्तिर्वद्धतेतराम् ॥१६५९॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जो पुरुष विनय रहित हैं उनकी समस्त शिक्षा निरर्थक समझनी चाहिये तथा उनका शास्त्रादिक का पढ़ना भी व्यर्थ समझना चाहिये । इसके सिवाय अविनयी पुरुषों की अपकीर्ति सदा बढ़ती रहती है ॥१६५९॥

विनय रूपी जहाजपर बैठकर ही आगम रूपी महासागर को पार करते हैं—

महाविनयपोलेनगम्भीरमागमार्णवम् । भवाम्बुधि च वुस्तीरं तरन्तियमिनोऽचिरात् ॥१६६०॥

अर्थ—मुनिलोग इस महा विनय रूपी जहाजपर बैठकर अत्यन्त गम्भीर ऐसे आगमरूपी महासागर को बहुत शीघ्र पार कर लेते हैं तथा अत्यन्त कठिन ऐसे संसार-रूपी समुद्र को भी बहुत शीघ्र पार कर लेते हैं ॥१६६०॥

विनय से अनेक गुणों की प्राप्ति होती है—

विद्याविवेक कीशत्यशमाद्याः प्रवरा गुणाः । विनायासेन जायन्ते विश्वे विनयशालिनाम् ॥१६६१॥

विनयोत्था महाकीर्तिःप्रसर्पति जगत्त्रयम् । उत्पद्यते पराबुद्धिः सतां विश्वार्थदीपिका ॥१६६२॥

स्वसंघे मान्यतां पूजां लयाति च स्तवनादिकान् । तपोरत्नवयं शुद्धं लभन्ते विनयाकिताः ॥१६६३॥

चतुराराधनांमैत्रीं शान्त्याजवाविलक्षणान् । मनोवाक्कायसंशुद्धीः श्रयन्ति विनयाद्बुधाः ॥१६६४॥

विनयाचारिणां नूनं शत्रुर्गच्छेत्सुमित्रताम् । उपसर्गाविलोयन्तेह्येकन्तेविजगच्चिह्नयः ॥१६६५॥

अहोसङ्गिनयकृष्ण मुक्तिस्त्री योगिनांस्वयम् । एत्यात्रालिगनदत्ते का कयामरयोषिताम् ॥१६६६॥

इत्यादिप्रवरं ज्ञात्वा विनयस्य फलं विदः । कुर्वन्तुसर्वसंधानां मुक्तये विनयं सदा ॥१६६७॥

अर्थ—विनय धारण करनेवाले पुरुषों के विद्या विवेक, कुशलता और उपशम

आदि अनेक उत्तम गुण बिना ही परिश्रम के अपने आप आ जाते हैं । इस विनय से उत्पन्न होनेवाली महा कीर्ति तीनों लोकों में फैल जाती है तथा इसी विनय से सज्जनों के समस्त पदार्थों को जानने वाली सर्वोत्कृष्ट बुद्धि उत्पन्न हो जाती है । विनय धारण करनेवाले मुनियों को अपने संघ में भी भान वा आदर सत्कार मिलता है, बड़प्पन मिलता है, कीर्ति मिलती है, सब लोक उनकी स्तुति करते हैं तथा विनय से मुनियोंको शुद्ध तपश्चरण और शुद्ध रत्नत्रय की प्राप्ति होती है । विद्वान् पुरुषोंको इस विनय से ही चारों आराधनाओं की प्राप्ति होती है, मंत्री प्रमोद आदि गुण प्रगट होते हैं, क्षमा, मार्दव, आज्ञा आदि गुण प्रगट होते हैं और मन-वचन-कायकी शुद्धता प्राप्त होती है । विनय करने वालों के शत्रु भी मित्र बन जाते हैं, उपसर्ग सब उनके नष्ट हो जाते हैं और उनको तीनों लोकों की लक्ष्मी आकर प्राप्त हो जाती है । सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि इस श्रेष्ठ विनयसे अपने आप खिची हुई मुक्तिरूपी स्त्री स्वयं आकर मुनियों को आलिंगन देती है । फिर भला देवांगनाओं की तो बात ही क्या है । इसप्रकार इस विनय का अत्यन्त श्रेष्ठ फल जानकर चतुर पुरुषोंको मोक्ष प्राप्त करने के लिये समस्त संघ को सदा विनय करते रहना चाहिये ॥१६६१-१६६७॥

वैयावृत्य का स्वरूप—

आचार्यपाठकेषुस्थविरप्रवर्तकेषु च । शक्त्या गणधरेष्वन्नगच्छे वासेतराकुले ॥१६६८॥
कायपिण्डाविकुर्व्यानिहान्ये सद्ध्यानवृद्धये । सुभ्रूषाक्रियतेयाम्येवैवावृत्यं तदुच्यते ॥१६६९॥

अर्थ—जो मुनि अशुभ ध्यान की नाश करने के लिये और श्रेष्ठ ध्यान की वृद्धि के लिये आचार्य उपाध्याय वृद्ध मुनि प्रवर्तक आचार्य और गणधर आदि महा मुनियों की तथा बाल मुनि वा वृद्ध मुनियों के कारण व्याकुल रहनेवाले गच्छ वा संघ को आहार औषधि आदि देकर तथा अन्य अनेक प्रकार से उनकी सेवा सुख्खा करना वैयावृत्य कहलाता है ॥१६६८-१६६९॥

दश प्रकार के मुनि का स्वरूप और १० प्रकार की वैयावृत्य का स्वरूप—

षट्त्रिंशद्गुणपंचाचारान्विताः सूर्योऽद्भुताः । पाठकाः सर्वपूर्वांगपारगाः पाठनोद्यताः ॥७०॥
सर्वतोभद्रघोरादितपसश्चतपस्विनः । सिद्धास्तशिक्षणोद्युक्ताः शिष्यकाः मुक्तिमार्गगाः ॥१६७१॥
रज्ज्वादिव्याप्तसर्वांगा ग्लाना व्रतगुणश्रुताः । समवायोगणोन्यधर्मो बालवृद्धावियोगिताम् ॥७२॥
आचार्यस्य च शिष्यस्यस्वाध्यायः कुलमुत्तमम् । ऋध्याविश्वमणानां निवहः संघश्चतुर्विधः ॥७३॥
त्रिकालयोगसाधारः साधवोमुक्तिसाधकाः । आचार्यसाधुसंघानां प्रियोमनोज्ञ ऊजितः ॥१६७४॥

असीधां वशमेदानां रोगक्लेशाधिकारणे । संजाते सति कर्तव्यं वैयावृत्यं वशात्मकम् ॥१६७५॥

अर्थ—जो आचार्यों के छत्तीस गुण और पंचाचार्यों का पालन करते हैं उनको उत्कृष्ट आचार्य कहते हैं, जो ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के पारगामी हैं तथा शिष्यों के पढ़ाने में सदा तत्पर रहते हैं उनको उपाध्याय कहते हैं । जो सर्वतोभद्र आदि घोर तपश्चरण करते हैं उनको तपस्वी कहते हैं । जो सिद्धांतशास्त्रोंके पढ़ने में तत्पर हैं और मोक्षमार्ग में लगे हुए हैं उनको शंख्य कहते हैं । जिनका शरीर किसी रोग से रोगी हो रहा है तथा जो अपने व्रत रूपी गुणों से च्युत नहीं हैं उनको ग्लान कहते हैं । बाल और बृद्ध मुनियों के पूज्य समुदाय को गण कहते हैं । आचार्यों के शिष्यों की परम्परा को उत्तम कुल कहते हैं । ऋषि मुनि यति और अनगार इन चारों प्रकार के मुनियोंके समुदाय को संघ कहते हैं । जो मुनि त्रिकाल योग धारण करते हैं और मोक्षकी सिद्धि में लगे रहते हैं उनको साधु कहते हैं । जो आचार्य साधु और संघ को प्रिय हों उनको उत्तम मनोज्ञ कहते हैं । ये दश प्रकार के मुनि होते हैं । इनके लिये रोग क्लेश आदि का कारण आ जानेपर उन सबका वैयावृत्य करना सेवा सुश्रूषा करना दश प्रकार का वैयावृत्य कहलाता है ॥१६७०-१६७५॥

अनेक प्रकार की वैयावृत्य करने की प्रेरणा—

पादादिमर्दनेर्धक्षः सुश्रूषाकरणादिभिः । धर्मोपदेशनेश्चान्यैर्विष्णुब्राह्मणकर्मणः ॥१६७६॥

कुर्मर्गधमस्त्रिभुवनं चौरसुपारिवर्जनेः । सिंहादिजीपसर्गैश्चपीडितानां सुयोगिनाम् ॥१६७७॥

संप्रहानुग्रहेर्दमिरेक्षणः पालनादिभिः । वैयावृत्यं विघातय्य धर्मबुद्ध्यासमाधये ॥१६७८॥

अर्थ—जो मुनि कंकरीले वा ऊँचे नीचे मार्ग में चलने के कारण खेव खिन्न हो रहे हैं अथवा जो किसी चोर वा राजा वा शत्रु वा दुष्ट अथवा सिंह आदि के उपसर्ग से अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं, ऐसे मुनियों के पांव बाँधना सेवा सुश्रूषा करना उनको धर्मोपदेश देना उनका भिष्ठा, भूत्र, कफ आदि हटाना उनको अपने पास रखना उनका अनुग्रह करना, उनकी रक्षा करना, आवश्यकतानुसार उनको उपकरण देना, उनके निर्वाह का प्रबन्ध कर देना आदि अनेक प्रकार का वैयावृत्य चतुर पुरुषों की ध्यानकी प्राप्ति के लिये केवल धर्म बुद्धि से सदा करते रहना चाहिये ॥१६७६-१६७८॥

पुनः वैयावृत्य का स्वरूप—

तपोदृक्कान् चारित्र्य ध्यानाध्ययनकर्मसु । पुस्तकादिसुदानंश्च व्याख्याधर्मोपदेशनैः ॥१६७९॥

यत्साध्यकरणं युक्त्यै साधर्मिणा विधीयते । निराकाशतया सर्वं वैयावृत्यं तदुच्यते ॥१६८०॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य, तप, ध्यान, अध्ययन आदि साधर्मियोंके कार्य के लिये पुस्तक आदि उपकरणों को देना, शास्त्रोंकी व्याख्या करना, धर्मोपदेश देना तथा युक्ति पूर्णक और भी साधर्मियों की सहायता करना तथा वह सहायता बिना किसी बबले की इच्छा के करना सो सब वैयावृत्य कहलाता है ।
॥१६७६-१६८०॥

वैयावृत्य करने का फल—

वैयावृत्यविधातृणां विचिकित्सापरिक्षयः । तीर्थंकरादिसत्पुण्यंयशःस्वसंघमान्यता ॥१६८१॥
रत्नत्रयविशुद्धिःप्रवचनस्य च जायते । वरसलत्वं तपोवृद्धिः परोपकार ऊजितः ॥१६८२॥
आचार्यपाठकादीनां वैयावृत्येन संभवेत् । धर्मध्यानं मनःस्वस्थं पीडादुध्यामनाशनम् ॥१६८३॥

अर्थ—वैयावृत्य करने वालों के विचिकित्सा का सर्वाथा नाश हो जाता है अर्थात् निर्विचिकित्सा अंगका पूर्ण पालन होता है, तीर्थंकर प्रकृति आदि श्रेष्ठ पुण्य का बंध होता है समस्त संसार में यश फैलता है, अपने संघ में मान्यता बढ़ती है, रत्नत्रय की विशुद्धि होती है, साधर्मों जनों के साथ अत्यन्त प्रेम बढ़ता है, तपश्चरण की वृद्धि होती है और सर्वोत्कृष्ट परोपकार होता है । आचार्य वा उपाध्याय आदि की वैयावृत्य करने से धर्मध्यान उत्पन्न होता है मन निराकुल होता है तथा पीड़ा और दुध्यान का सर्वाथा नाश हो जाता है ॥१६८१-१६८३॥

वैयावृत्य करने की प्रेरणा—

इत्यत्र स्वाभ्ययोर्मत्वा वैयावृत्यं हितं महत् । सखलाः सर्वशक्तास्तेनान्यः कुर्वंतुशुद्ये ॥१६८४॥

अर्थ—इसप्रकार वैयावृत्य के करने से अपना भी महा हित होता है और अन्य जीवों का भी महा हित होता है । यही समझकर बलवान और पूर्ण शक्तिशाली पुरुषों को अपना आत्मा शुद्ध करने के लिये स्वयं वैयावृत्य करना चाहिये और दूसरों से भी वैयावृत्य कराते रहना चाहिये ॥१६८४॥

स्वाध्याय तपका स्वरूप उसके भेद—

स्वस्य वा परभग्यानां हितोध्यायो विधीयते । ज्ञानिभिर्योधयाताय स स्वाध्यायोपुणाकरः ॥८५॥
वाचतापृच्छतास्योज्जुप्रेक्षाधाम्नायऊजितः । धर्मोपदेशएवेति स्वाध्यायः पंधथा मतः ॥१६८६॥

अर्थ—जो जानी पुरुष अपना पाप नाश करने के लिये अपने आत्मा का हित करने के लिये तथा अन्य भग्य जीवों का हित करने के लिये सिद्धांत आदि ग्रंथों का

पठन-पाठन करते हैं उसको गुणों की खानि स्वाध्याय कहते हैं । वाचना, पृच्छना, अनु-
प्रेक्षा, श्रेष्ठ आम्नाय और धर्मोपदेश ये पांच स्वाध्याय के भेद हैं ॥१६८५-१६८६॥

वाचना नामक स्वाध्याय का स्वरूप—

अंगपूर्वादशास्त्राणां यथातथ्येन मुक्तये । व्याख्यानंक्रियतेयस्ययसतां वाचनात्र सा ॥१६८७॥

अर्थ— जो मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिये सज्जनों को अंग पूर्व आदि शास्त्रों
का यथार्थ व्याख्यान करते हैं उसको वाचना नामका स्वाध्याय कहते हैं ॥१६८७॥

पृच्छना नामक स्वाध्याय का स्वरूप—

सन्वेहं हानयेत्येषां पार्श्वे प्रश्नं विधीयते । सिद्धातार्थमहागूढं श्रूयते पृच्छनात्र सा ॥१६८८॥

अर्थ—अपना सन्वेह दूर करने के लिये किसी अन्य के पास जाकर प्रश्न
पूछना अथवा महागूढ़ सिद्धांतशास्त्रों के अर्थ को सुनना पृच्छना नामका स्वाध्याय
है ॥१६८८॥

अनुप्रेक्षा नामक स्वाध्याय का स्वरूप—

तप्तायः पिडसादृश्येनैकाप्रापित चेत्तसा । अभ्यासोद्योतशास्त्राणां योनुप्रेक्षात्रसोत्तमा ॥१६८९॥

अर्थ—तपाये हुए लोहे के गोले के समान एकाग्रचित्तसे पढ़े हुए शास्त्रों का
बार-बार अभ्यास करना उत्तम अनुप्रेक्षा नामका स्वाध्याय कहलाता है ॥१६८९॥

आम्नाय नामक स्वाध्याय का स्वरूप—

द्रुतलंघितमात्राविष्णुतदोषातिगं च यत् । परिवर्तनमन्यस्तगमस्याम्नाय एव सः ॥१६९०॥

अर्थ—पढ़े हुए शास्त्रों का बार-बार पाठ करना और ऐसा पाठ करना जो
न तो धीरे-धीरे हो, न जल्दी हो और न अक्षर मात्रा आदि से रहित हो ऐसे पाठ करने
को आम्नाय नामका स्वाध्याय कहते हैं ॥१६९०॥

धर्मोपदेश नामक स्वाध्याय का स्वरूप—

ख्यातिपूजादिलाभादीन् बिना तीर्थकृतांसताम् । सत्कथाव्यापनं यच्च धर्मोपदेश एव सः ॥१६९१॥

अर्थ—अपनी कीर्ति बढ़ाने वा लाभ आदि की इच्छाके बिना तीर्थकर आदि
सज्जन पुरुषोंकी कथा का कहना धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय कहलाता है ॥१६९१॥

५ प्रकार की स्वाध्याय करने की प्रेरणा—

इत्येवं पञ्चमा वर्णः स्वाध्यायोविश्वदीपकः । कर्तव्यः प्रत्यहं सिद्धयै स्वाग्येषां हितकारकः ॥१६९२॥

अर्थ—इसप्रकार यह पांच प्रकार का स्वाध्याय अपना और दूसरों का हित करनेवाला है और समस्त तत्त्वों के स्वरूप को दिखलाने के लिये दीपक के समान है । इसलिये चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिये । ॥१६६२॥

स्वाध्याय ही परम तप और इसके फल का निरूपण—

समस्ततपसां मध्ये स्वाध्यायेन समं तपः । परंतास्ति न सूतं न भविष्यति विदोऽप्यचित् ॥६३॥
यतः स्वाध्यायमयमं कुर्वतां निग्रहो भवेत् । पञ्चाक्षाणाञ्चिगुप्तश्चसंवरो निर्जरा शिवम् ॥६४॥
स्वाध्यायेनात्र जायेत योगशुद्धिश्चयोगिनाम् । तथा शुक्लं महाध्यानं ध्यानाद्व्यातिविधक्षयः ॥६५॥
तद्घातात्केवलज्ञानं लोकालोकार्थदीपकम् । शक्रादिपूजनं तस्माद्गमनं मुक्तिरामनि ॥१६६६॥
इत्यादि परमं ज्ञात्वाफलमस्य विदोऽप्यहम् । निष्प्रमादेन कुर्वतु स्वाध्यायं शिवशर्मणे ॥१६६७॥

अर्थ—समस्त तपश्चरणों में विद्वान् पुरुषों को इस स्वाध्याय के समान न तो अन्य कोई तप आज तक हुआ है, न है, और न आगे होगा । इसका भी कारण यह है कि स्वाध्याय करने वालों के पंचेन्द्रियों का निरोध अच्छी तरह होता है तथा तीनों गुणियों का पालन होता है और संवर, निर्जरा तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है । इस स्वाध्याय से ही मुनियों के योगों की शुद्धि होती है, तथा महाशुक्लध्यान प्राप्त होता है, शुक्लध्यान से घातिया कर्मों का नाश होता है, घातिया कर्मों के नाश होने से लोक अलोक सबको प्रगट करनेवाला केवलज्ञान प्रगट होता है, केवलज्ञान के होने से इन्द्र भी आकर पूजा करता है तथा अंत में मोक्ष की प्राप्ति होती है । इसप्रकार इस स्वाध्याय का सर्वोत्कृष्ट फल समझकर विद्वान् पुरुषों को मोक्षके सुख प्राप्त करने के लिये प्रमाद छोड़कर प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिये ॥१६६३-१६६७॥

उत्तम कायोत्सर्ग का स्वरूप—

बाह्याभ्यंतरसंगाश्च स्यन्त्याभा वपुषासताम् । ध्यानपूर्वास्थितिर्मात्रं कायोत्सर्गः स उत्तमः ॥६८॥
आवश्यकधिकारेप्राक् तस्य लक्षणमंजसा । गुणबोधादिकं प्रोक्तं व्यासेन न वृक्षेधुना ॥१६६९॥

अर्थ—बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहों का त्याग कर तथा शरीर का ममत्व छोड़कर सज्जन पुरुष जो ध्यान पूर्वक स्थिर विराजमान होते हैं उसको उत्तम कायोत्सर्ग कहते हैं । आवश्यकों के अधिकार में पहले विस्तार के साथ इसका लक्षण तथा इसके गुण दोष आदि सब कह चुके हैं । इसलिये अब यहांपर नहीं कहते हैं ॥१६६८-१६६९॥

पठन-पाठन करते हैं उसको गुणों की खानि स्वाध्याय कहते हैं । वाचना, पृच्छना, अनु-
प्रेक्षा, श्रेष्ठ आम्नाय और धर्मोपदेश ये पांच स्वाध्याय के भेद हैं ॥१६८५-१६८६॥

वाचना नामक स्वाध्याय का स्वरूप—

अंगपूर्वादिशास्त्राणां यथातथ्येन मुक्तये । व्याख्यानंक्रियतेयस्यस्तथा वाचनात्र सा ॥१६८७॥

अर्थ— जो मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिये सज्जनों को अंग पूर्व आदि शास्त्रों
का यथार्थ व्याख्यान करते हैं उसको वाचना नामका स्वाध्याय कहते हैं ॥१६८७॥

पृच्छना नामक स्वाध्याय का स्वरूप—

सन्देह हानयेत्येषां पार्श्वे प्रश्नं विधीयते । सिद्धातार्थमहागूढं धूयते पृच्छनात्र सा ॥१६८८॥

अर्थ—अपना सन्देह दूर करने के लिये किसी अन्य के पास जाकर प्रश्न
पृच्छना अथवा महागूढ सिद्धांतशास्त्रों के अर्थ को सुनना पृच्छना नामका स्वाध्याय
है ॥१६८८॥

अनुप्रेक्षा नामक स्वाध्याय का स्वरूप—

तप्तायः पिडसादृश्येनैकाग्रपित चेत्तथा । अभ्यासोधीतशास्त्राणां योनुप्रेक्षात्रसोत्तमा ॥१६८९॥

अर्थ—तपाये हुए लोहे के गोले के समान एकाग्रचित्तसे पढ़े हुए शास्त्रों का
बार-बार अभ्यास करना उत्तम अनुप्रेक्षा नामका स्वाध्याय कहलाता है ॥१६८९॥

आम्नाय नामक स्वाध्याय का स्वरूप—

ब्रुतस्त्रितमात्रादिषुतदोषातिगं च यत् । परिवर्तनमस्यस्तागमस्याम्नाय एव सः ॥१६९०॥

अर्थ—पढ़े हुए शास्त्रों का बार-बार पाठ करना और ऐसा पाठ करना जो
न तो धीरे-धीरे हो, न जल्दी हो और न अक्षर मात्रा आदि से रहित हो ऐसे पाठ करने
को आम्नाय नामका स्वाध्याय कहते हैं ॥१६९०॥

धर्मोपदेश नामक स्वाध्याय का स्वरूप—

ख्यातिपूजादिलाभादीन् बिना तीर्थंकृतस्तताम् । सत्कथाख्यापनं यच्च धर्मोपदेश एव सः ॥१६९१॥

अर्थ—अपनी कीर्ति बड़प्पन या लाभ आदि की इच्छाके बिना तीर्थंकर आदि
सज्जन पुरुषोंकी कथा का कहना धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय कहलाता है ॥१६९१॥

५ प्रकार की स्वाध्याय करने की प्रेरणा—

इत्येवं पञ्चधा रक्षः स्वाध्यायोविस्वदीपकः । कर्तव्यः प्रत्यहं सिद्धयस्वान्येषां हितकारकः ॥१६९२॥

यह ध्यान निश्च कहलाता है । अशुभ करनेवाली संसार की अशुभ वस्तु ही इसका ध्येय है, संकड़ों क्लेशों से व्याकुल हुआ और कष्टों से क्लृप्त हुआ आत्मा ही इसका ध्याता है और समस्त क्लेशों से भरा हुआ निर्गन्धनि का प्राप्ति होना ही इसका फल है । मिथ्यादृष्टियों के अत्यंत क्लेश से यह ध्यान होता है । तथा सम्यग्दृष्टियों के बिना क्लेशके होता है । यह आर्तध्यान कृष्ण, नील, कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं के बल से उत्पन्न होता है, अंतर्मुहूर्त इसका समय है, मनुष्यों के बिना ही यत्न के यह उत्पन्न होता है और दुःखादिक का होना ही इसका कारण है ॥२०१४-२०१७॥

आर्तध्यान का स्वामी एवं उससे उत्पन्न दोष का वर्णन

आयोपशमिको भावो दुष्प्रमादावलम्बनम् । दुध्यानानाममीषां स्याद्भवभ्रमणकारिणाम् ॥२०१८॥

उत्कृष्टं ध्यानमेतद्गुणस्थाने प्रथमे भवेत् । प्रमत्ताख्ये जघन्यं च तयोर्मध्येषुमध्यमम् ॥२०१९॥

निसर्गजनितं निश्चं पूर्वसंस्कारयोगतः । विश्वदुःखाकरीसूत कृत्स्नपापनिबन्धनम् ॥२०२०॥

समाधि धर्मशुक्लादिहंहु बुद्ध्यनिमंजसा । त्यजन्तु दुस्स्थजं दक्षा धर्मध्यानवलात्सदा ॥२०२१॥

अर्थ—संसार में परिभ्रमण कराने वाले इन सब दुर्ध्यानों में आयोपशमिक भाव होता है और अशुभ प्रमाद ही इनका अवलंबन होता है । यह आर्तध्यान उत्कृष्टता से पहले गुणस्थान में होता है, प्रमत्त नामके छठे गुणस्थान में जघन्य होता है और आत्मी के गुणस्थानों में मध्यम होता है । यह आर्तध्यान पहले के संस्कारों के निमित्त से स्वभाव से ही उत्पन्न होता है, निश्च है, समस्त दुःखों की खानि है और समस्त पापों का कारण है । यह आर्तध्यान, अशुभध्यान है और समाधि, धर्मध्यान शुक्लध्यान को नाश करनेवाला है अतएव चतुर पुरुषों को धर्मध्यान के बल से इस कठिनता से छूटने योग्य आर्तध्यान को सेवा के लिये छोड़ देना चाहिये ॥२०१८-२०२१॥

रौद्रध्यान का स्वरूप एवं उसके भेद—

रौद्रध्यानमपिठेया बाह्याध्यात्मिकमेवतः । रक्ताक्षनिष्ठुराक्रोशनिर्भर्त्सनादिलक्षणम् ॥२०२२॥

वधवन्धान्यपीडाविकरं बाह्यमनेकधा । अश्वत्थनशीलं स्वसंवेद्याध्यात्मिकमतम् ॥२०२३॥

अर्थ—आर्तध्यान के समान रौद्रध्यान के भी बाह्य और आन्तरिक के भेद से दो भेद हैं, लाल नेत्र होना, कठिन वचन कहना, किसी की निंदा करना, किसी का तिरस्कार करना, किसी को मारना वा बांधना वा और भी किसी प्रकार की पीड़ा देना बाह्य रौद्रध्यान है और वह अनेक प्रकार का है । जो अंतरंग में पीड़ा उत्पन्न करता रहे तथा किसी को मालूम न हो उसको आन्तरिक रौद्रध्यान कहते हैं ।

॥२०२२-२०२३॥

रौद्रध्यान के समय ४ भेद -

हिसानन्दं मृषानन्दं स्तेयानन्दं समाह्वयम् । विषयाद्यन्तसंरक्षणानन्दं तच्चतुर्विधम् ॥२०२४॥

अर्थ—हिसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द और विषय संरक्षणानन्द के भेद से इस रौद्रध्यान के भी चार भेद हैं ॥२०२४॥

हिसानन्द रौद्रध्यान का स्वरूप—

हिसायां परपीडयां संरम्भाद्यः कदर्थनः । संकल्पकरणयद्वा बाधितेष्वांगिराशिषु ॥२०२५॥

कलौर्हर्षश्चसंग्रामे जयाजयादिचिन्तनम् । तद्बुधियां समस्तं च हिसानन्दं प्ररूपितम् ॥२०२६॥

अर्थ—हिसा में आनन्द मानना, दूसरे की पीड़ा में आनन्द मानना, जीवों के छिन्न-भिन्न करने का संकल्प करना, अथवा किसी ऐसे काम का संकल्प करना जिसमें जीवघात होता हो, अथवा जीवोंकी राशिके घात होनेपर आनन्द मानना, कलहमें आनन्द मानना, युद्ध में जीत हार का चिन्तन करना आदि रूपसे जो बुद्धियों के ध्यान होता है उसको हिसानन्द नामका ध्यान कहते हैं ॥२०२५-२०२६॥

मृषानन्द रौद्रध्यान का स्वरूप—

बुद्धि कल्पनायुषायापरबन्धनहेतवे । व्यपत्येयन्मृषावादपरबन्धनपंडितैः ॥२०२७॥

मृषावादेऽथवा प्रोक्ते केनचित्कदुकाक्षरं । हृद्यानुमनंयत्तन्मृषानन्दं किलाखिलम् ॥२०२८॥

अर्थ—दूसरों को ठगने में अत्यंत चतुर पुरुष दूसरों को ठगने के लिये अपनी बुद्धि की कल्पना और युक्ति से जो मिथ्या वचन बोलते हैं अथवा कोई अन्य पुरुष कड़वे शब्दों से मिथ्या वचन कहते हैं उसमें जो हृदयसे अनुमोदना करते हैं उस सबको मृषानन्द नामका रौद्रध्यान कहते हैं ॥२०२७-२०२८॥

स्तेयानन्द रौद्रध्यान का स्वरूप—

परश्रीः स्त्रीसुखस्त्वादिहरणे लोभिमिश्रितम् । संकल्पः क्रियते चित्ते योशुभोवाप्ततत्करः ॥२२९॥

नीतेसतिपरदृष्ट्ये धनेष्वथानुमोदनम् । रौद्रध्यानं च तत्सर्वं स्तेयानन्दमघप्रबम् ॥२०३०॥

अर्थ—जो लोभी या चोर दूसरों की लक्ष्मी, स्त्री या अछड़ी वस्तुओं के हरण करने के लिये अपने चित्त में अशुभ संकल्प करते हैं अथवा कोई बहुत सा द्रव्य मार लाया हो उसकी अनुमोदना करते हैं उस सबको पाप उत्पन्न करनेवाला स्तेयानन्द नाम का रौद्रध्यान कहते हैं ॥२०२९-२०३०॥

विषय संरक्षणानन्द रौद्रध्यान का स्वरूप—

मदीया वस्तुसद्राज्यरामासेनादिसम्पदः । यो हरेत्तं दुरात्मानं हन्मि पौरुषयोगतः ॥२०३१॥

इतिस्ववस्तुरक्षायसंकल्पकरणं हृदि । बुधियां तत्समस्तं विषयसंरक्षणाभिषम् ॥२०३२॥

अर्थ—“ये पदार्थ, यह राज्य, यह सेना, यह स्त्री और यह सम्पत्ति सब मेरी है जो दुरात्मा इसे हरण करेगा उसे मैं अपने पुरुषार्थ से मारूंगा” इसप्रकार दुर्बुद्धि लोग अपने पदार्थों की रक्षा करने के लिये अपने हृदय में संकल्प करते हैं, वह सब विषयसंरक्षणानन्द नामका रौद्रध्यान कहलाता है ॥२०३१-२०३२॥

रौद्रध्यान के ध्यानदि के भेद से चार प्रकार एवं उनका लक्षण—

ध्यानं ध्येयं भवेद् ध्याता फलमस्य शठात्मनाम् । ध्यानमध्यवसानं च रौद्रं वाक्चित्तकायजम् ॥२०३३॥

ध्येयं लोकत्रयोद्भूतं रौद्रवस्तुकदम्बकम् । रौद्रस्तोत्रकषायी स्याद् ध्याता स्याद्रक्तलोचनः ॥२०३४॥

अनन्तदुःखसन्तापपूर्वितं नरकप्रदम् । बहुसागरपर्यंतफलमस्य वुरात्मनाम् ॥२०३५॥

अर्थ—इस रौद्रध्यान के भी ध्यान, ध्येय, ध्याता और फल के भेद से चार भेद होते हैं । मूर्ख लोगों के स्वरूप मन-वचन-कायसे जो चित्तवन होता है उसको रौद्र-ध्यान कहते हैं । तीनों लोकों में उत्पन्न हुये रौद्रपदार्थों के समूह ही इसके ध्येय हैं तथा तीव्र कषाय और लाल नेत्रों को धारण करनेवाला रौद्र परिणामी जीव इसका ध्याता होता है । उन दुष्टों को अत्यन्त दुःख और संताप से भरे हुए नरक में अनेक सागर पर्यंत डाल रखना इसका फल है ॥२०३३-२०३५॥

रौद्रध्यान की सामग्री और उसके स्वामी का कथन—

उत्कृष्टाशुभलेश्यात्रयावलाधानमस्य च । भाव औदयिको निद्यः क्षायोपशमिकोऽथवा ॥२०३६॥

दशपञ्चप्रमादाघिष्ठानं कषायजम्भरणम् । अन्तर्मुहूर्तकालश्च चतुर्विधस्य सान्यया ॥२०३७॥

आविमे च गुणस्थानेऽत्रैतदुत्कृष्टमंजसा । जघन्यं पञ्चमेऽस्याद्वित्रचतुर्थे च मध्यमम् ॥२०३८॥

अर्थ—इस ध्यानमें उत्कृष्ट अशुभ लेश्याएं होती हैं । इसका समय अंतर्मुहूर्त है, भाव निद्य औदयिक है अथवा क्षायोपशमिक है, पन्द्रह प्रमाद ही इनका आधार है, कषायों से यह उत्पन्न होता है । इसप्रकार इन चारों प्रकार के रौद्रध्यान की सामग्री है । पहले गुणस्थान में उत्कृष्ट और पंचम गुणस्थान में जघन्य होता है और दूसरे तीसरे चौथे में मध्यम होता है ॥२०३६-२०३८॥

रौद्रध्यान से उत्पन्न दोष और इसे त्यागने की प्रेरणा—

रौद्रकर्ममयं रौद्रकर्मभावनिबन्धनम् । रौद्रदुःखकरं रौद्रगतिरौद्रयोगजम् ॥२०३९॥

रौद्रपापारिसन्तानं रौद्रध्यानं चतुर्विधम् । त्थाप्यं सर्वत्र यत्नेन धर्मध्यानेन धर्मिभिः ॥२०४०॥

अर्थ—यह चारों प्रकार का रौद्रध्यान रौद्रकर्मों से उत्पन्न होता है, रौद्रकर्म और रौद्रभावों का कारण है, रौद्र वा भयानक दुःख उत्पन्न करनेवाला है, नरकादिक रौद्रगति में उत्पन्न करानेवाला है, रौद्ररूप मन-वचन-कायसे उत्पन्न होता है और रौद्र-रूप पाप शत्रुओंको उत्पन्न करनेवाला है । इसप्रकार का यह चारों प्रकार का रौद्रध्यान धर्मात्मा पुरुषों को धर्मध्यान धारण कर बड़े प्रयत्न से सर्वत्र छोड़ देना चाहिये । सब जगह इसका त्याग कर देना चाहिये ॥२०३६-२०४०॥

धर्मध्यान का स्वरूप और उसके बाह्य अभ्यन्तर भेदों का लक्षण—

बाह्याध्यात्मिकमेवेन धर्मध्यानमपि त्रिधा । बृहत्तसदाचारतत्त्वचिन्तादिलक्षणम् ॥२०४१॥
मनोवाक्कायनिःस्पन्दं बाह्यं ध्यक्तं सतांभुवि । आध्यात्मिकस्वसंवेद्यम-तःशुद्धिकरं परम् ॥४२॥

अर्थ—व्रतों में बृद्ध रहना, सदाचार पालन करना और तत्त्वों का चिन्तन करना धर्मध्यान का लक्षण है । इस धर्मध्यानके भी बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से दो भेद हैं । ध्यान करते समय सज्जन लोगों के मन-वचन-कायकी क्रियाओं का जो बंद हो जाना है उसको बाह्य धर्मध्यान कहते हैं तथा जो अपने आत्माके ही गोचर है और अन्तःकरण को शुद्ध करनेवाला है उसको अन्तरंग धर्मध्यान कहते हैं ॥२०४१-२०४२॥

धर्मध्यान के १० भेदों का कथन—

अपायविचयं ध्यानमुपायविचयं ततः । जीवादिविचयं ध्यानमजीवविचयाह्वयम् ॥२०४३॥
विपाकविचयं ध्यानं विरागविचयं महत् । भावादिविचयं ध्यानं संस्थानविचयाभिधम् ॥२०४४॥
तथाज्ञाविचयं हेतुविचयाद्यभित्तिस्फुटम् । धर्मध्यानं महाधर्मिकरं दशविधं महत् ॥२०४५॥

अर्थ—अपायविचय, उपायविचय, जीवविचय, अजीवविचय, विपाकविचय, विरागविचय, भवविचय, संस्थानविचय, आज्ञाविचय और हेतुविचय इसप्रकार इस धर्मध्यान के महा धर्म उत्पन्न करनेवाले दश भेद हैं ॥२०४३-२०४५॥

अपायविचय धर्मध्यान का लक्षण—

दुःखार्णवे भवेनादीप्रयेष्ट चारिणो मम । अन्यस्य वा वपुर्वाक्चमनोर्जितकुर्मणाम् ॥२०४६॥
विनाशः स्वात्कथंशीघ्रं ध्यानेन तपसायवा । इति चिन्ताप्रबंधो योऽप्रापयविचयं हि तत् ॥४७॥

अर्थ—अनेक दुःखों का समुद्र ऐसे इस अनादि संसारमें मैं तथा ये अन्य जीव अपनी इच्छानुसार परिभ्रमण करते चले आ रहे हैं । इसलिये ध्यानसे अथवा तपश्चरण

से मेरे अथवा अन्य जीवों के मन-वचन-कायसे उत्पन्न होनेवाले अशुभ कर्म शांभ्रता के साथ कब नष्ट होंगे इसप्रकार का चिंतन करते रहना अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥२०४६-२०४७॥

उपायविचय धर्मध्यान का क्षण—

मनोवाक्काययोगादि प्रशस्तं मे भवेत्कथम् । कर्माश्रयविनिष्कार्मध्यानेनाध्ययनेन वा ॥२०४८॥

इदुपायोऽत्र तच्छुद्धयं चिन्त्यते यो मुमुक्षुभिः । नानोपायैः श्रुताभ्यासरूपायविचयं हितम् ॥४९॥

अर्थ— मोक्षको इच्छा करनेवाले पुरुष अपने मन-वचन-काय को शुद्ध करने के लिये यह चिंतन करते हैं कि किस ध्यान वा अध्ययन से मेरे मन-वचन-काय शुभ हो जायेंगे अथवा मेरे मन-वचन-कायसे कर्मों का आस्त्रव कब रुक जायगा, इसप्रकार के चिंतन करने को तथा श्रुताभ्यास आदि अनेक उपायों से योगों को शुद्ध करने का उपाय करना उपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥२०४८-२०४९॥

जीवविचय धर्मध्यान का लक्षण—

उपयोगमयोजीवोमूर्तोमूर्तोऽगुणीमहान् । शुभाशुभविधेभोक्तामोक्षगामी च तत्क्षयात् ॥२०५०॥

सूक्ष्मोसंख्यप्रवेशोऽपराधीनोऽनिराश्रमेत् । इत्याद्यगिस्त्वभावानां चिन्तनं तृतीयं हितम् ॥५१॥

अर्थ—यह जीव उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्म के सम्बन्ध से मूर्त है, गुणी है, समस्त पदार्थों में उत्कृष्ट है, शुभ-अशुभ कर्मों का भोक्ता है और उन कर्मोंके नाश होने से उसी समय में मोक्षमें जा विराजमान होता है । यह जीव अत्यंत सूक्ष्म है, असंख्यात प्रदेशी है, और कर्मोंके अधीन होकर इस जन्म मरण रूप संसार में निरंतर परिभ्रमण करता रहता है । इसप्रकार जीवों के स्वरूप का चिंतन करना जीवविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥२०५०-२०५१॥

अजीवविचय धर्मध्यान का लक्षण—

धर्माधर्मनभः कालपुद्गलानां जिनागमे । अचेतनमयानां च धर्मध्यानाय योगिनाम् ॥२०५२॥

अनेकगुणपर्यायैः स्वरूपचिन्तनं हवि । धौव्योत्पादव्ययैस्तदजीवविचयं परम् ॥२०५३॥

अर्थ— योगी लोग अपने धर्मध्यानकी प्राप्ति के लिये अपने हृदय में जिनागम में कहे हुए धर्म अधर्म आकाश काल और पुद्गलरूप अचेतन समस्त पदार्थों का स्वरूप उनके अनेक गुण पर्यायों के द्वारा चिंतन करते अथवा उनके उत्पाद व्यय धौव्य गुणों के द्वारा चिंतन करते हैं उसको अजीवविचय नामका उत्कृष्ट धर्मध्यान कहते हैं ।

॥२०५२-२०५३॥

विपाकविचय धर्मध्यान का लक्षण—

सत्पुण्यप्रकृतीनां गुडखंडशकंरामृतं । समोद्यप्रकृतीनां च मिम्बाविसदृशोशुभः ॥२०५४॥

विपाको बहुधावक्षेष्टिचिन्त्यते यत्रमानसे । तद्विपाकजयायोञ्जंविपाकविचयं हि तत् ॥२०५५॥

अर्थ—श्रेष्ठ पुण्य प्रकृतियों का विपाक गुड़, खांड, मिथी और अमृतके समान उत्तरोत्तर शुभ होता है तथा पाप प्रकृतियों का विपाक नीम, विष, हलाहल आदि के समान अत्यंत अशुभ होता है । इसप्रकार चतुर पुरुष कर्मों के विपाक को जीतने के लिये बार-बार चिंतन करते हैं उसको विपाकविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं ।

॥२०५४-२०५५॥

विरागविचय धर्मध्यान का लक्षण—

सप्तधातुमयाप्रियात् कायादमेध्यमग्निरात् । अतृप्तजनकाच्छ्वभ्रकारणाद्भोगसंचयात् ॥५६॥

अनन्तदुःखसम्पूर्णासंसारोच्चसुखच्युतात् । विरक्ति या सतां विसे विरागविचयं हि तत् ॥५७॥

अर्थ—यह शरीर सप्त धातुओं से भरा हुआ है, अत्यंत मिश्र है और भिष्टा का घर है तथा ये भोगों के समूह नरक के कारण हैं और इनसे कभी तृप्ति नहीं होती और यह संसार भी अनंत दुःखों से भरा हुआ है और सुखसे सर्वथा दूर है, इसप्रकार चिंतन करते हुए सज्जनों के हृदय में जो संसार शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न होता है उसको विरागविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥२०५६-२०५७॥

भवविचय धर्मध्यान का लक्षण—

अनन्तदुःखसंकीर्णं भवेनाधोमुक्तातिगे । सचित्तचित्तमिधादिनानायोनिषुकर्मभिः ॥२०५८॥

अमन्ति प्राणिनोऽन्तकमपाशावृता इति । भवभ्रमणदुःखानुचिन्तनध्यामसप्तमम् ॥२०५९॥

अर्थ—यह संसार अनादि है सुखसे सर्वथा रहित है और अनंत दुःखों से भरा हुआ है ऐसे इस संसार में कर्मों के जालमें फंसे हुए ये प्राणी अपने-अपने कर्मों के उदय से सचित्त अचित्त मिश्र आदि अनेक प्रकार की योनियों में निरंतर परिभ्रमण करते रहते हैं । इसप्रकार संसार के परिभ्रमण के दुःखों का बार-बार चिंतन करना भव-विचय नामका धर्मध्यान है ॥२०५८-२०५९॥

संस्थानविचय धर्मध्यान का लक्षण—

अनित्याद्या अनुप्रेक्षा द्वादशानन्तशर्मवाः । वैराग्यमातरो रागनाशिन्योमुक्तिमातृकाः ॥२०६०॥

चिन्तयते रागनाशाय यत्तैरराग्यबुद्धये । योगिभिर्योगसंसिद्धयै संस्थानविचयं हि तत् ॥२०६१॥

अर्थ—योगी पुरुष अपने योग की सिद्धि के लिये, वैराग्य की वृद्धि के लिये और रागद्वेषको नष्ट करने के लिये मोक्षकी देनेवाली, रागद्वेष को नाश करनेवाली, वैराग्य को उत्पन्न करनेवाली और अनंत सुखको देनेवाली ऐसी अनित्य अशरणा आदि बारह अनुप्रेक्षाओं का जो चिंतन करते हैं उसको संस्थानविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं ॥२०६०-२०६१॥

आज्ञाविचय धर्मध्यान का लक्षण—

प्रमाणीकृत्य तीर्थे शान्त्वं सर्वज्ञान् बोधदूरगान् । तत्प्रणीतेषु सूक्ष्मेषु विश्वदूगोचरेषु च ॥२०६२॥

लोकालोकादितस्थेषु धर्मेषु मुक्तिवर्त्मसु । रुचिः श्रद्धाप्रतीतिर्या तदाज्ञाविचयं सताम् ॥२०६३॥

अर्थ—भगवान् तीर्थंकर परमदेव सर्वज्ञ हैं और समस्त बोधों से रहित हैं, इसलिये भगवान् तीर्थंकर परमदेव को प्रमाण मानकर उनके कहे हुए केवलज्ञान वा केवलवर्णन के गोचर ऐसे सूक्ष्म तत्त्वोंमें लोक-अलोक आदि तत्त्वों में, उनके कहे हुए धर्म में वा मोक्षमार्गमें जो रुचि श्रद्धा वा प्रतीति करना है वह सज्जनों के लिये आज्ञा-विचय नामका धर्मध्यान कहा जाता है ॥२०६२-२०६३॥

हेतुविचय धर्मध्यान का लक्षण—

स्याद्वाचनयमालम्ब्य हेतुदृष्टान्तमुक्तिभिः । पूर्वापराविरोधेन तत्कर्तुं सारिधीधनैः ॥२०६४॥

सर्वज्ञोक्ताः पदार्थाद्याः स्थाप्यन्ते यत्र भूतले । यथातथ्येन चित्ते वा तद्धेतुविचयमाभिधम् ॥२०६५॥

अर्थ—स्याद्वाचनयमालम्बन कर हेतु दृष्टान्त और युक्तियों से अथवा तर्क वा अनुमानसे बुद्धिमान लोग पूर्वापर विरोध रहित भगवान् सर्वज्ञदेव के कहे हुए पदार्थों को जो संसारभर में स्थापन कर देते हैं अथवा उनके यथार्थ स्वरूप को अपने हृदय में स्थापन कर लेते हैं उसको हेतुविचय नाम का धर्मध्यान कहते हैं ॥२०६४-२०६५॥

१० प्रकार के ध्यान करने की प्रेरणा—

एतद्विशिष्टं धर्मध्यानं शुक्लनिबन्धनम् । ध्यातव्यं ध्यानिर्निमित्तं विश्वश्रेयस्करं परम् ॥२०६६॥

अर्थ—इसप्रकार यह दश प्रकार का धर्मध्यान मोक्ष का कारण है, समस्त जीवों का कल्याण करनेवाला है और परम उत्कृष्ट है । इसलिये ध्यान करनेवालों को सदा इसका ध्यान करते रहना चाहिये ॥२०६६॥

ध्यानादि के भेद में चार प्रकार के धर्मध्यान का स्वरूप —

ध्यानं ध्येयबुधध्याता फलमस्यनिगद्यते । ध्यानं प्रशस्तसंकल्पपरमानन्दकारकम् ॥२०६७॥
विश्वद्रव्यपदार्थादिश्रीजिनागमसूत्रितम् । परमेष्ठिस्वरूपं च ध्येयमस्यास्त्विनमृतम् ॥२०६८॥
व्रतशीलगुणैः पूर्णो विरागो विश्वतत्त्ववित् । एकान्तवाससंतुष्टो धीमान् ध्यातास्य कथ्यते ॥२०६९॥
सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तम् सर्वभीष्टार्थसाधकम् । तीर्थकृता विसृज्य करं ध्यानस्य सत्फलम् ॥२०७०॥

अर्थ—ध्यान, ध्येय, ध्याता और फलके भेद से इसके भी चार भेद हैं। जो परमानन्द उत्पन्न करनेवाला शुभ संकल्प है उसको बुद्धिमान लोग ध्यान कहते हैं। श्री जिनागम में कहे हुए जो सर्वोत्कृष्ट जीवाजीवादिक समस्त तत्त्व वा पदार्थ हैं अथवा परमेष्ठियों का जो स्वरूप है वह सब इस ध्यानका ध्येय समझना चाहिये। जो व्रत शील और गुणों से सुशोभित है, जो वीतराग है, समस्त तत्त्वों को जानने वाला है, बुद्धिमान है और एकान्तवासमें सदा संतुष्ट रहता है, वह इस ध्यानका ध्याता कहलाता है। तीर्थकर आदि श्रेष्ठ पुण्य प्रकृतियोंको उत्पन्न करनेवाला और समस्त इष्ट पदार्थों को सिद्ध करनेवाला ऐसे सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त स्वर्गों का सुख प्राप्त होना इस ध्यान का फल समझना चाहिये ॥२०६७-२०७०॥

धर्मध्यान के स्वामी का निरूपण—

पीता वित्रिकलेश्योऽथ वलाघानं किलास्य च । क्षायोपशमिको भावः काल आन्तर्मुहूर्तकः ॥२०७१॥
गुणस्थानेषु तत्स्यान्वाधिरतादिषु निश्चितम् । सरागेषु कुरागघ्नं धर्मध्यानं शुभाकरम् ॥२०७२॥

अर्थ—पीत, पद्म, शुक्ल ये तीन लेश्याएं इस ध्यान का आलम्बन हैं, इसमें क्षायोपशमिक भाव होते हैं और इसका काल अन्तर्मुहूर्त है। यह अशुभ रागको नाश करनेवाला और शुभ वा कल्याण करनेवाला धर्मध्यान चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक रहता है ॥२०७१-२०७२॥

धर्मध्यान का फल एवं उसे करने की प्रेरणा—

मोहप्रकृतिसप्तानां ध्यानमेतद्व्ययं करम् । एकविंशतिमोहप्रकृतीनां शमकारणम् ॥२०७३॥
यत्नेन महता जातमेतद्ध्यानं सुखाकरम् । कुर्वन्तु ध्यानिनो नित्यं शुक्लविश्वद्विधर्मदम् ॥२०७४॥

अर्थ—यह धर्मध्यान सम्यग्दर्शन को नाश करनेवाली मोहनीय की सातों प्रकृतियों को नाश करनेवाला है और बाकी की मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों को उपशम करने का कारण है। यह धर्मध्यान बड़े प्रयत्न से उत्पन्न होता है, सुख की खानि है तथा शुक्लध्यान समस्त ऋद्धियां और उत्तम धर्मको देनेवाला है। इसलिये

ध्यान करने वालों को सदा इस ध्यान को धारण करना चाहिये ॥२०७३-२०७४॥

शुक्लध्यान के भेद, प्रभेदों का वर्णन—

शुक्लपरमशुक्लं च शुक्लध्यानमिति द्विधा । सपृथक्त्ववितर्कविचार शुक्लमादिभम् ॥७५॥

तथैकत्ववितर्कविचारशुक्लं द्वितीयकम् । इतिशुक्लद्विधाध्यानं केवलज्ञाननेत्रदम् ॥२०७६॥

प्रतिपातिविनिष्क्रान्तं शुक्लसूक्ष्मक्रियाह्वयम् । समुच्छिन्नक्रियं शुक्लद्विधेति परमं स्मृतम् ॥७७॥

तद्वाह्याध्यात्मिकाभ्यां च शुक्लध्यानमपि द्विधा । अत्यन्तसाम्यतापन्नं नेत्रस्पंदावि वजितम् ॥७८॥

सबद्धातिगं बाह्यं शुक्लं व्यक्तं सतां भुभिः । मनः शुद्धिकरं तत्स्वसंवेद्यात्मिकमहत् ॥२०७९॥

अर्थ—शुक्लध्यान के दो भेद हैं एक शुक्लध्यान और दूसरा परम शुक्लध्यान । उसमें भी पहले शुक्लध्यान के दो भेद हैं एक पृथक्त्ववितर्कविचार और दूसरा एकत्ववितर्कविचार । इसप्रकार पहले शुक्लध्यान के दो भेद हैं और दोनों केवलज्ञानरूपी नेत्रों को प्रगट करनेवाले हैं । पहले शुक्लध्यान के समान दूसरे परम शुक्लध्यान के भी दो भेद हैं, एक सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती और दूसरा समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति । इसके सिवाय बाह्य और अभ्यंतर के भेद से भी इस शुक्लध्यान के दो भेद हैं । जिस ध्यानमें अत्यंत उत्कृष्ट साम्यभाव प्रगट हो जाय, नेत्रोंका स्पंदन आदि सब छूट जाय, सज्जनों के सब संकल्प विकल्प छूट जाय और जो सज्जनोंको प्रगट मालूम हो उसको बाह्य शुक्लध्यान कहते हैं । तथा जो अपने आत्मा के ही गोचर है और मनको शुद्ध करनेवाला है, उस सहान् शुक्लध्यानको अभ्यंतर शुक्लध्यान कहते हैं ॥२०७५-२०७९॥

पृथक्त्ववितर्कविचार नामक शुक्लध्यान का स्वरूप—

नानामेवंपृथक्त्वं च वितर्कश्चास्त्रिसंश्रुतम् । अर्थव्यंजनयोगातां विचारः संक्रमो भवेत् ॥२०८०॥

यत्पृथक्त्ववितर्कव्यंविचारेणमुमीश्वराः । ध्यायन्ति ध्यानमात्मज्ञाः शुक्लतत्त्वप्रथममसम् ॥८१॥

अर्थ—पृथक्त्ववितर्कविचार ध्यानमें अनेक द्रव्योंका वा अनेक प्रकार के द्रव्यों का ध्यान होता है तथा मन-वचन-काय तीनों योगों से होता है इसलिये इस ध्यानको पृथक्त्व कहते हैं । वितर्क शब्दका अर्थ श्रुतज्ञान है, इस ध्यानको नौ दश वा चौदह पूर्व को जाननेवाला ही प्रारम्भ करता है । अर्थ शब्द और योगों के संक्रमण को विचार कहते हैं, इस पहले ध्यानमें शब्दों से शब्दांतर, योग से योगांतर और अर्थ से अर्थांतर का चिंतन होता है इसलिये यह ध्यान सवीचार है । आत्माको जानने वाले जो मुनि-राज पृथक्त्व वितर्क और विचार के साथ-साथ ध्यान करते हैं उसको पृथक्त्ववितर्क-विचार नामका पहला शुक्लध्यान कहते हैं ॥२०८०-२०८१॥

एकत्ववितर्कअवीचार नामक शुक्लध्यान का स्वरूप—

एकत्वेन वितर्केण वीचारेणातिनिश्चलम् । ध्यायन्ति क्षीणभोहाय ध्यानं द्वितीयमेव तत् ॥२०८२॥

अर्थ—मोहनीय कर्मको क्षय करनेवाले जो मुनिराज शब्द अर्थ और योग के संक्रमण से रहित तथा नौ दश वा चौदह पूर्व धृतज्ञानके साथ-साथ किसी एक ही द्रव्य का निश्चल ध्यान करते हैं उसको एकत्ववितर्कअवीचार नामका शुक्लध्यान कहते हैं । ॥२०८२॥

सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती शुक्लध्यान का स्वरूप—

काययोगेति सूक्ष्मेसंस्थितस्य यत्स योगिनः । कथ्यतेऽत्रोपचारेण तृतीयं निश्चलं हि तत् ॥२०८३॥

अर्थ—जिस समय संयोगिकेवली भगवान् अत्यन्त सूक्ष्म काय योग में निश्चल विराजमान होते हैं उस समय उनके निश्चल होने को उपचार से ध्यान कहते हैं । यह तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामका शुक्लध्यान है ॥२०८३॥

व्युपरीतक्रिया निवृत्ति शुक्लध्यान का स्वरूप—

येन ध्यानेन चायोगो निष्क्रियो योगवर्जितः । याति मुक्तिपदं शुभं तच्चतुर्थं क्रियासिगम् ॥२०८४॥

अर्थ—अयोगकेवली भगवान् क्रियारहित और योगरहित होकर जिस ध्यानसे मोक्ष पद प्राप्त करते हैं उसको व्युपरीत क्रियानिवृत्ति नामका चौथा शुक्लध्यान कहते हैं ॥२०८४॥

ध्यातादि के भेद से शुक्लध्यान के भेद व स्वरूप—

ध्यातव्येयमवाप्त्यापि ध्याता ध्यानफलं भवेत् । सर्वसंकल्पनिष्क्रान्तं ध्यानं स्वार्थमाप्नुयित्तनम् ॥२०८५॥

स्वात्मतत्त्वं परं ध्येयं ध्यानाद्ययोजनपूर्वकवित् । अन्तयोः केवलीप्रोक्तः उपचाराज्जिज्ञासिर्धैः ॥२०८६॥

अद्यादिसंहननस्याद्यं शुक्लमेकस्य सत्त्रियम् । फलसर्वार्थसिध्यन्तमाद्यशुक्लस्य कथ्यते ॥२०८७॥

केवलज्ञानसाम्राज्यं द्वितीयस्य परं फलम् । कृत्स्नकर्मजयो यस्यान्यस्य मुक्तिपदं ब्रुवम् ॥२०८८॥

अर्थ—ध्यान, ध्येय, ध्याता और फल के भेद से इस ध्यान के भी चार भेद होते हैं । समस्त संकल्प विकल्पोसे रहित होकर अपने आत्माका चिंतन करना शुक्लध्यान है । अपना आत्मतत्त्व ही इस ध्यातका ध्येय है । भगवान् जिनेन्द्रदेव ने पहले के दो शुक्लध्यानों ध्यान करनेवाला ध्याता ग्यारह अंग चौदह पूर्वोंका जानकार बतलाया है तथा अंतके दो शुक्लध्यानों के ध्याता उपचार से केवली भगवान् बतलाये हैं । पहले के तीन संहनन वालों के पहला शुक्लध्यान होता है, तथा प्रथम संहनन वालों के शेष

के तीन शुक्लध्यान होते हैं । प्रथम शुक्लध्यान का फल सर्वार्थसिद्धिपर्यंत गमन करना है, दूसरे शुक्लध्यान का फल केवलज्ञान की प्राप्ति होना है । तीसरे शुक्लध्यान का फल समस्त कर्मों का क्षय होना है और चौथे शुक्लध्यान का फल मोक्षकी प्राप्ति होना है ॥२०८५-२०८८॥

शुक्लध्यान के स्वामी आदि का अपेक्ष कथन—

उपशान्तकषायस्य सुवत्समाद्यजिनोदितम् । तथा क्षीणकषायस्य निःकषायस्य चापरम् ॥२०८६॥

शुक्ललेश्या बलाधानं स्थितिरान्तर्मुहृतिकी । आयोपशमिकोभाव आस्यशुक्लस्य कथ्यते ॥६०॥

एतच्चतुर्विधं ध्यानबृहत्संहनना भूवि । यथातथ्येन कुर्यान्तु शिकलासोतजेतसः ॥२०६१॥

भावनां भावयन्त्वब्रह्मक्षान्तां स्वात्मतासम् । होनसंहननादक्षाः शुभलध्यानाप्तयेनिशम् ॥६२॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने उपशांत कषाय वाले के पहला शुक्लध्यान बतलाया है तथा क्षीण कषाय वा अकषाय वाले के बाकी के तीनों शुक्लध्यान होते हैं। शुक्ललेश्या इस ध्यानका आलंबन है इसकी स्थिति अंतर्मुहूर्त है, तथा पहले शुक्लध्यान में क्षायोपशमिक भाव रहते हैं। जिनके हृदय में किसी भी प्रकार की विकलता नहीं है और जो बृद्ध संहतन को धारण करनेवाले हैं उनको यह चारों प्रकार का शुक्लध्यान यथार्थ रीतिसे धारण करना चाहिये। जो हीन संहतनको धारण करनेवाले क्षत्र पुरुष हैं उनको इस शुक्लध्यानकी प्राप्ति के लिये अपनी आत्माके साथ-साथ निरन्तर शुक्लध्यानकी भावना का चिंतन करते रहना चाहिये ॥२०८६-२०८२॥

ध्यानकी महिमा—

यावत्तं सिद्धसाधनसंस्कारमानं ध्यायति स्फुटम् । तावत्तं निर्मलयोगीति शिञ्जतं लभतेऽचिरात् ॥६३॥

निजहमन्मानमात्रेणानन्तदुष्कर्मपुत्रगताः । क्षीयन्तेध्यानिनां नमं यथा वज्रेश चाग्रयः ॥२०६४॥

ध्यानप्रदीपयोगेनमोहःशान्तमोखिलम् । प्रत्यक्षसिद्धतां शीघ्रं जायन्ते ज्ञानसम्भदः ॥२०६५॥

योगशुद्धिः प्रजायेत सद्ग्रह्यानेन यथायथा । पुंसां सहस्रं यः सर्वा उत्पद्यन्ते तथा तथा ॥२०६६॥

अर्थ—योगी पुरुष सिद्धके समान अपने निर्मल आत्मा का जैसा ध्यान करते हैं वैसे ही शीघ्र निर्मल आत्माकी प्राप्ति उन्हें अवश्य हो जाती है । जिसप्रकार वज्र से पर्वत चूर-चूर हो जाते हैं, उसीप्रकार अपने आत्मा का ध्यान करने मात्रसे ध्यानी पुरुषों के अनन्त अशुभ कर्मों के पुद्गल क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं । इस ध्यानरूपी दीपक के सम्बन्ध से सृजन पुरुषों का मोह और अज्ञान रूपी समस्त अंधकार बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है और बहुत ही शीघ्र ज्ञानरूपी संपत्ति प्रगट हो जाती है । इस

श्रेष्ठ ध्यानके द्वारा जैसे-जैसे मनुष्यों के योगों की शुद्धि होती जाती है वैसे ही वैसे उनकी समस्त बड़ी-बड़ी ऋद्धियां प्राप्त होती जाती हैं ॥२०६३-२०६६॥

ध्यान के अभाव में कार्यसिद्धि का अभाव—

भग्नदम्भोपधाहस्ती वंष्ट्राहीनो मृगाधिपः । स्वकामंसाधनेऽशक्तो ध्यानहीनस्तथायतिः ॥२०६७॥

अर्थ—जिसप्रकार बिना दांत का हाथी और बिना दाढ़का सिंह अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता उसीप्रकार मुनि भी बिना ध्यान के अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता ॥२०६७॥

ध्यान करने की प्रेरणा—

मत्थेतिप्रवरंध्यानं कर्मरहितनिकन्दनम् । ध्यायन्तु योगिनो नित्यं मनः कृत्वातिनिश्चलम् ॥६८॥

अर्थ—इसप्रकार इस ध्यानको अत्यंत उत्तम और कर्मरूपी शत्रुओं को नाश करनेवाला समझकर योगियों को अपना मन निश्चल कर सदा इस ध्यान को धारण करते रहना चाहिये ॥२०६८॥

अतः १२ प्रकार के तपको धारण करने की प्रेरणा—

षोडशेभ्यन्तरं प्रोक्तं तपोन्तः शत्रुघातकम् । विधेमंपरया भक्त्यास्तस्यारि हानये धुर्धः ॥२०६९॥

एतद्द्वादशधा प्रोक्तं समासेन मया तपः । सर्वयत्नेन युक्त्यर्थमाचरन्तु तपोधमाः ॥२१००॥

अर्थ—इसप्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेव ने अंतरंग शत्रुओं को नाश करनेवाला यह अत्यन्तर तप छह प्रकार का बतलाया है । अतएव बुद्धिसालों को अपने अंतरंग शत्रुओंको नाश करने के लिये परम भक्तिसे इस तपश्चरणको धारण करना चाहिये । इस प्रकार बारह प्रकार का यह तपश्चरण हमने अत्यंत संक्षेप से कहा है । तपस्वियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये पूर्ण प्रयत्न कर इन तपश्चरणों को पालन करना चाहिये । ॥२०६९-२१००॥

यह तप स्वर्ण के लिये अग्नि, मलिन वस्त्र के लिये जल एवं जन्मादि रोग के लिये औषध सदृश्य—

यथाग्निविधिनातप्तं द्रुतं शुद्धयति कांचनम् । तथा कर्मकलंकी च स्वात्मा तपोग्निना भृशम् ॥

वस्त्राद्याः समलाद्रव्या यद्वद्धीताश्चवारिणा । भवन्ति निर्मला स्तद्वदयोगी तपोष्ठवारिणा ॥

तपोभेषजयोगेन जन्ममृत्युजरादजः । पंचाक्षरातिभिः साद्धं विलीयन्तेधराशयः ॥२१०३॥

चतुर्गानधरोमुक्तिगामीशकगणचितः । स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य करोत्येव परं तपः ॥२१०४॥

अर्थ—जिसप्रकार अग्निसे तपाया हुआ सोना शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है उसी

प्रकार यह कर्ममलसे कलंकित हुआ आत्मा तपश्चरण रूपी अग्निसे बहुत शीघ्र शुद्ध हो जाता है । जिसप्रकार भलिन वस्त्र पानीसे धोनेपर निर्मल हो जाते हैं उसीप्रकार योगी पुरुष भी तपश्चरण रूपी स्वच्छ जलसे अत्यंत निर्मल हो जाते हैं । इस तपश्चरण रूपी औषधि से जन्म-मरण-बुढ़ापा आदि समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं, पंचेन्द्रिय रूपी शत्रु नष्ट हो जाते हैं और समस्त पापों की राशि नष्ट हो जाती है । जो मोक्षगामी पुरुष चारों जानों को धारण करनेवाले हैं और समस्त इन्द्र जिनकी पूजा करते हैं ऐसे योगी पुरुष अपनी शक्तिको प्रगट कर सदा उत्कृष्ट तपश्चरण करते हैं ॥२१०१-२१०४॥

तीर्थकरादि के तपों का वर्णन—

आविदोषोऽपि धर्मानोपायं कृत्वा नुवि । अन्यैरपि जिनाधीशैः सर्वैः कृतं तपो महत् ॥२१०५॥
वीरोबाहुबलिः कृत्वा वर्षकप्रोषधान्परान् । व्युत्सर्गस्थः सुयोगेन केवलज्ञानमापनोः ॥२१०६॥
इत्याध्याः प्रवराः सर्वे पुराणपुरुषा ग्रहो । क्लृप्ताद्यन्ये तपः कृत्वा धीरं मुक्तिपदंययुः ॥२१०७॥

अर्थ—देखो भगवान् वृषभदेव ने एक वर्षके बाद पारणा किया था । तथा अन्य समस्त तीर्थकरों ने सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण किया था । अत्यंत धीरवीर बाहुबलि ने भी एक वर्षका उत्कृष्ट उपवास किया था तथा श्रेष्ठ योग धारण कर कायोत्सर्ग से विराजमान होकर केवलज्ञान प्राप्त किया था । इसप्रकार समस्त श्रेष्ठ महापुरुष अपनी शक्ति के अनुसार घोर तपश्चरण करके ही मोक्ष पद में जा विराजमान हुए हैं । ॥२१०५-२१०७॥

तप से ही जीव तीनों कालमें सिद्ध हुए हैं—

यता याति च पास्यन्ति मुक्तिं येन मुमुक्षवः । कर्माणि केवलं हत्मातपोभिस्ते न चान्यथा ॥८॥

अर्थ—मोक्षकी इच्छा करनेवाले जो पुरुष आज तक मोक्ष गये हैं, अब जा रहे हैं वा आगे जायेंगे वे सब तपश्चरण से ही कर्मरूप शत्रुओं को नाश कर मोक्ष गये हैं वा जायेंगे । बिना तपके न तो कोई मोक्ष गया है और न कभी जा सकता है । ॥२१०८॥

तप का महात्म्य—

मुक्तिमार्गप्रवृत्तानां विरत्नश्रीयुतात्मनाम् । विघटन्तेऽक्षीराद्यास्तपःसुभटताडिताः ॥२१०९॥
सहायोक्त्य यो धीमान् तपःसुभटमूर्जितम् । वजेन्मुक्तिपथेऽक्षीरं विध्वंसस्य न जातुषित् ॥१०॥
तपोलंकारिणो भूतमत्यासक्ता शिवात्मजा । कुर्यात्यत्र न संदेहः का वार्ता सक्रयोचिताम् ॥११॥
अहमिन्द्रपदं पूज्यं देवराजपदमहत् । अक्रमायपदं चाभ्यद्रतदेवाविसत्पदम् ॥२११२॥

लोकान्तिकपदसंसारं गणेशादिपदं परम् । तपः कलेन जायेत तपस्विनां जगन्नुत्तमम् ॥२११३॥
 अनन्तमहिमोपेतस्तोत्रनाथविभूतयः । तपसा धीमतांसर्वा जायन्ते मुक्तिमातृकाः ॥२११४॥
 त्रिजगन्नाथसंसेध्यान् भोगान् पंचाक्षपोषकान् । तपोधना लभन्ते च सौख्यं वाङ्मामगोचरम् ॥१५॥
 तपोमंत्रवराकृष्टासम्पल्लोकत्रयीद्वया । तपोमहात्म्यतो गुर्वी सपद्येत तपस्विनाम् ॥२११६॥
 तपश्चिन्तामणिदिव्यस्तपः कल्पद्रुमो महान् । तपो नित्यं निधानं तपः कामधेनुरुजिता ॥२११७॥
 यद्गुरुं यद्गुराराध्यं यच्च लोकत्रये स्थितम् । अनर्थं वस्तु तत्सर्वं प्राप्यते तपसाचिरात् ॥१८॥

अर्थ— जो पुरुष मोक्षमार्ग में लग रहे हैं और रत्नत्रयकी लक्ष्मी सुशोभित है, उनके इन्द्रियरूपी चोर तपश्चरण रूपी कुण्ड से चोरी होकर अपने आप भाग जाते हैं । जो बुद्धिमान इस तपश्चरण रूपी उत्कृष्ट योद्धा को साथ लेकर मोक्षमार्ग में गमन करता है उसके लिये इन्द्रियां आदि कभी भी विघ्न नहीं कर सकतीं । जो पुरुष तपश्चरणरूपी अलंकार से सुशोभित हैं उनको मोक्षरूपी कन्या अत्यंत आसक्त होकर स्वयं आकर स्वीकार करती है इसमें कोई सन्देह नहीं है । फिर भला इन्द्रकी इन्द्राणियों की तो बात ही क्या है । तपस्वी पुरुषोंको इस तपश्चरणके ही फलसे तीनों लोकों के द्वारा पूज्य ऐसा पूज्य अहमिन्द्रपद उत्कृष्ट इन्द्रपद, चक्रवर्ती का पद, श्रेष्ठ बलभद्र का पद, सारभूत लोकान्तिक का पद और उत्कृष्ट गणधरका पद प्राप्त होता है । इस तपश्चरण से ही बुद्धिमानों को अनन्त चतुष्टय की महिमा से सुशोभित सबको सुख देनेवाली और मोक्षकी जननी ऐसी तीर्थंकरकी उत्कृष्ट विभूति प्राप्त होती है । तपस्वी पुरुषों को इस तपश्चरण के ही प्रभाव से तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा सेवन करने योग्य और पांचों इन्द्रियों को पुष्ट करनेवाले ऐसे भोग प्राप्त होते हैं और वाणी के अगोचर ऐसे सुख प्राप्त होते हैं । तपस्वी पुरुषों को इस तपश्चरण के ही माहात्म्य से तपश्चरणरूपी श्रेष्ठ मंत्रसे आकृष्ट हुई तीनों लोकों की सर्वोत्कृष्ट संपत्तियां प्राप्त हो जाती है । यह तपश्चरण ही चिन्तामणि रत्न है, तपश्चरण ही महान् कल्पद्रुम है, तप ही सदा रहने वाला निधान वा खजाना है और तप ही उत्कृष्ट कामधेनु है । तीनों लोकोंमें रहनेवाले जो बहुमूल्य पदार्थ अत्यन्त दूर हैं और जो कठिनता से प्राप्त हो सकते हैं वे सब पदार्थ इस तपश्चरण से बहुत शीघ्र प्राप्त हो जाते हैं ॥२१०६-२११८॥

तपके अभाव में हानि—

ये तपः कुर्वन्ते नाहो सत्त्वहीनाः क्षलपटाः । भवेद्भोग व्रजस्तेषामत्र संघतराशिवः ॥२११९॥
 ततस्तोत्रमहादुःखस्तेषां विशतसंकुलम् । अक्षोत्थपापपाकेन जन्मश्च आविदुर्गती ॥२१२०॥

अर्थ—इन्द्रियों में लंपटी और शक्तिहीन जो मनुष्य तपश्चरण नहीं करते हैं उन्हें अनेक लंघन कराने वाले बहुत से कठिन रोग आकर प्राप्त हो जाते हैं । उन इन्द्रियों से उत्पन्न हुए महापाप के फलसे उन लंपटियों का जन्म नरकादिक दुर्गति में होता है, जहां कि तीव्र महा दुःख और संकड़ों महा क्लेश हर समय प्राप्त होते रहते हैं ॥२११६-२१२०॥

तपश्चरण करने की प्रेरणा—

इति सत्त्वा बुधानित्यंजित्वापंचाक्षतस्करान् । स्वशक्तिं प्रकटीकृत्यचरन्स्वतः तपोनयम् ॥२१२१॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान पुरुषों को अपने पांचों इन्द्रियरूपी चोरों को जीतकर और अपनी शक्तिकी प्रगट कर निरंतर पापों से सर्वथा रहित ऐसा तपश्चरण करते रहना चाहिये ॥२१२१॥

वीर्याचार का स्वरूप—

बलं वीर्यं निजं सर्वं प्रकटीकृत्य योनिनाम् । संयमाचरणं यस्यवीर्याचारोऽभिर्नमः ॥२१२२॥

अर्थ—योगी लोग जो अपना बल वीर्य आदि सब प्रगट करके संयमाचरणका पालन करते हैं उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव वीर्याचार कहते हैं ॥२१२२॥

बल और वीर्य का स्वरूप—

रसःहृत्प्राणधार्मश्चजनितं बलमुच्यते । वीर्यं वीर्यान्तरायस्यक्षयोपशमसम्भवम् ॥२१२३॥

अर्थ—सरस आहार और औषधि आदि से जो सामर्थ्य उत्पन्न होती है उसको बल कहते हैं तथा वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशम से जो सामर्थ्य उत्पन्न होती है उसको वीर्य कहते हैं ॥२१२३॥

तपादि ग्रहण करने की प्रेरणा—

अनयोः प्राप्यसामर्थ्यं तपोयोगादिसंयमान् । व्युत्सर्गावीक्षणं कुर्वन्तजनिगूहितपराक्रमा ॥२१२४॥

अर्थ—इन दोनों की सामर्थ्य प्राप्त कर तथा अपनी शक्ति को न छिपा कर मुनियों को तप, योग, संयम और कायोत्सर्ग आदि धारण करना चाहिये ॥२१२४॥

संयम के भेद का कथन—

प्राणीन्द्रियद्विभेदाभ्यां संयमोद्विबिधोऽस्मत्तः । सत्प्राणिसंयमः सप्तवशप्रकार एव हि ॥२१२५॥

अर्थ—यह संयम प्राण संयम और इन्द्रिय संयम के भेद से दो प्रकार का है ।

उसमें भी प्राणिसंयम के सत्रह भेद हैं ॥२१२५॥

काय, त्रस एवं अजीव संयम का स्वरूप—

पृथ्व्यपतेजोमरुत्कायानां वनस्पतिदेहिनाम् । यस्मै न रक्षणं यत्सपञ्चषा कायसंयमः ॥२१२६॥

द्वित्रितुयक्षिपञ्चेन्द्रियारणां यत्प्रतिपालनम् । असमेवेन सप्रोक्तश्चतुर्दशसंयमः सप्तमः ॥२१२७॥

अजीवानां तृणादीनामच्छेदनं नखादिभिः । यत्ससंयमिनां प्रोक्तः संयमोऽजीवसंयमः ॥२१२८॥

अर्थ—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पति-कायिक जीवों की प्रयत्न पूर्वक रक्षा करना पांच प्रकार का काय संयम है । दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवों की रक्षा करना सज्जन लोगों के लिये चार प्रकार का त्रस संयम कहलाता है । संयमी लोग जो तृण आदि अजीव पदार्थों को भी नाखून आदि से भी कभी नहीं छेदते उसको अजीवसंयम कहते हैं ॥२१२६-२१२८॥

प्रतिलेखन एवं दुःप्रतिलेखन संयम का स्वरूप—

ज्ञानोपकरणादीनां यश्चास्यप्रतिलेखनम् । नेत्रेणादर्शनं तस्य यत्नात्संयमनं महत् ॥२१२९॥

मुष्टुपिच्छिकया वारं वारं यत्प्रतिलेखनम् । दर्शनं नयनाभ्यां सः प्रतिलेखनसंयमः ॥२१३०॥

जीवमर्दनबाधादिकरं मुष्टुप्रतिलेखनम् । तस्य संयमनं सर्वप्रमादसंगतरेणयत् ॥२१३१॥

सूक्ष्मप्राणिवयाहेतु प्रमार्जनं मुष्टुमुष्टुः । उक्तः स जिनमायैर्दुःप्रतिलेखनसंयमः ॥२१३२॥

अर्थ—ज्ञानादिक के उपकरणों का ठीक-ठीक अच्छी तरह प्रतिलेखन न हुआ हो वा ये उपकरण नेत्रों से अच्छी तरह न देखे गये हों ऐसे पदार्थों को कोमल पीछी से प्रतिलेखन करना बार-बार प्रतिलेखन करना और बार-बार नेत्रों से देखना इसप्रकार प्राणियों की रक्षा करना प्रतिलेखन संयम कहलाता है । जीवोंको मर्दन करनेवाला वा जीवों को बाधा देनेवाला जो किसी ने प्रतिलेखन किया है उसके लिये संयम पालन करना, सब तरह के प्रमाद छोड़कर सूक्ष्म प्राणियों की दया पालन करने के लिये उन पदार्थों को बार-बार प्रमार्जन करना पीछी से शोधना भगवान् जिनेन्द्रदेव के द्वारा दुःप्रतिलेखन नामका संयम कहा जाता है ॥२१२९-२१३२॥

उपेक्ष संयम एवं अपहरण संयम का स्वरूप—

उपेक्षणमुपेक्षा च धर्मोपकरणाविकम् । व्यवस्थाध्यातिकालेमादर्शनं सखजन्मिनाम् ॥२१३३॥

सम्पूज्यं विलोक्योपेक्षायाः संयमनं मुहुः । प्रत्यहं वशनं यत्किलोपेक्षासयमोऽत्र सः ॥२१३४॥

अथापहरणं पिच्छिकयैकाकाविवेहिनाम् । अन्यत्रक्षेपणं तस्मात्तस्य संयमनं परम् ॥२१३५॥

अनिशकरणं यस्मात्सर्वत्र परिरक्षणम् । यस्तोपहरणस्योत्तमसंयमो यमिनां स्मृतः ॥२१३६॥

अर्थ—संयममें मन न लगाना उपेक्षा है । धर्मोपकरणों को रखकर बहुत दिन तक भी उनको न देखा हो तो उनमें उत्पन्न हुए सम्मूर्धन जीवों को देखकर उपेक्षा का संयमन वा निग्रह करना प्रतिदिन बार-बार उसे देखना उपेक्षासंयम कहलाता है । एकेन्द्रिय, बोहन्द्रिय आदि जीवों को पीछी से हटाकर दूसरी जगह स्थापन करना अपहरण कहलाता है उसका संयमन वा निग्रह करना, जीवों को न तो अन्यत्र स्थापन करना न जाने से रोकना प्रयत्न पूर्वक वहाँपर उनकी रक्षा करना मुनियों का अपहरण नामका संयम कहलाता है ॥२१३३-२१३६॥

तीन प्रकार के योग संयम का स्वरूप—

मनो बध्नकायानांनिसर्ग चचलात्मनाम् । ध्यानाद्यं निग्रहो यः सः त्रिविधो योगसंयमः ॥२१३७॥

अर्थ—मन-बध्न-काय ये तीनों स्वभाव से हो चंचल हैं उनको ध्यानादिक द्वारा निग्रह करना तीन प्रकार का योगसंयम कहलाता है ॥२१३७॥

गणधरादिकदेव ने संयम के १७ भेद कहे हैं—

एतेऽत्रयोगिनां सप्तवक्त्रभेदाः प्रकृप्तिताः । संयमस्यगणाधीशरागमे वतशुद्धिदाः ॥२१३८॥

अर्थ—भगवान् गणधरदेव ने अपने आगम में योगियों के लिये व्रतों को शुद्ध करनेवाले ये संयम के सत्रह भेद बतलाये हैं ॥२१३८॥

इन्द्रिय संयम का स्वरूप—

पञ्चाक्षजतांस्वस्वविषयेषु विरागिभिः । अतार्द्धदमनं यस्त पञ्चवेन्द्रियसंयमः ॥२१३९॥

अर्थ—पाँचों इंद्रियां जो अपने-अपने विषयोंमें गमन करती हैं उनको रागरहित व्रती पुरुष जो दमन करते हैं उसको पाँच प्रकार का इन्द्रियसंयम कहते हैं ॥२१३९॥

मन संयम का स्वरूप—

स्वेच्छयागच्छतो लोके मनसो यन्निरोधनम् । ध्यानाध्ययनकर्तार्यं मनः संयम एव सः ॥२१४०॥

अर्थ—इसप्रकार यह मन भी तीनों लोकों में अपनी इच्छानुसार परिभ्रमण करता है उसको ध्यान अध्ययन आदि कार्यों से निग्रह करना मनसंयम कहलाता है । ॥२१४०॥

उत्कृष्ट प्राणी संयम का स्वरूप—

चतुर्वर्षाधिधा जीवसमासा यत्र यत्नतः । रक्ष्यन्ते योगिभिर्मुक्त्यै स प्राणिसंयमोऽब्रूतः ॥२१४१॥

अर्थ—योगी पुरुष मोक्ष प्राप्त करने के लिये जो जीव समासों के भेद से चौदह प्रकार के जीवों को प्रयत्न पूर्वक रक्षा करते हैं उसको भी उत्कृष्ट प्राणिसंयम कहते हैं ॥२१४१॥

संयम पालन करने की प्रेरणा—

इत्येते संयमाः सर्वे प्राणीन्द्रियाभिधाबुधैः । विधेया बलवीर्याभ्यां संवराय शिवाय च ॥२१४२॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुषों को कर्मों का संवर करने और मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपना बल और वीर्य प्रगट कर ऊपर लिखे हुए प्राणी और इन्द्रिय के भेद से अनेक प्रकार के संयमों का सदा पालन करते रहना चाहिये ॥२१४२॥

तपश्चरण करने में शक्ति नहीं छिपानी चाहिए—

अनुगृहीतवीर्याणां स्युर्विश्वेसंयमाः पराः । सत्तपांसि च सर्वाणिगुणा ज्येष्ठाः शिवाद्यः ॥२१४३॥

मावेतिसंयमाचारे तपसां करणं द्वितैः । योगाध्ययनं च कार्यं न वीर्याच्छादनंमनाक् ॥२१४४॥

अर्थ—जो संयमी अपनी शक्तिको नहीं छिपाते हैं उन्हीं के समस्त उत्कृष्ट संयम होते हैं, उत्कृष्ट समस्त तपश्चरण होते हैं, उसमें गुण प्रगट होते हैं और उन्हीं को मोक्षकी प्राप्ति होती है । यही समझकर संयमोंके पालन करने में समस्त तपश्चरणों के करने में वा आतापनादि योग धारण करने में अथवा और ऐसे ही कार्यों में अपनी शक्तिको कभी नहीं छिपाना चाहिये । अपने वीर्य को कभी ठकना नहीं चाहिये । ॥२१४३-२१४४॥

पंचाचार पालन करने की प्रेरणा और उसकी महिमा—

एवंपंचविधामुज्जितैर्भगवदानाचारमेवात्परान्,

मुक्त्यं ये निपुणा भजन्ति परया भक्त्यात्रिगुणैश्चैकान् ।

हत्वाघातिरिपून्समाप्यपरमं ज्ञानं सुरैः पूजन्,

तेऽन्त्यांगाश्चमिहत्यकर्मवपुसोयान्येषमुक्त्यालयम् ॥२१४५॥

येन्येथीमुनिनायकाः सुरतताः शक्या चरत्युजितान्,

एतान्पंचविधानविमुक्तिजनकाम् आचारसारान्सदा ।

ते मुक्तात्रिजगद्भुवं वरसुखंसर्वार्थसिद्धधाविजं,

राज्यं चानुसमाप्यसंयममतोगच्छन्तिमोक्षक्रमात् ॥२१४६॥

इति विदिततर्थाः पंचधाचारसारान्, शिवसुखगतिहेतून् कर्मसातंगसिद्धान् ।

कुगतिगृहकपाटान् तीर्थनार्थैः निषेधान्, भजन् शिवसुखाप्त्यमोहशत्रुं निहत्य ॥२१४७॥

अर्थ—ये पांचों प्रकार के आचार भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए हैं और सर्वोत्कृष्ट हैं इसलिये जो चरम शरीरी चतुर पुरुष मन-वचन-कायको शुद्ध कर परम-भक्ति से मोक्ष प्राप्त करने के लिये इन पांचों आचारों का पालन करते हैं वे महापुरुष घातिया कर्मरूपी शत्रुओं को नाश कर परम केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, उस समय वे देवोंके द्वारा पूजे जाते हैं और अंतमें समस्त कर्म और शरीर को नाशकर परम मोक्ष-स्थान में जा बिराजमान होते हैं । अनेक देव स्त्रियों को सम्भोग करते हैं ऐसे और भी अनेक मुनिराज जो अपनी शक्तिके अनुसार मोक्ष देनेवाले सर्वोत्कृष्ट इन सारभूत पांचों आचारों का पालन करते हैं, वे तीनों लोकों में उत्पन्न होनेवाले सर्वार्थ सिद्धि आदि के श्रेष्ठ सुख भोगते हैं, श्रेष्ठ राज्य का अनुभव करते हैं और अंतमें संयम पालन कर अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त करते हैं । ये पांचों आचार सारभूत हैं, स्वर्ग मोक्षके कारण हैं, कर्मरूपी हाथियों के लिये सिंह के समान हैं, कुगति रूपी घर को भंग करने के लिये कपाटके समान हैं और तीर्थंकर परमदेव भी इनका पालन करते हैं । अतएव इन पंचाचारों के अर्थ को समझने वाले पुरुषों को मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये मोहरूपी शत्रु को नाश कर इन पांचों आचारों का पालन करना चाहिये ॥२१४५-२१४७॥

तीर्थंकर देव प्ररूपित पंचाचार का फल --

नामेयाद्यं जिनेशैस्त्रिभुनमहितं यैः प्रणीताधरिभ्यामाचारा-

मुक्तिसिद्धयर्गणधरसहितैस्तरफलेनात्र लब्धः ।

मोक्षो यैः सिद्धनार्थैस्त्रिविधमुनिगणैरादृता येऽत्र,

यत्नात् ते सर्वेष्वर्चनायास्त्रिजगत्सिगुरुवो मेप्रदुष्टुःस्वभूतीः ॥२१४८॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाव्ये महाप्रथे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते पंचाचार व्याख्येने

ज्ञानचारित्रतपो वीर्याचार वर्णनो नाम षष्ठोऽधिकारः ।

अर्थ— तीनों लोकों के द्वारा पूज्य ऐसे जिन वृषभदेव आदि तीर्थंकरों ने वा जिन गणधरदेवों ने मोक्षकी सिद्धि के लिये इन पांचों आचारों का इस लोकमें निरूपण किया है तथा जिन सिद्ध भगवान् ने इन पंचाचारों के फल से मोक्ष की प्राप्ति की है और जिन आचार्य उपाध्याय साधुओं ने प्रयत्नपूर्वक इन आचारों का पालन किया है, वे सब धर्मके स्वामी और तीनों लोकों के गुरु भगवान् पंचपरमेष्ठी मेरे लिये अपनी-अपनी विभूति प्रदान करें ॥२१४८॥

इसप्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके महाग्रन्थमें पंचाचारके वर्णनमें ज्ञान चारित्र्य तप वीर्याचार को निरूपण करनेवाला यह छठा अधिकार समाप्त हुआ ।

सप्तमोधिकारः

मंगलाचरण

श्रीमत्स्तीर्थनाथश्चसमाचारप्ररूपकान् । सिद्धान्साधून्जगत्पूज्यान्गुणाब्धौश्रीमिसिद्धये ॥४६॥

अर्थ—मैं अपने कार्य की सिद्धि के लिये अंतरंग बहिरंग विभूतिसे सुशोभित और समाचार नीतिको प्ररूपण करनेवाले तीर्थंकर भगवान को नमस्कार करता हूँ, जगत्पूज्य सिद्धों को नमस्कार करता हूँ और गुणों के समुद्र ऐसे साधुओं को नमस्कार करता हूँ ॥२१४६॥

समाचार के स्वरूप का निर्देश—

अथ यः सम्यगाचारः समानः सर्वयोगिनाम् । समजातोपवा ब्रह्मेसमाचाराख्यमेव तम् ॥२१५०॥

अर्थ—जो समस्त मुनियों को समान रीति से पालन करने पड़े ऐसे श्रेष्ठ आचरणों को समाचार कहते हैं । ऐसे समाचारों को अब आगे इस अध्याय में निरूपण करते हैं ॥२१५०॥

समाचार के मूल उत्तर भेद का कथन—

एकः औधिकः संगोद्धितोय पदविभागिकः । इत्यत्र स समाचारोद्धिदोक्तः श्रीजिनागमे ॥२१५१॥

औधिकोऽपिसमाचारो दशभेदोजिनाधिपः । मूलोऽनेकविधोमूलाचारेपदविभागिकः ॥२१५२॥

अर्थ—यह समाचार भगवान जिनेन्द्रदेव के आगममें दो प्रकार का बतलाया है । एक औधिक और दूसरा पदविभागिक । भगवान जिनेन्द्रदेव ने औधिक समाचार के दश भेद बतलाये हैं और मूलाधार ग्रंथों में पदविभागिक के अनेक भेद बतलाये हैं ॥२१५१-२१५२॥

औधिक समाचार के इच्छाकारादि भेद—

इच्छाकारो हि मिथ्याकारस्तथाकार आसिका । निषेधिका किलापृच्छाप्रतिपृच्छा च छन्दनम् ॥

सन्निसंखण एव वाथोपसंपद्योगिनामिमे । दशभेदाः समाख्याता औधिकस्य समासतः ॥२१५४॥

अर्थ—इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छन्दन, सन्निसंखण और उपसंपत् ये औधिक समाचार के संक्षेप से दश भेद कहलाते हैं ॥२१५३-२१५४॥

इच्छाकारादि भेदों के स्वरूप का निर्देश—

इष्टेरत्नत्रयादीवेच्छाकारः शुभकर्मणि । अपराधेऽखिले मिथ्याकारोऽज्ञातः ॥२१५५॥
 प्रतिश्रवणयोगे सिद्धान्तार्थानां तथैव हि । गुहाशून्यगुहादेर्निर्गमने आसिकास्मृता ॥२१५६॥
 देवगुहगुहाद्यान्तःप्रवेशे च निषेधिका । स्वकार्यारम्भे कार्यं पृच्छागुर्वविधो गिनाम् ॥२१५७॥
 गुरुसाधर्मिकाद्यन्यैः पूर्वं निःसृष्टवस्तुनि । पुनस्तदग्रहणे युक्त्या प्रतिपृच्छा शुभप्रदा ॥२१५८॥
 सूरिसाधर्मिकादीनां गृहीते पुस्तकादिके । लेखनं तदभिप्रायेण यच्छन्दनमेव तत् ॥२१५९॥
 गुरुपाध्यायसाधूनां धर्मोपकरणे शुभे । अगृहीते तदर्थं या यांचा सा सन्निमंत्रणा ॥२१६०॥
 युष्माकमह मेवेति निजे गुरुकुलेशुभे । नितर्गः स्वात्मनस्त्याग उपसम्पत्सु बाधक्यजा ॥२१६१॥

अर्थ—रत्नत्रयादिक इष्ट पदार्थों में वा शुभ कामों में इच्छाकार किया जाता है । वस्तुओं के अतिचारों में वा अपराध हो जाने पर मिथ्याकार किया जाता है । सिद्धान्त-शास्त्र के अर्थ सुनने पर वा ग्रहण करने पर तथाकार किया जाता है । किसी गुफा वा सूने मकान में से जाते समय आसिका की जाती है । किसी देव के मंदिर में वा गुफा-दिक में प्रवेश करते समय निषेधिका की जाती है । अपने किसी कार्य के प्रारम्भ करते समय गुरु आदि योगियों से आपृच्छा की जाती है । किसी गुरु वा साधर्मि मुनिके पास पहले कोई वस्तु रखदी हो और फिर उसके लेने की इच्छा हो तो शुभ देनेवाली प्रति-पृच्छा युक्तिपूर्वक की जाती है । किसी आचार्य वा अन्य साधर्मि मुनि की पुस्तक आदि वस्तु उनकी इच्छानुसार अपने कामके लिये लेनी हो तो छंदन नामका समाचार किया जाता है । आचार्य उपाध्याय वा साधु के शुभ धर्मोपकरण अपने कामके लिये लेने हों तो उसके लिये जो याचना करना है, उस समय सन्निमंत्रण नामका समाचार किया जाता है । मैं आपका हूं इसप्रकार कहकर अपने शुभ गुरुकुलमें स्वभावसे अपने आत्मा को समर्पण कर देना, श्रेष्ठ वस्त्रों को कहलाने वाला उपसंपत् नाम का समाचार कहलाता है ॥२१५५-२१६१॥

पदविभागी समाचार के कथन की प्रतिज्ञा—

एष उक्तः समाचारो वशधौघिक आगमे । समासेन तत्तथोद्धृतं वक्ष्ये पदविभागतम् ॥२१६२॥

अर्थ—इसप्रकार जिनागम में संक्षेप से औधिक समाचार के दश भेद बतलाये हैं । अथ आगे पदविभागी नामके समाचार को कहते हैं ॥२१६२॥

पदविभागी समाचार का स्वरूप—

सूर्यस्योद्गममारभ्य कृत्स्नेऽहोरात्रमदले । यक्षियमादिकं सर्वमाचरन्ति निरन्तरम् ॥२१६३॥

आधारांगभवंयस्नाच्छ्रमणाभवहानये । समाचारो जिनेः सोऽत्र प्रोक्तः पदविभागकः ॥२१६४॥

अर्थ—मुनिलोग अपने संसारको नाश करने के लिये सूर्योदय से लेकर समस्त दिन और रात में आधारांग सूत्र के अनुसार जो यत्नपूर्वक समस्त नियमों का पालन करते हैं उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव पदविभागिक नामका समाचार कहते हैं ॥२१६३-२१६४॥

पुनः इच्छाकार समाचार का स्वरूप निर्देश—

पुनयेप्रोदिताःपूर्वमिच्छाकारावयो वश । संक्षेपाद्विस्तरेणात्र दृश्ये तेषामुलक्षण ॥२१६५॥

संयमज्ञानधर्मोपकरणादिकयाचने । आतापनादियोगनाग्रहणेतपसां सताम् ॥२१६६॥

करणेपठनेंगानां सर्वत्रशुभकर्मणि । इच्छाकारश्च कर्तव्यः परिणामोमुमुक्षुभिः ॥२१६७॥

अर्थ—ऊपर औघिक समाचार के जो संक्षेप से वश भेद बतलाये हैं अब आगे विस्तार के साथ उन्हीं का लक्षण कहते हैं । संयमोपकरण, ज्ञानोपकरण वा धर्मोपकरण की याचना करते समय आतापन आदि योगों को ग्रहण करते समय, किसी तपश्चरण को ग्रहण करते समय, ग्रंथों का पठन-पाठन करते समय वा अन्य समस्त शुभ कार्यों में मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनिकों को अपने इच्छाकार रूप परिणाम रखने चाहिये । ॥२१६५-२१६७॥

मिथ्याकार समाचार का स्वरूप—

अतीचारे वतावीनां जालेंगवाक्यमानसैः । अशुभंश्चप्रमावाक्षरेतन्मेवुक्तंकृतम् ॥२१६८॥

मिथ्यास्तुनिष्फलसर्वकरिष्येजातुनेदृशम् । निशुद्धयेत्यपराधस्यमिथ्याकारः सतामतः ॥२१६९॥

अर्थ—अशुभ मन-वचन-कायसे, प्रमादसे वा इन्द्रियों से वतादिकों में अतिचार लग जाय तो यह मैंने बुरा किया वा पाप किया यह सब मिथ्या हो, निष्फल हो, अब मैं ऐसा पाप कभी नहीं करूंगा । इसप्रकार मन-वचन-कायकी शुद्धता पूर्वक अपराधका पश्चात्ताप करना सज्जनों के द्वारा मिथ्याकार कहलाता है ॥२१६८-२१६९॥

तथाकार का स्वरूप—

सिद्धांतादिमहार्थानां श्रवणेचोपदेशने । गुरुणाक्रियमाणेनवितथेयविरूपितम् ॥२१७०॥

भवद्भिः सकलार्थै तदेवमेव न चाग्यथा । इत्युक्त्वा श्रवणतेषांयत्तथाकार एव सः ॥२१७१॥

अर्थ—सिद्धांत आदि महा शास्त्रों के अर्थ सुनने पर अथवा गुरु के यथार्थ उपदेश देनेपर यह कहना कि “आपने जो कहा है सो सब यथार्थ कहा है वह अन्यथा

नहीं" इसप्रकार कहकर उन शास्त्रोंका सुनना तथाकार कहलाता है ॥२१७०-२१७१॥

निर्गंधिका एवं आसिका का स्वरूप —

गिरिकन्दरजीर्णोद्यानगुहापुसिनादिषु । प्रवेशसमये कार्योपबधायनिषेधिका ॥२१७२॥

तेभ्योब्रह्मादिप्रवेशेभ्योन्येतिगमनेसदा । विधातव्यासिका व्यंतराचिप्रोत्थेविषयार्णः ॥२१७३॥

अर्थ—किसी पहाड़ की गुफामें, पुराने बनमें, कंदरा में किसी नदी के किनारे पर प्रवेश करना हो तो उस समय जीवों का बध न हो इसलिये मुनियों को निषेधिका करनी चाहिये । जिसही जिसही ऐसा उच्चारण करना चाहिये । चतुर मुनियों को व्यंतरादिक देवों को प्रसन्न करने के लिये पर्वत की गुफा सूने मकान आदि से बाहर जाते समय असही असही ऐसा कहकर आसिका करनी चाहिये ॥२१७२-२१७३॥

आपृच्छा नामक समाचार का स्वरूप—

आतापनादियोगानांप्रहणे तपसां भुवि । करणे कायसंस्थित्यर्थव्यादिलजनेदरे ॥२१७४॥

प्राप्ताविगमने चान्यासिते कार्येषुभेतिजे । सूर्यादीन् विनयेनस्थापृच्छा कार्यामुशंस्यकः ॥२१७५॥

अर्थ—शिष्य मुनियोंको आतापन आदि योगके धारण करते समय, तपश्चरण धारण करते समय, शरीर को स्थिर रखने के लिये चर्या करने को जाते समय, दूसरे गांव को जाते समय तथा और भी अपने शुभ समस्त कार्यों के करनेपर विनयपूर्वक आचार्यों से पूछना चाहिये, इसी को आपृच्छा नाम का समाचार कहते हैं ॥२१७४-२१७५॥

प्रतिपृच्छा नामक समाचार का स्वरूप—

यत्किञ्चिच्छमहत्कार्यं दुष्करं धर्मसम्भवंस् । करणीयंप्रणम्यात्मगुर्वाचार्यादिकसिलान् ॥२१७६॥

पृष्ठ्वापुनर्मुवासाधून्साधुपृच्छतिसिद्धये । निजकार्यस्य तर्हिबिद्धिं प्रतिपृच्छां शुभप्रदाम् ॥२१७७॥

अर्थ—यदि किसी साधु को धर्म सम्बन्धी कोई अत्यंत कठिन और बहुत बड़ा कार्य करना हो तो वह पहले अपने गुरु आचार्य वा वृद्ध मुनि आदि सबको पूछ लेता है तथा अपने कार्य की सिद्धि के लिये फिर भी वह साधु अन्य साधुओं को भी पूछता है, इस कहलान करनेवाले समाचार को प्रतिपृच्छा कहते हैं ॥२१७६-२१७७॥

छंदन नामक समाचार का स्वरूप—

पुस्तकाविगृह्णतेषु धिनधे वपदनादिके । अंतागमपदार्थानांप्रश्नेऽन्येधर्मकर्मणि ॥२१७८॥

गणेशकृपभावीनांविश्वभध्यहितात्मनाम् । वक्षेरिच्छानुवृत्तिर्याचयतेछन्दनं च तत् ॥२१७९॥

अर्थ—चतुर मुनि किसी आचार्य आदि से पुस्तकादि के ग्रहण करते समय, विनय करते समय, वंदना आदि करते समय, अथवा जैन शास्त्रों में कहे हुए पदार्थों के स्वरूपको पूछते समय अथवा और भी किसी शुभ कार्यों के करते समय समस्त भव्य जीवों का हित करनेवाले वृषभसेन आदि गणधरों की वा आचार्य आदि की इच्छानुसार अपनी प्रवृत्ति करना अथवा उस उपकरण के स्वामी की इच्छानुसार उस उपकरण को लेना छंदन नामका समाचार कहलाता है ॥२१७८-२१७९॥

निमंत्रण नामक समाचार का स्वरूप—

गुरुसार्धमिकान्येषांपुस्तकादिपरिग्रहम् । धर्मोपकरणवाग्यविच्छिन्नगृहीतुमात्मवान् ॥२१८०॥

तदानींविनयेनैत्य तेषां नत्वा पदाम्बुजान् । कुर्यान्निमंत्रणायोगीयाचनां कायसिद्धये ॥२१८१॥

अर्थ—यदि किसी साधु को अपने गुरु से वा अन्य साधर्मि मुनियों से कोई पुस्तक वा कोई धर्मोपकरण लेने की इच्छा हो तो लेते समय उस साधुको उन गुरु वा अन्य साधर्मि साधुओं के समीप विनयपूर्वक जाना चाहिये उनके चरण कमलों को नमस्कार करना चाहिये और फिर अपने कार्य की सिद्धि के लिये उनसे याचना करनी चाहिये इसको निमंत्रण नामका समाचार कहते हैं ॥२१८०-२१८१॥

उपसम्पत् समाचार के भेद—

उपसम्पज्जिनेः प्रोक्ता पञ्चधा विनयेस्तसाम् । क्षेत्रे मार्गे तथासौख्ये दुःखे सुखे महात्मनाम् ॥२१८२॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने सज्जन पुरुषोंके लिये उपसंपत् नामका समाचार पांच प्रकार का बतलाया है । विनय, क्षेत्र, मार्ग, सुखदुःख और सुखके विषय में महात्माओं के लिये अपनी सेवा का निवेदन करना पांच प्रकार की उपसंपत् है ॥२१८२॥

विनयोपसम्पत् समाचार का स्वरूप—

आधूर्णकयत्तीनांविनयोपधार ऊर्जितः । अंगांघ्रिमर्दनैः संस्तरासनादिनिवेदनम् ॥२१८३॥

आवासमूमिसपृच्छापुस्तकादिसमर्पणम् । इत्यादिकरणयद्विनयोपसम्पदेव सा ॥२१८४॥

अर्थ—जो मुनि बाहर से आये हैं और अपने स्थान में आकर ठहरे हैं उनका उत्कृष्ट विनय और उपचार करना, उनके शरीर को दाबना, पैरों को दाबना, उनके लिये सोने तथा बैठने का आसन देना, उनके स्थानको वा उनके गुरुके स्थानको पूछना तथा उनके मार्गको पूछना (कहां से आये कहां जायेंगे आदि पूछना) उनके लिये पुस्तक उपकरण आदि देना आदि कार्योंके करने को विनयोपसंपत् कहते हैं ॥२१८३-२१८४॥

क्षेत्रसंपत् समाचार का स्वरूप—

दृग्ज्ञानसंयमाद्याश्चसत्तपोनियमादयः । यमशीलव्रताचाराः क्षमादिगुणराशयः ॥२१८५॥
यस्मिन्साम्येषुमेक्षेत्रेवर्द्धतेषीमतां सत्ताम् । तस्मिन्क्षेत्रेनिवासो यः क्षेत्रोपसम्पदेव सा ॥२१८६॥

अर्थ—जिस शुभ और समानशीतोष्ण क्षेत्रमें बुद्धिमान सज्जनों के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, संयम, श्रेष्ठतप, यम, नियम, शील, व्रत, आचार, क्षमा आदि अनेक गुण बढ़ते जाय ऐसे क्षेत्रमें निवास करना क्षेत्रसंपत् कहलाता है ॥२१८५-२१८६॥

मार्गोपसंपत् समाचार का स्वरूप—

पादोष्णागतवास्तव्यमुनीनां योगधारिणाम् । तपः संयमयुक्तानां गमनागमनादिकैः ॥२१८७॥
परस्परं सुखप्रदाने व्रतदृग्ज्ञानवृद्धये । यो जितैर्यदिता शास्त्रे मार्गोपसम्पदेव सा ॥२१८८॥

अर्थ—जो मुनि तप और संयमको धारण करनेवाले हैं और योग को धारण करनेवाले हैं तथा बाहर से आकर अपने स्थान में ठहरे हैं अथवा अपने ही संघके मुनि बाहर जाकर आए हैं उनके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और व्रतों की वृद्धि के लिये आने जाने के समय की कुशल वार्ता पूछना, परस्पर सुखका प्रदान करना भगवान् जितेन्द्रदेव ने अपने शास्त्रों में मार्गोपसंपत् बतलाई है ॥२१८७-२१८८॥

सुखदुःखोपसंपत् समाचार का स्वरूप—

उपचारोमुनोन्वाशानिमित्तसुखदुःखयोः । मठपुस्तकधर्मोपदेशदानादिभिः परैः ॥२१८९॥
युष्माकमहमवाशुकरिष्येतिखिलं वचः । इत्यादिकथनंशर्मदुःखोपसम्पदेव च ॥२१९०॥

अर्थ—यदि किसी मुनि पर कोई सुख वा दुःख आ पड़े तो उस समय मठ पुस्तक धर्मोपदेश वा आवश्यकतानुसार अन्य पदार्थों को (आहार औषधि आदि को) देकर उनका उपचार वा उपकार करना अथवा हम सब आपके हैं, हम लोग आपके कहें हुए सब वचनों का पालन करेंगे इसप्रकार उनसे कहना सुखदुःखोपसंपत् कहलाती है ॥२१८९-२१९०॥

सूत्रसंपत् समाचार के भेद एवं उनका स्वरूप—

सूत्रोपसम्पदेकाम्यार्थोपसम्पत्समाह्वया । तदा तदुभयात्रेवासूत्रोपसम्पदित्वयि ॥२१९१॥
यः सूत्रपठनेयतनःसूत्रोपसम्पदवत्र सा । अर्थादानेन यो यतनः सार्थोपसम्पद्विज्ञिता ॥२१९२॥
यतनस्तदुभयेयोत्रसोपसम्पद्व्यात्मिका । अधुनातत्तणकिंचिद्वक्ष्येपविभागिनः ॥२१९३॥

अर्थ—सूत्रसंपत् के तीन भेद हैं—सूत्रसंपत्, अर्थसंपत् और उभयसंपत् । सूत्रों

के पढ़ने में प्रयत्न करना सूत्रसंपत् है । अर्थ के पढ़ने में प्रयत्न करना श्रेष्ठ अर्थसंपत् है । सूत्र और अर्थ दोनों के पढ़ने में प्रयत्न करना तदुभयसंपत् है । अब आगे पद-विभागी समाचार का थोड़ा सा लक्षण कहते हैं ॥२१६१-२१६३॥

पदविभागी समाचार का लक्षण—

अथकमिष्वन्महाप्राज्ञः समर्थः सकलेर्गुणैः । वीर्यधैर्यतपोयोगोत्सहार्थः संयताग्रणीः ॥२१६४॥
 एवगुर्वादिगतसर्वं श्रुत्वात्मापरागमम् । ज्ञातुमिच्छन्प्रणम्योच्चैः पृच्छतीति निजगुरुम् ॥२१६५॥
 । युष्मत्पद्मप्रसादेन भवन्सूरिर्भूजितम् । सर्वागमपरिज्ञानं कुशलं चापरं प्रति ॥२१६६॥
 गन्तुमिच्छामि शक्याभ्यागमाध्ययनहेतवे । इतिति श्रोयथा पंच पद्मापृच्छाः करोति सः ॥२१६७॥

अर्थ—जो कोई उत्तम मुनि अत्यन्त बुद्धिमान् हो, समस्त गुणों से, वीर्य, धैर्य, तप, योग और उत्साह आदि समस्त गुणों से सुशोभित हो और उसने अपने गुरु से उनके जाने हुए समस्त शास्त्र पढ़ लिये हों तथा फिर अन्य शास्त्रों के पढ़ने की उसकी इच्छा हो तो वह अपने गुरु को प्रणाम कर पूछता है कि हे प्रभो ! अब मैं आपके चरणों की आज्ञानुसार किसी ऐसे उत्तम और पूज्य आचार्य के पास जाना चाहता हूँ जो समस्त आगम के ज्ञान में कुशल हों तथा वहाँ जाकर अपनी शक्तिके अनुसार अन्य आगमों का अध्ययन करना चाहता हूँ । इसप्रकार वह शिष्य तीन बार, पांच बार वा छह बार पूछता है ॥२१६४-२१६७॥

अन्य संघ में मुनि को अकेला नहीं जाना चाहिये—

एवमापृच्छ्य योगीन् प्रेषितो गुरुणा वृत्तिः । आत्मचतुर्थे वा आत्मतृतीये वा जितेन्द्रियः २१६८॥
 अथवा आत्मद्वितीये सोनत्वाचार्यविपाठकान् । निर्गच्छति ततः संघादेकाकी ननु जातु चित् ॥२१६९॥

अर्थ—इसप्रकार वह अपने गुरु से पूछता है और यदि गुरु जाने की आज्ञा दे देते हैं तो वह मुनि अन्य तीन साधुओं को अपने साथ लेकर अथवा अन्य दो साधुओं को अपने साथ लेकर अथवा कम से कम एक अन्य मुनिको अपने साथ लेकर अत्यन्त जितेन्द्रिय वह साधु आचार्य और उपाध्यायों को नमस्कार कर तथा बृद्ध मुनियों को नमस्कार कर उस संघ से निकलता है । किसी भी मुनिको अकेले कभी नहीं निकलना चाहिये ॥२१६८-२१६९॥

जिनेन्द्र भगवान् प्ररूपित गृहीतार्थ विहार एवं गृहीतार्थाश्रित विहार का स्वरूप—

यतः एकोगृहीतार्थोविहारोऽस्ति सत्त्वगुणैः । समर्थानां द्वितीयोऽन्योगृहीतार्थेन संश्रितः ॥२२००॥

सामान्ययोगिनां युक्त्या त्रेताभ्यां नापरः क्वचित् । विहारस्तुतीयः सर्वैरनुज्ञातो जिनेश्वरैः ॥२२०१॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि भगवान् जिनेन्द्रदेव ने दो प्रकार का ही विहार बतलाया है—एक गृहीतार्थ विहार और दूसरा गृहीतार्थ के आश्रय होनेवाला विहार । जो समर्थ मुनि हैं, समस्त तत्त्वों के जानकार हैं, अपने मार्ग का चरणानुष्ठान अच्छी तरह कर सकते हैं ऐसे मुनियों का समस्त गुणों से सुशोभित होनेवाला विहार गृहीतार्थ विहार कहलाता है । यदि ऐसी सामर्थ्य न हो फिर समस्त मार्गानुष्ठान को जानने वाले किसी मुनि के साथ विहार करना चाहिये । इसको गृहीतार्थाश्रित विहार कहते हैं । यह विहार सामान्य मुनियों के लिये निरूपण किया गया है । इन दो विहारों के सिवाय तीसरा कोई भी विहार भगवान् जिनेन्द्रदेव ने नहीं बतलाया है ॥२२००-॥२२०१॥

कैसे गुणों से युक्त मुनि एकल विहार करने योग्य है—

सर्वोत्कृष्टतया द्वादशांगपूर्वाखिलार्थवित् । सत्वीर्यधृतिस्त्वाद्यस्त्र्यादिसंहननो वली ॥२२०२॥

एकत्वभावनापन्नः शुद्धभाषोजितेन्द्रियः । चिरप्रवृजितो धीमान् जिताशेषपरीषहः ॥२२०३॥

इत्याद्यन्यगुणप्राप्तो मुनिः समतो जिनेः । धृतेर्जकविहारो हि नाग्यस्तद्गुणवर्जितः ॥२२०४॥

अर्थ—जो मुनि अत्यन्त उत्कृष्ट होने के कारण ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के पाठी हैं, श्रेष्ठ वीर्य, श्रेष्ठ धर्म और श्रेष्ठ शक्ति को धारण करते हैं जो पहले के तीन संहननों में से किसी एक संहनन को धारण करनेवाले हैं, बलवान् हैं, जो सदा एकत्व भावना में तत्पर रहते हैं, शुद्ध भावों को धारण करते हैं जो जितेन्द्रिय हैं, चिरकाल के वीक्षित हैं, बुद्धिमान् हैं, समस्त परीषहों को जीतनेवाले हैं तथा और भी अन्य समस्त गुणों से सुशोभित हैं, ऐसे मुनियों को शास्त्रों में एकविहारी (अकेले विहार करनेवाले) होने की आज्ञा है । जो इन गुणों से रहित है उनको भगवान् जिनेन्द्रदेव ने एकविहारी होने की आज्ञा नहीं दी है ॥२२०२-२२०४॥

मेरे शत्रुओं को भी अकेले विहार नहीं करना चाहिए—

भिक्षोत्सर्गादिकालेषु गमनागमनविकम् । अकालेशयनं निद्रामुपवेशनमास्थनः ॥२२०५॥

विकथाकरणं यस्य स्वेच्छया जल्पनं सच । मामुदीदृशा एकाकी मे शत्रुरपि भूतसे ॥२२०६॥

अर्थ—जो मुनि भिक्षा के समय में वा मल मूत्रादिक के समय में गमन आगमन

करते हैं, असमय में सोते हैं वा निन्दनीय आसन लगाकर बैठते हैं, जो विकृतियाँ कहते हैं और अपनी इच्छानुसार बहुत बोलते हैं, ऐसे मेरे शत्रुओं को भी अकेले विहार नहीं करना चाहिये फिर भला मुनियों की तो बात ही क्या है ॥२२०५-२२०६॥

अकेले विहार करने से हानि—

गुरोः परिभवः शास्त्रव्युच्छेदो जडताभुवि । मलिनत्वं च तीर्थस्य विह्वलत्वं कुशीलता ॥२२०७॥

पार्श्वस्थताप्यनाचारद्वयाद्यन्योगुणवजः । स्वेच्छयास्वगुणं त्यक्त्वा जायते कविहारिणः ॥२२०८॥

अर्थ—अकेले विहार करने से गुरु का तिरस्कार वा उनकी निंदा होती है, श्रुतज्ञान का विच्छेद होता है, मूर्खता वा अज्ञानता बढ़ती है, जिनशासन मलिन होता है, विह्वलता तथा कुशीलता बढ़ती है, पार्श्वस्थ आदि मुनियों में रहनेवाले अवगुण आ जाते हैं और अनाचार बढ़ जाते हैं । इसप्रकार अकेले विहार करने से गुण सब चले जाते हैं और अवगुणों का समूह लग जाता है ॥२२०७-२२०८॥

अकेला विहार अनेक आपत्ति का कारण—

कटकप्रत्यन्तोकाश्चगवादिसर्पसूरिभिः । स्लेच्छाद्यं दुर्जनं दुष्टं विसूचिकाविषादिकं ॥२२०९॥

अन्यैरुपद्रवैर्घोरैरेकाकीविहरन् भुविः । प्राप्नोत्यात्मविपत्तिं च दुर्गादिसद्गुणैः समा ॥२२१०॥

अर्थ—इसके सिवाय अकेले विहार करने से आपत्तियाँ भी बहुत आती है, कांटे, शत्रु, कुत्ते, पशु, सर्प, विच्छू, स्लेच्छ आदि दुर्जन, दुष्ट आदि अनेक जीवोंके द्वारा तथा विसूचिका आदि रोगों के द्वारा विषादिक आहार के द्वारा तथा और भी अनेक घोर उपद्रवोंके द्वारा अनेक प्रकारकी आपत्तियाँ आती हैं । तथा सम्यग्दर्शनादिक श्रेष्ठ गुणों के साथ-साथ अन्य गुण भी सब नष्ट हो जाते हैं ॥२२०९-२२१०॥

शिथिल मुनि अन्य की सहायता नहीं चाहता—

कश्चिदगौरवकोमन्वोमुद्धिकः कुटिलाश्रमः । दुष्कृत्युक्तो विषमासक्तो मायावी शिथिलो धमः ॥२२११॥

आलस्यप्रसक्तो सुखो निर्धर्मः पापधीः शठः । स्वेच्छाचारणशोभोत्र सवेगादिगुणसिगः ॥२२१२॥

कुशीलः कुत्सिताचारोजिनाज्ञादूरगोनिजे । संवसन्नपि गच्छे मैच्छति संघाटकंपरम् ॥२२१३॥

अर्थ—जो मुनि गौरव सहित है अर्थात् किसी ऋद्धि आदि का जिसको अभिमान है, जो मंदबुद्धि है, लोभी है, हृदय का कुटिल है, सम्यग्दर्शन से रहित है, विषयासक्त है, मायाचारी है, शिथिल है, नीच है, आलसी है, संपटी है, धर्महीन है, पापी है, मूर्ख है, जो इच्छानुसार अपने आचरण करता है, संवेग आदि गुणोंसे रहित है, कुशील

है, कुत्सित आचरणोंको पालन करनेवाला है और भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञासे दूर रहता है, ऐसा कोई मुनि अपने गच्छमें रह जाय वा निवास करता हो तो वह अन्य किसी की भी सहायता नहीं चाहता । क्योंकि वह स्वयं शिथिल है ॥२२११-२२१३॥

अकेले विहार करना पांच पाप के स्थान का कारण—

जिनाकौल्लङ्घनंचकममवस्थास्वशासने । मिथ्यात्वादाधनंस्वात्मनाशःसाढ्वगाविभिः ॥२२१४॥

समस्तसंयमस्यात्रविराघनाह्यमूनि भोः । निकाचितानिपंचस्यु स्थानान्येकविहारिणः ॥२२१५॥

अर्थ—अकेले विहार करनेवाले मुनि के पांच पापों के स्थान उत्पन्न हो जाते हैं । एक तो भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लङ्घन होता है, दूसरे जिन शासन में अव्यवस्था हो जाती है अर्थात् सभी मुनि अकेले विहार करने लग जाते हैं, तीसरे मिथ्यात्व की वृद्धि होती है, चौथे सम्यग्दर्शनादिक गुणों के साथ-साथ अपने आत्माका ज्ञान चारित्र आदि सब गुणोंका नाश हो जाता है और पांचवें समस्त संयम की विराधना हो जाती है । इसप्रकार एक विहारी के पांच पापों के स्थान उत्पन्न हो जाते हैं । ॥२२१४-२२१५॥

जिस गुरुकुल में सज्जन मुनि निवास नहीं करें—

न तत्र कल्पते वासः सती गुरुकुले भुवि । यजेतेगुणवृद्धं न पञ्चाधाराभवन्त्यहो ॥२२१६॥

महान्सूरिरुपाध्यायः प्रवर्तको गुणाकरः । स्वविरश्चगणाधीशः पञ्चाधारापराधमे ॥२२१७॥

अर्थ—जिस गुरुकुल में गुणों की वृद्धि के लिये महान् आचार्य उपाध्याय, गुणोंके समुद्र प्रवर्तक स्वविर और गणाधीश ये पांच उत्कृष्ट आधार न हों उस गुरुकुलमें सज्जन मुनियों को कभी निवास नहीं करना चाहिये ॥२२१६-२२१७॥

आचार्य एवं उपाध्याय का लक्षण—

पञ्चाचाररतःशिष्यानुग्रहे कुशलमहान् । दीक्षाशिक्षादिसंस्कारैराचार्यः स्वाङ्गुणार्णवः ॥२२१८॥

धर्मोपदेशकोधीमान् धीमतां पाठनोद्यतः । अंगपूर्वप्रकीर्णानां यो व्रतं विद्धि पाठकम् ॥२२१९॥

अर्थ—जो पञ्चाचार पालन करने में तत्पर हों, जो शिष्यों का अनुग्रह करने में कुशल हों, जो दीक्षा शिक्षा आदि संस्कारों से सर्वोत्कृष्ट हों और जो गुणों के समुद्र हों, उनको आचार्य कहते हैं । जो सदा धर्म का उपदेश देते हों, अत्यन्त बुद्धिमान हों और बुद्धिमान शिष्यों के लिये जो अंग पूर्व वा प्रकीर्णक शास्त्रोंके पढ़ाने में सदा तत्पर

१—तीन मुनियों का गण और सात मुनियों का गच्छ कहलाता है ।

रहते हों उनको पाठक वा उपाध्याय कहते हैं ॥२२१८-२२१९॥

प्रवर्तक एवं स्थविर मुनि का लक्षण—

चतुःधर्मसंघामाचार्यादिमार्गदेशने । प्रवृत्त्याद्युपकारान् यः करोति स प्रवर्तकः ॥२२२०॥

बालवृद्धाविशिष्ट्याणां सन्मार्गस्योपदेशकः । यः सर्वज्ञाज्ञायुक्त्यास्थविरः सोऽन्यमानितः ॥२२१॥

अर्थ—जो श्रेष्ठ मुनि चारों प्रकार के मुनियों को चर्या आदि के मार्ग को दिखलाने में वा प्रवृत्ति कराने में उपकार करते हों उनको प्रवर्तक साधु कहते हैं । जो मुनि सर्वज्ञदेव की आज्ञाके अनुसार युक्तिपूर्वक बालक वा वृद्ध शिष्यों को श्रेष्ठ मार्गका उपदेश देते हैं तथा जिन्हें सब मानते हैं उनको स्थविर कहते हैं ॥२२२०-२२२१॥

गणधर मुनि का लक्षण—

गणस्य सर्वसंघस्य पालकः परिरक्षकः । यो नानोपायशिक्षायां ज्ञयोगणधरोऽवसः ॥२२२२॥

अर्थ—जो शिक्षा आदि अनेक उपायोंसे समस्त संघकी रक्षा करते हों, सबका पालन करते हों, उनको गणधर कहते हैं ॥२२२२॥

कैसे आचार्य का साधिष्य ही गुण वृद्धि का कारण है—

अमोषां निकटेनूनवसतांगुणराशयः । वर्द्धन्तेसाहचर्येणयथाब्धीवायुनोर्मयः ॥२२२३॥

अर्थ—जिसप्रकार वायुसे समुद्र की लहरें बढ़ती हैं, उसीप्रकार इन आचार्य आदि के समीप निवास करने से उनके सहवास से अनेक गुणों के समूह बढ़ते हैं । ॥२२२३॥

इच्छानुसार विहार करोड़ों दोषों का कारण है—

स्वेच्छावासविहारादिकृतामेकाकिनांभुवि । होयन्तेसवृणानिश्चं वर्द्धन्ते दोषकोटयः ॥२२२४॥

अर्थ—जो मुनि अकेले ही अपनी इच्छानुसार चाहे जहाँ निवास करते हैं, चाहे जहाँ विहार करते हों उनके श्रेष्ठ गुण सब नष्ट हो जाते हैं और करोड़ों दोष प्रतिदिन बढ़ते रहते हैं ॥२२२४॥

पंचम कालमें २-३ साधु सहित विहार ही कल्याणकारी है—

अष्टाहोपंचमेकालेभिष्याद्गुणुष्टपूरिते । हीमसंहननानां च भुनीनां चंचलात्मनाम् ॥२२२५॥

द्वित्रितुर्थादिसंक्षेपेनसमुवायेन क्षेमकृत् । प्रोक्तोवाप्तोविहारश्चक्षुत्सर्गकरणादिकः ॥२२२६॥

अर्थ—यह पंचमकाल भिष्यादृष्टि और कुष्ठों से ही भरा हुआ है । तथा इस

कालमें जो मुनि होते हैं वे हीन संहनन को धारण करनेवाले और चंचल होते हैं । ऐसे मुनियों को इस पंचम कालमें दो तीन चार आदि की संख्या के समुदाय से ही निवास करना समुदायसे ही विहार करना और समुदाय से ही कायोत्सर्ग आदि करना कल्याणकारी कहा है ॥२२२५-२२२६॥

आगम विरुद्ध अन्यथा प्रवृत्ति करने का निषेध—

सर्वोयतिशुभाचारो यस्याधारो जिनेश्वरः । आचारगुणचिबुद्धयं नाग्यथाकार्यकोटिभिः ॥२२७॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने यत्नाचार ग्रंथोंमें यतियोंके समस्त शुभ आचार गुण और आत्माकी शुद्धता की । बुद्धिके लिये कहे हैं इसलिये करोड़ों कार्यों के होनेपर भी अन्यथा प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये ॥२२२७॥

पुनः संघ सहित विहार करने की प्रेरणा—

अतोऽविषमेकालेशरीरेचाश्रकीटके । निसर्गचंचले चित्तसत्त्वहीनेखिले जने ॥२२२८॥

आयतंकाकितां नेचनिर्विघ्नेनव्रतादिकः । स्वप्नेपि न मनः शुद्धिः निष्कलंकनवीक्षणम् ॥२२२९॥

विज्ञायेत्यखिलाः कार्याः संघाटकेन सयतः । विहारस्थितियोगाद्यास्तन्निर्विघ्नायशुद्धये ॥२२३०॥

अर्थ—क्योंकि यह पंचम काल विषम काल है, इसमें मनुष्यों के शरीर अश्व के कीड़े होते हैं, तथा उनका मन स्वभाव से ही चंचल होता है और पंचमकाल के सब ही मनुष्य शक्तिहीन होते हैं । अतएव एकाकी विहार करनेवालों के व्रतादिक स्वप्न में भी कभी निर्विघ्न नहीं चल सकते । तथा उनके मनकी शुद्धि भी कभी नहीं हो सकती और न उनकी दीक्षा कभी निष्कलंक रह सकती है । इन सब बातों को समझकर मुनियों को अपने विहार निवास वा योगधारण आदि समस्त कार्य निर्विघ्न पूर्ण करने के लिये तथा उनको शुद्ध रखने के लिये संघके साथ ही विहार आदि समस्त कार्य करने चाहिये, अकेले नहीं ॥२२२८-२२३०॥

तीर्थंकर परमदेव की आज्ञा उल्लंघन से हानि—

इमां तीर्थंकुलामाज्ञामुल्लंघ्य ये कुमारंगाः । स्वेच्छावासविहारादीन्कुर्वन्तेबुद्धिदूराः ॥२२३१॥

तेषामिहैव नूनंस्याद्दुष्कामचरणक्षयः । कलंकता च दुस्समाख्या ह्यपमानः पथेपथे ॥२२३२॥

परलोकेसर्वज्ञाशोक्लंघनाद्यतिपापतः । स्वभाविदुर्मतीषोरं धनसहं च चिरंभूतम् ॥२२३३॥

अर्थ—जो कुमारंगासी इस तीर्थंकर परमदेव की आज्ञा को उल्लंघन कर अपनी इच्छानुसार विहार वा निवास आदि करते हैं उनकी सम्प्रशरीन से ही रहित

समझना चाहिये । ऐसे मुनियों के सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्य इसी लोकमें नष्ट हो जाते हैं, इसी लोकमें वे कलंकित हो जाते हैं, संघके बाहर करने योग्य हो जाते हैं और पद-पद पर उनका अपमान होता है । भगवान् सर्वज्ञदेव की आज्ञा को उल्लंघन करने रूप महापाप से वे लोक-परलोकमें भी नरकाविक दुर्गतियोंमें चिरकाल तक महा घोर परि-भ्रमण किया करते हैं ॥२२३१-२२३३॥

जिनेन्द्रदेव की आज्ञा उल्लंघन का निषेध—

इत्यपार्यं विदित्वात्राभुज्ज्वलकविहारिणाम् । अनुल्लंघ्याजिनेन्द्राज्ञांप्रमाणीकृतमानसे ॥२२३४॥

अर्थ—इसप्रकार अकेले विहार करनेवाले मुनियों का इस लोकमें नाश होता है और परलोक भी नष्ट होता है, यही समझकर अपने मनमें भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञाको ही प्रमाण मानना चाहिये और उसको प्रमाण मानकर उसका उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिये ॥२२३४॥

पुनः अकेले रहने का एवं विहार करने का निषेध—

स्थितिस्थानविहारादीन्समुदायेनसंयताः । कुर्वन्सुखगुणादीनां वृद्धये विघ्नहानये ॥२२३५॥

अर्थ—मुनियों को अपने गुणों की वृद्धि करने के लिये तथा विघ्नों को शांत करने के लिये अपना निवास वा विहार आदि सब समुदाय के साथ ही करना चाहिये अकेले न रहना चाहिये, न विहार करना चाहिये ॥२२३५॥

विद्या प्राप्ति हेतु मुनि कैसे आचार्य के निकट जायें—

गच्छसातेनयल्लब्धंकिचिद्विद्यार्थिनायवि । सचिनाच्चित्तमिधं च द्रव्यं सत्पुस्तकादिकम् ॥२२३६॥

अन्तरालेत्र तस्यार्हः एवसूरिर्नचापरः । एवं गुणविशिष्टःस्यत्सोपि विश्वहितकरः ॥२२३७॥

संग्रहानुग्रहाभ्यां च कुशलोपमंप्रभावकः । सतांविद्यातकीर्तिजिन्मसूत्रार्थविशारदः ॥२२३८॥

सत्क्रियाचरणाधारः षट्त्रिंशद्गुणभूषितः । गम्भीरोविधिरिवाक्षोभ्यःसमयाधमासमोमहान् ॥३९॥

सौम्येन चन्द्रसादृश्यःस्वच्छाम्बुवत्प्रशान्तवान् । पञ्चाधारि ज्ञेशूरोमिथ्यात्वशत्रुघातकः ॥४०॥

इत्याद्यभ्यगुणाधारोयोत्राचार्योजगद्धितः । अजयःप्राप्तवान्शिष्यः स विद्यापत्यैकमेतत् ॥४१॥

अर्थ—मार्ग में चलते हुए उस विद्यार्थी मुनि को पुस्तक आदि अचित्त वा विद्यार्थी आदि सचित्त अथवा मिले हुए पदार्थ मिले तो उसको ग्रहण करने के अधिकारी आचार्य ही होते हैं । तथा वे आचार्य भी ऐसे होने चाहिये जो समस्त जीवों का हित करनेवाले हों, संग्रह (बीजा लेकर अपना बनाना वा संघ बढ़ाना) और अनुग्रह (संस्कारों

से दीक्षितों के गुण बढ़ाना) करने में कुशल हों, धर्म की प्रशंसा करनेवाले हों, सज्जनों में जिनकी कीर्ति प्रसिद्ध हो, जो जिनसूत्रों के अर्थ कहने में निपुण हों, श्रेष्ठ क्रिया और आचरणों के आधार हों, छत्तीस गुणोंसे विभूषित हों, समुद्रके समान गंभीर हों, परंतु जो कभी भी क्षुब्ध न होते हों, क्षमा गुणके कारण जो पृथ्वी के समान सर्वोत्कृष्ट हों, सौम्यता गुणसे जो चन्द्रमा के समान हों, निर्मल जलके समान अत्यन्त शांत वा शीतल हों, पंचेन्द्रिय रूपी शत्रुओं को जीतने में जो अत्यन्त शूरवीर हों, मिथ्यात्व रूपी शत्रुओं को घात करनेवाले हों, तथा और भी अनेक गुणों के आधार हों, तीनों लोकों का हित करनेवाले हों और जो किसी से भी नहीं जीते जा सकते हों, उनको आचार्य कहते हैं । वह शिष्य अपनी विद्या की प्राप्ति के लिये अनुक्रम से चलता हुआ ऐसे आचार्य के समीप पहुंचता है ॥२२३६-२२४१॥

पर संघ से आये मुनि को देखकर संघ के मुनि किस प्रकार उसका वित्त करे—

आगच्छन्संनिजास्थानं प्राधूर्णकं सुसंयतम् । तं वीक्ष्य सहसा सर्वसमुत्तिष्ठन्ति संघातः ॥२२४२॥

वात्सल्यहेतवे वक्ष्याजिनाणां पालनाय च । परस्परं प्रणम्याय ह्यास्मीयकरणाय वा ॥२२४३॥

अर्थ—उस शिष्यके यहां पहुंचनेपर उस संघके सब मुनि अपने स्थान में आए हुए उन अभ्यागत मुनि को देखकर अपना वात्सल्य दिखलाने के लिये, भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का पालन करने के लिये उनके साथ परस्पर नमस्कार करने के लिये और उनको अपना बनाने के लिये एक साथ उठकर खड़े हो जाते हैं ॥२२४२-२२४३॥

वन्दना प्रतिवन्दना योग्यता अनुसार करते हैं—

ततः सप्तप्रदान्गत्वा भक्त्या सासन्मुखं च ते । प्रकुर्वन्ति यथायोग्यं वन्दनां प्रतिवन्दनाम् ॥२२४४॥

अर्थ—तदनन्तर वे सब मुनि भक्तिपूर्वक सात पेंड तक उनके सन्मुख जाते हैं तथा अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार वन्दना अथवा प्रतिवन्दना करते हैं ॥२२४४॥

तदनन्तर आगन्तुक मुनि की रत्नत्रय विशुद्धि पूछें—

अस्यागतस्य यत्कृत्यं कृत्वांश्चिद्वन्दनादितत् । रत्नत्रयपरिप्रश्नं प्रीत्यैक्यं स्तपोचनाः ॥२२४५॥

अर्थ—फिर संघके वे सब मुनि उन आये हुए मुनिके पादमर्चन (पैर दाबना) आदि करने योग्य कार्य करते हैं और फिर अपना प्रेम बिलखाने के लिये रत्नत्रय की विशुद्धि पूछते हैं ॥२२४५॥

तीन रात दिन तक आगन्तुक मुनि की सहायता करते हैं—

आयातस्यत्रिरात्रंसपरिष्कारणाय च । संघाटकः प्रदातव्योनियमात्तेन सूरिणा ॥२२४६॥

अर्थ—तदनंतर उस संघके आचार्य आये हुए, उन मुनि की परीक्षा करने के लिये तीन रात तक नियम से उनकी सहायता करते हैं । रहने, चर्या करने, साथ रहने आदि में सहायता करते हैं ॥२२४६॥

आगन्तुक मुनि के चारित्र्यादि की परीक्षा करना चाहिये—

आगन्तुकार्च वास्तव्याः परीक्षन्ते परस्परम् । अबबोधावबुत्तानांयस्तेनाचरणाय च ॥२२४७॥

आवश्यकतानुसर्गस्वाध्यायकरणादिषु । भिक्षाकाले मलोत्सर्गसमित्यादिप्रपालने ॥२२४८॥

अर्थ—उन आये हुए मुनियों को अपने यहां निवास कराना चाहिये और उनके चारित्र्यका ज्ञान तथा परस्पर का ज्ञान करने के लिये प्रयत्नपूर्वक आचरण कराने के लिये आवश्यक करते समय, कायोत्सर्ग करते समय, स्वाध्याय करते समय, भिक्षा करते समय, मलमूत्र त्याग करते समय और समितियों के पालन करते समय उनकी परीक्षा करनी चाहिये ॥२२४७-२२४८॥

आगन्तुक मुनि भी आचार्य की परीक्षा कर अपने प्रयोजन का निवेदन करे—

विधान्तस्तद्धिनं स्थिरवा परीक्ष्याचार्यमुत्तमम् । स्वास्थ्यागमनकार्यं स विनयेन निवेदयेत् ॥२२४९॥

अर्थ—वे आये हुए मुनि उस दिन ठहर कर विश्राम लेते हैं अथवा दो तीन दिन तक विश्राम करते हैं और फिर उत्तम आचार्य की परीक्षा कर बड़ी विनयके साथ उनसे अपने आने का प्रयोजन निवेदन करते हैं ॥२२४९॥

आचार्य आगन्तुक मुनि से नाम आदि पूछते हैं—

ततस्तस्यकुलनामगुरुं दीक्षादिनानि च । श्रुतागमनकष्टादीन्गुणीपूच्छतिजादरात् ॥२२५०॥

अर्थ—तदनंतर वे आचार्य आवर के साथ उनसे पूछते हैं कि तुम्हारा नाम क्या है, तुम किस गुरुके शिष्य हो, दीक्षा किससे ली है, दीक्षा लिये कितने दिन हो गये, तुम्हारा श्रुतज्ञान कितना है और किस विद्या से कहाँसे आये हो । ये सब बातें आचार्य उनसे पूछते हैं ॥२२५०॥

आगन्तुक मुनि परीक्षा में शुद्ध हृदय वाजा सिद्ध हो जानेपर श्रुतके पठनादि करने की आज्ञा देते—

इतिप्रश्नपरीक्षां यद्यसौशुद्धमानसः । विनीतवृत्तमीषीमान् व्रतशीलापरिष्कृतः ॥२२५१॥

तदास्यसूरिणा तेन निजशक्यासमीहितम् । श्रुतादिपाठनं सर्वविधैर्विधिपूर्वकम् ॥२२५२॥

अर्थ—इसप्रकार के प्रश्नों से तथा परीक्षा आदि से यदि वे मुनि शुद्ध हृदय वाले सिद्ध हो जाते हैं तथा वे मुनि विनयवान् उद्यमी बुद्धिमान् हैं, व्रतशील से परिपूर्ण हैं तो वे आचार्य उनसे कह देते हैं कि तुम जो अपनी इच्छानुसार श्रुतादिका पठन-पाठन करना चाहते तो वह अपनी शक्तिके अनुसार विधि पूर्वक करो ॥२२५१-२२५२॥

व्रताचरण से अशुद्ध आगन्तुक मुनि को छेदोपस्थापना आदि तपश्चर | प्रायश्चित्त | देते हैं—

यद्यशुद्धो व्रताचरैरागन्तुकस्ततोऽस्य च । दातव्यगणिना छेदोपस्थापनादिकं तपः ॥२२५३॥

अर्थ—यदि उस परीक्षा में आचार्य यह समझते हैं कि इनके व्रत आचरण आदि शुद्ध नहीं हैं तो वे आचार्य उनको व्रतोंकी शुद्धि के लिये छेदोपस्थापना आदि तपश्चरण करने के लिये कहते हैं ॥२२५३॥

प्रायश्चित्त स्वीकार नहीं करनेवाले मुनि को संघ में नहीं रखते—

यदीच्छति न शिष्योऽसौ तत्प्रायश्चित्तमंजसा । वर्जनीयस्ततस्तेनस्वसंघाच्छिष्योऽब्रूतम् ॥२२५४॥

अर्थ—यदि वे आये हुये शिष्य मुनि उन आचार्यों के दिये प्रायश्चित्त को स्वीकार नहीं करते हैं तो वे आचार्य ऐसे शिथिलाचारियों को शीघ्र ही छोड़ देते हैं अपने संघमें नहीं रखते ॥२२५४॥

शिथिलाचारियों को संघ में रखने से आचार्य छेद प्रायश्चित्त के भागी होते हैं—

ध्यामोहेनाथवाधार्थोऽशुद्धगुल्फातितादृशम् । ततः सोऽपि गणो नूनं छेदार्हः स्थाप्य चान्यथा ॥२२५५॥

अर्थ—यदि वे आचार्य किसी मोह वा अज्ञानता के कारण उस अशुद्ध आचरण वाले शिथिलाचारी को अपने संघ में रख लेते हैं तो फिर वे आचार्य भी छेद नाम के प्रायश्चित्त के भागी हो जाते हैं । फिर बिना छेद प्रायश्चित्त के वे आचार्य भी शुद्ध नहीं हो सकते । २२५५॥

आगन्तुक मुनिको आत्मशुद्धि के लिये द्रव्यादि शुद्धि पूर्वक आगम का अभ्यास करना चाहिए—

एवमुक्तकमेणं प्राघूर्णक उपस्थितः । गृहीतो विधिना तेन कुर्यादेवं ततश्चिदे ॥२२५६॥

सम्यग्रव्यधरां गाद्यान् प्रतिलेख्य प्रयत्नतः । क्षेत्रकालविशुद्धि च भावशुद्धि श्रुताम्बिकाम् ॥२२५७॥

विधायसूरिमान्मयोपधारविनयाविभिः । शिष्येणात्रिशुद्धधासदाध्येतव्यं जितागमम् ॥२२५८॥

अर्थ—यदि आचार्य ने विधि पूर्वक उन आए हुए मुनियोंको ग्रहण कर लिया हो तो फिर उन आये हुये शिष्यों को अपनी आत्मशुद्धि के लिये नीचे लिखे अनुसार कार्य करने चाहिये । सबसे पहले उपकरण आदि द्रव्यों को, पृथ्वी को, अपने शरीर

आदि को प्रतिलेखन करना चाहिये, फिर क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि धारण कर आचार्य और जिनवाणी माता को नमस्कार करना चाहिये । और उस शिष्य को उपचारादिक विनय के साथ मन-वचन-कायकी शुद्धता पूर्वक जिनागमका सदा अभ्यास करते रहना चाहिये ॥२२५६-२२५८॥

अविनय पूर्वक जिनागम अभ्यास का निषेध एवं उससे होनेवाली हानि का निर्देश—

सुसुत्रार्थात्मसंस्कारशिक्षालोभाविभिर्म सः । कुर्यात्परिभवंशस्त्राणां व्रथादिष्वतिक्रमः ॥२२५९॥

यतःपरिभवान्ममज्ञानस्याचार्यशिष्ययोः । अप्रीतिर्बुद्धिनाशश्च ज्ञानावरणकर्म च ॥२२६०॥

असमाधिजिनेन्द्राज्ञोल्लंघनं दुश्चिनाशनम् । कलहः श्रुतहानिश्चरुवियोगादिकं भवेत् ॥२२६१॥

अर्थ— उस शिष्य को सूत्र और अर्थके ज्ञानके लोभसे द्रव्य क्षेत्र आदि के अविनयसे शास्त्रोंका अविनय वा तिरस्कार कभी नहीं करना चाहिये । क्योंकि ज्ञानका अविनय करने से आचार्य और शिष्यों में प्रेम नहीं रहता, बुद्धि का नाश हो जाता है, ज्ञानावरण कर्मका आस्रव होता है, समाधि का नाश होता है, भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लंघन होता है, सम्यग्दर्शन का नाश होता है, परस्पर गुरु शिष्योंमें कलह हो जाती है, श्रुतज्ञान की हानि हो जाती है, अनेक रोगाविक हो जाते हैं और इष्ट वियोग हो जाता है ॥२२५९-२२६१॥

कालशुद्धि पूर्वक आगम अभ्यास करने की प्रेरणा—

विज्ञाप्येष्टाखिलैर्वसैः कालादिशुद्धमंजसा । कृत्वा जिनागममित्यमध्येतव्यविशुद्धये ॥२२६२॥

अर्थ—यही समझकर समस्त चतुर पुरुषों को अपने आत्माकी शुद्ध करने के लिये कालशुद्धि आदि को धारण कर प्रतिदिन जिनागम का अभ्यास करते रहना चाहिये ॥२२६२॥

संस्तर शुद्धि की प्रेरणा—

संस्तरावासकादीनामुभयोः कालयोः सदा । प्रकाशे वसता सत्र कर्तव्यं प्रतिलेखनम् ॥२२६३॥

अर्थ—वहांपर रहते हुए उस शिष्यको प्रातःकाल और संध्याकाल दोनों समय अपने संस्तर और रहने के अवकाश को प्रकाश में ही प्रतिलेखन कर लेना चाहिये । पीछीसे शोध लेना और नेत्रोंसे देख लेना चाहिये ॥२२६३॥

परमाणु में श्री आचार्य से पूछकर ही भिक्षादि चर्या करनी चाहिये—

शामादिगमनेभिक्षादानेकार्येषु भेक्षिते । उत्तरादिमुयोगेष्वापृच्छाकार्यान्पूर्ववत् ॥२२६४॥

अर्थ—किसी गांवको जाते समय भिक्षार्थ चयनके लिये जाते समय वा और भी समस्त शुभ कार्यों के करते समय उस आये हुए शिष्य को पहले के समान आचार्य से वा अन्य साधुओं से पूछना चाहिये । जिसप्रकार अपने गणमें रहकर आचार्य आदि से पूछकर कार्य करता था उसीप्रकार परगणमें रहते हुए भी आचार्य आदि से पूछकर ही सब काम करना चाहिये ॥२२६४॥

आचार्यादि की वैयावृत्य करने की प्रेरणा—

वसतान्यगणेष्वेतेमात्र चर्यादि तपोभृताम् । वैयावृत्यं यथायोग्यं कर्तव्यं वशधावरात् ॥२२६५॥

अर्थ—दूसरे के गणमें रहते हुए भी उस शिष्य मुनिको आचार्य तपस्वी आदि वश प्रकार के मुनियों का वैयावृत्य यथायोग्य रीति से आदर के साथ करते रहना चाहिये ॥२२६५॥

प्रतिक्रमणादि एवं मिथ्याकारादि द्वारा व्रत शुद्धि करने की प्रेरणा—

अहोरात्रभवाः पक्षचतुर्मासाब्दगोचराः । सर्वाक्रियाविघातव्यास्तेन तैर्योगिभिः समम् ॥२२६६॥

पश्मिन् गच्छेति चारोत्र जातो वाक्कायमानसैः । मिथ्याकारादिभस्तत्र कार्यतस्थविशोधनम् ॥६७॥

अर्थ—उस समय आए हुए शिष्यको उस संघके मुनियों के साथ ही दैनिक रात्रिक पाक्षिक चातुर्मासिक वा वार्षिक प्रतिक्रमण आलोचना आदि समस्त क्रियाएं करनी चाहिये । जिस गण वा मच्छमें अतिचार लगा हो उसको मन-वचन-कायसे होने वाले मिथ्याकारादिक के द्वारा उसी गण वा मच्छ में शुद्ध करना चाहिये ॥२२६६-२२६७॥

अकेले मुनि को आश्रिका के साथ ठहरने का निषेध—

आश्रिकाश्चस्त्रिंशत्स्वोत्पादकालेष्वगमने क्वचित् । स्थातव्यं विजने नैव मुनिर्नैकाकिना भुवि ॥६८॥

अर्थ—अश्रिका आदि समस्त स्त्रियों यदि आने के समय भी आवें तो भी निर्जन स्थान में अकेले मुनि को कभी नहीं ठहरना चाहिये ॥२२६८॥

अकेली आश्रिका से बातचीत करने से उत्पन्न दोषों का कथन—

ताभिरार्यादिषोडश्विः सहस्रापोतिदोषकृत् । अकार्येण न कर्तव्यमुनिभिर्मिलागर्थः ॥२२६९॥

अर्थ—उन अश्रिका आदि स्त्रियों के साथ बातचीत करना भी अनेक दोष उत्पन्न करनेवाला है । अतएव निर्मल हृदय को धारण करनेवाले मुनियोंको बिना काम के उनके साथ कभी बातचीत नहीं करनी चाहिये ॥२२६९॥

मुनि आर्यिका को कब प्रश्न का उत्तर दें और कब नहीं दें—

एकाकिन्यार्यिकायाश्च कृतं प्रश्नं सुसूत्रजम् । मुनिर्नकाकिना जातु कथनीयं न शुद्धये ॥२२७०॥
गणिनीमप्रतः कृत्वा यदि प्रश्नं करोतिसा । तदास्याः कथयेन्नूनं तदर्थसंयमीकृतम् ॥२२७१॥

अर्थ—यदि कोई अकेली अजिका अकेले मुनि से शास्त्र के भी प्रश्न करे तो उन अकेले मुनि को अपनी शुद्धि बनाये रखने के लिये कभी उसका उत्तर नहीं देना चाहिये । यदि वह अजिका अपनी गणिनी को (गुराणी को) आगे कर कोई प्रश्न करे तो उन अकेले संयमी मुनि को उस सूत्रका अर्थ समझा देना चाहिये वा प्रश्न का उत्तर दे देना चाहिये ॥२२७०-२२७१॥

तरुण मुनिको तरुण आर्यिका से बातचीत करने से पांच दोष लगते हैं उसका वर्णन—

तरुणोयविसद्योगीतरुण्यापिकयासमम् । कथालापविकं कुर्यात्तस्येवं दोषपंचकः ॥२२७२॥
आज्ञाभंगोजिनेन्द्रस्यानयमवशिष्टशस्त्रे । मिथ्यात्वादावज्ञातार्थं माह्वयती गुराव्रतैः ॥२२७३॥
समस्तसंयमस्यैव विराघनानिकाचिताः । इमे पंच महादोषाः कृतास्तेन वृथात्मनः ॥२२७४॥

अर्थ—यदि कोई तरुण श्रेष्ठ मुनि किसी तरुणी अजिका के साथ कथा वा बातचीत करे तो उसको नीचे लिखे पांचों दोष लगते हैं । पहल तो भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का भंग होता है । दूसरे जिनशासनमें अव्यवस्था हो जाती है सब लोग ऐसा ही करने लग जाते हैं । तीसरे मिथ्यात्व की आराधना हो जाती है । चौथे गुण और व्रतों के साथ-साथ उसके आत्माका नाश हो जाता है और पांचवें उसके समस्त संयम की विराधना हो जाती है । इसप्रकार महापापों के स्थान ऐसे पांचों दोष उस मुनिको व्यर्थ ही लग जाते हैं ॥२२७२-२२७४॥

मुनिको आर्यिका की एवं आर्यिका को मुनिकी वसतिकामें स्वाध्यायादि क्रियायें नहीं करना चाहिये—

मुनीनामार्यिकास्थानेस्थातुं जातुनयुज्यते । स्वाध्यायश्चतनूत्सर्गो गृहोऽथ शयनासनम् ॥२२७५॥
विधातुं नोचितं कर्तुं प्रतिक्रमणसंक्रिया । अथवा घृतपाठादिरोगव्लेबाविकारणैः ॥२२७६॥
एताः सर्वाः क्रिया आन्ये पावप्रक्षालनावयः । जातुकर्तुं न युज्यन्ते मार्याणसिंयसाश्रमे ॥२२७७॥

अर्थ—मुनियों को अजिकाओं के स्थान में कभी नहीं ठहरना चाहिये, न वहां स्वाध्याय करना चाहिये, न कायोत्सर्ग करना चाहिये, न शयन वा आसन ग्रहण करना चाहिये, प्रतिक्रमण आदि श्रेष्ठ क्रियाएं भी वहां नहीं करनी चाहिये अथवा शास्त्रों का पठन-पाठन भी वहांपर नहीं करना चाहिये । किसी रोग वा व्लेश हो जाने के कारण

भी ये सब क्रियाएँ अजिकाओं के आश्रम में मुनियोंको नहीं करनी चाहिये । तथा इनके सिवाय पादप्रक्षालन आदि क्रियाएँ भी मुनियों को अजिकाओं के आश्रम में नहीं करनी चाहिये । इसी प्रकार अजिकाओं को भी मुनियों के आश्रम में ये सब क्रियाएँ नहीं करनी चाहिये ॥२२७५-२२७७॥

काम विकार से मलिन मुनि सबका तिरस्कार कर गुणों को नष्ट कर देता है—

यतःस्पष्टविरमात्मानंश्चिरप्रवृजितंगुहम् । बहुश्रुतागमज्ञाचाचार्यपूज्यतपस्विनम् ॥२२७८॥

महागुणपदारूढं च न गणयेद्यमी । कामार्तःमलिनः शीघ्रं कुलं चापि विनाशयेत् ॥२२७९॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जिसका हृदय काम के विकार के दुःख से मलिन हो रहा है, ऐसा मुनि न तो किसी वृद्ध मुनिको समझता है, न अपने आत्मा को समझता है, न चिरकाल के दीक्षित मुनि को गिनता है, न गुरु को गिनता है, महाश्रुतज्ञान और आगम को जानने वाले उपाध्याय को गिनता है, न आचार्य को गिनता है, न किसी पूज्यको समझता है, न घोर तपस्वी को गिनता है, न महा गुण और महा पदों पर आरूढ़ हुए महा मुनियों को गिनता है और न किसी वंदनीय मुनि को गिनता है । वह काम सेवन की इच्छा करनेवाला मुनि शीघ्र ही अपने कुल तक को नाश कर देता है । भावार्थ—वह मुनि सबका तिरस्कार करता है और अपने समस्त गुणों को नष्ट कर देता है ॥२२७८-२२७९॥

स्त्रियों के साथ बातचीत निंदा का कारण है—

कन्यका विधवा वृद्धास्वैरिणीयौवनात्मिकाम् । रानी विलासिनीवासोलिगिनी वा तपस्विनीम् ॥

वार्ताविजल्पनैरेषोत्थोयमानो चिरादपि । अपवावमवाप्नोतिसयमी दिव्यनिन्दितम् ॥२२८१॥

अर्थ—जो संघभी किसी कन्या, विधवा, वृद्धा, इच्छानुसार घूमने वाली, यौवनवती, रानी, वैश्या, दासी, तपस्विनी, स्वमत वा अन्य मतकी दीक्षिता आदि किसी भी प्रकार की स्त्रियों के साथ बातचीत कर उनके साथ संलग्न होता है वह मुनि बहुत ही शीघ्र संसारभर में अत्यन्त निंदनीय अपवाद को प्राप्त होता है अर्थात् तीनों लोकों में उसकी निंदा फैल जाती है ॥२२८०-२२८१॥

आयिकाओं को प्रतिक्रमणादि करनेवाले आचार्य का लक्षण—

बृहस्पतिर्लिसंविन्नोऽवद्यभीरुमहातपाः । धीरःस्थिरमनः शुद्धो विक्रियाकीतुकातिगः ॥२२८२॥

संभ्रानुग्रहादी य कुशलः संघयोगिनाम् । गम्भीरोमितवादी च ज्येष्ठो दीक्षाश्रुतादिभिः ॥२२८३॥

इत्याद्यभ्यगुणःपूर्णांयोजयःसूरिरुत्तमः । सः स्याद्गणधरोत्रार्याणांप्रतिक्रमणविधु ॥२२८४॥

अर्थ—अतएव जो अपने धर्म में बृद्ध हैं, जो धर्म और धर्मके फलमें हर्ष मनाने वाले हैं, जो पापोंसे भयभीत हैं, महातपस्वी हैं, धीर वीर हैं, जिनका मन अत्यंत स्थिर है जो अत्यंत शुद्ध हैं, जो विकार और कौतुक से सर्वथा दूर रहते हैं जो संप्रह और अनुग्रह करने में कुशल हैं, गम्भीर हैं, आवश्यकता के अनुसार उतना ही भाषण करते हैं, जो दीक्षा और श्रुतज्ञान से सबसे बड़े हैं, जो अजेय हैं तथा जो ऐसे ही ऐसे अन्य अनेक गुणोंसे परिपूर्ण हैं, ऐसे जो सर्वोत्कृष्ट आचार्य हैं उनको गणधर कहते हैं । समस्त संघके मुनि और अजिकाओं के प्रतिक्रमण आदि कार्यों को ऐसे गणधर ही कराते हैं । ॥२२८२-२२८४॥

गुणरहित आचार्य चार उत्तम कालों की विराधना करता है—

एवंसूरिगुणःसारैर्व्यतिरिक्तः करोति यः । मुधागणधरत्वं संयतीनां सत्क्रियाविधु ॥२२८५॥

गणपोषणमेवात्मसंस्कारकालर्जितः । सल्लेखनातर्प्योत्तमार्थकालद्वयेपराः ॥२२८६॥

चत्वारःउत्तमाःकालाःपरमार्थविधायिनः । विराधिता निजास्तेन गुणरिक्तेन सूरिणा ॥२२८७॥

अर्थ—इसप्रकार उत्तम आचार्यों के सारभूत गुणों से रहित जो आचार्य अजिकाओं के प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं में गणधर बनकर बैठता है वह आचार्य गणपोषण काल, उत्तमआत्मसंस्कार काल, सल्लेखना काल और उत्तमार्थ काल इन परमार्थ को सिद्ध करनेवाले चारों उत्तम कालों की विराधना करता है । गुणरहित आचार्य इन सबका नाश कर देता है ॥२२८५-२२८७॥

आगन्तुक साधुको परगण के आचार्य की इच्छानुसार प्रवृत्ति करना चाहिये—

बहुनोक्तेन किं साध्यं येच्छाचार्यस्य साक्षिणा । कर्तव्या वसतातत्र तेन पुण्याकरोचिता ॥२२८८॥

अर्थ—बहुत कहने से क्या लाभ थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि वहां रहते हुए उस शिष्यको, पुण्यको बढ़ाने वाली और उचित ऐसी आचार्य की जो जो इच्छाएं हैं वे सब करनी चाहिये ॥२२८८॥

पुनः परगण के आचार्य की वन्दना, सुश्रूषा करने की प्रेरणा—

सुश्रूषावन्दनाभक्ष्यनुकूलाचरणाविभिः । एषएवविधिः कार्यस्तच्छिष्यापरयोगिभिः ॥२२८९॥

अर्थ—उन बाहर से आए हुए शिष्यों को तथा अन्य योगियों को अपनी-अपनी भक्ति के अनुसार आचरणादि करके आचार्य की सुश्रूषा और वन्दना करनी

चाहिये ॥२२८६॥

आयिका समाचार विवरण नीति—

अथमेवसमाचारो यथाख्यातस्तपस्विनाम् । तथैवसंयतीनां च यथायोग्यंविचक्षणैः ॥२२८७॥

अहोरात्रेखिलो सुवर्णैर्विज्ञयोहितकारकः । वृक्षमूलादिमद्योगरहितोजिमभाषितः ॥२२८८॥

परस्परानुकूलाः सदान्योन्यरक्षणोद्यताः । सञ्जामर्यादिसंयुक्तामाप्यारागादिवूरगाः ॥२२८९॥

आचारादिमुशास्त्राणां पठनेपरिवर्तने । तदर्थकथनेविषयानुप्रेक्षा गुणचिन्तने ॥२२९०॥

सारार्थधवणेशुद्धध्यानेसंयमपालने । तपोविनयसंयोगेसदाकृतमहोद्यमाः ॥२२९१॥

अर्थ—यह जो समाचार सुनियों के लिये कहा है उसीप्रकार चतुर पुरुषों ने अजिकाओं के लिये भी यथायोग्य रीतिसे वही समाचार बतलाया है । अजिकाओं को मोक्ष प्राप्त करने के लिये हित करनेवाला यही समाचार दिन रात करना चाहिये । वृक्षके नीचे योग धारण करना आदि कठिन योग अजिकाओं को नहीं करने चाहिये ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहा है । अजिकाओंको परस्पर एक दूसरे के अनुकूल रहना चाहिये, परस्पर एक दूसरे की रक्षा करने में तत्पर रहना चाहिये, लज्जा और मर्यादा के साथ रहना चाहिये, मायाचारी, लोभ, राग आदि से असंग रहना चाहिये, आचारादिक शास्त्रोंके पढ़ने में, पाठ करने में, उसके अर्थ कहने में, समस्त अनुप्रेक्षाओं के तथा गुणों के चिंतन करने में उन शास्त्रों के श्रेष्ठ अर्थ सुनने में, शुद्धध्यान में, संयम के पालन करने में, तप और विनयके करने में और योग धारण करने में सदा महा उद्यम करते रहना चाहिये ॥२२९०-२२९४॥

आयिका को शरीर संस्कार त्याग, विकार जनित वस्त्रों के धारण करने का निर्गन्ध, संवेदादि भावना में तत्पर रहने की प्रेरणा—

मसजल्लविलम्पसां वपुसंस्कारवजिताः । विक्रियातिगवस्त्रैर्वृताः शान्ताचलासमाः ॥२२९५॥

संवेगतत्परावक्षाःधर्मध्यानपरायणाः । कुलकीर्तिजिनेन्द्राक्षरक्षणोद्यतमामसाः ॥२२९६॥

बुर्बलीकृतसर्वांगास्तपसासकलायिकाः । द्वि श्यादिगणनायुक्ता निवसन्तिगुभाशयाः ॥२२९७॥

अर्थ—यदि उनके शरीर पर पसीना आ गया हो वा उस पसीना पर धूल जम गई हो वा अन्ध किसी अंग का नाक, कान आदि का मल लगा हो तो कोई हानि नहीं परन्तु उन अजिकाओं को अपने शरीर का संस्कार नहीं करना चाहिये, जिनसे विकार उत्पन्न न हों ऐसे वस्त्रोंसे अपना शरीर ढकना चाहिये, शांत और अचल आसन से बैठना चाहिये, संसार से भयभीत रहने रूप संवेग में सदा सत्पर रहना चाहिये,

चतुरता से रहना चाहिये, धर्मध्यानमें लीन रहना चाहिये, अपने मनमें कुल, कीर्ति और भगवान् जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा की रक्षा करने में सदा तत्पर रहना चाहिये, उनको इतना तपश्चरण करना चाहिये जिससे उनका शरीर भी दुर्बल हो जाय । उन अजिकाओं को दो तीन वा अधिक दस बीस आदि अजिकाओं के साथ रहना चाहिये अर्थात् तीन से कम नहीं रहना चाहिये । इसप्रकार अपने हृदयको शुद्धकर उन अजिकाओं को निवास करना चाहिये ॥२२६५-२२६७॥

अजिका कौसी वसतिका में निवास करे—

असंयतजनातीतेगृहस्थपशुवर्जिते । एकान्तस्थेगृहेगृहेमलोत्सर्गहिं भूपुते ॥२२६८॥

अर्थ—उन अजिकाओं को ऐसे एकांत और गूढ़ वा छिपे हुए घर में रहना चाहिये जो असंयमी लोगों से दूर हो, गृहस्थ और पशुओं के स्थान से दूर हो और मलमूत्रके लिये योग्य स्थान की जहां व्यवस्था हो ॥२२६८॥

धर्म कार्य बिना मुनि आदि के आश्रम में जाने का निषेध—

स्वधर्म्यस्तारणेनैव आहु पच्छन्ति गार्धिकाः । गृहस्थेनिलंबं वा कुलिग्यन्तंसंयताश्रमम् ॥२२६९॥

अर्थ—अजिकाओं को बिना अपने काम के न तो गृहस्थोंके घर जाना चाहिए न किसी कुलिगिनी के घर जाना चाहिए और न मुनियों के आश्रम में कभी जाना चाहिए ॥२२६९॥

धर्म कार्य के लिये भी आचार्याणी की आज्ञा लेकर २-३ अजिका के साथ जावें—

अवश्यंगमनेकार्ये सतिभिक्षादिगोचरे । सिद्धास्तार्थविपृच्छादोप्रायश्चित्तादिव्याचने ॥२३००॥

आपृच्छयगरिणो नत्वा संघाठकेनतद्गृहे । गन्तव्यमार्थिकाभिश्चधर्मकार्यायनान्यथा ॥२३०१॥

अर्थ—भिक्षा लेने के लिये किसी शास्त्र के अर्थ आदि को पूछने के लिये वा प्रायश्चित्त लेने के लिये जाना आवश्यक हो तो अपनी आचार्याणी को पूछकर उनको नमस्कार कर दो चार अजिकाओंके साथ ही जाना चाहिये, सो भी धर्म कार्य के लिये ही जाना चाहिये, अन्य किसी काम के लिये कभी नहीं जाना चाहिये ॥२३००-२३०१॥

निरंकुश घूमने में दोष—

या हो निरंकुशा नायो भ्रमन्तिस्वेच्छयाभुवि । गृह्यस्याश्रमादौ क्व तासांशीलंशुभाक्रिया ॥

अर्थ—जो निरंकुश स्त्रियां अपनी इच्छानुसार गृहस्थों के घर वा मुनियों के

आश्रम में घूमती फिरती हैं, उनका शील और उनकी शुभ क्रियाएं कभी नहीं फल सकतीं ॥२३०२॥

अकेली आश्रिका को इच्छानुसार घूमने का निषेध एवं उसमें होनेवाली हानि का निर्देश—

यतोयथाश्रमसिद्धान्तंभोक्तुं सुखेनशक्यते । तथाचास्वामिकानारोस्वाश्रमेस्वयमागताम् ॥२३०३॥

अतो जातु न विद्येतक्वचित्काले निजेच्छया । एकाकिन्यायिकायाश्चविहारोगमनादिकः ॥२३०४॥

अर्थ—जिसप्रकार पकाया हुआ भात आसानी से खाया जा सकता है उसी प्रकार बिना स्वामी की स्त्री यदि स्वयं अपने आश्रम में वा घर में आ जाय तो वह आसानीसे भोगी जा सकती है । इसलिये अकेली आश्रिका को अपनी इच्छानुसार किसी भी समय में विहार और गमन आदि कभी नहीं करना चाहिये ॥२३०३-२३०४॥

मुनिको बिना प्रयोजन आश्रिका के आश्रम में जाने का निषेध—

संयता वा गृहस्थानामाश्रिकाणां च सन्धिरम् । कलंकशंकया जातुविनाकार्यं न यागतिभोः ॥

अर्थ—इसीप्रकार संयमी मुनियों को भी कलंक के डरसे बिना काम के न तो गृहस्थोंके घर जाना चाहिये और न आश्रिकाओं के आश्रम में ही कभी जाना चाहिये । ॥२३०५॥

मुनि, आश्रिकाओं को घर-घर घूमने का निषेध—

यतो रंडासमा येन वानवस्थदूषोपमाः । स्त्रीबृन्दसंकुसरागादिनेहंगेहमटन्ति च ॥२३०६॥

अर्थ—क्योंकि जो साधु रागपूर्वक स्त्रियों के समूह से भरे हुए घरों में घूमते रहते हैं उन्हें जंगली खैलों के समान समझना चाहिये । इसीप्रकार घर-घर घूमने वाली आश्रिकाओं को भी रंडाओं के समान समझना चाहिये ॥२३०६॥

घर-घर घूमने से मुनिका ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है—

निर्विकारंस्थिरंचित्तंस्त्रीशृंगारदर्शनात् । ब्रह्मचर्यं न नश्येत्कितेषांकुटिलचेतसाम् ॥२३०७॥

अर्थ—जो साधु बिना कामके घर-घर फिरते हैं उनका चित्त स्त्रियोंके शृंगार देखने से विकार रहित और स्थिर कभी नहीं रह सकता तथा कुटिल हृदय को धारण करनेवाले उन साधुओं का ब्रह्मचर्य भी अवश्य नष्ट हो जाता है ॥२३०७॥

आश्रिका को दूसरे घर जाकर हीनक्रिया नहीं करना चाहिये—

स्नपनंरोदनंघोषास्त्रादिपाकनिवर्त्तनम् । सत्सूत्रकरणगीतगानवाविप्रवादनम् ॥२३०८॥

षड्विधारम्भकर्माणि पदप्रक्षालनादिकान् । संयतानां च बालानां स्नेहलोभादिकारणः ॥२३०६॥
बुर्गोष्ठोविक्रयादोनिहीत्याद्याश्रपराक्रियाः । परगेहं गता जातु न कुर्युरार्यिकाः शुभाः ॥२३१०॥

अर्थ—श्रेष्ठ अजिकाओं को दूसरे के घर जाकर स्नान नहीं करना चाहिये, रोना नहीं चाहिये, श्रेष्ठ अन्न पानके बनाने का काम या पकाने का काम नहीं करना चाहिये, सूत नहीं काटना चाहिये, गीत नहीं गाना चाहिये, बाजे नहीं बजाना चाहिये, अस्ति मस्ति आदि छहों प्रकार के कर्म नहीं करने चाहिये, किसी के स्नेह या लोभाविक के कारण भी किसी संयमी वा बालक के पादप्रक्षालन (पैर धोना) आदि कार्य नहीं करने चाहिये, भृंगारादिक की कथाएं वा विकथाएं वा और भी ऐसी ही ऐसी हीन क्रियाएं कभी नहीं करनी चाहिये ॥२३०८-२३१०॥

आर्यिका की भिक्षा एवं वन्दना विधि का वर्णन—

तिस्रःपञ्चाथवा सप्तस्थविरान्तरिताभुवि । अन्योऽथरक्षणोद्युक्ताः शुद्धाहारगवेधिकाः ॥२३११॥
पर्यटन्तिप्रयत्नेनभिक्षायंगृहपेक्षिषु । वा व्रजन्तिमुसीव्राणां वंदनायैव क्षान्तिकाः ॥२३१२॥

अर्थ—वे अजिकाएं शुद्ध आहार ढूँढ़ने के लिये जब भिक्षाके लिये जाती हैं तब तीन पांच या सात वृद्ध अजिकाओं के बीचमें चलती हैं अर्थात् कुछ अजिकाएं आगे पीछे कुछ अंतर से रहती हैं उस समयमें भी वे सब एक दूसरे की रक्षा करने में तत्पर रहती हैं । इसप्रकार वे अजिकाएं प्रयत्न पूर्वक पंक्तिबद्ध घरों में भिक्षाके लिये जाती हैं । अथवा मुनियों की वंदना के लिये भी वे इसीप्रकार जाती हैं ॥२३११-२३१२॥

आजिका, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु की वन्दना कितनी दूर बैठकर करें—

पञ्चषट्सप्तहस्तान्तमन्तरालेमहीतलम् । सूरिपाठकसाधूनां भक्तिपूर्वकमजिकाः ॥२३१३॥
सूधर्मागवासनेनैवप्रणामं कुर्वतेऽन्वहम् । चिनयेयोऽथकाशे वा श्रुतार्थश्चवणाविके ॥२३१४॥

अर्थ—वे अजिकाएं प्रतिदिन वंदना करने के लिये या शास्त्रों के अर्थ को सुनने आदि के लिये योग्य समय पर जब मुनियों के पास जाती हैं तब वे आचार्य से पांच हाथ दूर, उपाध्याय से छः हाथ दूर और साधुओं से सात हाथ दूर गवासनसे बैठ कर मस्तक झुकाकर उनको भक्तिपूर्वक नमस्कार करती हैं ॥२३१३-२३१४॥

समाचार की महिमा एवं उसको पालन करने का फल—

एवमुक्तः समाचारः समासेन तपस्विनाम् । बहुभेदोऽनुधर्मेऽप्योविस्तरेण जिनागमात् ॥२३१५॥
विश्वसर्वगुणाकरशिवकरं चैमं मया वर्णितं, ह्याचारं च धरन्ति येऽत्र निपुणाः सद्योगिनोऽचारिकाः ।

तेतादिव्यसुखं जगत्प्रभुवं, भुक्त्वा पुनः संयम, मासाद्यानु च केवलं मुतपसायान्त्येव मोक्षं क्रमात् ॥२३१६॥

अर्थ—इस प्रकार अत्यंत संक्षेप से मुनियों का समाचार बतलाया । बुद्धिमानों को इसके विस्तार पूर्वक बहुत से भेद जिनागम से जान लेना चाहिए । यह समाचार जो मैंने बतलाया है वह सब समस्त गुणोंकी खानि है और मोक्ष प्राप्त करानेवाला है । जो चतुर और उद्योगी मुनि वा अजिकाएं इन समाचारों का पालन करते हैं वे मुनि वा अजिकाएं पहले तो तीनों लोकों में उत्पन्न होनेवाले दिव्य सुखोंका अनुभव करते हैं और फिर संयम धारण कर अनुक्रमसे केवल श्रेष्ठ तपश्चरणसे ही मोक्षपद प्राप्त करते हैं ॥२३१५-२३१६॥

समाचार की उपसंहारात्मक महिमा एवं उसे धारण करने की प्रेरणा

असमगुणनिधानं नाकनिर्वाणहेतुं, जिनवरमुखजातं धारितं सर्वशक्त्या ।

गणधरमुनिवृन्धं मुक्तिकामाः प्रयत्नात्, चरतशिवसुखाप्त्यै कृत्स्नमाचारसारम् ॥२३१७॥

इति श्रीमूलाचारप्रबोधकाव्ये महाग्रन्थे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते समाचारवर्णनो
नाम सप्तमोऽधिकारः ।

अर्थ—ये समस्त समाचार अनुपम गुणोंके निधान हैं, स्वर्ग मोक्षके कारण हैं, भगवान् जितेन्द्रदेवके मुखसे प्रगट हुए हैं, और गणधरदेव वा मुनियोंके समूह ही अपनी शक्ति के अनुसार इनको धारण करते हैं । इसलिए मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनियों को वा अजिकाओं को मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिए प्रयत्नपूर्वक इन समस्त सारभूत समाचारों का पालन करना चाहिए ॥२३१७॥

इस प्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके महाग्रन्थ में समाचारों को वर्णन करनेवाला यह सातवां अधिकार समाप्त हुआ ।

अष्टमोधिकारः

मंगलाचरण

त्रैलोक्यतिलकान्सर्वान् जगन्मंगलकारिणः । लोकोत्तमान्शरण्याश्चार्हतसिद्धाप्रमाम्यहम् ॥

अर्थ—जो अरहंत या सिद्ध भगवान् तीनों लोकों के तिलक हैं, तीनों लोकों में मंगल करनेवाले हैं, तीनों लोकों में उत्तम हैं और तीनों लोकों में शरणभूत हैं ऐसे समस्त अरहंत और सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२३१८॥

दशप्रकार की शुद्धि के लिये आचार्यादि की स्तुति—

दशधाशुद्धिमायश्चास्त्रिजगच्छुद्धिदायिनः । सूरश्चिषाठकान्साधून्मंगलाधिकारान्स्तुवे ॥२३१९॥

अर्थ—जो आचार्य उपाध्याय साधु दश प्रकारकी शुद्धिको प्राप्त हुए हैं, तीनों लोकों को शुद्ध करनेवाले हैं और तीनों लोकोंमें मंगल करनेवाले हैं ऐसे समस्त आचार्य उपाध्याय और साधुओं की मैं स्तुति करता हूँ ॥२३१९॥

सरस्वती देवी की हृदय में स्थापना—

श्रीजिनेन्द्रमुखोत्पन्नाद्यादेवीभुवनाम्बिकाम् । विश्वशुद्धिकरांचिसेस्थापयाम्यर्थसिद्धये ॥२३२०॥

अर्थ—जो सरस्वती देवी भगवान् जिनेन्द्रदेव के मुखसे प्रगट हुई है जो तीनों लोकों की माता है, और समस्त भव्य जीवों को शुद्ध करनेवाली है ऐसी सरस्वती देवी को मैं अपने अर्थकी सिद्धि के लिये अपने हृदय में स्थापन करता हूँ ॥२३२०॥

मुनि भावना के निरूपक अध्याय के निरूपण की प्रतिज्ञा—

इत्यर्हसिद्धगुर्वावीक्षत्वासांगल्यहेतवे । अमगारमहर्षीणां मिन्द्रनागेन्द्रचक्रिभिः ॥२३२१॥

अर्घ्यैर्वाच्यैस्सेव्यपादाब्जानांहिताप्तये । वक्ष्याम्यहमनागारभावनाग्रंथमुत्तमम् ॥२३२२॥

अर्थ—इसप्रकार मैं अपनी मंगल कामनाके लिये अरहंत सिद्ध और गुरुओं को नमस्कार करता हूँ और फिर इंद्र नागेन्द्र चक्रवर्ती और समस्त भव्य जिनके चरण कमलों की पूजा करते हैं, वंदना करते हैं और सेवा करते हैं, ऐसे महा ऋषि महा मुनियों का हित करने के लिये मुनियों की भावनाओंको निरूपण करनेवाला उत्तम ग्रंथ (अध्याय) निरूपण करता हूँ ॥२३२१-२३२२॥

ग्रन्थ सुनने मात्र का फल—

श्रुतेनयेनभक्ष्योद्यमहापापकलंकिताः । अग्निनाकनकानीवशुद्धयन्तिअद्वयामृशम् ॥२३२३॥

अर्थ—जिसप्रकार अग्निसे सोना शुद्ध हो जाता है उसीप्रकार अद्वैत पूर्वक इस ग्रन्थ के सुनने मात्र से महा पाप से कलंकित हुए समस्त भव्य जीव शुद्ध हो जाते हैं । ॥२३२३॥

भावनाओं के आचरण का फल—

यवाक्षरशम्येनहृत्वाकर्मकवम्बकम् । याप्तिधीराहिनिर्वाणंतस्य कावर्णनापरा ॥२३२४॥

अर्थ—जिन भावनाओं के आचरण करने से धीर वीर मुनि अपने समस्त कर्मों के समूहको नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं उन भावनाओं की प्रशंसा भला क्या करनी चाहिये ॥२३२४॥

दश प्रकार की शुद्धि के नाम निर्देश—

लिङ्गसद् तद्युद्धीवसतिकाशुद्धिरुजिता । विहारशुद्धिसंज्ञाभिक्षाज्ञानसमाह्वये ॥२३२५॥

शुद्धिरुज्झननाम्नी वक्तव्यः ध्यानाख्यशुद्धयः । इमा दशविधाः प्रोक्ताः शुद्धयोव महात्मनाम् ॥

अर्थ—लिङ्गशुद्धि, श्रेष्ठव्रतशुद्धि, वसतिकाशुद्धि, उत्तमविहारशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, उज्झनशुद्धि, वचनशुद्धि, तपशुद्धि और ध्यानशुद्धि । इसप्रकार मुनियों के लिये ये दस शुद्धियां कही गई हैं ॥२३२५-२३२६॥

लिङ्ग शुद्धि का स्वरूप—

विद्युत्स्फुरणसावृण्यं जीवितं धनयौवनम् । स्वजनाविकमग्न्यद्वा जात्वाहत्वाजगद्विषम् ॥२३२७॥

तव्गत्संभोहमात्मज्ञैर्धौरेयंदायतेमुदा । विशुद्धं जितलिङ्गं सा लिङ्गशुद्धिः सुयोगिनाम् ॥२३२८॥

अर्थ—यह धन, जीवन, यौवन, कुटुम्बी लोग तथा और भी यह समस्त संसार बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर है यही समझकर और इस जगतरूपी शत्रुको मारकर जो आत्माको जाननेवाले धीर वीर पुरुष प्रसन्न होकर उस धन यौवन आदि से मोह का त्याग कर देते हैं और विशुद्ध जितलिङ्ग धारण कर लेते हैं वह मुनियों की लिङ्गशुद्धि कहलाती है ॥२३२७-२३२८॥

जितलिङ्ग शुद्धि का स्वामी कौन होता है—

प्रत्येकलानसर्वानमलाः कर्ममलातिगाः । तीव्रशीतोष्णतापादिदग्धवृक्षोपमाविदः ॥२३२९॥

निर्विण्णाः कामभोगावो वपुःसत्कारदूरगाः । विगम्बधरा धीराः कृत्स्नसंगपराम्मुखाः ॥२३३०॥

जन्ममृत्युजरोद्विगताभवाब्धिपातभीरवः । निर्विकारमनोनेत्रमुखाः सतिष्ठिष्ठाकिताः ॥२३३१॥

लिंगशुद्धिनिधायोच्चैः प्रवर्तन्तेमहर्षयः । निर्ममा निरहंकाराधर्मशुक्लपरायणाः ॥२३३२॥

अंगपूर्वमितैः पूर्णस्थान्तः कर्ममलमपहम् । जगच्छुद्धिकरं धर्मतीर्थ तीर्थकृतां परम् ॥२३३३॥

भावयन्ति त्रिशुद्ध्याते भवान्निदाहशान्तये । अस्मास्मान्मर्यादितं श्रेष्ठं मत्वेतित्रिजगत्यपि ॥२३३४॥

द्विषद्भवेमहाघोरे तपस्युत्साहकारिणः । पञ्चाक्षशर्मजेच्छायाः सर्वदानिग्रहोद्यताः ॥२३३५॥

क्षमादिलक्षणैः साध्यं दशभिर्धर्ममुत्तमैः । चारित्र्याचरणैः शुद्धं निष्प्रमादाश्चरन्ति च ॥२३३६॥

इत्यार्द्यं निमलैर्वान्यैः शुद्धाचारान् भजन्ति ये । लिंगशुद्धिर्मतातेषां वृताहंलिंगयोगिनाम् ॥२३३७॥

अर्थ—जिन मुनियों के समस्त शरीर पर पसीने का वा पसीने में मिली हुई धूलि का मल लगा हुआ है, परन्तु जो कर्म मलसे सर्वथा दूर रहते हैं, जो अत्यन्त चतुर हैं, अत्यन्त तीव्र शीत वा उष्णता के संताप से जले हुए वृक्ष के समान हो रहे हैं, जो काम और भोग से सदा विरक्त रहते हैं, अपने शरीर का संस्कार कभी नहीं करते, जिन्होंने विगम्बर मुद्रा धारण कर रखी है, जो धीर वीर हैं, समस्त परिग्रह से रहित हैं, जन्म-मरण और बुढ़ापे से जो अत्यन्त दुःखी हैं, जो संसाररूपी समुद्र में पड़ने से बहुत डरते हैं, जिनके नेत्र मन और मुख में कभी विकार उत्पन्न नहीं होता जो श्रेष्ठ पीछी धारण करते हैं, जो महा ऋषि हैं, जो लिंगशुद्धि को धारण कर ही सदा अपनी प्रवृत्ति करते हैं, जो मोह रहित हैं, अहंकार रहित हैं, जो धर्मध्यान वा शुक्लध्यान में सदा लीन रहते हैं, जो संसाररूपी अग्निके बाह को शांत करने के लिये मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक ग्यारह अंग और चौदह पूर्व रूपी अमृतसे भरे हुए, अपने अंतःकरणके कर्ममलको दूर करनेवाले तीनों लोकों को शुद्ध करनेवाले और सर्वोत्कृष्ट ऐसे तीर्थंकरों के धर्म तीर्थ को ही जो सदा चिंतन करते रहते हैं, इस तपश्चरण से बढ़कर तीनों लोकों में और कोई श्रेष्ठ हित करनेवाला नहीं है यही समझकर जो बारह प्रकार के महा घोर तपश्चरण के करने में सदा उत्साह करते रहते हैं, जो पञ्चेन्द्रियों के सुख में उत्पन्न हुई इच्छा का निरोध करने में सदा उद्यत रहते हैं और जो प्रमाद रहित होकर शुद्ध चारित्र्याचरण को पालन कर तथा उत्तम क्षमा आदि दस प्रकार के उत्तम धर्मों को धारण कर सर्वोत्तम धर्म का पालन करते हैं । ऐसे भगवान् अरहंतदेव के लिंग को (निर्ग्रन्थ अवस्था को) धारण करनेवाले महा मुनि ऊपर लिखे अनुसार निर्मल उपायों से अपने शुद्ध आचरणों को पालन करते हैं उनके ही लिंगशुद्धि मानी गई है । ॥२३३१-२३३७॥

व्रतशुद्धि का स्वरूप—

अष्टप्रवचनाष्टाभिर्मातृभिर्यतिमातृभिः । त्रिशुद्ध्या साद्धमावायमहाव्रतानि पञ्च च ॥२३३८॥

यस्मैव प्रतिपालयन्ते यत्ररागातिर्गर्भः । अप्रमत्तः सदाशुक्लैर्व्रतशुद्धिः स्मृतावसा ॥२३३९॥

अर्थ—रागद्वेष रहित प्रमाद रहित जो बुद्धिमान् मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिये मन-वचन-कायकी शुद्धता पूर्वक मुनियों की माताके समान अष्ट प्रवचन मातृकाओं के साथ-साथ (पाँच समिति और तीन गुणियों के साथ-साथ) पंच महाव्रतों को धारण करते हैं और फिर स्वयं पूर्वक उत्तमा पालन करते हैं उनके ही व्रतशुद्धि आचार्यों ने बतलाई है ॥२३३८-२३३९॥

व्रतशुद्धि का स्वामी कौन होना है—

समस्तग्रन्थनिर्मुक्तास्त्रिरत्नग्रन्थसूचिताः । स्वयतदेहप्रतीकाराःसर्वारम्भविर्जिताः ॥२३४०॥

मौनव्रतधराःसत्यधर्मसूचनतत्पराः । अदत्तं तृणमात्रं न गृह्णन्ति शीलमंडिताः ॥२३४१॥

बालाग्रकोटिमात्रं श्रामण्यायोग्यं परिग्रहम् । स्वप्नेषि जातुनेच्छन्ति सन्तोषिणो दिगम्बराः ॥२३४२॥

काये वा तत्प्रतीकारे ममतां जातु कुर्वते । न निस्पृहा य यथाजातरूपालंकृतविग्रहाः ॥२३४३॥

यत्रारण्येशमशाने वा रथिरस्तं प्रयातिभोः । तत्रैवाप्रतिवद्धास्ते वसन्तिव्रतशुद्धये ॥२३४४॥

इष्टार्थं निर्मलाधारैर्निर्मलानिव्रतानि ये । चरन्ति सर्वथा तेषां व्रतशुद्धिर्मतागमे ॥२३४५॥

अर्थ—जो मुनि समस्त परिग्रहों से रहित हैं, किन्तु रत्नत्रय रूपी परिग्रह से सुशोभित हैं, जो अपने शरीर का प्रतिकार कभी नहीं करते, जो समस्त आरम्भों से रहित हैं, सदा मौनव्रत धारण करते हैं, जो सत्यधर्मका उपदेश देने में सदा तत्पर रहते हैं जो बिना दिया हुआ तृणमात्र भी कभी ग्रहण नहीं करते और जो शीलों से सदा सुशोभित रहते हैं जो मुनियों के अयोग्य बाल के अग्रभाग के करोड़वें भाग के समान परिग्रह को धारण करने की स्वप्न में भी कभी इच्छा नहीं करते, जो अत्यन्त संतोषी हैं दिगम्बर अवस्था को धारण करते हैं जो अपना निस्पृहत्व गुण धारण करने के लिये शरीर में वा शरीर की स्थिरता के कारणों में कभी भी मोह वा ममता नहीं करते और जो उत्पन्न हुए बालक के समान निर्विकार दिगम्बर शरीर को धारण करते हैं । जो मुनि अपने व्रतों को शुद्ध रखने के लिये जिस वनमें वा जिस श्मशान में सूर्य अस्त हो जाता है वहीं पर बिना किसी के रोके निवास कर लेते हैं । इसप्रकार जो सर्वथा निर्मल आचरणों को पालन कर अपने व्रतोंको निर्मल रीतिसे पालन करते हैं उनके ही जैन शास्त्रों में व्रतशुद्धि बतलाई है ॥२३४०-२३४५॥

वसतिका शुद्धि का स्वरूप निर्देश—

अरण्येनिर्जनेस्थाने शून्यगेहे गुहादिषु । निरवष्टे प्रदेशे वा स्मशानेतिभयकरं ॥२३४६॥

वासो यः क्रियतेघोरेनिःसंर्चनिर्मलाशयः । एकान्ते ध्यामसिद्धयं सा शुद्धिवसतिकाह्वया ॥२३४७॥

अर्थ—जो समस्त परिग्रहों से रहित शुद्ध हृदय को धारण करनेवाले घोर चीर मुनि अपने ध्यानकी सिद्धि के लिये किसी वनमें, निर्जन स्थानमें, सूने घरमें किसी गुफा में, वा अन्य किसी एकान्त स्थान में, वा अत्यन्त भयंकर स्मशान में निवास करते हैं उसको वसतिका शुद्धि कहते हैं ॥२३४६-२३४७॥

वसतिका शुद्धि का स्वामी कैसे मुनिराज होते हैं—

ग्रामेत्रकमहोरात्रं नगरेदिनपंचकम् । वसन्ति प्रासुकायासाविविक्तकान्तवासिनः ॥२३४८॥

अन्वेषयन्तएकान्तं शुक्लध्यानापिताशयाः । लभन्ते त्रैवगन्धेभाध्यानानन्दसुखमहत् ॥२३४९॥

अहो नमानसाधीराएकाकिनो ह्यविह्वलाः । वपुरादौ न कुर्वन्तोममर्षं वनवासिनः ॥२३५०॥

सर्वत्राप्रतिवद्धाश्च भीमाद्रिकन्दरादिषु । तिष्ठन्तिरममारास्तेभीवीरवचनेन्वहम् ॥२३५१॥

सिंहध्यात्राविचौराद्यः । स्मशानकन्दरादिषु । भीतिवेषुप्रवेशेषु नृणां कापुरुषात्मनाम् ॥२३५२॥

सत्वा वसतिकां वीरमहापुरुषसेविताम् । महापुरुषसिंहाश्च सेवन्ते ध्यानसिद्धये ॥२३५३॥

एकान्तेविगुहादौ ते वसन्तोनिशिभीषणम् । शृण्वन्तः शब्दसंघातमत्यासन्नंभयानकम् ॥२३५४॥

सिंहध्यात्राविदुष्टानां नरसिंहाश्चनिर्भयाः । चलन्ति न मनाग्ध्यानादक्षताद्वसंस्थिताः ॥२३५५॥

अनुद्विग्नाशया वक्षा महोपद्रवकोटिभिः । अदधानाजिनेन्द्राज्ञां वसन्त्यप्रिगुहादिषु ॥२३५६॥

ध्यानाध्ययनसंयुक्ताजगत्का अहर्निशम् । अप्रमादाजिताक्षास्ते यान्ति निद्रावशं न च ॥२३५७॥

पर्यंकेणाढ्यं पर्यंकेणसहोरासनेन च । उत्कटेन तथा हस्तिशोडेन च निषद्यया ॥२३५८॥

आसनंमकरास्याद्यः । कायोत्सर्गेण चापरैः । रात्रिं नयन्ति ते द्रुधादाधेकपाश्वर्दिशम्यया ॥२३५९॥

उपसर्गान्निसंयाते महापरीषदा कुले । रौद्रसत्त्वभूतेभीमे वनादौमुष्टु दुष्करे ॥२३६०॥

वसन्तिमोक्षमार्गस्था वज्रसंहनना अहो । शुद्धिं वसतिकाख्यां चापन्नाः सद्ध्यानसिद्धये ॥२३६१॥

इत्याद्यामसमांशुद्धां वसतिं मे श्रयन्तिभोः । तेषां वसतिकाशुद्धिर्भवेच्चिरागयोगिनाम् ॥२३६२॥

अर्थ—प्रासुक स्थान में रहनेवाले और विविक्त एकांत स्थानमें निवास करने वाले मुनि किसी गांव में एक दिन रहते हैं और नगर में पांच दिन रहते हैं । सर्वथा एकांत स्थानको ढूँढने वाले और शुक्लध्यान में अपना मन लगाने वाले मुनिराज इस लोक में भी गंध गज (मयोन्मत्त) हाथी के समान ध्यानके आनन्द का महा सुख प्राप्त करते हैं । जिन मुनियों का हृदय विशाल है, जो घोर वीर हैं, एकविहारी हैं, अत्यन्त निर्भय हैं, जो वनमें ही निवास करते हैं अपने शरीर आदि से कभी समत्व नहीं करते

और जो सर्वत्र विहार करते हैं कहीं किसी से रोके नहीं जा सकते ऐसे मुनि प्रतिदिन भगवान् महावीर स्वामी के वचनों में क्रीड़ा करते हुए भयानक गुफाओं में वा कंदराओं में ही निवास करते हैं । वे महा पुरुषरूपी सिंह मुनिराज अपने ध्यानकी सिद्धि के लिये सिंह, बाघ, सर्प और चोर आदि के द्वारा पुरुष वा भयभीत मनुष्यों को अत्यन्त भय उत्पन्न करनेवाले श्मशान कंदरा आदि प्रदेशों में धीरे धीरे महापुरुषों के द्वारा सेवन की हुई वसतिका को ही सदा सेवन करते हैं अर्थात् सदा ऐसी ही वसतिका में ठहरते हैं । अत्यन्त निर्भीक और तरसिह धृति को धारण करनेवाले वे महा मुनिराज रात्रि में पहाड़ों की गुफा आदि अत्यन्त एकान्त स्थानमें रहते हुए तथा सिंह, बाघ आदि अत्यंत दुष्ट जीवों के भयानक और भीषण शब्दों को अत्यन्त समीप ही सुनते हुए भी अपने ध्यानसे रंचमात्र भी क्षतायमान नहीं होते हैं, पर्वतके समान वे निश्चल ही बने रहते हैं । करोड़ों महा उपद्रव होनेपर भी जो अपने मनमें कभी चंचलता धारण नहीं करते ऐसे चतुर मुनिराज भगवान् जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा पर अटल श्रद्धा रखते हुए पर्वतों की गुफाओं में ही निवास करते हैं । सदा ध्यान और अध्ययन में लगे रहनेवाले तथा रात दिन जगने वाले और प्रभाव रहित जितेन्द्रिय वे मुनिराज निद्रा के वश में कभी नहीं होते । वे मुनिराज पहाड़ों पर ही पर्यकासन, अर्धपर्यकासन वा उत्कृष्ट वीरासन धारण कर वा हाथी की सूंडके समान आसन लगाकर अथवा मगरके मुखकासा आसन लगा कर अथवा कायोत्सर्ग धारण कर वा अन्य किसी आसन से झूटकर अथवा एक कंबटसे लेटकर अथवा अन्य कठिन आसनों को धारण कर पूर्ण रात्रि बिता देते हैं । वसतिका शुद्धि को धारण करनेवाले, वज्रवृषभनाराच संहनन को धारण करनेवाले और मोक्ष-मार्गमें निवास करनेवाले वे मुनिराज अपने श्रेष्ठ ध्यानकी सिद्धि के लिये संकड़ों उपसर्ग आ जानेपर, अग्नि लग जानेपर तथा महा परीषहों के समूह आ जानेपर भी भयानक जीवों से भरे हुए भयंकर और अत्यंत घोर दुष्कर वनमें ही निवास करते हैं । इसप्रकार जो वीतराग मुनि अत्यन्त शुद्ध और ऊपर कहे अनुसार विषम वसतिका का आश्रय लेते हैं उन्हीं के वसतिका शुद्ध होती है ॥२३४८-२३६२॥

उत्तम विहार शुद्धि का स्वरूप—

उदयेतिसूर्यस्यप्रासुकेष्व्यतस्तमे । धर्मप्रवृत्तये लोके गमनं यद्विधीयते ॥२३६३॥

महोत्तले मुनीन् प्रीयः सत्स्वच्छं विहारिभिः । युगान्तरेऽस्याभ्यासा विहारे शुद्धिस्तथा ॥२३६४॥

अर्थ—स्वतंत्र विहार करनेवाले एकविहारी मुनिराज सूर्य उदय होने के बाद

तथा सूर्य अस्त होने के पहले प्रासुक मार्गमें केवल धर्म की प्रवृत्ति के लिये गमन करते हैं तथा आगे की चार हाथ भूमि अपने दोनों नेत्रों से देखते हुए ही गमन करते हैं । उन मुनियोंके ऐसे शुद्ध गमन करने को उत्तम विहार शुद्धि कहते हैं ॥२३६३-२३६४॥

उत्तम विहार शुद्धिके धारक मुनि तद्वकोटि से समस्त जीवों की विराधना नहीं करने—

जीव्योनिसमासादीन् सूक्ष्मवायरकायिकान् । ज्ञानेनमुष्टद्विज्ञायविश्वजन्तु कृपापराः ॥२३६५॥
 ज्ञाननेत्रा महत्तुल्या सायद्य' त्रिविधेन च । यत्नात्परिहरन्तस्ते कस्यचित्कारणादिभिः ॥२३६६॥
 एकेन्द्रियाविजन्तूनां बाधां वात्रविराधनम् । विहरन्तोपिभूभागे न कुयुः कारयन्ति न ॥२३६७॥
 तृणपत्रप्रवालादिहरितांकुरजम्भिनाम् । कंदबीजफलादीनांवनस्पत्यखिलांगिनाम् ॥२३६८॥
 पावाद्य' मर्दमं नूनं छेदमं वातिपीडनम् । स्पर्शनं वा न कुर्वन्ति कारयन्ति न सयताः ॥२३६९॥
 पृथिव्याःखननार्थं जलानांप्रक्षालनविभिः । अग्नेविध्यापनाद्य'श्च वातक्षेपादिभिः क्वचित् ॥२३७०॥
 वायोस्त्रसात्मनास्थाननिशङ्गागमनविभिः । पीडांविराधनां दक्षाः कृतार्थंनच कुर्वते ॥२३७१॥

अर्थ—जो मुनि जीवों की योनि, जीवसमास, सूक्ष्मकाय, वादरकाय आदि जीवों को अपने ज्ञानसे जानकर समस्त जीवों पर कृपा करने में तत्पर रहते हैं, जो ज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करते हैं और वायुके समान परिग्रह रहित हैं, ऐसे मुनि मन-वचन-कायसे प्रयत्नपूर्वक पापों का त्याग करते रहते हैं । वे मुनि समस्त पृथ्वीपर विहार करते हुए भी किसी भी कारण से एकेन्द्रियादिक जीवों की बाधा वा विराधना न तो कभी स्वयं करते हैं और न कभी किसी से कराते हैं । वे मुनिराज तृण, पत्र, प्रवाल (कोमल पत्ते) हरे अंकुरे, कंद, बीज, फल आदि समस्त वनस्पतिकायिक जीवों को पर आदि से न तो कभी मर्दन करते हैं, न मर्दन कराते हैं, न उनको छेदते हैं, न छिदवाते हैं, न स्पर्श करते हैं, न स्पर्श कराते हैं और न उनको पीड़ा पहुंचाते हैं वा पहुंचवाते हैं । वे चतुर मुनि न तो खोद पीट कर पृथ्वीकायिक जीवों को बाधा पहुंचाते हैं, न प्रक्षालनादि के द्वारा जलकायिक जीवों को बाधा पहुंचाते हैं, न बुझाकर वा जलाकर अग्निकायिक जीवों को बाधा पहुंचाते हैं, न पंखादिक से हवा कर वायुकायिक जीवों को बाधा पहुंचाते हैं और न गमन करने बैठने वा सोने में उस जीवोंको बाधा पहुंचाते हैं । वे चतुर मुनि मन-वचन-काय और कृतकारित अनुमोदना से इन समस्त जीवों को कभी भी पीड़ा वा विराधना नहीं पहुंचाते ॥२३६५-२३७१॥

वे मुनि शस्त्र रहित निर्भय होकर विहार करते हैं—

दण्डादिसर्वह्निर्लोपकरणातीतसत्कराः । निर्भयाभयभीमाब्धेः पतनाच्छंकिताशयाः ॥२३७२॥

अर्थ—उन मुनिराज के श्रेष्ठ हाथों में दंडा आदि हिंसा का कोई उपकरण नहीं होता, वे सर्वथा मोह रहित होते हैं और संसाररूपी भयानक समुद्र में पड़ने से सदा शंकित और भयभीत रहते हैं ॥२३७२॥

चर्यापरिषद् को जीतते हुए आत्माके परिभ्रमण का चितवन करते हैं—

तीक्ष्णःपाशाणखण्डेशचकंटकाद्यैः क्रमादिषु । पीडयमाना अपि प्राज्ञा मनःक्लेशादिवूरगाः ॥२३७३॥

चर्यापरोषहारतेविजये कृतसूद्यमाः । चतुर्गतिषुरीद्रासुरीद्रवभ्रादियोनिषु ॥२३७४॥

भ्रमणं सुचिरनिश्चयं कृत्स्नदुःखभराकरम् । पराधीनविधेः रक्षेष्वांश्चिन्तयन्सोनिरन्तरम् ॥२३७५॥

अर्थ—यदि उनके पैरमें कांटा लग जाय वा तीक्ष्ण पत्थर के टुकड़ों की धार छिद जाय और उनसे उनको पीड़ा होती हो तो भी वे बुद्धिमान मुनि अपने मनमें कभी क्लेश नहीं करते हैं । क्लेश से वे सदा दूर ही रहते हैं । वे मुनिराज चर्यापरीषद् रूपी शत्रुओं को जीतने के लिये सदा उत्तोग करते रहते हैं, तथा मेरा यह आत्मा भयानक रूप चारों गतियों में चिरकालसे परिभ्रमण करता रहता है अथवा भयानक नरकादिक योनियों में चिरकालसे परिभ्रमण करता रहा है, यह मेरे आत्मा का परिभ्रमण अत्यंत निश्चय है, समस्त दुःखों की खानि है और कर्म के आधीन है । इसप्रकार वे मुनिराज अपने आत्माके परिभ्रमण को निरन्तर चितवन करते रहते हैं ॥२३७३-२३७५॥

परीषदों को जीतने के लिये मुनिराज पृथ्वीपर विहार करते हैं—

संवेगं त्रिविधं चित्ते भावयन्तोऽस्मिन्नागमम् । ज्ञानध्यानसुधापानं कुर्वन्तोऽतिनिराकुलाः ॥२३७६॥

पुरपत्तनखेटाग्रिग्रामाटवीवनादिषु । शम्यारम्येषु सर्वत्र विहरन्तोऽनिजेच्छया ॥२३७७॥

पश्यन्तोऽपि पथं चाग्धा रामारूपादिवीक्षणे । व्रजन्तोऽपि सुतीर्थानि कुतीर्थेऽप्यगवोविदः ॥२३७८॥

शुकथाः कथयन्तोऽपि सूकादुषिकथादिषु । उपसर्गजयेशूराः कातराः कर्मबन्धने ॥२३७९॥

निस्पृहा निजवेहादौ सस्पृहामुक्तिसाधने । सर्वथाप्रतिबद्धाः प्रतिबद्धा जितशसने ॥२३८०॥

निसमस्वाय कुष्कर्मपरीषहजयाय च । विहरन्तिमहीं पल्लीमतन्द्रामुनिनायकाः ॥२३८१॥

अर्थ—अत्यंत निराकुल हुए वे मुनिराज अपने हृदय में संसार शरीर और भोगों से संवेग धारण करते रहते हैं, समस्त आगम का चितवन करते रहते हैं, और ज्ञान तथा ध्यानरूपी अमृत का पान सदा करते रहते हैं । वे मुनिराज अपनी इच्छा-नुसार नगर पत्तन, खेट, पर्वत, गाँव, जंगल, वन आदि सुन्दर असुन्दर समस्त स्थानोंमें विहार करते रहते हैं, उस समय यद्यपि वे मार्ग को देखते हैं तथापि स्त्रियों के रूप आदि को देखने में वे अंधे ही बने रहते हैं । यद्यपि वे चतुर मुनि श्रेष्ठ तीर्थों की वंदना

के लिये विहार करते हैं, चलते हैं तथापि कुत्तीर्थों के लिये वे लंगड़े ही बने रहते हैं, यद्यपि वे श्रेष्ठ कथाओं को कहते हैं तथापि विकथाओं को कहने के लिये वे गूंगे बन जाते हैं । यद्यपि उपसर्गों को जीतने के लिये वे शूरवीर हैं तथापि कर्म बंधन करने के लिये वे कायर बन जाते हैं । यद्यपि अपने शरीर आदि से वे अत्यन्त निस्पृह हैं तथापि मुक्ति को सिद्ध करने के लिये वे ताँव लालसा रखते हैं । यद्यपि वे सर्वत्र अप्रतिबद्ध हैं, किसी के बंधे हुए वा किसी के आधीन नहीं हैं तथापि वे जिनशासन के सदा आधीन रहते हैं । ऐसे वे प्रमाद रहित मुनिराज मोहका ममत्व का सर्वथा त्याग करने के लिये तथा अशुभ कर्म और परीषहों को जीतने के लिये बहुत सी पृथ्वी पर विहार करते हैं ॥२३७६-२३८१॥

यत्नाचार रहित चलने वाले मुनि के विहार शुद्धि नहीं होती—

सिंहसादृश्यवृत्तीनां निष्पापमार्गचारिणाम् । विहारशुद्धिरेवाश्रमीषां नायत्नचारिणाम् ॥२३८२॥

अर्थ—इसप्रकार सिंहके समान अपनी निर्भय वृत्ति रखनेवाले और पापरहित मार्गमें चलने वाले इन मुनियों के विहार शुद्धि कही जाती है । जो मुनि यत्नाचार पूर्वक नहीं चलते उनके विहार शुद्धि कभी नहीं हो सकती ॥२३८२॥

भिक्षाशुद्धि का स्वरूप—

कृताद्यैः सकलैर्दोषैस्त्वक्तुः शुद्धोमलातिगः । भुज्यते भिक्षयाहारयोग्योहे जितेन्द्रियैः ॥२३८३॥

तपोयोगवपुःस्थित्येषष्ठाष्टमधारणे । पक्षमासोपवाससौ वा भिक्षाशुद्धिरेव सा ॥२३८४॥

अर्थ—जो जितेन्द्रिय मुनिराज तपश्चरण योग और शरीर की स्थिति के लिये वेला, तेला के बाद के पारणा के दिन, एक पक्षके उपवास के बाद के पारणा के दिन अथवा महीना दो महीना के उपवास के बाद पारणा के दिन योग्य घरमें जाकर कृतकारित अनुमोदना आदि के समस्त दोषों से रहित वा अपना समस्त दोषों से रहित अत्यंत शुद्ध आहार भिक्षावृत्ति से लेते हैं उसको भिक्षाशुद्धि कहते हैं ॥२३८३-२३८४॥

वे मुनि नवकोटि से शुद्ध ४६ दोषों को टालकर आहार लेते हैं—

नवकोटिविशुद्धं द्रव्यैकविशुद्धोपवर्जितम् । संयोजनाप्रमाणास्थयूमांगारमलोक्चितम् ॥२३८५॥

अशनं विधिनावसं योग्य कालेमुगेहिभिः । पाणिपात्रेस्थितिं कृत्वा ते भजन्तिशिवाप्तये ॥२३८६॥

अर्थ—वे मुनिराज केवल मोक्ष प्राप्त करने के लिये सागृहस्थों के द्वारा योग्य कालमें विधि पूर्वक पाणिपात्रमें दिया हुआ मन-बचन-काय और कृत कारित अनुमोदना

की शुद्धता पूर्वक व्यालोस दोषों से रहित, संयोजना प्रमाण धूम अंगार नामके दोषों से रहित शुद्ध आहार खड़े होकर करते हैं ॥२३८५-२३८६॥

कैसे आहार को मुनिराज छोड़ देते हैं—

उद्देशकं तथा ज्ञात कृतमन्नं स्वशंकितम् । दूरागतंसदोषं ते वर्जयन्ति विषादवत् ॥२३८७॥

अर्थ—वे मुनिराज विष मिले हुए अन्न के समान सदोष आहार को छोड़ देते हैं दूरसे आए हुए आहार को छोड़ देते हैं जिसमें कुछ शंका उत्पन्न हो गई हो उसको भी छोड़ देते हैं, उद्दिष्ट और जाने हुए आहार को भी छोड़ देते हैं और स्वयं बनाये हुए अन्नको भी छोड़ देते हैं ॥२३८७॥

मुनिराज भोजन की चर्या में छोटे बड़े का भेद नहीं करते—

विज्ञातानुमतातीतं नीचोच्चगूह्यंक्तिषु । मौनेनेष्वजन्तोत्रभिक्षां गृह्णन्ति निस्पृहाः ॥२३८८॥

अर्थ—वे निस्पृह मुनि जाने हुए और अनुमोदना किये हुए आहार को भी छोड़ देते हैं तथा मौन धारण कर छोटे बड़े सब घरों की पंक्तियों में घूमते हुए आहार ग्रहण करते हैं ॥२३८८॥

रसना इन्द्रियजयी मुनि अवाचक वृत्ति से शुद्ध आहार लेते हैं—

उष्णं वा शीतलं शुष्कं रुक्षं गुडं रसान्वितम् । क्षारं वा लवणातीतं सुस्वावं स्वाददूरगम् ॥२३८९॥

अवाचितं यथा लब्धमाहारं पारणाविषु । स्वावं त्यक्त्वा च भुजन्ति जिह्वा हि कीलसोद्यताः ॥२३९०॥

अर्थ—जिह्वा आदि समस्त इन्द्रियों को कोलित करने में (वश करने में) सदा उद्यत रहनेवाले वे मुनिराज पारणा के दिन बिना पाचना किया हुआ ठंडा, गर्म, सूखा, रुखा, सरस, लवण सहित, लवण रहित, स्वादिष्ट, स्वाद से रहित ऐसा जो शुद्ध आहार मिल जाता है उसको ही बिना स्वाद के ग्रहण कर लेते हैं ॥२३८९-२३९०॥

मुनिराज स्वाद के लिये आहार नहीं लेते हैं प्राणों की रक्षा के लिये आहार लेते हैं—

अकलमलमात्रात् प्राणस्थिर्यमजन्ति ते । प्राणान् रक्षन्ति धर्माय धर्मं चरन्ति मुक्तये ॥२३९१॥

इत्याबिलाभसंसिद्धार्थं तत्परंपरयाविदः । अयं त्यक्तमात्मार्जनस्वादाविहेतवे ॥२३९२॥

अर्थ—जिसप्रकार गाड़ी को चलाने के लिये पहिया भोंगते हैं, उसमें तेल देते हैं, उसी प्रकार प्राणों को स्थिर रखने के लिये वे मुनिराज थोड़ासा आहार लेते हैं । वे मुनिराज धर्मके लिये प्राणों की रक्षा करते हैं और मोक्ष के लिये धर्म का साधन करते

हैं । वे मुनिराज परम्परा से चले आए इसप्रकार के लाभ की सिद्धि के लिये तथा आत्मा शुद्ध करने के लिये आहार लेते हैं स्वाद के लिये आहार नहीं लेते ॥२३६१-२३६२॥

गुन्दर-असुन्दर आहार मिलने पर मुनि सन्तुष्ट और खेद खिन्न नहीं होते—

आहारेशोभनेलब्धेसंतुष्टास्ते भवन्ति न । अलामेवाशुभाश्रप्तेदुर्मनस्का न जातुचित् ॥२३६३॥

अर्थ—यदि अच्छा सुन्दर आहार मिल जाय तो वे सन्तुष्ट नहीं होते और यदि आहार न मिले वा मिले भी तो अशुभ अन्न मिले तो वे मुनिराज अपने मन में कभी खेद खिन्न नहीं होते हैं ॥२३६३॥

प्राण जानेपर भी मुनिराज भोजन की याचना नहीं करते—

देहीति दीनवाक्यं ते प्राणाम्लेपि वदन्ति न । स्तुवत्यन्यं न दानायसम्भोनवतधारिणाः ॥२३६४॥

अर्थ—‘मुझे दो’ इसप्रकार के दीन वचन वे प्राण नाश होनेपर भी कभी नहीं करते हैं तथा श्रेष्ठ मौनव्रत को धारण करनेवाले वे मुनिराज दानके लिये कभी किसी को स्तुति भी नहीं करते ॥२३६४॥

मुनि अयोग्य आहार की इच्छा नहीं करते—

अनशनीयमाहारं कंदबीजफलादिकम् । अपक्वमग्निनाकिञ्चिद्दीरानेच्छन्तिदोषवत् ॥२३६५॥

अर्थ—जो आहार ग्रहण करने योग्य नहीं है ऐसे अग्निमें बिना पके हुए और इसीलिये अत्यन्त दोष उत्पन्न करनेवाले कंद, बीज, फल आदि को ग्रहण करने की कभी इच्छा भी नहीं करते हैं ॥२३६५॥

मुनि कंसा भोजन ग्रहण नहीं करते—

रात्रौस्थितयवआदिमुस्वादचलित तथा । तद्दिनोत्थ न गृह्णन्तिस्तस्य मुनयः क्वचित् ॥२३६६॥

अर्थ—वे धीर वीर मुनिराज रात्रि में रखे हुए अन्न को कभी ग्रहण नहीं करते, तथा उसी दिन के बनाये हुए परन्तु स्वाद से चलित हुए अन्नको भी कभी ग्रहण नहीं करते हैं ॥२३६६॥

निर्दोष आहार करके भी मुनि प्रतिक्रमण करते हैं—

निर्दोषाशनमप्यत्र भुक्त्वा तद्दोषसंकिताः । प्रतिक्रमणमात्मज्ञाः कुर्वन्ति व्रतशुद्धये ॥२३६७॥

अर्थ—आत्माके स्वरूप को जानने वाले वे मुनिराज अपने व्रतों की शुद्धि के

लिये आहार के दोषों से सदा डरते रहते हैं और निर्दोष आहार को ग्रहण करके भी प्रतिक्रमण करते हैं ॥२३६७॥

भिक्षाशुद्धि किस मुनि के होती है ?

इत्यादि यत्नजांभिक्षामेवलाशुद्धिपूर्विकात् । ये श्रयन्ति सदातेषां भिक्षाशुद्धिर्न चान्यथा ॥२३६८॥

अर्थ—इसप्रकार जो मुनिराज एषणाशुद्धि पूर्वक, यत्नाचार पूर्वक आहार ग्रहण करते हैं उन्हीं के यह भिक्षाशुद्धि होती है, अन्य किसी के नहीं ॥२३६८॥

ज्ञानशुद्धि का स्वरूप—

कालक्षेत्राविशुद्ध्याविनयेनैकाग्रचेतसा । अंगपूर्वादिसूत्राणां पठनं परिवर्तनम् ॥२३६९॥

पाठनं व सतां मुक्त्यै क्रियते यन्मुनीश्वरैः । ज्ञाननेत्रैर्मंडातोतैर्ज्ञानशुद्धिःस्मृतावसा ॥२४००॥

अर्थ—ज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करनेवाले और ज्ञानके अभिमान से सर्वथा रहित ऐसे मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिये कालशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि आदि समस्त शुद्धियों के साथ-साथ विनयपूर्वक एकाग्रचित्त से अंगपूर्व वा सूत्रों का जो पठन-पाठन करते हैं वा पाठ करते हैं उसको सज्जन पुरुष ज्ञानशुद्धि कहते हैं ॥२३६९-२४००॥

ज्ञान शुद्धि धारी मुनिराज की प्रवृत्ति—

महातपोभराकान्ता दृढ चारित्र्यधारिणाः । शुष्कवर्मास्थिसर्वांगाविश्वासाख्यातिवर्जिताः ॥२४०१॥

महाष्टांगनिमित्तज्ञाःसर्वांगमाधिपारगाः । द्वादशांगार्थवेसारः परार्थापितचेतसः ॥२४०२॥

धारणग्रहणे सक्ता अंगार्थानां भवेर्वलात् । पादानुसारिणो बीजबुद्धयः कोष्ठबुद्धयः ॥२४०३॥

संभिस्रबुद्धयोदक्षाः सप्तद्विभूषिता विवः । श्रुताभुतात्तत्तत्कर्णमहाबुद्धिविशारदाः ॥२४०४॥

भक्तिश्रुतावधिक्षानमनःपर्यवमंडिताः । ज्ञातविश्वार्थसाराश्चसद्धानलोनमानसाः ॥२४०५॥

त्रिशुद्धधानिस्त्रिजागानपिठनैःपाठनैःसताम् । तदर्थचिन्तनैर्लोकैर्वर्तन्ते ज्ञानिनोम्बहम् ॥२४०६॥

अर्थ—जो मुनिराज महातपश्चरण के बोझ से दबे हुए हैं, दृढ चारित्र्य को धारण करनेवाले हैं, जिनका घमड़ा, हड्डी आदि समस्त शरीर सूख गया है, जो अपने मनमें विश्वास और प्रसिद्ध आदि को कभी नहीं चाहते, जो महा अष्टांग निमित्तशास्त्रों के जानकार हैं, समस्त आगम रूपी समुद्र के पारगामी हैं, द्वादशांग के अर्थ को जानने वाले हैं, अपने मनको सदा दूसरे के उपकार में ही लगाते रहते हैं, जो अपनी बुद्धि की प्रबलता से अंगों के अर्थ को ग्रहण करने और धारण करने में समर्थ हैं, जो अत्यन्त चतुर हैं, पादानुसारी बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि, संभिस्रबुद्धि आदि सातों प्रकार की बुद्धियों

से सुशोभित हैं, जो महाज्ञानी हैं, शास्त्ररूपी हैं, अमृतके पान से जिन्होंने अपने कानों को अत्यन्त श्रेष्ठ बना लिया है, जो महा बुद्धिमान और महा चतुर हैं, मतिज्ञान, श्रुत-ज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन चारों ज्ञानों से सुशोभित हैं जो समस्त पदार्थों के सार को जानते हैं और जो अपने मनको सदा श्रेष्ठ ध्यान में ही लीन रखते हैं, ऐसे महाज्ञानी पुरुष मन-वचन-कायकी शुद्धता पूर्वक समस्त अंगों को स्वयं पढ़ते हैं, सज्जनों को पढ़ाते हैं और अनेक अर्थों को चिंतन करते रहते हैं । इसप्रकार इस संसार में ज्ञानी पुरुषों की प्रतिदिन प्रवृत्ति रहती है ॥२४०१-२४०६॥

वे मुनिराज जिनवाणी रूपी अमृत का पान करते एवं करवाते हैं—

विद्योपसकलांगानां तद्गतं न मनोभयम् । कुर्वन्ति न समोहन्ते स्थापितपूजादिकं ववचित् ॥७॥

जिनवाक्यसुधापनं जन्ममृत्युविषापहम् । विषवक्त्रेश्वरं पञ्चेन्द्रियतृष्णाग्निं वारिदम् ॥२४०८॥

विज्ञायजन्मवाहान्तिशान्तये शिवशर्मणे । कुर्वन्ति कारयन्त्यन्यान् विस्तारयन्ति ते भुवि ॥२४०९॥

अर्थ— मुनिराज यद्यपि समस्त अंगों को जानते हैं तथापि वे किंचित भी उसका अभिमान नहीं करते तथा उससे अपनी प्रसिद्धि वा बड़प्पन पूजा आदि की भी कभी इच्छा नहीं करते । यह जिनवाणी रूपी अमृत का पान करना जन्ममृत्युरूपी विष को नाश करनेवाला है, समस्त क्लेशों को दूर करनेवाला है, और पञ्चेन्द्रियों की तृष्णा रूपी अग्नि को बुझाने के लिये मेघ के समान है । यही समझकर वे मुनिराज जन्म-मरणरूपी दाह को शांत करने के लिये और मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये स्वयं जिनवाणी रूपी अमृत का पान करते रहते हैं, दूसरों को उसका पान कराते रहते हैं और इस लोकमें उस जिनवाणीरूपी अमृतका विस्तार करते रहते हैं ॥२४०७-२४०९॥

ज्ञान शुद्धि का स्वामी कौन मुनि होते हैं—

अत्यभीक्ष्णमहाज्ञानोपयोगवशवर्तिनाम् । ज्ञान शुद्धिमंतास्तद्भिन्नान्येषां च प्रमादिनाम् ॥२४१०॥

अर्थ—जो मुनिराज निरंतर ही महाज्ञानमय अपने उपयोग के वशीभूत हैं अर्थात् जो निरंतर ज्ञानमें ही अपना उपयोग लगाये रहते हैं, उन्हीं सज्जन मुनियों के ज्ञानशुद्धि कही जाती है, अन्य प्रमादी पुरुषों के ज्ञानशुद्धि कभी नहीं हो सकती । ॥२४१०॥

उज्ज्वल शुद्धि का स्वरूप—

आत्मोद्ये यः शरीरेपि संस्कारः क्षालनाविभिः । बध्नाद्विषयस्नेहो मोहारि जनकोऽशुभः ॥११॥

संगेसवस्वभावो वा निर्गुणः क्लियते न च । ववचित्कालेभतादक्षः शुद्धिः सात्वोभक्तानिधा ॥१२॥

अर्थ—अपने शरीर में प्रक्षालन आदि का संस्कार करना भी स्त्रियों में स्नेह उत्पन्न करनेवाला है, मोहरूपी शत्रु को उत्पन्न करनेवाला है और अत्यंत अशुभ है, इसलिये चतुर मुनिराज शरीर का संस्कार कभी नहीं करते हैं तथा किसी भी परिग्रह में किसी समय भी ममत्व भाव धारण नहीं करते इसको आचार्य लोग उज्झन शुद्धि कहते हैं ॥२४११-२४१२॥

उज्झन शुद्धिधारी मुनिराज शरीर संस्कार नहीं करते—

धावनं मुखवस्तनानामुत्तनं च सर्वमम् । पादप्रक्षालनं नेत्राञ्जनं च कायधूपनम् ॥२४१३॥

मण्डनं मण्डनं जातु वमनं च विरेचनं । इत्याद्यापरसंस्कारं निर्ममास्ते न कुर्वते ॥२४१४॥

अर्थ—मोहरहित वे मुनिराज मुख और दांतों को न कभी धोते हैं, न कुत्ता करते हैं, न घिसते हैं, न पैर धोते हैं, न नेत्रों में अञ्जन लगाते हैं, न शरीर को धूप में सुखाते हैं, न स्नान करते हैं, न शरीर की शोभा बढ़ाते हैं, न वमन विरेचन करते हैं तथा और भी ऐसे ही ऐसे शरीर के संस्कार वे मुनिराज कभी नहीं करते ॥२४१३-२४१४॥

वे मुनिराज रोगके प्रतिकार के लिये औषध की इच्छा नहीं करते—

कुष्ठज्वरमरुतिपित्ताद्यसाध्यरुक्शतादिषु । दुस्तहेष्वत्र जातेषु पूर्वासातोवयेन भोः ॥२४१५॥

स्वकर्मपाकवैसारः औषधाद्यं न जातुचित् । तच्छान्तयेप्रतीकारमिच्छन्तिपातहानये ॥२४१६॥

अर्थ—अपने कर्मों के विपाक को जानने वाले वे मुनिराज पहले के असाता कर्मके उदय से अत्यन्त असह्य और असाध्य ऐसे कोढ़, ज्वर, वायु का विकार वा पित्त का विकार आदि संकड़ों रोग उत्पन्न हो जाय तो वे मुनि अपने पापों को नाश करने के लिये उस दुःख को सहते रहते हैं उन रोगों को दूर करने के लिये औषधि आदि के द्वारा कभी प्रतिकार नहीं करते, तथा न कभी प्रतिकार करने की इच्छा ही करते हैं । ॥२४१५-२४१६॥

वे मुनिराज रोगके होनेपर भी खेदखिन्न नहीं होते—

दुर्व्याधिष्वेवनाद्याप्तसर्वाणा अपि निस्पृहाः । भवन्ति कुर्मनस्का न स्वस्था प्राग्ब्रह्मान्यथा ॥२४१७॥

अर्थ—निस्पृह वृत्ति को धारण करनेवाले उन मुनिराजों का समस्त शरीर अनेक असाध्य रोगों की वेदना से व्याप्त हो रहा हो तो भी वे अपने मनमें खेद खिन्न नहीं होते वे पहले के ही समान स्वस्थ बने रहते हैं उन रोगों से उनके मनमें कभी

विकार उत्पन्न नहीं होता है ॥२४१७॥

वे मुनिराज सदा रत्नत्रय श्रीषष्ठ का सेवन नहीं करते—

तपोरत्नत्रयं जन्ममृत्युकृत्स्नरुजान्तकम् । विश्वक्लेशहरं खेकं लेखन्ते ते नद्यापरम् ॥२४१८॥

अर्थ—वे मुनिराज समस्त क्लेशों को दूर करनेवाले और जन्ममरणरूपी समस्त रोगों को नाश करनेवाले रत्नत्रय को तथा तपश्चरण को सेवन करते रहते हैं, रत्नत्रय और तपके सिवाय वे अन्य किसी का सेवन नहीं करते ॥२४१८॥

वे मुनिराज सदा शरीर के स्वरूप का विचार करते हुए उसे आत्मा से भिन्न मानते हैं—

रोगोश्गविलंनिष्ठं कृतान्तमुत्तमध्यगम् । शुक्लोश्गितबीजोश्गसप्तधातुकुलालयम् ॥२४१९॥
 क्रमिकोद्विगता कीर्णं बीभत्सं च घृणास्पदम् । विष्ठादिनिचितासारं मलमूत्राविभाजनम् ॥२४२०॥
 पञ्चाक्षतस्करावासं विश्वबुधैर्निबन्धनम् । कृशनाशुष्याकरीमूतं शुचिद्रव्याशुचिप्रदम् ॥२४२१॥
 क्षुत्पृथ्वाकामकोपाग्निधीपितं भयवद्वेकम् । रागाविधूरितं क्षुतिभङ्गदुष्कर्मकारणम् ॥२४२२॥
 इत्याद्यन्यमहादोषमूलं कायक्लेवरम् । पश्यन्तश्चिन्तयन्तस्तेभावयन्तो निरन्तरम् ॥२४२३॥
 तस्मात्सदापृथग्भूतं स्वात्मानं सद्गुणार्णवम् । कथं कुर्वन्ति रागादीन्निर्विघ्नाः कायशर्मणि ॥२४॥

अर्थ—यह शरीर रोगरूपी सर्पों का बिल है, अत्यन्त निष्ठ है, यमराजके मुख में ही उसका सदा निवास है, यह शुक्ल रश्मिरूपी बीजसे उत्पन्न हुआ है, सप्त धातुओं से भरा हुआ है, करोड़ों अरबों कीड़ों से भरा हुआ है, अत्यन्त भयानक है, अत्यन्त घृणित है, मल मूत्र आदि असार पदार्थों से भरा हुआ है, विष्ठा आदि अपवित्र पदार्थों का पात्र है, पाँचों इन्द्रियरूपी चोर इसमें निवास करते हैं, समस्त दुःखों का यह कारण है, समस्त अपवित्र पदार्थों की खानि है, पवित्र पदार्थों को भी अपवित्र करनेवाला है, भूख, प्यास, काम, क्रोधरूपी अग्नि से सदा जलता रहता है, जन्ममरणरूप संसार को बढ़ाने वाला है । रागद्वेष से भरा हुआ है, दुर्गन्ध और अशुभ कर्मों का कारण है, तथा और भी अनेक महा दोषों का मूल कारण ऐसे शरीरको देखते हुए वे मुनिराज निरन्तर उसी रूपसे चिन्तन करते हैं तथा अनन्त गुणोंका समुद्र ऐसे अपने आत्माको उस शरीर से सदा भिन्न मानते हैं । इसप्रकार शरीर के सुखसे विरक्त हुए वे मुनिराज उस शरीर में राग कैसे कर सकते हैं ॥२४१९-२४२४॥

भोगों की असारता का चिन्तन करते हुये वे मुनिराज भोगों की इच्छा नहीं करते—

स्वान्यांगजितान्भोगान्चतुर्गतिनिवर्धनान् । जगद्भुक्ताकरीभूतान् महापापकरान् बुधैः ॥२५॥
 निष्ठान् बाह्यार्तहरेतून् पशुस्तेच्छादिसेवितान् । निष्ठकर्मभवान् शत्रूनिषेहन्ते न ते बभूवुः ॥२६॥

अर्थ—अपने शरीर से वा अन्य पदार्थों से उत्पन्न हुए ये भोग चारों गति के कारण हैं, संसार के समस्त दुःखों की खानि हैं, महापाप उत्पन्न करनेवाले हैं, विद्वान् लोग सदा इनकी निंदा करते रहते हैं, दाह दुःख और अनेक रोगों के ये कारण हैं पशु और म्लेच्छ लोग ही इनका सेवन करते हैं और निम्न कर्मों से ये उत्पन्न होते हैं इस प्रकार शत्रु के समान इन भोगों की इच्छा वे मुनिराज कभी नहीं करते हैं ॥२४२५-२४२६॥

बन्धुवर्ग में भी स्नेह नहीं करते—

मोहशात्रवसन्तानेबंधुवर्गेतिदुःस्थजे । धर्मघ्ने पापबीजे ते स्नेहं जातु न कुर्वते ॥२४२७॥

अर्थ—ये बंधुवर्ग भी मोहरूपी शत्रु की संतान हैं, पाप के कारण हैं, धर्म को नाश करनेवाले हैं और अत्यन्त कठिनता से छोड़े जा सकते हैं, ऐसे बंधुवर्ग में वे मुनिराज कभी स्नेह नहीं करते ॥२४२७॥

कोन मुनिराज उज्ज्वल शुद्धि के धारी होते हैं—

इत्यादिनिर्मलाधारः स्वतो विद्वान्यवस्तुषु । त्यक्तरागाश्च ये तेषांस्याच्छुद्धिस्तज्जनाह्वया ॥२८॥

अर्थ—जो मुनिराज इसप्रकार स्वयं निर्मल आचरणोंको पालन करते हैं और अन्य समस्त पदार्थों में कभी राग नहीं करते ऐसे मुनियों के उज्ज्वल नाम की शुद्धि होती है ॥२४२८॥

वाक्य शुद्धि का स्वरूप—

जिनसूत्राविरुद्धं यदनेकांतमताश्रितम् । एकांतद्वरगं तथ्यं विरवजन्तुहितावहम् ॥२४२९॥

मितं च व्रूयतेसारं वचनं धर्मसिद्धये । उन्मार्गहानये रक्षः सा वाक्यशुद्धिरुत्तमा ॥२४३०॥

अर्थ—चतुर मुनि कुमार्गको नाश करने के लिये और धर्म की सिद्धि के लिये सदा ऐसे वचन बोलते हैं जो जिनशास्त्रों के विरुद्ध न हों, अनेकांत मतके आश्रय हों, एकांत मतसे सर्वथा दूर हों, यथार्थ हों, समस्त जीवों का हित करनेवाले हों, परिमित हों और सारभूत हों । ऐसे वचनों का कहना उत्तम वाक्यशुद्धि कहलाती है ॥२४२९-२४३०॥

कैसे वचन मुनिराज नहीं बोलते—

वाक्यं च विनयातीतं धर्महीनमकारणम् । विषदं ते परः पृष्टा अपृष्टा वा बवन्ति न ॥२४३१॥

अर्थ—जो वचन विनय से रहित हैं, धर्म से रहित हैं, विरुद्ध हैं और जिनके

कहने का कोई कारण नहीं है ऐसे वचन दूसरों के द्वारा पूछने पर वा बिना पूछे वे मुनिराज कभी नहीं बोलते हैं ॥२४३१॥

वे मुनिराज दूसरों की निदा स्तुति में गूँगे समान होते हैं—

पश्यन्तो विविधानर्थान्नैवः शृण्वन्तर्जितान् । कर्णेभ्य ते हि जानन्तश्चित्तसारेतरान् भुवि ॥३२॥

सूकीभूता इवात्थर्थं लोके तिष्ठन्ति साधवः । कुर्वन्त्यस्य निन्दां न वार्ता स्तुत्यकारणम् ॥३३॥

अर्थ—यद्यपि वे मुनिराज अपने नेत्रों से अनेक प्रकार के अनर्थ देखते हैं, कानों से बड़े-बड़े अनर्थ सुनते हैं, और अपने हृदय में सार असार समस्त पदार्थों को जानते हैं तथापि वे साधु इस लोकमें गूँगेके समान सदा बने रहते हैं, वे कभी किसी की निन्दा नहीं करते और न किसी की स्तुति करनेवाली बात कहते हैं ॥२४३२-२४३३॥

वे मुनिराज विकथा नहीं तो करते हैं एवं न ही सुनते हैं—

स्त्रीकथार्थकथाभस्तराजचौरमूषाकथाः । खेटकर्षटवेशाद्रिपुराकरादिजाः कथाः ॥२४३४॥

नटानां सुभटानां च मल्लानामिन्द्रजालिनाम् । द्यूतकारकुशीलानां वृष्टम्लेच्छादिपापिनाम् ॥

धैरिणां पिशुनानां च मिथ्यादृष्टिं कुलिगिनाम् । रागिणां द्वेषिणां मोहार्तावीनां विकथाः श्रूया ॥

इत्याद्या अपरा बह्वीः कथाः पापस्त्रोविदः । कथयन्ति न मौनतयाः ज्ञातुशृण्वन्तिमाशुभाः ॥

अर्थ—मौन धारण करनेवाले वे मुनिराज स्त्रीकथा, अर्थकथा, भोजनकथा, राजकथा, चोरकथा वा मिथ्या कथाएं कभी नहीं कहते हैं । इसीप्रकार खेट, कर्षट, देश, पर्वत, नगर, खानि आदि की कथाएं भी कभी नहीं कहते हैं । तथा वे मुनिराज नट, सुभट, मल्ल इन्द्रजालिया, जूआ खेलने वाले, कुशील सेवन करनेवाले, वृष्ट, म्लेच्छ, पापी, शत्रु, चूगलखोर, मिथ्यादृष्टि, कुलिगी, रागी-द्वेषी, मोही और दुःखी जीवों की व्यर्थ की विकथाएं कभी नहीं कहते हैं । वे चतुर मुनि पाप की खानि ऐसी और भी अनेक प्रकार की विकथाएं कभी नहीं कहते हैं तथा न कभी ऐसी अशुभ विकथाओं को सुनते हैं ॥२४३४-२४३७॥

विकथा करनेवाले की मुनिराज संगति भी नहीं करते हैं—

विकथाचारिणां स्वाभ्यव्याजन्मविषायनाम् । बुधिर्या क्षणमात्रं न संगमिच्छन्ति धीमताः ॥३८॥

अर्थ—जो विकथा कहने वाले लोग अपना और दूसरों का जन्म व्यर्थ ही सोते हैं, ऐसे सूख लोगों की संगति वे बुद्धिमान मुनिराज एक क्षणभर भी नहीं चाहते ॥२४३८॥

मुनिराज कैसे वचन नहीं कहते—

कौत्कुचयमधकन्धर्पं मोक्षयं साधुमिन्वितम् । हास्यादिप्रेरकं जालु दुर्वचो न ब्रूवन्ति ते ॥२४३६॥

अर्थ—वे मुनिराज शरीर में विकार उत्पन्न करनेवाले वचन कभी नहीं कहते, कामवादन को बढ़ाने वाले वचन कभी नहीं कहते, साधुओं के द्वारा निन्दनीय ऐसी बकवाद कभी नहीं करते और हंसी को उत्पन्न करनेवाले दुर्वचन कभी नहीं कहते हैं । ॥२४३६॥

वे मुनिराज धर्मोपदेश एवं श्रेष्ठ कथा ही कहते हैं—

निर्विकाराविचारज्ञाः शिवध्वोसाधनोद्यताः । शिवाय धीमतां नित्यं दिक्षन्ति धर्मवेशनाम् ॥४०॥

श्रीजिनेन्द्रमुखोत्पन्नामहापुरुषसम्भवाः । संवेगजननीः सारास्तत्त्वगर्भाः शिवकराः ॥२४४१॥

रागारिनाशिनीश्चित्तपंचेन्द्रियनिरोधिनीः । सत्कथाः धर्मसंजज्ञाः कथयन्ति सतां शिवः ॥२४४२॥

अर्थ—विकार रहित, विचारशील और मोक्ष लक्ष्मी को सिद्ध करने में सदा तत्पर ऐसे वे मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिये बुद्धिमानों को सदा धर्मोपदेश ही देते हैं । जो धर्म संबंधिनी श्रेष्ठ कथा भगवान् जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रगट हुई है, जिसमें तीर्थंकर ऐसे महापुरुषों का कथन है, जो संवेग को उत्पन्न करनेवाली है, सारभूत है, तत्त्वों के स्वरूपको कहने वाली है, मोक्ष देनेवाली है, रागद्वेष रूपी शत्रुको नाश करने वाली है, तथा मन और पंचेन्द्रियों को रोकने वाली है, ऐसी श्रेष्ठ कथा ही वे चतुर मुनिराज सज्जनों के लिये कहते हैं ॥२४४०-२४४२॥

कैसे मुनिराज वाक्यशुद्धि धारी होते हैं—

सत्वाधिका अनगारभावनारतमानसाः । स्वात्मध्यानपरास्तेऽस्युस्तत्त्वचिन्तावलम्बिनः ॥२४४३॥

इत्याद्यन्यगुणग्रामाः ये मौनव्रतधारिणः । भूक्ता इवात्र तिष्ठन्ति ते वाक्यशुद्धिधारका ॥२४४४॥

अर्थ—जो मुनिराज समर्थशाली हैं, अपने मनको सदा मुनियों की भावना में लगाये रहते हैं जो अपने आत्मध्यानमें सदा तत्पर रहते हैं और तत्त्वोंके चिंतन करने का ही जिनके सदा अवलंबन रहता है । इसप्रकार के और भी अनेक गुणों को जो धारण करते हैं तथा गूंगे के समान मौनव्रत धारण कर ही अपनी प्रवृत्ति रखते हैं ऐसे मुनियों के उत्तम वाक्यशुद्धि कही जाती है ॥२४४३-२४४४॥

तपशुद्धि का स्वरूप—

द्विषद्भेदं तपः सारं सर्वशक्त्याजिनोवितम् । दुष्कर्मारतिसन्तानोन्मूलनं शिवकारणम् ॥२४४५॥

अप्रमत्तमहायोगव्रतगुण्याविमंडितैः । क्रियते ज्ञानपूर्वं यत्सा तपः शुद्धिरुच्युता ॥२४४६॥

अर्थ—महायोग व्रत और गुप्ति समिति आदि से सुशोभित रहनेवाले और प्रभाव रहित जो मुनि अपनी शक्तिके अनुसार अशुभ कर्मरूप शत्रुओं की संतान को भी जड़भूल से उखाड़ देनेवाले तथा मोक्ष के कारण, भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए और सारभूत ऐसे बारह प्रकार के तपश्चरण को ज्ञानपूर्वक धारण करते हैं उसको उत्तम तप शुद्धि कहते हैं ॥२४४५-२४४६॥

वे मुनिराज अनेक उपवास धारण कर तप करते हैं—

तपोग्निशुक्लकर्मणांप्राबुध्तास्थिसंख्ययाः । सात्त्विका निष्कषायास्ते क्षीणगाम्राधुतेर्बलात् ॥४७॥

बहून् षष्ठाष्टमावींश्च पक्षमासाविगोचरान् । उपवासांश्चरन्त्यत्र निःशक्ता अपि मुक्तये ॥२४४८॥

अर्थ—तपरूपी अग्निसे जिनके कर्म सब सूख गये हैं, जिनके शरीर में हड्डी-मात्र रह गई है जो कषाय रहित हैं तथापि जो शक्तिशाली हैं, ऐसे शरीर से अशक्त मुनि भी केवल मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपने धैर्यके बलसे बेला, तेला, पंद्रह दिन का उपवास, एक महीने का उपवास, दो महीने का उपवास इसप्रकार अनेक उपवासों को धारण करते हैं ॥२४४७-२४४८॥

वे मुनिराज तपशुद्धि के लिये उनोदर एवं वृत्ति-संख्यान तप करते हैं—

पक्षमासोपवासावि पारणाहनिनिस्पृहाः । प्रासमात्रादिकाहारं भुजन्ति शिवशर्मणे ॥२४४९॥

हृत्पामासोपवासाक्षीन्पारणे सत्त्वरविभिः । गृह्णन्त्यवग्रहं धीराभिक्षालाभाय दुर्धटम् ॥२४५०॥

अर्थ—वे निस्पृह मुनिराज मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये पंद्रह दिन का वा एक महीने का अथवा और भी अधिक उपवास करके पारणा के दिन एक प्रास वा दो प्रास आहार लेकर ही चले जाते हैं । वे धीर वीर मुनि मासोपवास आवि करके भी पारणा के भिक्षा लेने के लिये “आज चौराहे पर आहार मिलेगा तो लूंगा नहीं तो नहीं” अथवा “पहले घरमें आहार मिलेगा तो लूंगा नहीं तो नहीं” इसप्रकार पडगाहन की प्रतिज्ञा कर वृत्तिपरिसंख्यान तप धारण करते हैं ॥२४४९-२४५०॥

वे मुनिराज रस परित्याग एवं विविक्त शय्यासन तप करते हैं—

त्यक्त्वापञ्चरसान् षड्वा धौतासमुष्णवारिणा । पञ्चाससुखहान्ये ते भक्षन्ति पारणे भुवा ॥२४५१॥

भीमारण्ये श्मशाने वा मांसाशिकूरसंकुले । स्थ्याविकूरे भयासीताः भयन्तिशयनासमम् ॥२४५२॥

अर्थ—अथवा वे मुनिराज पांचों हन्त्रियों के सुख नष्ट करने के लिये पारणा

के दिन छहों रसों का त्याग कर अथवा पांचों रसों का त्याग कर आहार लेते हैं अथवा गर्म जलसे धोये हुए अन्नको ही वे ग्रहण करते हैं । वे निर्भय मुनिराज स्त्रियों के संसर्ग से अत्यन्त दूर तथा हड्डी मांस वा क्रूर जीवों से भरे हुए श्मशान में वा भयानक वनमें अर्थात् एकांत स्थान में ही शयन वा आसन ग्रहण करते हैं ॥२४५१-२४५२॥

शीतकाल में चौराहे पर खड़े होकर ध्यान करते हैं—

हेमन्ते धत्तवरे घोरे शीतवन्धप्रभे निशि । ध्यानोष्मशाष्टविधवस्त्राः शीतवाधां व्ययन्ति ते ॥५३॥

अर्थ—वे मुनिराज जिसकी ठंडसे वृक्ष भी जल जाते हैं, ऐसे जाड़े के दिनों में रात के समय आठों दिशारूपी वस्त्रों को धारण कर तथा ध्यानरूपी गर्मी से तपते हुए घोर चौराहे पर खड़े होकर शीतवाधा को जीतते हैं ॥२४५३॥

उष्ण कालमें पर्वत के शिखर पर ध्यान करते हैं—

ग्रीष्मेसूर्याशु संतप्ये तु गात्रिस्थशिलासले । तापक्लेशासहाधीरास्तिष्ठन्तिभानुसम्पुक्ताः ॥२४५४॥

अर्थ—गर्मी के बलेश को सहन करने में अत्यन्त धीर वीर वे मुनिराज गर्मी के दिनों में सूर्य की किरणों से तपतायमान ऐसे ऊंचे पर्वतों की शिलापर सूर्य के सामने खड़े होते हैं ॥२४५४॥

वर्षा कालमें वृक्ष के नीचे ध्यान करते हुए उपद्रव सहते हैं—

सर्वद्विन्द्वत्करेवृक्षमूलेसर्पाविधेष्टिते । प्रावृदकालेस्थिताः शक्त्याधयन्त्युपद्रवान् बहून् ॥२४५५॥

अर्थ—वे मुनिराज वर्षा के दिनों में जहां पर बहुत देर तक पानी की बूंदें भरती रहती हैं और जिसकी जड़ में अनेक सर्पादिक जीव लिपटे हुए हैं ऐसे वृक्षों के नीचे खड़े रहते हैं तथा वहांपर अपनी शक्ति के अनुसार अनेक उपद्रवों को सहन करते रहते हैं ॥२४५५॥

तीनों कालों में योग धारण करते हुए उपसर्ग एवं परीषहों को सहन करते हैं—

एवं त्रिकालयोगस्था ऋतुजोषद्रवान्परान् । झुत्तुशीतोष्णदंशाहि वृश्चिकाविपरीवहान् ॥५६॥

देवतियंनराचेतनोत्थोपसर्गवुञ्जयान् । सहन्ते सर्वशक्त्या च मनाक् क्लेशां व्रजन्ति न ॥२४५७॥

अर्थ—इसप्रकार तीनों ऋतुओं में योग धारण करनेवाले वे मुनिराज ऋतुओं से उत्पन्न हुए अनेक उपद्रवों को सहन करते हैं, झुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण की परीषह सहन करते हैं, सांप, बिच्छुओं के काटने की परीषह सहन करते हैं वेध मनुष्य तिर्यच और अचेतनों से उत्पन्न हुए घोर दुर्जय उपसर्गों को सहन करते हैं । वे मुनिराज अपनी

पूर्ण शक्ति से उपसर्ग और परीषदों को सहन करते हैं, अपने मन में रंघमात्र भी खेद उत्पन्न नहीं करते ॥२४५६-२४५७॥

अन्तरंग तपों को कौन मुनि धारण करने में समर्थ होते हैं—

इति बाह्यतपोधोरयाचरन्तस्तपोधनाः । प्रायश्चित्तादि सर्वेषां धडस्तपसां क्रमात् ॥२४५८॥

आरोहन्ति परां कीटि निष्प्रमादा जितेन्द्रियाः । द्विधारस्तत्रयाशक्ताः बाह्यान्तः संगदूरगाः ॥२४५९॥

अर्थ—व्यवहार निश्चय दोनों प्रकार के रत्नद्वय को धारण करने में लीन रहनेवाले, बाह्य, अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह से सर्वथा दूर तथा जितेन्द्रिय और प्रभाव रहित वे मुनिराज ऊपर लिखे अनुसार बाह्य घोर तपश्चरणों को धारण करते हुए भी प्रायश्चित्त आदि छहों प्रकार के समस्त अन्तरंग तपश्चरणों को अनुक्रम से सर्वोत्कृष्ट रूपसे धारण करते हैं ॥२४५८-२४५९॥

वे मुनिराज दुर्जनों के दुष्ट वचनों से क्षुब्ध नहीं होते—

मिथ्यादुर्जनादीनां दुर्वाक्यादन्तकोपमात् । ताडनासर्जनाद्धाताद्यान्ति शोभं न ते स्वचित् ॥२४६०॥

अर्थ—वे मुनिराज यमराज के समान मिथ्यादृष्टि और दुष्ट मनुष्यों के दुर्वचनों से उनकी ताड़ना से, तर्जना से, वा उनकी मार से कभी भी क्षुब्ध नहीं होते हैं ॥२४६०॥

इन्द्रियों को वैराग्य जाल से बांधते हैं—

पंचाक्षविषयाकांक्षाविश्रान्तर्लनी नृणाम् । या तां वैराग्यपाशेनलेवध्नन्तिमृगीमिव ॥२४६१॥

अर्थ—जिसप्रकार किसी जाल से हिरण को बांध लेते हैं उसी प्रकार वे मुनिराज समस्त अनर्थों की खानि ऐसी मनुष्यों की पाँचों इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाली विषयों की आकांक्षा को अपने वैराग्य रूपी जाल से बहुत शीघ्र बांध लेते हैं । ॥२४६१॥

तपशुद्धि का अधिकारी कौन होता है—

इत्याद्यन्महाधोरोग्रतपश्चरितात्मनाम् । जिताक्षरणां तपः शुद्धिं केवलं विद्यतेनघा ॥२४६२॥

अर्थ—जो मुनिराज इनके सिवाय और भी महा घोर और उग्र तपश्चरणों को धारण करते हैं तथा समस्त इन्द्रियों को जीतते हैं, उन्हीं मुनियों के पापरहित निर्दोष तपःशुद्धि होती है ॥२४६२॥

ध्यान शुद्धि का स्वरूप—

निष्कल्पं मनः कृत्वा त्यक्त्वा सर्वैर्मनोज्ञसा । स्थित्वागिरिगुहादीसद्विधानमेकाग्रचेतसा ॥२४६३॥
धर्मशुक्लाभिधं वक्षः सिद्धये यद्विधीयते । कर्मरूपे ज्वलज्ज्वालाध्यानशुद्धिरिहास्ति सा ॥२४६४॥

अर्थ—जो चतुर मुनि अपने मनके समस्त संकल्प विकल्पों को दूर कर तथा आर्तध्यान और शौद्धध्यान का त्याग कर पर्वतों की गुफा आदि में बैठकर एकाग्रचित्त से धर्मध्यान वा शुक्लध्यान को धारण करते हैं तथा इन दोनों ध्यानों को मोक्ष के ही लिये धारण करते हैं, उनके कर्मरूपी वन को जलाने के लिये की ज्वाला के समान ध्यानशुद्धि कही जाती है ॥२४६३-२४६४॥

बुद्धिमान लोग मनरूपी हाथी को किससे वश करते हैं—

अमतिविषयारूपे दुर्धरं स्वसनोगजम् । ध्यानांकुशेनबाह्वद्वयानयन्ति स्ववशं बुधाः ॥२४६५॥

अर्थ—यह अपना मनरूपी दुर्धर हाथी विषयरूपी वनमें घूमता रहता है । इसको ध्यानरूपी अंकुश से पकड़ कर बुद्धिमान लोग ही अपने वश में कर लेते हैं । ॥२४६५॥

योगीजन इन्द्रिय और कषाय रूपी सेना को किसके द्वारा जीतते हैं—

चंचलान् कुर्वतः कीडां पंचेन्द्रियजलोद्भवान् । रत्यब्धौ ध्यानजालेनवध्नन्तिध्यानिनोद्भूतम् ॥२४६६॥
कषायतस्करानीकं मनोभूषेन्द्रपालितम् । विश्वसन्तापिनं धनन्तिध्यानखड्गेनयोगिनः ॥२४६७॥

अर्थ—पंचेन्द्रियरूपी जलसे उत्पन्न हुई और रति रूप समुद्र में कीड़ा करती हुई चंचल मछलियों को ध्यानी पुरुष ही ध्यानरूपी जालमें शीघ्र बांध लेते हैं । मनरूपी उत्कृष्ट राजा के द्वारा पाली हुई और समस्त जीवों को दुःख देनेवाली ऐसी इस कषायरूपी चोरों की सेना को योगी पुरुष ही ध्यानरूपी तलवार से मारते हैं ॥२४६६-२४६७॥

योगीजन ध्यान के द्वारा क्या-क्या करते हैं—

ध्यानेन निखिलान्योगान्मूलोत्तरगुणान्परान् । शमेन्द्रियवमार्दोश्च नयन्ति पूर्णसां चिदः ॥२४६८॥

अर्थ—चतुर पुरुष इस ध्यान के ही द्वारा समस्त योगों को, उत्कृष्ट मूलगुण तथा उत्तरगुणों को उपशम परिणामों को और इन्द्रियों के दमन को कर्मरूप से धारण कर लेते हैं ॥२४६८॥

योगीजन ध्यान के द्वारा अशुभकर्म पर्वतों को चूर्ण करते हैं—

सद्ध्यानवज्रघातेन द्रुतं दुष्कर्मपर्वतान् । सार्द्धं मोहादिवृक्षैः प्रापयन्ति शतचूर्णताम् ॥२४६६॥

अर्थ—वे मुनिराज श्रेष्ठध्यानरूपी वज्र की छोट से मोहादिक वृक्षों के साथ साथ अशुभकर्मरूपी पर्वतों के सैकड़ों टुकड़े कर डालते हैं ॥२४६६॥

मुनिराज किसी भी अवस्था में ध्यान नहीं छोड़ते—

गच्छन्ता वा सुखासीना बह्वोः सुखमुखादिकाः । अवस्था मुनयः प्राप्ताः क्वचिद्धानं त्यजन्ति न ॥

अर्थ—वे मुनि चाहे चल रहे हों, चाहे आराम से बैठे हों वा सुख दुःख की बहुत सी अवस्था को प्राप्त हो रहे हों तथापि वे ध्यान को कभी नहीं छोड़ते हैं । ॥२४७०॥

शुभध्यान को करनेवाले मुनि अशुभध्यान के वश नहीं होते—

आर्तैरौद्रकुलेश्यानां धर्मशुक्लापिताशयाः । स्वप्नेपि न वशं यान्ति शुक्ललेश्यामहोदयाः ॥२४७१॥

अर्थ—शुक्ललेश्या को धारण करनेवाले और अपने मन में धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान को चिंतन करनेवाले वे मुनिराज स्वप्न में भी कभी आर्तध्यान और रौद्रध्यान के वश में नहीं होते हैं ॥२४७१॥

परीषदादिकों के आनेपर भी ध्यान से च्युत नहीं होते—

परीषदमहासेभ्यैरुपसर्गवर्जः क्वचित् । क्षलन्ति न मनाग्ध्यान्तावब्रीन्द्रद्वयनिश्चलाः ॥२४७२॥

अर्थ—मेरु पर्वत के समान निश्चल रहनेवाले वे मुनिराज परीषदों की महासेना तथा उपसर्गों के समूह आ जानेपर भी अपने ध्यानसे रंचमात्र भी कभी चलायमान नहीं होते हैं ॥२४७२॥

ध्यान रूपी रथमें कीनसे छोड़े जोतते हैं—

रागद्वेषहृयो दुष्टी नयस्तासुरपथं बलात् । सद्ध्यानरथमारमध्यानरत्ना स्थापयन्ति ते ॥२४७३॥

अर्थ—ये रागद्वेष रूपी छोड़े बड़े ही दुष्ट हैं, ये मनुष्यों को जबर्जस्ती कुमार्ग में ले जाते हैं, ऐसे इन छोड़ों को योगी पुरुष ही अपने आत्मध्यानरूपी लगाम से श्रेष्ठ ध्यानरूपी रथ में जोत देते हैं ॥२४७३॥

ध्यान रूप परमानन्द को पीने से क्षुधा तृषा को नहीं जानते—

पिबतः परमात्मोदयं ध्यानामन्वामृतं सदा । मुख्यवृथा न जानन्ति क्षुत्तृषादिपरीषहान् ॥२४७४॥

अर्थ—वे मुनिराज परमात्मा से उत्पन्न हुए ध्यानरूपी आनंदामृत को सदा पीते रहते हैं, इसलिये वे क्षुधातृषा आदि की परीषहों को मुख्यवृत्ति से कभी नहीं जानते ॥२४७४॥

श्रेष्ठ ध्यानरूपी नगर एवं उसके स्वामी का वर्णन—

जिनशासनभूमिस्थं चारित्रशीलवेष्ठितम् । विवेकगोपुराकीर्णजिनज्ञास्वातिका वृतम् ॥२४७५॥

गुप्तिवज्रकपाटसत्तपः सुभटपूरितम् । क्षमादिमंत्रिवर्गाढ्यसद्ज्ञानतलरक्षकम् ॥२४७६॥

सयसाराससीमान्तं ह्यगम्यं भंगवजितम् । कषायमदनारातिव्रजं पद्माक्षतस्करं ॥२४७७॥

साधुलोक भृतरम्यसद्ध्याननगरं परम् । अविष्ठितामहाशीलसन्नाह्यखिलवर्मिताः ॥२४७८॥

समतु भगजारूढा धैर्यचापकराकिताः । रत्नत्रयशरोपेताः मुनीन्द्रमुमटोत्तमाः ॥२४७९॥

अर्थ—वेखो यह श्रेष्ठ ध्यान एक उत्कृष्ट नगर है, यह नगर जिनशासन की भूमि पर बसा हुआ है, चारित्ररूपी परकोट से घिरा हुआ है, विवेकरूपी बड़े दरवाजों से सुशोभित है, भगवान् जिनेन्द्रवेष की आजारूपी खाई से वेष्ठित है, इसके गुप्तिरूपी वज्रमय किवाड़ हैं, श्रेष्ठ तपश्चरणरूपी योद्धाओं से यह भर रहा है, उत्तम क्षमा आदि मंत्रियों के समूह से यह सुशोभित है, सम्यग्ज्ञानरूपी कोतवाल इसकी रक्षा करते हैं, इसकी सीमा के अंत में संयमरूपी बगीचे लग रहे हैं, कषाय और कामरूपी शत्रुओं के समूह तथा पंचेन्द्रियरूपी चोर इसमें प्रवेश नहीं कर सकते, न इस नगर का भंग कभी हो सकता है, यह ध्यानरूपी नगर साधु लोगों से भरा हुआ है और परम मनोहर है, इस नगर के स्वामी वे ही मुनि होते हैं जो महाशीलरूपी उत्तम कवचों को सदा पहने रहते हैं जो समतारूपी ऊंचे हाथी पर सवरे रहते हैं, जिनके हाथ में धैर्यरूपी धनुष सदा सुशोभित रहता है तथा जो रत्नत्रयरूपी बाणों को धारण करते रहते हैं, ऐसे उत्तम सुभटरूपी मुनिराज इस श्रेष्ठ ध्यानरूपी नगर के राजा होते हैं ॥२४७५-२४७९॥

वे ध्यानरूपी नगरी के स्वामी मोहरूपी शत्रुको जीतकर मोक्ष साम्राज्य को प्राप्त करते हैं—

निःशंकगुणमाकृष्यदृग्वाविशरवर्धणैः । भोक्षराज्याय निधनन्तिससैर्यं भोहबिद्विषम् ॥२४८०॥

ततोहतमहामोहानिहूतकर्मशात्रवाः । व्रजन्ति मुक्तिसाम्राज्यं शाश्वतं ते सुरार्चिताः ॥२४८१॥

अर्थ—वे ध्यानरूपी नगर के स्वामी मुनिराज निःशंकरूपी डोरी को खींच कर रत्नत्रयरूपी बाणों की वर्षा करते हैं और भोक्षरूपी राज्यको प्राप्त करने के लिये समस्त सेना के साथ भोहरूपी शत्रु को मार डालते हैं । तदनंतर भोहरूपी महाशत्रु के मर जानेपर उन मुनियों के कर्मरूपी सब शत्रु नष्ट हो जाते हैं और वेधों के द्वारा पूज्य

वे मुनिराज सदाकाल रहनेवाले मोक्षरूपी साम्राज्यको प्राप्त कर लेते हैं । ॥२४८०-२४८१॥

मुनिराज को श्रमण आदि अनेक सार्थक नामों का स्वरूप—

अभयन्ति तपोभिर्ये स्वात्मानं श्रमणा हि ते । शमयन्तिकषायान् वा खानि ये तेषसंयताः ॥२४८२॥

अर्पयन्ति स्वकर्माणि शमयन्ति किसर्षयः । मन्यन्ते स्वपरार्थिनां सिद्धिं ये मुनयोव्रते ॥२४८३॥

मत्पार्थः पंचसद्वर्णार्थुता वा मुनयोऽब्रूताः ॥२४८४॥

साधयन्तिदूषादीनि ओणि ये तेषसाधयः । येषां न विद्यतेगारमनगारास्तएव हि ॥२४८५॥

येषां वीतोविनष्टो हि रागोदोषाखिलः समम् । वीतरागास्तेऽद्यात्र त्रिजगन्नाथपूजिताः ॥२४८६॥

अर्थ—वे मुनिराज तपश्चरण करके अपने आत्माको श्रम वा परिश्रम पहुँचाते हैं इसलिये वे श्रमण कहलाते हैं । वे कषाय तथा इन्द्रियों को शांत करते हैं इसलिये संयत कहलाते हैं । वे मुनिराज अपने कर्मों को अर्पण करते हैं, भगा देते हैं वा नष्ट कर देते हैं, इसलिये आषि कहे जाते हैं । वे सप्त ऋद्धियों को प्राप्त होते हैं इसलिये मर्हषि कहे जाते हैं । वे मुनिराज अपने आत्मा का अथवा ग्रन्थ पदार्थों का मनन करते हैं इसलिये मुनि कहलाते हैं अथवा मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि पाँचों ज्ञानों से वे सुशोभित रहते हैं इसलिये भी वे मुनि कहलाते हैं । वे मुनिराज सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय को सिद्ध करते हैं इसलिये साधु कहे जाते हैं । उनके रहने का कोई नियत स्थान नहीं रहता इसलिये वे अनगार कहलाते हैं । उनके रागद्वेष आदि समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं इसलिये वे वीतराग कहलाते हैं और तीनों लोकों के इन्द्र उनकी पूजा करते हैं । ॥२४८२-२४८६॥

वीतरागी के ध्यान की सिद्धि एवं रागी के ध्यानकी सिद्धि का अभाव—

इतिसार्थकनामाप्तवीतरागतपस्विनाम् । ध्यानिनां परमाध्यानशुद्धिर्न रागियोगिनाम् ॥२४८७॥

अर्थ—इसप्रकार अनेक सार्थक नामों को धारण करनेवाले वीतराग ध्यानी तपस्वियों के परम ध्यानकी शुद्धि होती है, रागी मुनियों के ध्यानकी सिद्धि कभी नहीं हो सकती ॥२४८७॥

दशों शुद्धियों की उपसंहारात्मक महिमा—

इतिजिनमुखजाता ये श्र शुद्धिर्दशैव ह्यशुभसकलहंत्रोस्वर्गमोक्षाधिकर्षा ।

परम चरणमर्शपालमन्त्यात्मशुद्धयं रहितविधिमलागास्तेऽचिरात्सुर्महान्तः ॥२४८८॥

अर्थ—इसप्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रगट हुई ये दस शुद्धियां

समस्त अशुभों को नाश करनेवाली हैं और स्वर्गमोक्ष की देनेवाली हैं । जो महापुरुष अपने आत्माको शुद्ध करने के लिये प्रयत्नपूर्वक धारण किये हुए परम चारित्र्य के द्वारा इन वशों शुद्धियों को पालन करते हैं, वे बहुत ही शीघ्र कर्ममल कलंक से सर्वथा रहित हो जाते हैं ॥२४८८॥

मुनियों की श्रेष्ठ भावनाओं की महिमा —

एता मुक्तिवधूस्खोश्चपरमानागरसद्भावना ये शृण्वन्ति च भावयन्ति निपुणाः शक्त्याचरन्त्युद्यताः ।
ते तद्धर्मवशाज्जगत्त्रयवरसर्वार्थसिद्धिधादिजं भुक्त्वा सोऽयमनारतसुतपसामुक्तिप्रधान्तिकमात् ॥

अर्थ—ये मुनियों की श्रेष्ठ भावनाएं सर्वोत्कृष्ट हैं और मोक्षरूपी स्त्री की सखी हैं । जो चतुर मुनि इनको सुनते हैं, इनका चितवन करते हैं और उद्योगी बनकर अपनी शक्ति के अनुसार इनका पालन करते हैं, वे उस धर्म के निमित्त से तीनों लोकों में श्रेष्ठ ऐसे सर्वार्थसिद्धि आदि के सुखों को निरंतर भोगते रहते हैं और फिर अंतमें श्रेष्ठ तपश्चरण धारण कर मोक्ष में जा विराजमान होते हैं ॥२४८९॥

अन्तमें सम्पूर्ण भावनाएं एवं आत्मशुद्धि प्राप्ति की याचना—

ये सर्वे जितनायिकाश्च परयाशुद्ध्यावभूवुः पुरा,
सिद्धाश्च तद्विजितानिरूपमाः प्राप्ताः शिवस्त्वोपराम् ।
येनागारसुभावनारतमहायोगास्त्रिधासाधवः ते,
स्तुत्याममभावनाश्च सकलाः शुद्धीः प्रवक्ष्यन्मिमाः ॥२४९०॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाव्ये महाग्रंथे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते
अनारभावाभा वर्णनो नामाष्टमोधिकारः ।

अर्थ—पहले समय में आज तक जितने तीर्थंकर हुए हैं, वे सब इन परम शुद्धियों से ही हुए हैं तथा उपमा रहित अनंत सिद्ध हुए हैं और उन्होंने जो सर्वोत्कृष्ट मोक्ष स्त्री प्राप्त की है, वह भी सब इन परम शुद्धियों का ही फल समझना चाहिये । इसीप्रकार आचार्य उपाध्याय साधु भी जो महा योगीश्वर कहलाते हैं वे भी मुनियों की इन भावनाओं में लीन होने से ही महा योगीश्वर कहलाये हैं । इसलिये मैं इन अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधुओं की स्तुति करता हूं, ये पांचों परमेष्ठी अपनी सब भावनाएं मुझे प्रदान करें तथा अपनी समस्त आत्मशुद्धि प्रदान करें ॥२४९०॥

इसप्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके महाग्रन्थ में मुनियों की भावनाओं की निरूपण करनेवाला यह आठवां अधिकांश समाप्त हुआ ।

नवमोधिकारः

मंगलाचरण

सिद्धान्तसमयादीनां प्रणेतृन्परमेष्ठिनः । त्रिजगत्सायपूज्यां प्रीनुष्येत्तद्गुणसिद्धये ॥२४६१॥

अर्थ—जो पांचों परमेष्ठी सिद्धान्त और समय आदि को निरूपण करनेवाले हैं और तीनों लोकों के इन्द्र जिनके चरण कमलों को नमस्कार करते हैं ऐसे पांचों परमेष्ठियों को मैं उनके गुण प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूँ ॥२४६१॥

समयसार अध्याय के कथन की प्रतिज्ञा—

अथाखिलागमस्यात्रदर्शनज्ञानयोः परः । चारित्र्यतपसो सारभूतः श्रीजिनभाषितः ॥२४६२॥

महान् यो ग्रंथसारः समयसाराभिधः सताम् । सर्वार्थसिद्धिवोवक्ष्येसमासेनतभूजितम् ॥२४६३॥

अर्थ—यह समयसार नामका महा ग्रंथ (अध्याय) सब ग्रंथों का सारभूत है, समस्त आगम का सार है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का सार है, चारित्र्य और तपश्चरण का सार है, सबका सारभूत है, भगवान् जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ है, सर्वोत्कृष्ट है और सज्जनों को समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि करनेवाला है इसलिये अब मैं उसको संक्षेप से कहता हूँ ॥२४६२-२४६३॥

कौन मुनि शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है—

द्रव्यशुद्धिपरां क्षेत्रकालशुद्धी च निर्मले । भावशुद्धि समाश्रित्य दृढसंहननं परम् ॥२४६४॥

चारित्र्येयततेनित्यदर्शनज्ञानपूर्वके । यस्तपस्वी विरागी स निर्वाणलभतेचिरात् ॥२४६५॥

अर्थ—जो वीतराग तपस्वी निर्मल द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि का आश्रय लेकर तथा उत्कृष्ट दृढ़ संहननों का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक चारित्र्य के धारण करने में सदा प्रयत्न करता रहता है, वह मुनि शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥२४६४-२४६५॥

चारित्र्य के बिना कोई शुद्ध नहीं हो सकता—

धीरोवैराग्यसम्पन्नः शिक्षित्वास्तोकभागमम् । चारित्र्याचरणस्तस्यगृष्टिः शुद्धयति नापरः ॥६६॥

वैराग्यवर्जितो ज्ञानी पठित्वा सकलागमम् । चारित्र्यविकलो जातु न शुद्धयति विद्येर्जनात् ॥६७॥

अर्थ—जो धीर वीर और वैराग्य को धारण करनेवाला सम्यग्दृष्टि थोड़ा सा आगम भी पढ़कर चारित्र्य का पालन करता है वह पुरुष उस चारित्र्य को पालन करने से ही शुद्ध होता है, बिना चारित्र्य के कोई भी मनुष्य शुद्ध नहीं हो सकता । जो ज्ञानी पुरुष वैराग्य से रहित है वह समस्त आगम को पढ़कर भी यदि चारित्र्य धारण न करे तो वह कर्म के बंधन से कभी शुद्ध नहीं हो सकता ॥२४६६-२४६७॥

मुनि धर्म के पालने योग्य क्रियाओं की प्रेरणा—

भिक्षां चर वसारण्ये स्तोत्रं स्वादातिगंजिम् । माषिधेहि वृथासारं बहुजल्पनमात्मवान् ॥२४६८॥

सहस्वसकलं दुःखं जयनिद्रां च भावय । मैत्रीं च सुष्ठुवैराग्यं कुरुकृत्यं वृथाप्यते ॥२४६९॥

एकाकीध्यानसंज्ञो नो निष्कषायोऽपरिग्रहः । निष्प्रभावो निरासम्भो जितासा भवसन्मुने ॥२४७०॥

अर्थ—अतएव हे मुने ! तू भिक्षावृत्ति धारण कर, वनमें निवास कर, स्वाद-रहित थोड़ा भोजन कर तथा व्यर्थ और असारभूत बहुत सी शकवाद मत कर । हे आत्मा के स्वरूप को जानने वाले तू सब दुःखों को सहन कर, निद्रा को जीत, मैत्री भावना को चिंतन कर, उत्कृष्ट वैराग्य धारण कर, जो कुछ कर वह धर्म की प्राप्ति के लिये कर, एकाकी होकर ध्यान में लीन हो, कषायरहित हो, परिग्रह रहित हो, प्रभाव रहित हो, आलंबन या किसी के आश्रय से रहित हो और जितेन्द्रिय बन । ॥२४६८-२४७०॥

चित्त की एकाग्रता धारण करने की प्रेरणा—

निस्सगस्तत्त्वविलोक्यव्यवहारान्तिगोयते । सर्वकाप्रस्थचित्तस्त्वं वृथा सत्कल्पनं च किम् ॥२४७१॥

अर्थ—हे मुने ! तू समस्त परिग्रहों से रहित हो, तत्त्वों का जानकार बन, लोकव्यवहार से दूर रह और चित्त की एकाग्रता धारण कर । क्योंकि व्यर्थ की अनेक कल्पनाएं करने से क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥२४७१॥

चारित्र्य सहित अल्प ज्ञान सिद्धि का कारण एवं चारित्र्य रहित बहुज्ञान भी मुक्ति प्रदाता नहीं—

यो योगी बृद्धचारित्र्यपठित्वाल्पजिज्ञासुः । वशपूर्वधरं सोम्यं जयेन्मुक्त्या विसाधनात् ॥२४७२॥

चारित्र्यरहितो योऽत्र श्रुतेन बहुवापि किम् । साध्यं तस्य यतो नूनं मज्जनं भवचारिणौ ॥२४७३॥

अर्थ—जो योगी बृद्ध चारित्र्य को धारण करता है वह थोड़े से आगम को भी पढ़कर जानकार ऐसे अन्य मुनि को स्वर्गमोक्ष को सिद्ध करने के कारण वस पूर्व के जानकार को भी जीत लेता है । जो पुरुष चारित्र्य रहित है वह यदि बहुत से श्रुतज्ञान

को पड़ले तो भी उससे कोई लाभ नहीं होता क्योंकि बिना चारित्र के वह संसाररूपी समुद्र में ही डूबता है ॥२५०२-२५०३॥

मृतिराज कैसे संसार समुद्र से पार होते हैं—

ज्ञाननिर्जोर्विकेनाध्यानवातेन धीधनाः । चारित्रपोतमारुह्यस्तरन्त्याशुभवारणवम् ॥२५०४॥

अर्थ—जो बुद्धिमान् पुरुष चारित्ररूपी जहाज पर सवार हो जाते हैं वे ज्ञान-रूपी पतवार से और ध्यानरूपी वायु से बहुत ही शीघ्र संसाररूपी समुद्र के पार हो जाते हैं ॥२५०४॥

ज्ञान, ध्यान, संयम के कार्य का निर्देश—

ज्ञानं प्रकाशकं विश्व तत्त्वात्त्वादिकर्मणाम् । दुष्कर्मनाशकं ध्यानं संयमः संवरप्रदः ॥२५०५॥

अर्थ—ज्ञान समस्त तत्त्वों को, अतत्त्वों को और कर्मों को प्रकाशित करता है तथा ध्यान अशुभ कर्मों का नाश करता है और संयम आते हुए कर्मों को रोकता है । ॥२५०५॥

ज्ञान, ध्यान, संयम की एकता होनेपर नियम से मोक्ष होता है—

संयोगेऽस्य मोक्षां च त्रयाणां स्यान्महामुनेः । जिनेन्द्रशासने मोक्षो नाप्यथाभवकोटिभिः ॥२५०६॥

अर्थ—यदि किसी महा मुनि के ज्ञान ध्यान और संयम इन तीनों का एक साथ संयोग हो जाय तो भगवान् जिनेन्द्रदेवके शासन में उसी मुनि को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है बिना इन तीनों के मिले करोड़ों भवों में भी कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥२५०६॥

चारित्रादिक के बिना जिनलिंग धारण करना व्यर्थ है—

चारित्रवर्जितम् ज्ञानं लिंगग्रहणमूर्जितम् । विधासंयमहीनं च तपोदर्शनदूरगम् ॥२५०७॥

योजः करोति कुर्यात् स केवलं हि निरर्थकम् । यतो न निर्जरा मोक्षो नास्य कर्माजिवात्स्वचित् ॥

अर्थ—जो अज्ञानी चारित्रहीन ज्ञानको धारण करता है और दोनों प्रकार के संयम से रहित तथा तप और सम्यग्दर्शन से रहित उत्कृष्ट जिन लिंग धारण करता है वह निरर्थक ही जिन लिंग धारण करता है क्योंकि बिना चारित्र के निरंतर कर्मों का आस्रव होता रहता है इसलिये उनके न तो कर्मोंकी निर्जरा हो सकती है और न मोक्ष हो सकती है ॥२५०७-२५०८॥

उत्कृष्ट ध्यान करने की प्रेरणा—

सत्त्वैश्याध्यानचारित्र्यविशेषस्तपसा सताम् । सद्गतिः स्याच्छ्वतेभ्योऽपि ध्यानं कार्यबुधः परम् ॥६॥

अर्थ—उत्तम, शुभ लेश्या, ध्यान और चारित्र्य की विशेषता से तथा तपश्चरण से सज्जनों को श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है तथा उनमें भी बुद्धिमानों को उत्कृष्ट ध्यान ही करना चाहिये ॥२५०६॥

सम्यग्ज्ञान एवं व्रतादिक के लिये सम्यग्दर्शन मूल कारण—

सम्यक्त्वाज्जायते ज्ञानं ज्ञानात्सर्वार्थदर्शिनी । उपलब्धिः पदार्थानां सर्वेषां स्वपरात्मनाम् ॥२५१०॥

उपलब्धपदार्थोशीधेयोश्चेत्येष वेत्ति वै । श्रेयोश्चेयोर्बन्धेस्तोऽबुद्धः शीलः सुशीलवान् ॥२५११॥

शीलेनाभ्युदयः सर्वस्तलोमोक्षलमेत सः । अतो ज्ञानव्रतावीनां सम्यक्त्वमूलमुच्यते ॥२५१२॥

अर्थ—देखो सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, सम्यग्ज्ञान से समस्त पदार्थों को दिखलाने वाली स्वकीय और परकीय समस्त पदार्थों की उपलब्धि प्राप्त होती है । जिसको समस्त पदार्थों की उपलब्धि प्राप्त हो जाती है वह मनुष्य अपने कल्याण-अकल्याण को जान लेता है । तथा कल्याण-अकल्याण को जान लेने से शील रहित मनुष्य भी शीलवान बन जाता है । शील पालन करने से सब तरह के अभ्युदय प्राप्त हो जाते हैं तथा अभ्युदय प्राप्त होने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है । अतएव कहना चाहिये कि सम्यग्ज्ञान और व्रतादिकों के लिये सम्यग्दर्शन ही मूल कारण है ॥२५१०-२५१२॥

ज्ञानकी अपेक्षा सम्यग्चारित्र्य प्रधान है—

कृत्स्नं चापि श्रुतज्ञानं पठितं सुष्ठुसंश्रितम् । गुणितं भ्रष्ट चारित्र्यं ज्ञानवन्तं यति क्वचित् ॥२५१३॥

सद्गतिनेतुमस्यर्थं न समर्थं भवेद्भूवान् । अतो ज्ञानात्प्रधानत्वं चारित्र्यविद्धिमोक्षदम् ॥२५१४॥

अर्थ—जिस किसी यति ने सम्पूर्ण श्रुतज्ञान पढ़ लिया है तथा अच्छी तरह उसको धारण कर लिया है, मनन कर लिया है तो भी चारित्र्य से भ्रष्ट उस ज्ञानी पुरुष को श्रेष्ठ गति में पहुँचाने के लिये आप कभी समर्थ नहीं हो सकते । अतएव हे मुने ! ज्ञानकी अपेक्षा तू सम्यक्चारित्र्य को ही प्रधान समझ । क्योंकि यह निश्चित है कि मोक्ष सम्यक्चारित्र्य से ही प्राप्त होती है ॥२५१३-२५१४॥

चारित्र्य नहीं पालन करनेवाले का श्रुतज्ञान निष्फल है—

यदिप्रबोपहस्तो यः पतेत्कूपेप्रमाववान् । तस्यबोपफलं किम्यात्किंचिदपि भूतले ॥२५१५॥

शिक्षित्वायोलिलं ज्ञानं यदि चारित्रमंजसा । पालयेन्नात्र किं तस्य भुतज्ञानफलंभुवि ॥२५१६॥

अर्थ—जो कोई प्रमादी मनुष्य हाथ में दीपक लेकर भी कुएँ में पड़ जाय तो फिर उसने उस दीपक का फल ही क्या पाया अर्थात् इस लोक में उसे दीपक का फल कुछ नहीं मिला । इसी प्रकार जो मनुष्य समस्त ज्ञान को पढ़कर भी यदि चारित्र्य को पालन नहीं करता है तो समझना चाहिये कि उसे इस संसार में भुतज्ञान का फल कुछ नहीं मिला ॥२५१५-२५१६॥

उद्गमादि दोषों से रहित उपकरणादि ग्रहण करनेवाले के ही शुद्ध चारित्र्य होता है—

पिण्डं वसतिकां ज्ञानसंयमोपधिमात्मवात् । उद्गमोत्पादनादिभ्योदोषेभ्यःप्रत्यहं सुधीः ॥२५१७॥

शोधयेद्योतिनिर्दोषचारित्रशुद्धयेमुनिः । विशुद्धं तस्य चारित्रंजायते शिवकारणम् ॥२५१८॥

अर्थ—जो आत्मा के स्वरूप को जाननेवाला बुद्धिमान् अपने निर्दोष चारित्र्य को सिद्ध करने के लिये आहार वसतिका ज्ञानोपकरणा और संयमोपकरणों को उद्गम उत्पादन आदि दोषों से प्रतिदिन शुद्ध करता है, आहार भी निर्दोष ग्रहण करता है तथा उपकरणों के ग्रहण में भी कोई दोष नहीं लगाता उसी मुनि के मोक्ष का कारण ऐसा अत्यन्त शुद्ध चारित्र्य होता है ॥२५१७-२५१८॥

जितलिंग के चिह्न निर्देश—

पूर्णमचेतकत्वं च लोचोर्वराग्यवर्द्धकः । सर्वसंस्कारहीनापराभ्युत्सुष्टशरीरता ॥२५१९॥

प्रतिलेखनमित्येषलिंगकल्पश्चतुर्विधः । जिनेन्द्रलिंगिनां व्यक्तो लोकेसंवेगसूचकः ॥२५२०॥

अर्थ—पूर्णरूप से जगन्ता धारण करना, वैराग्य को बढ़ाने वाला केशलोच करना, सब तरह के संस्कारों से रहित शरीर से भी निर्ममता धारण करना और प्रतिलेखन के लिये पीछी धारण करना ये चार लिंगकल्प कहे जाते हैं, ये चारों ही भगवान् जिनेन्द्रदेव के लिंग को प्रगट करते हैं और लोक में वैराग्य के चिह्न हैं ॥२५१९-२५२०॥

मयूर पिच्छ के ५ गुणों का निर्देश—

रजःप्रस्वेदयोःसुष्ट्वग्रहणंमृदुतापरा । सौकुमार्यं लघुत्वं च यत्रपंचगुणाहमे ॥२५२१॥

सन्ति मयूरपिच्छेप्रतिलेखनसूजितम् । तं प्रशंसन्तितीर्थशास्त्रार्थयोगिनां परम् ॥२५२२॥

अर्थ—जिसपर न तो धूल लग सके, न पसीना लग सके, जो अत्यन्त कोमल हो, सुकुमार हो और छोटी हो, ये पांच गुण जिसमें हों वही प्रतिलेखन उत्तम गिना

जाता है । ये पाँचों गुण मयूरपिच्छ में हैं इसलिये भगवान् जिनेन्द्रदेव जीवों की दया पालन करने के लिये मुनियोंको मयूरपिच्छ की पीछी की ही प्रशंसा करते हैं ॥२५२१-२५२२॥

निर्ग्रन्थ मुनि कैसे प्रतिलेखन को ग्रहण करें—

प्रक्षिप्तं चक्षुषोर्यज्जमनाक्षपोडां करोति न । निर्ग्रन्थेनिर्भयंरम्यं तद्ग्राह्यं प्रतिलेखनम् ॥२५२३॥

अर्थ—जिसको आँख में डाल देने पर भी रंचमात्र पीड़ा न हो वही निर्भय और मनोहर प्रतिलेखन निर्ग्रन्थ मुनियों को ग्रहण करना चाहिये । (जिसके रखने में कोई भय न हो मूठ में सोना चाँदी न लगा हो उसको निर्भय कहते हैं ।) ॥२५२३॥

प्रतिलेखन [पिच्छी] के अभाव में हिंसा से निवृत्ति नहीं हो सकती—

उत्थायशयनाव्रात्रौ विनात्रप्रतिलेखननात् । कृत्वाप्रसन्नवर्णाशौचपुनः स्वपन्वज्रन्भुवि ॥२५२४॥

उद्वर्तनपरावर्तनानि कुर्वन्गोचरे । नेत्राणां वा यतिः सुप्तो जीवघातं कथं त्यजेत् ॥२५२५॥

अर्थ—यदि मुनि के पास प्रतिलेखन वा पीछी न हो तो जब कभी रात्रि में वह अपनी शय्या से उठेगा, सूत्र की बाधा दूर करने जायगा, फिर आकर सोवेगा, चलेगा, किसी पुस्तक कर्मडलु आदि को उठावेगा, रखेगा, उठेगा, कर्वट बदलेगा अथवा ये सब क्रियाएँ न भी करे तो भी नेत्र से न दिखने वाले स्थान में सोवेगा, इन सब क्रियाओं में वह यति बिना पीछी के जीवों के घात को कैसे बचा सकेगा । अर्थात् मुनि के पास पीछी हर समय होनी चाहिये, बिना पीछी के जीवों की हिंसा का त्याग हो ही नहीं सकता ॥२५२४-२५२५॥

मुनियों का खास चिह्न पिच्छी है—

भत्वेति कार्तिकेमासि कार्यं सप्रतिलेखनम् । स्वयंपतितपिच्छानां तिरचिह्नं च योगिभिः ॥२६॥

अर्थ—अतएव मुनियों को कार्तिक महीने में स्वयं गिरे हुए पंखों की पीछी बनानी चाहिये क्योंकि यह मुनियों का खास चिह्न है ॥२५२६॥

कायोत्सर्गादि करते समय पिच्छी से प्रमार्जन करना चाहिये—

असने शयनेस्थाने व्युत्सर्गेगमनादिके । ग्रहणे स्थापने ज्ञानशीलोपकरणात्मनाम् ॥२५२७॥

उद्वर्तनपरावर्तनांगकंक्षुधनादिषु । कृपयायतनतः कार्यदृष्टिपूर्वंप्रमार्जनम् ॥२५२८॥

अर्थ—मुनियों को सोते समय, बैठते समय, खड़े होते समय, कायोत्सर्ग करते समय, गमनागमन करते समय, ज्ञानोपकरण वा शौचोपकरण के उठाते रखते समय,

उठते समय, कर्बट खलते समय और खुजाते समय कृपापूर्वक प्रयत्नपूर्वक, आंख से देखकर पीछी से प्रमार्जन करना चाहिये ॥२५२७-२५२८॥

अशुद्ध आहार को ग्रहण करनेवाला मुनि मूल स्थान को प्राप्त होता है—

यो विशोध्यमुनिभुङ्क्तेपिण्डापध्याश्रयाधिकान् । मूलस्थानं स एवाप्तो यतित्वगुणद्वरगः ॥२५२९॥

अर्थ—जो मुनि आहार के आश्रित रहनेवाले पदार्थों को (आहार को वा उच्चासन आदि को) बिना शुद्ध किये आहार ग्रहण कर लेता है, वह मुनि मुनिपने के गुणों से बहुत दूर रहता है तथा मूल स्थान को प्राप्त होता है (उसे फिर से दीक्षा देनी चाहिये ।) ॥२५२९॥

अशुद्ध आहार ग्रहण करनेवाले के अन्य संयमादिक क्रिया व्यर्थ है—

पिण्डोपध्यादिशुद्धिपोऽकुत्वातिमूढमानसः । कायक्लेशं तपः कुर्याच्चिरप्रबुजितोपिसन् ॥२५३०॥

तस्यसंयमहीनं तत्तपो व्यर्थयमादि च । न चारित्र्यं क्रियाश्रेष्ठा नस्यात्पापास्त्रिवाद्बुधा ॥२५३१॥

अर्थ—जो अज्ञानी मुनि चिरकाल का वीक्षित होकर भी आहार ग्रहण करने की सामग्री को बिना शुद्ध किये कायक्लेश तपश्चरण को करता है, उसका वह तपश्चरण संयम रहित कहलाता है और इसीलिये वह व्यर्थ है । इसीप्रकार उस मुनि के किये हुये यम नियम चारित्र्य भी सब व्यर्थ समझने चाहिये । उसकी कोई भी क्रिया श्रेष्ठ नहीं कही जा सकती । क्योंकि संयम हीन मुनि के सदा पापकर्मों का आश्रय होता रहता है और इसीलिये उसकी सब क्रिया व्यर्थ हो जाती है ॥२५३०-२५३१॥

मूलगुण रहित उत्तरगुण फल प्रदाता नहीं—

छिन्वामूलगुणानाद्यान्ख्यातिपूजादिहेतुना । वृक्षमूलावियोगान् यो बाह्यान् गृह्णातिबुद्धरान् ॥

तस्योत्तरगुणाः सर्वमूलहीना द्रुमा इव । समीहितफलं किं ते करिष्यन्ति जगत्त्रये ॥२५३२॥

अर्थ—जो मुनि अपनी कीर्ति के लिये अथवा अपना बड़प्पन वा पूज्यपना बिखलाने के लिये महाव्रतरूप मूलगुणों का तो भंग कर देता है और वर्षाऋतु में वृक्षके नीचे योषधारण करना आदि अत्यन्त कठिन बाह्य तपश्चरणों को धारण करता है, उसके मूलगुण रहित उत्तरगुण ऐसे ही समझने चाहिये जैसे बिना जड़के वृक्ष होता है । जिसप्रकार बिना जड़ का वृक्ष न ठहर सकता है, न बढ़ सकता है और न फल सकता है उसी प्रकार मूलगुण रहित उत्तरगुण तीनों लोकों में कभी इच्छानुसार फल नहीं दे सकते ॥२५३२-२५३३॥

अप्रासुक आहार ग्रहण करनेवाला मुनि मोक्ष का इच्छुक नहीं वह अधम है—

हृत्वाप्राणान् ग्रहन् कुर्यात्वात्मनो यो महाबलम् । अप्रासुकं सुखाकांक्षी मोक्षाकांक्षी न स क्वचित् ॥
एकद्वित्रिभृगावींश्च सिंहव्याघ्रादिकोत्र यः । निहत्य खाद्येत्पापी नीच स कथ्यते यदि ॥२५३५॥
यो मुनिः प्रत्यहं हृत्वा बह्वंशस्थावरजसान् । भक्षयेत्स कथं पापी नीचो वा नाधमो भवेत् ॥२५६॥

अर्थ— जिसप्रकार कोई मनुष्य अनेक प्राणियों को मारकर अपने को महाबली प्रगट करता है उसीप्रकार अप्रासुक पदार्थों को ग्रहण करनेवाला मुनि सुख को चाहने वाला कहा जाता है, वह मोक्षको चाहने वाला कभी नहीं कहा जा सकता । देखो सिंह व्याघ्र आदि जीव एक दो तीन चार आदि हिरण वा अन्य पशुओं को मारकर खा जाता है इसलिये वह पापी और नीच कहलाते हैं । इसीप्रकार जो मुनि बिना शुद्ध किया हुआ आहार ग्रहण करता है अर्थात् अनेक व्रत, स्थावर जीवों की हिंसा कर आहार ग्रहण करता है, वह क्यों नहीं पापी, नीच और अधम कहलावेगा अर्थात् अवश्य कहलावेगा । ॥२५३४-२५३६॥

आरम्भ से होने वाले दोष—

आरंभाज्जीवराशोनां वधोवधावधंसहत् । अद्याहं भो भवेत्स्वस्य दुर्गतीतीव्रदुःखदः ॥२५३७॥

अर्थ—और देखो आरंभ करने से जीवराशियों की हिंसा होती है, हिंसा होने से महापाप उत्पन्न होता है और उस महापाप से अपने ही आत्मा को नरकादिक दुर्गतियों में तीव्र दुःख देनेवाला कर्मबंध होता है ॥२५३७॥

हिंसा त्याग की प्रेरणा—

तस्मादात्मा न हंतव्यः स्वयं स्वेन वधा विना । सेतप्राणिवधो नित्यं मोक्तव्यो यत्नतो बुधैः ॥२५३८॥

अर्थ—इसलिये बुद्धिमानों को जीवों की हिंसा करके अपने आत्मा की हिंसा नहीं करनी चाहिये और इसके लिये प्रयत्न पूर्वक सदा के लिये प्राणियों की हिंसा का त्याग कर देना चाहिये ॥२५३८॥

अधःकर्म दोषयुक्त आहार करनेवाले मुनि के तपश्चरण निरर्थक है—

ये स्थानमीनवीरासनाद्या हि दुष्कराः कृताः । आतापनाधियोगाश्च सवृध्यानाध्ययनादयः ॥२५३९॥
षष्ठाष्टमादिमासान्ताडपशासाद्यालवात् । सर्वे निरर्थकानूनमथःकर्मासंसेविनाम् ॥२५४०॥

अर्थ—जो मुनि अधःकर्म नामके दोष से दूषित आहार को ग्रहण करते हैं, वे चाहे कायोत्सर्ग धारण करें, चाहे मीन धारण करें, चाहे वीरासन धारण करें, चाहे

आतापन आदि कठिन-कठिन योग धारण करें, चाहे श्रेष्ठ ध्यान और अध्ययन आदि शुभ कार्यों में लगे रहें और चाहे वेला सेला करें, पन्द्रह दिन वा महीने भरका उपवास करें, परन्तु उनके सवा पापकर्मों का ही आखव होता रहता है, इसलिये उनका सब तपश्चरण निरर्थक ही समझना चाहिये ॥२५३६-२५४०॥

पंच पापके त्याग बिना वस्त्र त्याग निष्फल—

यथोत्सृजति रौद्राहिः कंचुकं न विषं तथा । कश्चित्साधुस्त्यजेद्वस्त्रं पंचसूना न संदधीः ॥२५४१॥

अर्थ—जिसप्रकार दुष्ट सर्प कांचली को छोड़ देता परन्तु विषको नहीं छोड़ता उसीप्रकार कोई-कोई साधु वस्त्रों का त्याग तो कर देते हैं परन्तु वे मूल पंचपापों का त्याग नहीं करते ॥२५४१॥

हिंसा करनेवाले पंच पाप का निर्देश—

उखलस्तथा चुल्हीप्रेषणी च प्रमाजिनी । उक्कुम्भः इमाः पंचसूनाः सत्त्वक्षयकराः ॥२५४२॥

अर्थ—चक्की, ऊखली, चूली, बुहारी और पानो रखने का परंदा ये पांच अनेक जीवों की हिंसा करनेवाले पंच पाप कहलाते हैं ॥२५४२॥

इन पापों की अनुमोदनादि करनेवाले की दीक्षा व्यर्थ है—

आसुप्रवर्तते योऽधीः कृतकारितमोदनैः । सुस्वादाभायतस्माहो वृथा दीक्षावुरात्मनः ॥२५४३॥

अर्थ—जो मूर्ख मुनि अपने स्वादिष्ट अन्न के लिये कृत कारित अनुमोदना से इन पंचपापों में अपनी प्रवृत्ति करते हैं, उन दुष्टों की दीक्षा लेना भी व्यर्थ समझना चाहिये ॥२५४३॥

कौन श्रावक उभय लोक में भ्रष्ट माना जाता है—

योधः कर्मादिनिष्पन्नं भुङ्क्ते न्मरसनाधधीः । जडो विराधनां कृत्वा षड्धीमानां च घातनम् ॥४४॥

श्रावकः सोधमोजातः पापारम्भप्रवर्तनात् । उभयभ्रष्टतामाप्नोवात् पूजादिवर्जनात् ॥२५४५॥

अर्थ—जिह्वा इन्द्रिय की लंपटता के कारण अंधा हुआ जो मूर्ख श्रावक छहों प्रकार के जीवों की विराधना करके वा छहों प्रकार के जीवों का घात करके अधःकर्म से उत्पन्न हुए अन्नको भक्षण करता है वह पापारंभ में प्रवृत्ति करने के कारण अधम कहलाता है और उस द्रव्यसे वह दान पूजा करने का भी अधिकारी नहीं रहता इसलिये वह इस लोक और परलोक दोनों लोकों से भ्रष्ट गिना जाता है ॥२५४४-२५४५॥

अधःकर्म दोष को करनेवाला मुनि उभय लोक में भ्रष्ट है—

पचनेपाचनेभानांसवानुमनने शठः । वसंतेवाङ्मनःकार्यस्तस्माद्योत्रविमेति न ॥२५४६॥

मिथ्यादृष्टिः स मन्तव्यो विरुद्धाचरणाद्भुवि । न तस्य येह लोकोस्ति कुर्कोतिवर्तनात् क्वचित् ॥

परलोकों न जायेत संयमाचरणाद्विना । किन्तु स्याद्गुंती नूनं गमनं व्रतभंगतः ॥२५४७॥

अर्थ—जो मूर्ख मन-वचन-कायसे अधःकर्म पकाने, पकवाने वा अनुमोदना करने में प्रवर्त होते हैं, इन ऊपर लिखे पंचपापों से नहीं डरते उनको मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिये । क्योंकि वे विरुद्ध आचरणों को ही धारण करते हैं और इसीलिये इस लोक में भी उनकी अपकीर्ति फैल जाने के कारण उनका यह लोक भी बिगड़ जाता है तथा संयमरूप आचरण धारण न करने के कारण उनका परलोक भी बिगड़ जाता है । इस प्रकार उनके दोनों लोक बिगड़ जाते हैं और व्रतभंग होने के कारण वे नरकादिक दुर्गति में अवश्य पहुंचते हैं ॥२५४६-२५४७॥

प्रायश्चित्त लेकर पुनः अधःकर्म दोष करनेवाले के तप व्यर्थ है—

प्रायश्चित्तं विधायोर्च्योभुनक्ति पुनः शठः । अधःकर्मकृताहारं तस्य तद्विष्णुसं भवेत् ॥२५४८॥

अर्थ—जो मूर्ख अधःकर्म दोष से दूषित आहार ग्रहण करने के कारण प्रायश्चित्त ले लेते हैं और प्रायश्चित्त लेकर फिर भी अधःकर्मजन्य आहार को ग्रहण करते हैं, उनका भी वह सब तपश्चरण निष्फल समझना चाहिये ॥२५४८॥

कौन मुनि, मुनियों के गुणों से रहित है—

यः साधुर्यत्र देशावौ शुद्धेऽशुद्धेऽथ बोभयोः । आहारोपधिवासादि यथासंध्य निजेच्छया ॥२५५०॥

शुद्धं वा शुद्धमावत्तेष्वपरीक्षया विना । मुक्तोऽयतिगुणः सोऽपि प्रोक्तः संसारबद्धं कः ॥२५५१॥

अर्थ—जो मुनि शुद्ध वा अशुद्ध देश में अथवा शुद्ध-अशुद्ध मिले हुए देश में आहार उपकरण वसतिका आदि अपनी इच्छानुसार जैसा प्राप्त हो जाय चाहे वह शुद्ध हो वा अशुद्ध हो उसको ग्रंथ के समान बिना परीक्षा किये हुए ग्रहण कर लेता है, उसको भी मुनियों के गुणों से रहित ही समझ लेना चाहिये । उसको भगवान् जितेन्द्र-देव ने संसार को बढ़ाने वाला ही बतलाया है ॥२५५०-२५५१॥

कैसा आहार लेने पर मुनि शुद्ध व अशुद्ध होता है—

योऽनोधःकर्मजाहारे नित्यं परिणतः क्वचित् । प्राप्तेऽपि प्रासुके हारे बंधकः स हृदो भवेत् ॥२५५२॥

शुद्धं भृगयममाणो योऽस्मादि कृताविबूरगम् । अधःकर्मकृताज्ञाने क्वचिच्छुद्धो हृदोऽत्र सः ॥२५५३॥

अर्थ—जो मूर्ख प्रतिदिन अधःकर्म जन्य आहार को ग्रहण करता है उसे यदि किसी दिन प्रासुक आहार भी मिल जाय तो भी हृदय से वह कर्मों का बंध करनेवाला ही समझा जाता है । इसीप्रकार यदि कोई मुनि कृत कारित अनुमोचना से रहित शुद्ध आहार को दूँढ़ता है और दैवयोग से उसे अधःकर्म जन्य आहार मिल जाता है तो भी उसे हृदय से शुद्ध ही समझना चाहिये ॥२५५२-२५५३॥

शुद्ध भिक्षाचर्या की पहचान—

मूलोत्तरगुणेष्वत्र भिक्षाचर्योविताजिनैः । प्रक्षरा तां विना विश्वे ते कृताःस्फुर्निरर्थकाः ॥२५५४॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव के समस्त मूलगुण और उत्तरगुणों में भिक्षाके लिये चर्या करना ही उत्तमगुण माना जाता है, उस शुद्ध भिक्षाचर्या के बिना बाकी के समस्त गुण निरर्थक ही बतलाये हैं ॥२५५४॥

सदोष आहार का निषेध—

प्रत्यहं वरमाहारो भुक्तो दोषातिगः सताम् । पक्षमासोपवासादिपारणेदोषजो न च ॥२५५५॥

अर्थ—सज्जनों को दोषरहित प्रतिदिन आहार कर लेना अच्छा परंतु पन्द्रह दिन या एक महीने के उपवास के बाद पारणा के दिन सदोष आहार लेना अच्छा नहीं ॥२५५५॥

अभयदान की महिमा—

मृत्याविभयभीतानां सर्वथाखिलदेहिनाम् । द्वात्यभयवानं यस्तस्यैवसकला गुणाः ॥२५५६॥

अर्थ—जो मुनि मृत्यु के भयसे भयभीत हुए समस्त प्राणियों को अभय दान देता है, उसी के समस्त गुण अपने आप आ जाते हैं ॥२५५६॥

आचार्य रूपी वैद्य ही मुनिरूपी रोगी का इलाज करते हैं—

आचार्यो ज्ञानवान्वैद्यः शिष्यो रोगीविरक्तवान् । चमोषश्च निष्पापं क्षेत्रं सावद्यवजितम् ॥५७॥

वैद्यःवृत्त्यकराः साह्यकर्तारः परमानया । सामग्र्याकर्मवृत्त्यक्तं कुर्यात्सूरिमुं नि व्रतम् ॥२५५८॥

अर्थ—संघ में आचार्य तो महान्तानी वैद्य हैं, संसार से विरक्त हुआ शिष्य रोगी है, पापरहित चर्या ही औषधि है, पापरहित स्थान ही उसके लिये योग्य क्षेत्र है और वैद्यावृत्त्य करनेवाले उसके सहायक हैं । वे आचार्यरूपी वैद्य इस सामग्री से उस रोगी मुनिको कर्मरूपी रोग को नष्ट कर शीघ्र ही निरोग सिद्ध बना देते हैं ॥२५५७-२५५८॥

भिक्षाशुद्धि धारण करने की प्रेरणा—

भिक्षाशुद्धिं शुचयिषं धूमांशारमलोष्ठिकताम् । प्रागुक्त संबंधोपातीतां कुर्वन्तु पुमुक्षवः ॥२५५६॥

अर्थ—अतएव मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनियों को अपनी चर्या के लिये पहले कहे हुये समस्त दोषों से रहित तथा धूप अंगार आदि दोषों से रहित भिक्षाशुद्धि धारण करनी चाहिये ॥२५५६॥

जुगुप्सा का स्वरूप एवं अतिचारों की शुद्धि की प्रेरणा—

जुगुप्सा लीकिकी बाह्या व्रतभंगादिजापरा । लोकोत्तरा जुगुप्सातस्त्रिरसनशुद्धिहानिजा ॥२५६०॥

यतातिचारसंशुद्धिः प्रायश्चित्तादिनिन्दमेः । कर्तव्यास्वोत्तमाचारैर्लोकनिन्वाविहानये ॥२५६१॥

अर्थ—इस संसार में लौकिक घृणा तो बाह्य जुगुप्सा है व्रतों के भंग होने से उत्पन्न होनेवाली घृणा अंतरंग जुगुप्सा है और रत्नत्रय की शुद्धि की हानि होना लोकोत्तर जुगुप्सा है । मुनियों को लोक निंदा दूर करने के लिये प्रायश्चित्त धारण कर आत्मनिंदा कर तथा उत्तम आचरण पालन कर अपने व्रतों में लगे हुए अतिचारों की शुद्धि करनी चाहिये ॥२५६०-२५६१॥

लोकोत्तर निंदों के त्याग की प्रेरणा—

शंकादीन् दूरतस्त्यक्त्वा शुद्धि रत्नत्रये पराम् । कृत्वा लोकोत्तरानिन्दाहेयासंसारवर्द्धिनी ॥२५६२॥

अर्थ—मुनियों को शंकादिक दोषों का दूर से ही त्याग कर देना चाहिये और रत्नत्रय की परम विशुद्धि धारण कर संसार को बढ़ाने वाली लोकोत्तर निंदा का भी सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये ॥२५६२॥

मुनिको कैसा क्षेत्र छोड़ना चाहिये—

यत्रोत्पत्तिः कषायाणां यान्तिस्वप्नानिविक्रियाम् । दुर्जनाभक्तिहीनाश्च सन्त्युपद्रवराशयः ॥२५६३॥

जायन्ते द्वेषरागाद्याः विघ्नाध्यानाविकर्मणाम् । व्रतभंगश्चलं चित्तं तत्र क्षेत्रं वर्जयेद्यतिः ॥२५६४॥

अर्थ—जिस क्षेत्र में कषायों की उत्पत्ति हो, अपनी इन्द्रियां प्रचल हो जाय वा विकृत हो जाय जहांपर दुष्ट और भक्तिहीन मनुष्य रहते हों, जहांपर अनेक उपद्रव होते रहते हों, जहांपर रागद्वेष आदि दोष उत्पन्न होते रहते हों, जहांपर ध्यान अध्ययन आदि कार्यों में विघ्न उपस्थित होते हों, जहांपर व्रतों का भंग होता हो और जहांपर चित्त चंचल हो जाता हो ऐसा क्षेत्र मुनियों को छोड़ देना चाहिये ॥२५६३-२५६४॥

कैसे क्षेत्र में मुनिराज निवास करते हैं—

एकान्तेभिर्जनेस्थानैर्वैराग्यगुणवृद्धिषु । श्मशानाद्भिगुहावी च शून्यगोहे वनाविषु ॥२५६५॥

पशुस्त्रीबलीबुष्टादिहीनेशाम्ये शमप्रदे । क्षेत्रे वासं प्रकुर्वन्तिमुनयोध्यानसिद्धये ॥२५६६॥

अर्थ— मुनि लोग अपने ध्यान की सिद्धि के लिये एकांत और निर्जन स्थानमें वैराग्य गुण को बढ़ाने वाले, श्मशान पर्वत की गुफाएं सूने सकान और वन में अत्यन्त शांत और परिणामों को शांत करनेवाले तथा पशु स्त्री नपुंसक तथा दुष्ट जीवोंसे रहित क्षेत्र में निवास करते हैं ॥२५६५-२५६६॥

पुनः कैसे क्षेत्र में मुनि निवास नहीं करें—

नृपहीनं च यत्क्षेत्रं यत्र बुष्टो नृपो भवेत् । यत्र स्त्रीबासराराजा च तत्र वासो न युज्यते ॥२५६७॥

वीक्षाग्रहरणशीलाश्च यत्र सन्ति न धर्मिकाः । हानयः संयमादीनां स्यातन्त्र्यं तत्र नोर्जितं ॥६८॥

अर्थ—जिस क्षेत्र में कोई राजा न हो, जहां का राजा दुष्ट हो और जहांपर स्त्री राज्य करती हो अथवा बालक राजा राज्य करता हो वहां पर मुनियों को कभी निवास नहीं करना चाहिये । जहां पर वीक्षा ग्रहरण करनेवाले लोग न हों, जहां पर धर्मात्मा लोग निवास न करते हों और जहां पर संयम की हानि होती हो ऐसे स्थानमें उत्कृष्ट मुनियों को कभी नहीं रहना चाहिये ॥२५६७-२५६८॥

आर्यिका के निवास में मुनिराज को ठहरने का निषेध—

स्त्रीक्षान्तिकाशमेस्थानुं क्षणमात्रं न कल्पते । यतीनां आसनस्थानस्वाध्यायग्रहरणादिभिः ॥६९॥

संसर्गार्णविकास्त्रीणाव्यवहाराभिधा भुवि । जुगुप्सापरमार्थाभा जायते यमिनां व्रतम् ॥२५७०॥

अर्थ—मुनियों को बैठने कायोत्सर्ग करने अथवा स्वाध्याय ग्रहरण करने के लिये भी स्त्रियों के अथवा अर्जिकाओं के आश्रम में क्षणमात्र भी नहीं ठहरना चाहिये । क्योंकि अर्जिका या स्त्रियों के संसर्ग से मुनियों को व्यवहार जुगुप्सा भी प्रगट होती है और लोकोत्तर जुगुप्सा भी प्रगट होती है ॥२५६९-२५७०॥

कैसे पुरुषों के संसर्ग से रत्नत्रय की वृद्धि एवं हानि होती है—

जलकुम्भेष्वपि पद्मसम्पर्केण च वर्द्धते । सुशोतत्वं सुगन्धित्वं हीयतेऽनलसंगमात् ॥२५७१॥

तथोत्तमाधरेणात्र सद्बोधिवर्द्धतेऽक्षराम् । क्षीयन्ते तीक्ष्णसंगेन गुणदोषाश्च योगिताम् ॥२५७२॥

अर्थ—जिसप्रकार जलके घड़े में कमल के संसर्ग से उसका शीतलपना और सुगन्धितपना गुण बढ़ता है तथा अग्नि के संयोग से वे दोनों गुण नष्ट हो जाते हैं उसी

प्रकार उत्तम पुरुषों के आश्रय से मुनियों का रत्नत्रय अत्यन्त बढ़ता है और नीच पुरुषों के आश्रय से रत्नत्रय गुण घटता है वा मलिन होता है ॥२५७१-२५७२॥

महामुनि को पाखंडी मुनि का संगति का निबंध—

प्रचण्डवचपलोमन्दः पृष्ठमांसादिभक्षकः । गुर्वादिबहुलोभूर्खोबुराध्वयः सतां यतिः ॥२५७३॥
 वम्भान्वितमदोषाणां दोषोऽबुधनतत्परम् । मारणत्रासनोच्छादनवशीकरणाशयम् ॥२५७४॥
 वैद्यज्योतिष्कसावद्यारम्भादिपरिवर्तकम् । पिशुनं कुत्सिताचारमिध्माश्रयोपगतंशठम् ॥२५७५॥
 लोकलोकोत्तराचाराजानन्तं स्वेच्छयायुतम् । क्षिरप्रवृजितं चापीत्याद्यन्यदोषभाजनम् ॥२५७६॥
 संयतंबर्जयेद्दूरं सदाचारो महामुनिः । पापापवादिभीतात्मा तत्संगं नाशयेत्कर्षित् ॥२५७७॥

अर्थ—जो मुनि नीच लोगों की संगति करता है वह क्रोधी, चंचल, मंद, पीठका मांस भक्षण करनेवाला अर्थात् पीठ पीछे निंदा करनेवाला और मूर्ख होता है तथा वह अनेक गुरुओं का शिष्य होता है । जो मुनि पाखंडी है, निर्दोषों को भी दोषी कहने के लिये तत्पर रहता है, जो मारण, त्रासन, उच्छादन, वशीकरण आदि करने की इच्छा रखता है, जो वैद्य ज्योतिष्क और पापरूप आरम्भों में प्रवृत्ति करता है, जो चुगलखोर है, जिसके आचरण निंदनीय हैं, जो मिथ्यादृष्टि है, मूर्ख है, जो लौकिक और लोकोत्तर आचरणों को नहीं जानता, जो अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करता है और क्षिरकाल का दीक्षित होनेपर भी अन्य अनेक दोषों का भाजन है, ऐसे मुनि का दूर से ही त्याग कर देना चाहिये । जो सदाचारी महामुनि हैं और पाप तथा अपवाद से सदा भयभीत रहते हैं वे महामुनि ऊपर कहे हुए पाखंडी मुनियों की संगति कभी नहीं करते हैं ॥२५७३-२५७७॥

कैसा पापी मुनि दुर्गति का पात्र है—

सुरेभुंस्त्वा कुल भोर्गकाकीर्णमेष्टिजेच्छया । उपदेशं न गृह्णाति पापश्चमण एव सः ॥२५७८॥
 यः शिष्यस्त्वमकुत्वात्र पूर्वस्त्वमशठाशयः । स्वरितः कर्तुमाचार्यत्वं हिडति मिजेच्छया ॥२५७९॥
 घोंघाचार्यः स एवोक्तो मत्तवन्तोष पापधीः । निरंकुशो गुणहर्षिणः स्वान्यदुर्गतिकारकः ॥२५८०॥

अर्थ—जो मुनि आचार्य के कुल को छोड़कर अपनी इच्छानुसार अकेला परिभ्रमण करता है तथा किसी का उपदेश नहीं मानता उसको पापी मुनि कहना चाहिये । जो मूर्ख पहले किसी आचार्य का शिष्य तो बनता नहीं और शीघ्र ही आचार्य पद धारण करने के लिये अपनी इच्छानुसार धूमता है उसको घोंघाचार्य वा वंभाचार्य समझना चाहिये । वह पापी है और भवोन्मत्त हाथी के समान गुणों से रहित होकर

निरंकुश होता हुआ घूमता है । ऐसा मुनि स्वयं भी दुर्गति में जाता है और अन्य जीवों को भी दुर्गति में पहुँचाता है ॥२५७८-२५८०॥

कैसा मुनि स्वपर की आत्मा को नष्ट करता है—

आचार्यत्वं नयतेस्वस्याजानन् मः जिनागमम् । स कुत्सितोपदेशश्चात्मानं परं विनाशयेत् ॥२५८१॥

अर्थ—जो मुनि श्री जिनागम की तो जानता नहीं और आचार्य बन बैठता है वह मुनि अपने निश्च उपदेश से अपने आत्मा को भी नष्ट करता है और अन्य जीवों को भी नष्ट करता है ॥२५८१॥

हेतु पूर्वक अहंकार त्यागने का उपदेश—

वर्षादिगणनं ब्रह्म सर्वं ज्येष्ठोत्र दीक्षया । मत्तो न्ये लघवोहीति गर्वः कार्यो न संयतः ॥२५८२॥

यतो वर्षाणि गण्यन्ते न मुक्तिसाधने सताम् । केचिदन्तर्मुहूर्तं गता मोक्षं वृद्धयताः ॥२५८३॥

अर्थ—“मैं इतने वर्षका दीक्षित हूँ अतएव मैं इन सब मुनियों में बड़ा हूँ, ये सब मुनि दीक्षा में मुझसे छोटे हैं” इसप्रकार का अभिमान मुनियोंको कभी नहीं करना चाहिये । क्योंकि मोक्षको सिद्ध करने के लिये सज्जन पुरुष वर्षोंकी गिनती नहीं करते । अपने व्रतों को बृद्धता के साथ पालन करनेवाले बहुत से मुनि ऐसे हो गये हैं जो अंतर्-मुहूर्त में ही मोक्ष चले गये हैं ॥२५८२-२५८३॥

जीव के कर्मबन्ध का कारण—

रागद्वेषात्मोहावीनिष्ठो योगोतिबुद्धिं रः । करोति कर्मणां बन्धं कषायः सहवेहिनाम् ॥२५८४॥

जीवस्य परिणामेनाणवः परिणमन्ति नुः । कर्मत्वेन स्वतोनांगो तन्मयत्वं प्रपद्यते ॥२५८५॥

अर्थ—रागद्वेष इन्द्रियां और मोहादिक में लगे हुए बुद्धि र मन-वचन-काय के योग कषायों का संबंध पाकर जीवों के कर्मों का बंध करते हैं । तीनों लोकों में भरे हुये कर्म परमाणु जीवों के परिणामों को निमित्त पाकर जीवों के कर्मरूप परिणित हो जाते हैं । यह आत्मा बिना योग और बिना कषायों के स्वयं कर्मरूप परिणित नहीं होता ॥२५८४-२५८५॥

कैसी आत्मा कर्मबन्ध नहीं करती एव संसार से पार होती है—

शानचारित्रसम्पन्नः सद्धानाध्ययने रतः । निष्कषायः स्थिरात्मा न कर्मबन्धं करोति न ॥२५८६॥

किन्तु संवरपोतेन तपसा खिलकर्मणाम् । विधाय निर्गारां ध्यानी तरत्या शुभवान्बुधम् ॥२५८७॥

अर्थ—जो आत्मा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से सुशोभित है, श्रेष्ठ ध्यान

और अध्ययन में लीन है, कषायरहित है और स्थिर है अर्थात् मन-वचन-काय के योगों से रहित है वह आत्मा कभी कर्मों का बंध नहीं कर सकता । किंतु ऐसा कषायरहित स्थिर ध्यानी आत्मा संवररूपी जहाज पर चढ़कर तपश्चरण के द्वारा समस्त कर्मों की निर्जरा गच्छता है और तीव्र ही संसाररूपी समुद्र से पार हो जाता है ॥२५८६-२५८७॥

विनय पूर्वक स्वाध्याय आदि करने का फल—

कुर्वन्स्वाध्यायमात्मज्ञ पचाक्षसंश्लोभवेत् । त्रिगुणैश्चैकचित्तोन्नयिनयेननिरालम्बः ॥२५८८॥

अर्थ—आत्मा के स्वरूप को जानने वाला जो मुनि विनय के साथ स्वाध्याय करता है वह पांचों इन्द्रियों को वश में करता है, तीनों गुणियों को पालन करता है और एकाग्रचित्त होने के कारण कर्मों के आलम्ब से रहित हो जाता है ॥२५८८॥

तीनों काल में स्वाध्याय ही सर्वश्रेष्ठ तप है—

द्विषद्भेदतपोऽप्योपिस्वाध्यायेन मनं तपः । न सूरतं परमं नास्ति न भविष्यतिमोक्षदम् ॥२५८९॥

अर्थ—बारह प्रकार के तपश्चरण में भी स्वाध्याय के समान अन्य कोई तपश्चरण उत्कृष्ट और मोक्ष देनेवाला न आज तक हुआ है न है और न आगे कभी हो सकता है ॥२५८९॥

सिद्धान्त शास्त्रों के अध्ययन का फल—

ससूत्रा च यथा सूचिर्न भवतिप्रमादतः । तथा ससूत्रएवात्मा ज्ञानोरस्मन्नयोक्तः ॥२५९०॥

अर्थ—जिसप्रकार सूत्रसहित (डोरा सहित) सुई प्रमाद के कारण भट्ट नहीं होती, खोती नहीं उसीप्रकार सूत्रसहित सूत्रों का वा सिद्धान्तशास्त्रों का स्वाध्याय करने वाला ज्ञानी आत्मा रत्नत्रय से सुशोभित होता है ॥२५९०॥

निद्रा के दोष एवं उसे जीतने की प्रेरणा—

यस्मैव जयनिद्रां स्वं पतो निद्रा ह्यचेतनम् । कुत्वात्रराक्षसोवाशुगिलेज्जनंगतक्रियम् ॥२५९१॥

तथानिद्रावशः प्राणी लादश्यलाक्ष्मणसा । अगम्यगमनं कुर्याद्विश्वपापेषु वर्तते ॥२५९२॥

अर्थ—हे मुने ! तू प्रयत्नपूर्वक निद्रा को जीत क्योंकि यह निद्रा राक्षसी के समान है । राक्षसी जिसप्रकार मनुष्यों को मारकर खा जाती है उसीप्रकार यह निद्रा भी मनुष्य को अचेतन के समान क्रियारहित बनाकर निगल जाती है । इसके सिवाय इस निद्रा के बशीभूत हुए प्राणी अभक्ष्य भक्षण करते हैं, अगम्य गमन करते हैं और समस्त पापों में प्रवृत्ति करते हैं ॥२५९१-२५९२॥

कौन मुनि मनको सरल रखता है—

बभुकारे यथा धसे ऋजुं चेषुं स्वचक्षुषा । तथैकाग्रत्वमापन्नं ध्याने ध्यानी निजं मनः ॥२५६३॥

अर्थ—जिसप्रकार बाण चलाने वाला आँख से देखकर अपना बाण सीधा रखता है उसीप्रकार ध्यान करनेवाला मुनि अपने ध्यान में एकाग्रता को प्राप्त हुए अपने मनको सरल ही रखता है ॥२५६३॥

कैसे मुनि ध्यान से उत्पन्न अमृत का पान करते हैं—

द्रव्यात्क्षेत्राद्यमीकालाद्भवाद्भावाद्भूधेः स्वहम् । विश्ववत् साकरे कस्यचित्तयेत्परिनिर्तनम् ॥२५६४॥

महामोहाग्निनानित्यं बह्मसामेव गत्त्रये । धिरक्ताः स्वसुखाद्धीराः पिबन्ति ध्यानजामृतम् ॥२५६५॥

अर्थ—यह समस्त संसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव से प्रतिदिन दुःखों की खानि बना रहता है फिर भला ध्यान करनेवाला किसको बदल कर चित्तवन करे । ये तीनों लोक महा मोहरूपी अग्निसे जल रहे हैं, इसलिये जो धीर वीर मुनि अपने दुःख से धिरक्त हैं, वे ही मुनि ध्यान से उत्पन्न हुए अमृत का पान करते रहते हैं । ॥२५६४-२५६५॥

ध्यानी पुरुष तृणादि के समान कषायों को निकाल देते हैं—

यथा नेत्रसमुद्राद्यसहन्तेन्तर्गतं न च । तृणादीनि तथा दक्षाः कषायाक्षसुखादिकान् ॥२५६६॥

अर्थ—जिसप्रकार नेत्र और समुद्र आदि पदार्थ अपने भीतर आए हुए तृणादिकों को सहन नहीं कर सकते हैं, बाहर निकाल कर फेंक देते हैं उसीप्रकार चतुर पुरुष भी कषाय और इन्द्रियों के सुखों को सहन नहीं करते बाहर निकाल कर फेंक देते हैं ॥२५६६॥

कैसे मुनि आत्मा का एकाग्रचित्त से ध्यान करते हैं—

केवल्यवर्शनज्ञानमयं स्वात्मानमूर्जितम् । अनाविनिर्धनं कर्मातिगं निश्चयवेदिनः ॥२५६७॥

पृथक्कृत्वा शरीरादिपर्यायिभ्यो मुमुक्षवः । ध्यायन्ति स्वेकचित्तेन निर्विकल्पवाश्रितः ॥२५६८॥

अर्थ—जो मुनि मोक्षकी इच्छा करनेवाले हैं, निश्चयनयसे आत्माके स्वरूपको जानते हैं और जिन्होंने निर्विकल्पक पदका आश्रय ले लिया है वे मुनि केवलदर्शनमय, केवलज्ञानमय, अनादि अनिधन कर्मों से रहित और सर्वोत्कृष्ट ऐसे अपने आत्मा को शरीरादिक पर्यायों से सर्वथा अलग समझते हैं और एकाग्रचित्तसे उस आत्माका ध्यान करते हैं ॥२५६७-२५६८॥

कषाय के वशीभूत आत्मा असंयमी मिथ्यादृष्टि है—

अकषायं तु चारित्र्यं कषायवश आत्मवान् । भवेदसंयतो नूनं मिथ्यादृष्टिः । कुमार्गगः ॥२५६६॥

अर्थ—चारित्र्य उसी को कहते हैं जो कषायरहित होता है, इसीलिये जो आत्मा कषाय के वशीभूत है वह अवश्य ही असंयमी है तथा कुमार्गगामी मिथ्यादृष्टि है ॥२५६६॥

कैसा मुनि मोक्षमार्गी है—

यदोपशमितोविश्वकषायेभ्योतिशान्तधोः । तदेवसंयतः पूज्योभवेद् ज्ञानीशिवावगः ॥२६००॥

अर्थ—अत्यन्त शांत बुद्धि को धारण करनेवाला मुनि जब अपने कषायों को अत्यन्त शांत कर लेता है तभी वह संयमी, पूज्य, ज्ञानी और माक्षमार्ग में चलने वाला कहलाता है ॥२६००॥

अन्तिम समय गणमें प्रवेश करने का निषेध—

अस्तकाले यतेः स्वस्य गणप्रवेशतो वरम् । प्रवेशनं विवाहेव रागोत्पत्तिविवाहतः ॥२६०१॥

अर्थ—मुनियों को अन्तिम समय में (समाधि मरण के समय) अपने गण में प्रवेश नहीं करना चाहिये । उस समय अपने गण में प्रवेश करने की अपेक्षा विवाह में प्रवेश करना अच्छा क्योंकि विवाह में भी राग की उत्पत्ति होती है और अपने गण में भी राग की उत्पत्ति होती है ॥२६०१॥

गणमें प्रवेश करने से उत्पन्न दोषों का निर्देश—

भवेत्पुनर्गणः सर्वदोषोत्पत्त्याविहेलुकः । शिष्यादिभोहसंयोगासम्भूतयोगणं त्यज ॥२६०२॥

अर्थ—अपने गण में शिष्यादिक का मोह उत्पन्न हो जाता है इसीलिये अपने गणमें सब तरह के दोष उत्पन्न हो सकते हैं अतएव हे मुने ! समाधिमरण के समय तू अपने गणका त्याग कर ॥२६०२॥

परगण में समाधिमरण करने से लाभ—

यथापृथ्वीजलादीनामभावे जायतेऽत्र न । अंकुरोखिलबीजानां वृद्धिहेतुः फलप्रदः ॥२६०३॥

तथाशिष्यादिसंगोत्पद्यरागद्वेषाद्यभावतः । कर्मणां च कषायाणां तोत्पत्तिवमिर्नाभवेत् ॥२६०४॥

अर्थ—जिसप्रकार मिट्टी और जल के अभाव में बीज से अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता तथा बिना अंकुर के वह न बढ़ सकता है और न उस पर फल लग

सकते हैं उसीप्रकार शिष्य आदि के संगति से उत्पन्न हुए रागद्वेष के अभाव से परगण में मुनियों को कर्म और कषायों की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती ॥२६०३-२६०४॥

मुनि क्षमादि गुणों से कषाय उत्पन्न न होने दे—

कषार्थहेतुसूतेश्चविश्वेपरिग्रहादयः । जायन्तेमानसे नृणामनर्थशतकारिणः ॥२६०५॥

तेषांसर्वकषायाणामनुत्पत्त्यमुनीश्वरः । विश्वेयं परमयत्नक्षमातोषादिभिः सदा ॥२६०६॥

अर्थ—इन मनुष्यों के हृदयों में संकड़ों अथवा फरसेवाले समस्त परिग्रह इन कषायों के ही कारणों से होते हैं इसलिये मुनियों को क्षमा और संतोष आदि आत्मगुण धारण कर समस्त कषायों को उत्पन्न न होने देने के लिये परम प्रयत्न करते रहना चाहिये ॥२६०५-२६०६॥

इन्द्रिय लम्पटी ४-४ अंगुलप्रमाण जिह्वाइन्द्रिय एवं क मेन्द्रिय से अनन्त दुःखों की परम्परा को प्राप्त होते हैं—

अर्थार्थं जीवितार्थं च जिह्वाकामार्थमंजसा । म्रियतेनन्तधारान् भी मारयेच्छापरां जनः ॥२६०७॥

जिह्वोपस्थनिमित्तं च जीवोनाविभवाणंवे । प्राप्स्योर्धोरतरं दुःखमज्जनोत्थमतस्तथाः ॥२६०८॥

चतुरंगुलमानात्रजिह्वाही विश्वभक्षिका । चतुरंगुलमात्रोपस्थोनस्तभवद्वर्द्धकः ॥२६०९॥

एतेरष्टांगुलोत्पन्नं दोषदोषनिबन्धनैः । अनन्तदुःखसन्तानंप्राप्नुवन्तिखलम्पटाः ॥२६१०॥

अर्थ—देखो ये मनुष्य धन के लिये, जीवन के लिये, जिह्वा इन्द्रिय के लिये और कामेन्द्रिय के लिये अनन्तबार स्वयं मरता है और अनन्तबार ही दूसरों को मारता है । इस जिह्वा इन्द्रिय और कामेन्द्रिय के कारण यह जीव अनादि कालसे इस संसार-रूपी समुद्र में अनन्तबार डूबा है और इसने अनन्तबार ही अत्यन्त महा घोर दुःख पाये हैं । यह जिह्वा इन्द्रियरूपी सर्पिणी यद्यपि चार अंगुलप्रमाण है तथापि समस्त संसारको खा जानेवाली है । इसीप्रकार यह कामेन्द्रिय भी चार अंगुलप्रमाण है तथापि अनन्त संसारको बढ़ाने वाली है । इसप्रकार इन आठ अंगुलप्रमाण जिह्वाइन्द्रिय और कामेन्द्रिय से जो दोष उत्पन्न होते हैं वे अनेक दोषों को उत्पन्न करनेवाले होते हैं और उन्हीं से यह इन्द्रियलम्पटी जीव अनन्त दुःखों की परंपरा को प्राप्त होते हैं ॥२६०७-२६१०॥

कैसे मन्त्र के द्वारा इन्हें कोल देना चाहिये—

ज्ञात्वेतिरसनोपस्थसर्पो त्रैलोक्यभीतिदी । दृढवैराग्यमंत्रेण कीलयन्तु तपोधनाः ॥२६११॥

अर्थ—यही समझकर तीनों लोकों को भय उत्पन्न करनेवाले ये जिह्वाइन्द्रिय

और कामेन्द्रियरूपी सर्प वैराग्यरूपी मन्त्र के द्वारा तपस्त्रियों को कोल देने चाहिये ।
॥२६११॥

काठादि स्त्रियों के संयोग से उत्पन्न हानि—

काष्ठाविजापनारूपगच्छेत्यर्थं संयतः सदा । यतस्तद्दर्शनान्नूनचित्तकोभोभवेन्नृणाम् ॥२६१२॥
सर्वभुं तद्यटाभोगीस्त्रीज्वलज्ज्वालससिभा । तयोः सम्पर्कतः किं किमनर्थो जायते न नुः ॥२६१३॥
स्त्रीसभीषं गतायेवहास्यचार्ताविलोकनैः । नष्टास्ते भ्रष्टचारिन्नाइतरे च शिवंगताः ॥२६१४॥

अर्थ—मुनियों को काठ की बनी हुई स्त्री से भी सदा डरते रहना चाहिये । क्योंकि उसके देखने से भी मनुष्यों के हृदय में अवश्य ही क्षोभ उत्पन्न हो जाता है । यह मनुष्य घी से भरे हुए घड़े के समान है और यह स्त्री जलती हुई अग्नि की ज्वाला के समान है । इन दोनों के संबंध से मनुष्यों को भला क्या-क्या अनर्थ नहीं हो सकते हैं अर्थात् सब कुछ तरह के अनर्थ हो सकते हैं । जो मनुष्य हंसी की बातचीत को सुनने वा देखने के लिये स्त्रियों के पास जाते हैं, वे चारित्र्य से भ्रष्ट होकर अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं । तथा जो ऐसा नहीं करते स्त्रियों से अलग रहते हैं वे अवश्य मोक्ष जाते हैं ॥२६१२-२६१४॥

मुनि, माता आदि स्त्रियों के संसर्ग का भी त्याग करें—

मातृभग्निसुतामृकावृद्धास्त्रीरूपतोनिशम् । भेत्यर्थमुनिभिर्यस्मा स्तोभ स्यान्नेत्रचित्तयोः ॥२६१५॥
हस्तपावपरिच्छिन्ना कर्णनासाविधजिताम् । शतवर्षप्रमां नारी दूरतोवर्जयेद्ब्रह्म ॥२६१६॥

अर्थ—मुनियों को माता, भगिनी, पुत्री, गूंगी और वृद्धा आदि स्त्रियों के रूप से भी सदा डरते रहना चाहिये क्योंकि स्त्रियों के रूपसे भी नेत्र और हृदय में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है । जिस स्त्री के हाथ पंर कटे हुए हों और जिसके नाक, कान भी कटे हों तथा ऐसी स्त्री सौ वर्ष की हो तो भी व्रतियों को ऐसी स्त्री का दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये ॥२६१५-२६१६॥

भावों से विरक्त ही वास्तविक विरक्त है—

भावेनविरतोयोगोविरक्तोविश्ववस्तुषु । भवेत्स्वर्मुक्तिगामी च इत्येण भववर्द्धकः ॥२६१७॥

अर्थ—जो मुनि अपने भावों से विरक्त है उसे सब वस्तुओं से विरक्त समझना चाहिये तथा उसे ही स्वर्गमोक्ष जानेवाला समझना चाहिये । जो मुनि ऊपर से विरक्त है, भावों से विरक्त नहीं है, उसे संसारको बढ़ानेवाला ही समझना चाहिये ॥२६१७॥

ब्रह्मचर्य के घात करनेवाले १० कारण—

विपुलाहारसेवार्था वपुर्मुखादिशोषनम् । गंधमाल्यादिकावानंगीतवाद्यादिसंभृतिः ॥२६१८॥

सरागेचित्रशालाबोकोमलेशयनासनम् । स्त्रीसंसर्गोर्ध्ववस्त्राविग्रहणंभोगसिद्धये ॥२६१९॥

पूर्वसेवितभोगानुस्मरणंस्वस्यमानसे । इन्द्रियार्थरती चेहा सर्वेष्ठरस सेवनम् ॥२६२०॥

इमानब्रह्महेतून् यो दशबोधांस्त्यजेत्सदा । दृढव्रती यतिः सोऽत्र भवत्येवन्चापरः ॥२६२१॥

अर्थ—बहुत सा आहार खाना, अपने शरीर को तथा मुख को स्वच्छ शुद्ध रखना, गंध लगाना वा माला पहनना, गीत बाजे सुनना, राग को उत्पन्न करनेवाली और स्त्री पुरुषों के चित्रों से सुशोभित भवन में कोमल शय्यापर सोना वा बैठना, स्त्रियों की संगति करना, भोग भोगने के लिये धन और वस्त्रादिक का ग्रहण करना, पहले भोगे हुए भोगों का अपने मनमें स्मरण करना, इन्द्रियों के विषयों में रत होनेकी लालसा रखना और समस्त रसों का सेवन करना, ये दश ब्रह्मचर्य को घात करने के कारण हैं । जो मुनि इन दशों दोषोंका त्याग कर देता है वही दृढव्रती कहलाता है, अन्य नहीं ॥२६१८-२६२१॥

द्विविध परिग्रह त्याग की प्रेरणा—

मोहादिककषायाक्षैर्गुहात्यंगीपरिग्रहाम् । अस्माद्वाह्यास्तराः संग्राहः सर्वेत्याज्याः शिष्यादिभिः ॥

अर्थ—यह जीव मोह कषाय और इन्द्रिय आदि के द्वारा परिग्रहों को ग्रहण करता है इसलिये मोक्ष को इच्छा करनेवाले मुनियों को बाह्य और अभ्यंतर सब तरह के परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिये ॥२६२२॥

श्रमण का स्वरूप एवं उनके भेद—

मिस्तंगोऽनिरारम्भो भिक्षाचर्याशुभाशयः । सव्यानरतएकाकीगुणाढ्यः श्रमणो भवेत् ॥२३॥

नाम्नास्थापनया द्रव्यभावाम्भ्यां श्रमणस्य च । चतुर्विधोऽनिक्षेपोगुणिभिर्गुणसम्भवः ॥२६२४॥

अर्थ—जो मुनि समस्त परिग्रहों से रहित है, समस्त आरम्भों से रहित है, भिक्षार्थ चर्या करने के लिये जिसके हृदयमें शुद्धता है, जो श्रेष्ठ ध्यानमें लीन रहता है, एकाकी है । आत्माको सबसे भिन्न समझता है और अनेक गुणों से सुशोभित है उसीको श्रमण कहते हैं । गुणी पुरुष नाम स्थापना द्रव्य और भाव निक्षेप के भेद से अपने-अपने गुणों के अनुसार इन श्रमणों के चार भेद बतलाते हैं ॥२६२३-२६२४॥

भाव श्रमणपना ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं—

भावश्रमणकोऽत्र शुद्धरत्नत्रयांकिनः । चिद्वान्मुदयसीत्यादीन् भुक्त्वास्यान्मुक्तिवत्सभः ॥२५॥

नामाद्याःश्रमणा शेषाः गुणहीनाविधेर्वशात् । श्रमस्ति संसृतौर्नैवलभन्तेस्वेष्टसम्पदः ॥२६२६॥

अर्थ—इनमें से एक भावश्रमण ही शुद्ध रत्नत्रय से सुशोभित है वही मुनि समस्त अभ्युदयों के सुखों को भोगकर मोक्ष का स्वामी बनता है । बाकी के नामश्रमण, स्थापनाश्रमण वा द्रव्यश्रमण गुणों से रहित है और अपने-अपने कर्मों के निमित्त से संसार में परिभ्रमण ही करनेवाले हैं । इसलिये वे अपनी मोक्षरूप इष्ट सामग्रीको कभी नहीं पा सकते ॥२६२५-२६२६॥

भावलिङ्गी बनने की प्रेरणा—

मत्वेतिभावलिङ्गी त्वं भवरत्नत्रयान्वितः । त्यक्त्वायोगिन् द्विधासंगं यदीच्छसि शिवधियम् ॥२६२७॥

अर्थ—इसलिये हे मुने ! यदि तू मोक्षलक्ष्मी को चाहता है तो ऊपर कही हुई सब बातों को समझकर और बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकार का परिग्रह छोड़कर भावलिङ्गी बन और शुद्ध रत्नत्रय को धारण कर ॥२६२७॥

भिक्षाचर्या की महत्ता एवं उसे धारण करने की प्रेरणा—

व्रतशीलगुणाः सर्वे स्युर्भिक्षाचर्यया पराः । भिक्षाचर्या विशोध्यतो विहरन्तु शिवाधिनः ॥२६२८॥

अर्थ—भिक्षाके लिये होनेवाली चर्या की शुद्धि से व्रतशील आदि समस्त उत्कृष्ट गुण प्रगट होते हैं । अतएव मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियों को भिक्षाके लिये होनेवाली चर्या को विशुद्धतापूर्वक धारण करते हुए विहार करना चाहिये ॥२६२८॥

किसे गुरुओं की खानि कहते हैं—

भिक्षावाक्यमनोयत्नाद्यो विशोध्यचरेत्सदा । चारित्रं स जितं प्रोक्तो मुनिर्विश्वगुणाकरः ॥२६२९॥

अर्थ—जो मुनि भिक्षा वचन मन और चारित्र्य को प्रयत्नपूर्वक शुद्ध कर अपनी प्रवृत्ति करता है उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव समस्त गुणों की खानि कहते हैं । ॥२६२९॥

शक्ति अनुसार ध्यानादि पालना चाहिये—

द्रव्यं क्षेत्रं तथा कालं मायं शक्तिं विबुध्य च । ध्यानाध्ययनमत्यर्थं कृतं चरन्तु पण्डिताः ॥२६३०॥

अर्थ—अतएव विद्वान् मुनियों को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और अपनी शक्ति को समझकर ध्यान अध्ययन और चारित्र्य को अच्छी तरह पालन करना चाहिये । ॥२६३०॥

मुक्ति स्त्री के प्राप्ति हेतु किसका त्याग करें—

कलत्रसंगमेवास्मां द्विधाऽथागो भवेद्विवः । कृत्वातदुभयस्यागंसंभतेमुक्तिकामिनीम् ॥२६३१॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने स्त्री का त्याग और परिग्रहों का त्याग इस प्रकार दो तरह का त्याग बतलाया है, अतएव विद्वान् पुरुष इन दोनों का त्याग कर मुक्तिस्त्री को प्राप्त करते हैं ॥२६३१॥

मुनि को ५ स्थावर के विराधना नहीं करने की प्रेरणा—

पृथ्व्यादिकायिकाजीवा ये पृथ्व्यादिवपुः श्रिताः सतिपृथ्व्यादिकारम्भे भ्रुवं तेषां विराधना ॥३२॥
तस्मात्पृथ्व्यादिकारम्भोद्विधस्त्रिविधेन च । यावज्जीवं न कस्पेत जिनमार्गानुचारिणाम् ॥३३॥

अर्थ—यदि पृथ्वीके छोदने आदि का आरंभ किया जायगा तो पृथिवीकायिक जीवों का तथा पृथिवीकायके आश्रित रहनेवाले जीवों का अवश्य ही नाश होगा उनकी विराधना अवश्य होगी । अतएव जिनमार्ग के अनुसार चलने वाले मुनियों को मन-वचन-कायसे जीवन पर्यंत दोनों प्रकार का (पृथिवीकायिक और पृथिवी कायाश्रित) पृथिवी आदि का आरम्भ सदा के लिये छोड़ देना चाहिये तथा इसीप्रकार जलकायिक, जलकायाश्रित, वायुकायिक, वायुकायाश्रित, अग्निकायिक, अग्निकायाश्रित, वनस्पति-कायिक और वनस्पतिकायाश्रित जीवों की विराधना का भी त्याग कर देना चाहिये । ॥२६३२-२६३३॥

कौन मुनि रत्नत्रय से भ्रष्ट है—

पृथ्व्यादिकामिकान्सत्त्वानेतान्श्रोजिनभाषितान् । नचभ्रष्टधाति यः स्याद्भ्रष्टो रत्नत्रयात्कुधीः ॥

अर्थ—जो मुनि भगवान् जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे हुए इन पृथिवीकायिक, पृथिवीकायाश्रित, जलकायिक, जलकायाश्रित, अग्निकायिक, अग्निकायाश्रित, वायु-कायिक, वायुकायाश्रित और वनस्पतिकायिक, वनस्पतिकायाश्रित जीवों का श्रद्धान नहीं करता है उस दुर्बुद्धि को रत्नत्रय से भ्रष्ट ही समझना चाहिये ॥२६३४॥

जीवराशि से भरे लोक में मुनि कैसी प्रवृत्ति करें—

विश्वसत्त्वाकुले लोके कथं चरेच्चसंदमी । कथं तिष्ठेत् कथं कुर्याच्छयनं शोपवेशनम् ॥२६३५॥

कथं भुंक्ते कथं द्यूयाद्विहारं कथमाचरेत् । कथं धत्ते क्लिषाकर्मकथं वध्नातिनाशुभम् ॥२६३६॥

अर्थ—कदाचित् कोई यह प्रश्न करे कि इस लोक में सब जगह जीवराशि भरी हुई है, फिर भला मुनियों को किस प्रकार अपनी प्रवृत्ति करनी चाहिये, किस

प्रकार खड़े होना चाहिये, कैसे सोना चाहिये, कैसे बैठना चाहिये, कैसे आहार लेना चाहिये, कैसे बोलना चाहिये, कैसे विहार करना चाहिये, किसप्रकार आचरण पालन करना चाहिये, किसप्रकार वंदना प्रतिक्रमण आदि क्रियाकर्म करना चाहिये और किस प्रकार अशुभ कर्मोंसे दूर रहना चाहिये ॥२६३५-२६३६॥

मुनिराज को यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करने की प्रेरणा—

अरेत्सर्षत्रयत्नेनतिष्ठेद्यत्नेन भूतले । यत्नेन प्रासुकेदध्याच्छयनं च वृद्धासनम् ॥२६३७॥

भिक्षाशुद्ध्या च भुंजीत वाक्समित्या यत्नतो भजेत् ॥२६३८॥

प्रयत्नेन क्रियाकर्म करोति सकलं सदा । इति पापं न बध्नातिक्षपयेत्प्राक्तनाशुभम् ॥२६३९॥

अर्थ—तो इसका उत्तर यह है कि मुनियों को यत्नाचार पूर्वक अपनी प्रवृत्ति करनी चाहिये, यत्नाचार पूर्वक पृथिवीपर बैठना चाहिये, यत्नाचार पूर्वक प्रासुक स्थान पर सोना चाहिये और प्रासुक स्थान पर ही वृद्ध आसन से बैठना चाहिये । इसीप्रकार उनको भिक्षा भी शुद्धता पूर्वक ग्रहण करनी चाहिये, भाषासमिति पूर्वक वचन बोलने चाहिये और विहार इत्यासमिति पूर्वक दिन में ही यत्नाचार पूर्वक करना चाहिये । इसी प्रकार मुनियों को यत्नाचार पूर्वक ही वंदना प्रतिक्रमण आदि सब क्रियाकर्म सदा करते रहना चाहिये । इसप्रकार करने से वह मुनि पापों से लिप्त कभी नहीं होता किंतु पहले के अशुभ कर्मों को नाश ही करता है ॥२६३७-२६३९॥

परम समयसार को पालने का फल—

इति कथितमदोषं ये अरन्त्यात्मशक्त्या परमसमयसारं ग्रंथमाप्तेः प्रणीतम् ।

त्रिभुवनपति भूति सुष्ठुविज्ञायभूत्वा सकलचरणयोगात्स्थुष्व ते मुक्तिनाथाः ॥२६४०॥

अर्थ—इसप्रकार भगवान् जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए इस परम समयसार को जो मुनि अपनी शक्तिके अनुसार निर्वोष रीति से पालन करते हैं, वे पूर्ण चारित्र्य को धारण करने के कारण भगवान् जिनेन्द्रदेव की विभूति को प्राप्त करते हैं और अंतमें मोक्षलक्ष्मी के स्वामी होते हैं ॥२६४०॥

पुनः परम समयसार को पालने की प्रेरणा—

सर्वासातहरंविशुद्धजनकं पापारिनाशकरं स्वमोक्षेकनिबन्धनंमुविमलसंसारतापापहम् ।

धीतीर्थेश्वरभाषितमुनिवरैः सेव्यं सदा यत्नतः सेव्यंनिपुणाःपरमसमयसाराख्यंशिवायर्थस्फुटम् ॥

अर्थ—यह ऊपर कहा हुआ परम समयसार समस्त दुःखों को दूर करनेवाला

है, विशुद्धियों को उत्पन्न करनेवाला है, पापरूप शत्रुको नाश करनेवाला है, स्वर्ग मोक्ष का एक अद्वितीय कारण है, अत्यन्त निर्मल है, संसार के संताप को नाश करनेवाला है, भगवान् जिनेश्वरदेव का कहा हुआ है और श्रेष्ठ मुनियों के द्वारा सदा सेवन धारण करने योग्य है । अतएव चतुर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्नपूर्वक इस परमसमयसार को अच्छी तरह पालन करते रहना चाहिये ॥२६४१॥

अरहतादि की भक्ति का फल श्रेष्ठ गुणों की प्राप्ति की अभिलाषा —

नामेयाद्याजिनेन्द्रास्त्रिभुवनधजिताः धर्मचक्राधिपा,

ये सिद्धालोकाग्रमूलाहतावधिवपुषोऽन्तहीनाः प्रसिद्धाः ।

आचार्याःपाटका ये गुणगणसदनाः सम्भवोभुक्तिकामाः

आचारांगगमजाममनिजसुगुणान्संस्तुतास्तेप्रदक्षुः ॥२६४२॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकार्ये महामहोपाध्याय श्रीसकलकीर्तिविरचिते

समयसार वर्णनो नाम नवयोधिकारः ।

अर्थ—इस संसार में जो धर्मचक्र के स्वामी और तीनों लोकों के द्वारा पूज्य ऐसे वृषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकर हुए हैं तथा लोक शिखर पर विराजमान, समस्त कर्म और शरीर से रहित, संसार के परिभ्रमण से रहित और सर्वत्र प्रसिद्ध ऐसे अनंत सिद्ध परमेष्ठि विराजमान हैं और आचारांग आदि समस्त आगम के जानकार मोक्षकी इच्छा करनेवाले और अनेक गुणों के समूह के स्थान ऐसे आचार्य उपाध्याय और सर्व साधु विद्यमान हैं, इसप्रकार के पाँचों परमेष्ठियों की मैं स्तुति करता हूँ, इसके बदले में वे पाँचों परमेष्ठि मुझे अपने-अपने श्रेष्ठ गुण प्रदान करें ॥२६४२॥

इसप्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके महाग्रन्थ में समयसार

को वर्णन करनेवाला यह नौवां अधिकार समाप्त हुआ ।

दशमोधिकारः

मंगलाचरण

अर्हतः सिद्धनाथाश्चसमाधिषोषिपारगान् । जन्ममृत्युजराहंतृन् नौमि वोषिसमाधये ॥२६४३॥

अर्थ—अब मैं रत्नत्रय और समाधि की प्राप्ति के लिये जन्म मरण तथा बुढ़ापे को नाश करनेवाले और रत्नत्रय तथा समाधि पारगामी ऐसे भगवान् अरहंतदेव को तथा सिद्ध भगवान् को नमस्कार करता हूँ ॥२६४३॥

प्रत्याख्यान संस्तर के कथन की प्रतिज्ञा—

संक्षेपेणाप्य वक्ष्यामि सद्यतीनां समाधये । अधिकारं परं प्रत्याख्यानसंस्तरसंज्ञकम् ॥२६४४॥

अर्थ—अब मैं श्रेष्ठ मुनियों को समाधि प्राप्त करने के लिये संक्षेप से प्रत्याख्यानसंस्तर नाम के श्रेष्ठ अधिकार का विवरण करता हूँ ॥२६४४॥

कित्त कारणों के जाने पर सन्यास धारण करें—

उपसर्गोतिर्बुभिक्षेवृद्धत्येव्याधिसंचये । असाध्यैनिष्प्रतीकारेमन्वाक्षे सति कारणे ॥२६४५॥
व्रतभंगाविकेन्द्वस्मिन् वा सन्यासं तपस्विनाम् । विधातुं युज्यते नूनं प्रयत्नेनहिताप्तये ॥२६४६॥

अर्थ—किसी उपसर्ग के आ जानेपर, घोर बुभिक्ष पड़ जानेपर, अत्यन्त बुढ़ा-वस्था आ जानेपर, अनेक असाध्य और उपायरहित व्याधियों के आ जानेपर, नेत्रों की उद्योति मंद हो जानेपर वा व्रतभंग के कारण मिल जानेपर वा और भी ऐसे ही ऐसे कारण आ जानेपर, तपस्वियों को अपना आत्महित करने के लिये प्रयत्नपूर्वक सन्यास धारण करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥२६४५-२६४६॥

मरण निकट जानकर समाधि का उद्यम व क्षमा मांगना चाहिये—

आसन्नं मरणं स्वस्थ कश्चिद्विज्ञामसन्मुनिः । निमित्ताद्यैः समाध्यर्थं कुर्याद्यद्यममंभसा ॥२६४७॥
आयुष्कृत्यस्वसुगुर्वीनसमंयित्वास्त्रिलोकान्परान् । त्रिशुद्ध्यापुक्तिमद्वाक्यैः स्वयंक्षात्वास्वमानसे ॥

अर्थ—श्रेष्ठ मुनियों को किसी निमित्तशास्त्र आदि के द्वारा अपना मरण निकट जानकर समाधि के लिये बहुत शीघ्र उद्यम करना चाहिये । इसके लिये सबसे पहले उन मुनियों को अपने श्रेष्ठ गुरुसे पूछना चाहिये और फिर मन-वचन-काय की

शुद्धतापूर्वक मुक्तिपूर्वक वचनों से समस्त मुनियों से क्षमा मांगनी चाहिये तथा अपने मनमें सबको क्षमा कर देना चाहिये ॥२६४७-२६४८॥

स्वर्गण के त्याग की प्रेरणा—

द्विष्ट्यावियोगिभिः साद्धं परित्यज्य निजंगणम् । मोहाविह्वानयेसोस्मास्निर्गच्छतिसमाधये ॥२६४९॥

अर्थ—तदनंतर अपना मोह नाश करने के लिये दो तीन मुनियों को साथ लेकर तथा अपने गणका त्याग कर समाधि धारण करने के लिये वहां से चल देना चाहिये ॥२६४९॥

परीक्षा करके ही आचार्य से समाधि का निवेदन करना चाहिये—

क्रमात्परगणस्थं स विद्यातंसूरिपुंगवम् । असाद्य संपरीक्ष्योत्सर्गत्वा कार्यनिवेदयेत् ॥२६५०॥

अर्थ—फिर अनुक्रम से चलकर किसी परगण में विराजमान प्रसिद्ध आचार्य के समीप पहुंचना चाहिये और उन आचार्य की अच्छी तरह परीक्षा कर तथा उनको नमस्कार कर उनसे अपना कार्य निवेदन करना चाहिये ॥२६५०॥

कैसे गुरुओं से युक्त आचार्य को निर्यापकाचार्य बनावें—

विरचभयहितोद्युक्तः पञ्चाचारपरोमहान् । आगमे कुशली धीमान्सौम्यः परमार्थवित् ॥२६५१॥

आलोचितरहस्यापरित्यागीसूरिसत्तमः । यः स निर्यापकः कार्यः उत्तमः स्वसमाधये ॥२६५२॥

अर्थ—जो समस्त भय जीवों के हित करने में तत्पर हों, पंचाचार पालन करने में तत्पर हों, सर्वश्रेष्ठ हों, आगम में कुशल हों, बुद्धिमान हों, कभी क्षुब्ध न होते हों, परमार्थ को जाननेवाले हों, जो किसी मुनि के द्वारा आलोचना किये हुये दोषों को कभी प्रगट न करते हों और जो सर्वोत्तम हों ऐसे उत्तम आचार्य को अपनी समाधि के लिये निर्यापकाचार्य बनना चाहिये ॥२६५१-२६५२॥

निर्यापकाचार्य की आवश्यकता—

यथापस्तनमासत्राः कर्णधारेखिताबुधौ । रत्नहेमभूता मातः प्रसज्जन्ति प्रमादतः ॥२६५३॥

तथाक्षपनाबोऽत्र मुक्तिद्वीपसमीपगाः । दुग्धानवरणामर्ष्यरत्नपूर्णा भवाम्बुधौ ॥२६५४॥

निमज्जन्ति न संदेहो विना निर्यापकंभुवि । प्रमादेन ततो मृग्यामृषीनिर्यापकाः बुधैः ॥२६५५॥

अर्थ—जिसप्रकार रत्न और स्वर्ण से भरी हुई तथा नगर के समीप पहुंची हुई कोई नाव बिना मत्साहों के अपने प्रमाद से ही समुद्र में डूब जाती है उसीप्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यरूपी अमूल्य रत्नों से भरी हुई और मोक्षकपी

हीन के समीप पहुँची हुई क्षपकरूपी नाव बिना निर्यापिकाचार्य के अपने प्रमाद से ही संसाररूपी समुद्र में डूब जाती है इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, इसलिये बुद्धिमान मुनियों को समाधिभरण धारण करने के लिये निर्यापिकाचार्य अवश्य तलाश कर लेना चाहिये ॥२६५३-६६५५॥

आचार्य परीक्षा करके आगन्तुक साधु को स्वीकार करते हैं—

आचार्यः सोऽपि तं युक्त्या प्रपरीक्ष्यपरार्थकृत् । स्वीकुर्यात्स्वगणपृष्ठद्योतमार्थसाधनोद्यतम् ॥५६॥

अर्थ—तदनंतर परीपकार करने में तत्पर वे आचार्य भी युक्तिपूर्वक उसकी परीक्षा करते हैं फिर अपने गण को पूछकर मोक्ष के साधन में लगे हुए उन मुनि को अपने पास रहने की स्वीकारता देते हैं ॥२६५६॥

मुक्ति एकान्त में दोषों की आलोचना करता है—

ततोऽक्षपको नत्वा ह्येकान्तसूरिसन्निधौ । ऋषुचित्तःस्वशुद्धधर्मकुर्वादासोधनंस्कृतम् ॥२६५७॥

अर्थ—तदनंतर सरल हृदय को धारण करनेवाला वह क्षपक भी किसी एकान्त में आचार्य के समीप नमस्कार कर बैठता है और अपने आत्मा की शुद्धि के लिये स्पष्ट रीति से अपने दोषों की आलोचना करता है ॥२६५७॥

रत्नत्रय में लगे दोषों की आलोचना करें—

मूलोत्तरगुणादीनारत्नत्रयस्य जातुचित् । अतीचाराः कृताः स्वेन कारिता ये परेण च ॥२६५८॥

हृदनुमानिता ये तान्त्रिशुद्ध्यासक्तान्मत्मान् । त्यक्त्वालोचनदोषान् स सर्वान् सूरि निवेदयेत् ॥

अर्थ—मूलगुण वा उत्तरगुणों में वा रत्नत्रय में कभी भी जो अतिचार लगाये हों, वा दूसरों से लगवाये हों वा हृदय से उनकी अनुमोदना की हो उन सबको आलोचना के समस्त दोषोंसे रहित होकर मन-बचन-कायकी शुद्धतापूर्वक आचार्य से निवेदन कर देना चाहिये ॥२६५८-२६५९॥

बालक वत् मायाचारी बाबि दूषण रहित आलोचना करें—

ऋषुबुद्धिर्यथा बालो धृष्टास्वस्यमनोयतम् । मायातण्ड्येनवाजानन् वाच्या वाच्यादिकं वचः ॥

मायाभिमानलज्जार्थोत्स्यक्त्वाशुद्धिमतिरतथा । यथाजातान् तथा बोधान् भाषतेसूरिसन्निधौ ॥६१॥

अर्थ—जिसप्रकार सरल बुद्धिको धारण करनेवाला बालक कहने योग्य वा न कहने योग्य वचनों को नहीं जानता हुआ यथार्थ रीतिसे अपने मनकी बात बतला देता है उसीप्रकार शुद्ध बुद्धि को धारण करनेवाले उन मुनियों को भी मायाचारी अभिमान

और लज्जा को छोड़कर आचार्य के समीप समस्त दोषों को यथार्थ रीति से कह देना चाहिये ॥२६६०-२६६१॥

तदनन्तर आचार्य क्षपक को प्रायश्चित्त देते हैं—

तदेवागमदृष्टधासीगणी सहोषणान्तये । ददातिविधिना तस्मै प्रायश्चित्तं यथोचितम् ॥२६६२॥

अर्थ—तदनन्तर उन दोषों को शांत करने के लिये वे आचार्य भी आगम में कहे अनुसार विधिपूर्वक यथायोग्य प्रायश्चित्त उनके लिये देते हैं ॥२६६२॥

तदनन्तर आचार्य एवं क्षपक क्या करते हैं—

ततः स क्षपकः शक्त्यारत्नत्रयविशुद्धये । योवस्तः सूरिणावपठस्तं सर्वमाचारैकमात् ॥२६६३॥

यथाचार्यमुनेस्तस्यहितायाह शुभाशुभान् । मृत्युमेवान्भुतास्तप्तदशनीचोक्त्वजन्मवान् ॥२६६४॥

अर्थ—तदनन्तर वह क्षपक भी अपने रत्नत्रय को शुद्ध करने के लिये आचार्य के द्वारा दिये हुये समस्त वण्ड को अपनी शक्तिके अनुसार अनुक्रम से पालन करता है । इसके बाद वे आचार्य उन मुनिराज का हित करने के लिये ऊँच और नीच योनि में जन्म देनेवाले और इसीलिये शुभ-अशुभ ऐसे मृत्यु के सत्रह भेदों को शास्त्र के अनुसार कहते हैं ॥२६६३-२६६४॥

जिनेन्द्रदेव उपदिष्ट मरण के १० भेद—

आधोविस्तद्ध्यास्यं चाधधिरास्तसंज्ञकम् । सशल्यं गूढपृष्ठस्यं जिघ्रासगरुडं ततः ॥२६६५॥

व्युत्सृष्टं हि वसाकाख्यंसंक्षिप्तमरणं गूणाम् । मरणानिवशानि भावितानि जिनेश्वरैः ॥६६॥

अर्थ—आधोविमरण, भक्षमरण, अधधिमरण, आघंतमरण, सशल्यमरण, गूढ-पृष्ठमरण, जिघ्रासमरण, व्युत्सृष्टमरण, वलाकामरण और संक्षिप्तमरण इसप्रकार ये वंश प्रकार के मरण भगवान् जिनेन्द्रदेव ने बतलाये हैं ॥२६६५-२६६६॥

बालबाल मरणादि मरण के सात भेद—

बालबालमूर्तिर्बालो बालपंडितनामकम् । चतुर्थं मरणं भक्तप्रत्याख्यानमभिधानकम् ॥२६६७॥

इंगिनीमरणं नाम प्रयोपगमनाभिधम् । मरणं सप्तमं सर्वव्येष्टं पण्डितपण्डितम् ॥२६६८॥

अर्थ—बालबालमरण, बालमरण, बालपंडितमरण, भक्तप्रत्याख्यानमरण, इंगिनीमरण, प्रायोपगमनमरण और सर्वोत्तम पंडितपंडितमरण इसप्रकार सात मरण ये बतलाये हैं ॥२६६७-२६६८॥

१७ प्रकार के मरण किसके कारण ?

इमानि वेहिनासप्तदशोक्तानि जिनागमे । सद्गतीता कर्तुं रिमरणाणि गणेशिना ॥२६६६॥

अर्थ—इसप्रकार भगवान गणेशदेव ने अपने जिनागम में प्राणियों को सद्-
गति और असद्गति देनेवाले ये सत्रह प्रकार के मरण बतलाये हैं ॥२६६६॥

आवीचिमरण का स्वरूप—

यथाब्धौ जलीघानां वीक्ष्यः सद्यमं प्रति । उद्धूयोद्धूयत्तत्रैव विलीयन्ते तथा गिनाम् ॥२६७०॥

उद्धूयोद्धूयकर्मणुः पुद्गलाणु यः क्षयः । रसनाप्रस्थं ज्ञेयमावीचिमरणं हि तत् ॥२६७१॥

अर्थ—जिसप्रकार समुद्र में पानी के समूह की लहरें समय-समय पर उठती हैं
और उठ-उठकर उसी में लीन हो जाती हैं उसीप्रकार संसार जीवों का आयुर्कर्म प्रत्येक
समय में उदय होता रहता है और अपना रस देकर खिर जाता है, इसको आवीचि-
मरण कहते हैं । यह आवीचिमरण प्रतिदिन प्रति समय होता रहता है ॥२६७०-
२६७१॥

भव मरण एवं अवधिमरण का स्वरूप—

भुज्यमानायुषः पुंसो योऽन्तिमेसमये भुवि । प्राणत्यागो हि तद्विधिमरणं तद्भवाह्वयम् ॥२६७२॥

प्रकृत्यार्थं श्चतुर्विधं विदुः प्राणभवे मृतः । यस्तस्य तादृशं क्वावधार्यमरणं हि तत् ॥२६७३॥

अर्थ—जो मनुष्य अपनी आयु को भोगकर अंतिम समय में प्राण त्याग कर
देता है उसको भवमरण कहते हैं । इस जीव ने पहले भव में जैसे प्रकृति स्थिति आदि
चारों प्रकार के कर्मों का बंध कर मरण किया था यदि वैसे ही कर्मों का बंध कर मरण
करे तो उसको अवधिमरण कहते हैं ॥२६७२-२६७३॥

आद्यंत मरण एवं सशल्य मरण का स्वरूप—

प्राक्तनास्त्वभवात्तुं रन्यादृशं चतुर्विधं । प्रकृत्यार्थं मूर्तिर्यानुराद्यममरणं हि तत् ॥२६७४॥

मायाभिध्यानिदानार्थः शल्यः सार्द्धं कषाघ्निराह्वयम् । यत्प्राणसोचनं निश्चयं सशल्यमरणं हि तत् ॥

अर्थ—पहले भव में जैसे प्रकृति स्थिति आदि कर्मों का बंध किया था उससे
भिन्न प्रकृति स्थिति आदि कर्म प्रकृतियों का बंध कर जो मरण करता है उस मरणको
आद्यंत मरण कहते हैं । कषायों को धारण करनेवाले जीव माया, मिथ्या, निदान इन
तीनों शल्यों के साथ-साथ जो प्राण त्याग करते हैं उसको निश्चय सशल्यमरण कहते हैं ।
॥२६७४-२६७५॥

गृध्रपृष्ठ मरण एवं जिघ्रासमरण का स्वरूप—

मृत्यु यः क्रियते हस्तिकलेवरादिषु वचित् । प्रविश्य प्राणिभिर्गृध्रपृष्ठमरणं रक्षतम् ॥२६७६॥
स्वस्थस्थेन दुराचारैः कृत्वा धारणनिरोधनम् । क्रियते स्वात्मघातो यो जिघ्रासमरणं हि तत् ॥७७॥

अर्थ—हाथी आदि पशुओं के कलेवरों में प्रवेश कर जो प्राणी मर जाते हैं उसको गृध्रपृष्ठमरण कहते हैं । जो मनुष्य अपने ही दुराचारों से स्वस्थ स्थिति में आत्मघात कर लेते हैं उसको जिघ्रासमरण कहते हैं ॥२६७६-२६७७॥

व्युत्सृष्टमरण एवं बलाकामरण का स्वरूप—

दर्शनज्ञानचारित्र्ययन्तु कदाशठात्मभिः । विधीयते मृतिर्यात्र व्युत्सृष्टमरणं च तत् ॥२६७८॥
पार्श्वस्थेनात्र यत्प्राणमोचनं शिथिलात्मनाम् । वीक्षितानां दुराचारैर्वलाकामरणं हि तत् ॥२६७९॥

अर्थ—जो मूर्ख सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य इन तीनों रत्नत्रयों को छोड़कर मर जाते हैं उसको व्युत्सृष्टमरण कहते हैं । शिथिल आचरणों को धारण करनेवाले वीक्षित मुनि अपने दुराचरण के कारण प्राण त्याग करते हैं अथवा पार्श्वस्थ आदि पांच प्रकार के त्याग्य मुनि जो प्राण त्याग कर करते हैं उसको बलाकामरण कहते हैं ॥२६७८-२६७९॥

संक्लेश मरण एवं बालबाल मरण का स्वरूप—

बुझामचरणाधारेषु संक्लेशं विधाय यः । मृत्युस्तपस्विनां चित्ते संक्लेशमरणं च तत् ॥२६८०॥
सम्यग्ज्ञानव्रताधारावृत्ते प्राणविसर्जनम् । मिथ्यादृष्टा हि यद्बालबालमरणं च तत् ॥२६८१॥

अर्थ—अपने हृदय में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य में या अपने आचरणों में संक्लेश उत्पन्न कर जो तपस्वियों की मृत्यु होती है उसको संक्लेशमरण कहते हैं । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य से रहित मिथ्यादृष्टियों की जो मृत्यु होती है उसको बालबालमरण कहते हैं ॥२६८०-२६८१॥

बालमरण का स्वरूप—

बुझामे सति सद्बुद्धेर्योत्प्रेतरप्रताडिना । शिशोरिव बालपुस्त्यागस्तद्बालमरणाह्वयम् ॥२६८२॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि पुरुष सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के रहते हुए भी अणुव्रत वा महाव्रतों के बिना बच्चे के समान जो मृत्यु को प्राप्त होते हैं उसको बालमरण कहते हैं ॥२६८२॥

बालपण्डित मरण का स्वरूप—

स्थावरध्वंसमाद्यैः सूक्ष्मपञ्चाद्यवर्तनैः । बालास्त्रसांगिरक्षाद्यैः स्थूलपञ्चाद्यवर्तनैः ॥२६८३॥
पण्डिताः श्रावकाश्चात्र प्रोच्यन्ते बालपण्डिताः । अणुवतः पुष्पां तेषां मरणं बालपण्डितम् ॥२६८४॥

अर्थ—श्रावक लोग स्थावर जीवों की हिंसा सूक्ष्म मिथ्याभाषण आदि सूक्ष्म-
रूप से पाँचों पापों की प्रवृत्ति करने के कारण बालक कहलाते हैं तथा त्रस जीवों की
रक्षा करते हैं, स्थूल मिथ्याभाषण का त्याग करते हैं, इसप्रकार स्थूल रीति से पाँचों
पापों का त्याग कर देते हैं, इसलिये वे पण्डित कहलाते हैं । इसप्रकार वे श्रावक बाल-
पण्डित कहलाते हैं, उन अणुवत धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टि श्रावकों का जो मरण है
उसको बालपण्डितमरण कहते हैं ॥२६८३-२६८४॥

भक्त प्रत्याख्यान एवं इंगिनीमरण का स्वरूप —

यद्भुक्ताहारपानादींस्त्यक्त्वा स्वस्थप्रतिभया । प्राणोज्झनं च सा भक्तप्रत्याख्यानाह्वयामृतिः ॥२६८५॥
आत्मनोऽर्पिताकारेणाभिप्रायेण योगिभिः । साध्वते मरणं यत्तद्विनिर्णीमरणं हि तत् ॥२६८६॥

अर्थ—जो मुनि प्रतिज्ञापूर्वक श्रावों प्रकार के आहार का त्याग कर प्राण
त्याग करता है उसको भक्तप्रत्याख्यान नामका मरण कहते हैं । जो योगी अपने आत्मा
के इशारे से आत्मा के अभिप्राय के अनुसार अपने मरण को सिद्ध कर लेते हैं उसको
इंगिनीमरण कहते हैं ॥२६८५-२६८६॥

प्रायोपगमन मरण का स्वरूप—

प्रायेणोपगमं कृत्वा जना स्थानाद्वनान्तरे । पापाद्वैकाकिनाधीर्यमिनामल्लभायते ॥२६८७॥
मरणं स्वमपुःक्षिप्य ह्येकस्मिन्नचलासने । कस्मिन्निश्चिन्मरणं तत्स्वात्प्रायोपगमनाह्वयम् ॥२६८८॥

अर्थ—जो धीर वीर एकाकी मुनि पापरूप मनुष्यों के स्थान को छोड़कर
प्रायः निर्जन वनमें चले जाते हैं और अपने शरीर को किसी एक ही निश्चल आसन से
विराजमान कर उस शरीर का त्याग कर देते हैं उसको प्रायोपगमन मरण कहते हैं ।
॥२६८७ २६८८॥

पण्डित मरण के भेद एवं उसके स्वामी कौन ?

भक्तोऽभक्तादिनामानोऽसृष्ट्युमेवास्त्रयोऽध्यमी । ज्ञेया पण्डितमृत्योश्च प्रमत्तादिमहात्मनाम् ॥२६८९॥

अर्थ—भक्तप्रत्याख्यानमरण, इंगिनीमरण और प्रायोपगमन मरण ये तीनों
मरण पण्डितमरण के भेद हैं और प्रमत्तसंयमी वा अप्रमत्तसंयमियों के होते हैं ॥२६८९॥

पण्डित पण्डित मरण का स्वरूप—

एवमस्मा केवलितं प्राणान्गमनं पण्डितवाच्यम् । मरणं तज्जगज्ज्येष्ठं बंधं पण्डितपण्डितम् ॥२६६०॥

अर्थ—केवली भगवान जो अपने शरीर को छोड़कर मोक्ष के लिये गमन करते हैं, वह तीनों लोकों में उत्तम और अद्वितीय पण्डित पण्डितमरण कहलाता है । ॥२६६०॥

सैकड़ों जन्म को नष्ट करनेवाले पण्डित मरण की प्रेरणा—

अभीष्टं मरणान्न भवत्येवमपि पण्डिताह्वयम् । मरणं क्षपक एवं सत्साधयान्प्रयत्नतः ॥२६६१॥

साधितं मरणं ह्येकं पण्डिताह्वयप्रयत्नतः । बहुजन्मशताब्दीनि क्षपकारणां छिनत्त्यहो ॥२६६२॥

अर्थ—हे क्षपक ! इन सब मरणों में जो पण्डितमरण है उसी को तु प्रयत्नपूर्वक सिद्ध कर । यदि यह एक पण्डितमरण ही प्रयत्नपूर्वक सिद्ध कर लिया जायगा तो उससे उस क्षपक के अनेक सैकड़ों जन्म-मरण क्षणभर में नष्ट हो जायेंगे ॥२६६१-२६६२॥

कैसे मरण युक्त मरण करना चाहिये ?

अतः सम्भरसेनात्र मतं ध्यं तेन धीधर्मैः । येनोत्पत्तिः पुन न स्याज्जन्ममृत्युजराविधा ॥२६६३॥

अर्थ—अतएव बुद्धिमानों को श्रेष्ठ मरण से ही मरना चाहिये जिससे कि जन्म-मरण और बुढ़ापे को उत्पन्न करनेवाला जन्म फिर कभी न हो ॥२६६३॥

कैसे जीव समाधिमरण रहित मरण करते हैं—

ये प्रणष्टमतिज्ञानाश्चतुःसंज्ञाविडंबिताः । कौटिल्यपरिणामाश्चमोहारिप्रसिताः शठाः ॥२६६४॥

कषायाकुलचेतस्काः सनिदानाद्गुञ्जिताः । आर्तरीद्वित्रिदुर्लभ्याः शुभध्यानातिगा नराः ॥२६६५॥

असमाधिहृदा क्लेशेन छिद्यन्ते समाधिना । आराधके न ते प्रोक्तामृती ससृतिवटं नात् ॥२६६६॥

अर्थ—जिन जीवों का मतिज्ञान नष्ट हो गया है, जो आहार, भय, मंथन, परिग्रह इन चारों संज्ञाओंसे विडंबित हैं, जिनके परिणाम कुटिल रहते हैं, जो मोहरूपी शत्रु से दबे हुये हैं, जो सुख हैं, जिनके हृदय कषाय से आकुलित रहते हैं, जो सदा निदान करते रहते हैं, जो सम्यग्दर्शन से रहित हैं, जो आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानमें लीन रहते हैं, पहिली तीन अशुभलेश्याओं को धारण करते हैं, जो शुभध्यान से बहुत दूर रहते हैं और जिनके हृदय में कभी भी समाधि को स्थान नहीं मिलता ऐसे लोग बिना समाधिमरण के केवल क्लेशपूर्वक ही मरते हैं । इसलिये आराधना करनेवालों को मरण

के समय इन सबका त्याग कर देना चाहिये । क्योंकि ये सब जन्म मरणरूप संसार को बढ़ाने वाले हैं ॥२६६४-२६६६॥

कौन जीव देव दुर्गतियों में उत्पन्न होते हैं—

मरणेनष्टबुद्धीर्नाधिराधितेसतिस्फुटम् । देवदुर्गंतयोत्तुर्नभवन्त्यात्रशुभाकराः । २६६७॥

अर्थ—नष्ट बुद्धि को धारण करनेवाले जो लोग अपने मरण की विराधना कर देते हैं वे जीव महा पाप की खानि ऐसी देव दुर्गतियों में उत्पन्न होते हैं ॥२६६७॥

रत्नत्रय की प्राप्ति इस लोक में दुर्लभ है—

बोधिसम्यक्त्वमत्यन्तदुर्लभं भवकोटिभिः । आगमिष्यति कामेह्यमन्ताबुधं पद्मतिः ॥२६६८॥

अर्थ—इस लोक में रत्नत्रय और सम्यक्त्व का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है, करोड़ों भवों में भी प्राप्त नहीं होता यदि प्राप्त होता है तो काललब्धि के अनुसार प्राप्त होता है । तथा नीच जन्मों की परम्परा अनन्तवार प्राप्त होती चली आ रही है ॥२६६८॥

देव दुर्गति आवि क्या है, शिष्य ऐसा प्रश्न करता है—

देवदुर्गंतयः काश्च का बोधिर्मरणं हृत्वा । विनश्यतिमुमुक्षुर्लोकदृशेन भवो भवेत् ॥२६६९॥

अनन्तः केन शिष्येण पृष्ठः सूरिरिति स्फुटम् । उवाच देवदुर्गंत्यादिकं सर्वं तदोहितम् ॥२७००॥

अर्थ—यहाँपर कोई शिष्य अपने आचार्य से पूछता है कि हे प्रभो ! देव दुर्गति क्या है ? रत्नत्रय किसको कहते हैं ? मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियोंका मरण कैसे हृदय से नष्ट हो जाता है जिससे कि उसको अनन्त संसार की प्राप्ति होती है । इसके उत्तर में आचार्य उस शिष्य की इच्छानुसार देव दुर्गति आवि का स्वरूप कहते हैं ॥२६६९-२७००॥

देव दुर्गति एवं उसमें उत्पन्न जीव का स्वरूप—

कंदर्पमाभियोग्यं च कैलिवध्यं किल्बिषाकरम् । स्वमोहत्वतर्थासुरम्वमेतः कुलक्षणः ॥२७०१॥

सम्पन्नादुद्दिष्टो मूत्वा गच्छन्ति देवदुर्गतिः । कंदर्पाद्यादिति प्रोक्ता नीचयोनिभवा विवि ॥२७०२॥

अर्थ—जो मूर्ख कंदर्प जाति के कुलक्षणों को अभियोग्य जाति के कुलक्षणों को पापकी खानि ऐसे किल्बिष रूप कुलक्षणोंको स्वमोहत्व और असुर रूप कुलक्षणोंको धारण कर मरते हैं वे देव दुर्गतिमें उत्पन्न होते हैं । स्वर्गों में कंदर्प आदि नीच योनि में उत्पन्न होनेवाले जो देव हैं उन्हीं की गति को देव दुर्गति कहते हैं ॥२७०१-२७०२॥

कैसे पाखण्डी साधु कंदर्पमय क्रिया करनेवाले देव होते हैं—

असत्यं यो वृद्धन् हास्यसरागवचनानादिकान् । कन्दर्पोद्दीपकास्त्रोकेकंदर्परतिरंजितः ॥२७०३॥

कन्दर्पाः सन्ति देवा ये नानाचार्याः सुरालये । कन्दर्पकर्मभिस्तेषु ह्युत्पद्यते सतततमः ॥२७०४॥

अर्थ—जो साधु होकर भी असत्य वचन बोलते हैं, हंसी ठट्ठा के वचन कहते हैं, राग बढ़ाने वाले वचन कहते हैं, कामदेव को बढ़ाने वाले उत्तेजित करनेवाले वचन कहते हैं और जो कामसेवन में लीन हो जाते हैं, ऐसे जीव मरकर स्वर्ग में कंदर्प जाति के देव होते हैं वहाँ पर भी वे काम को बढ़ाने वाली क्रियाएं ही करते रहते हैं । इस प्रकार कंदर्पमय क्रियाओं के करने से वे पाखण्डी स्वर्ग में भी वैसे ही कंदर्पमय क्रियाएं करनेवाले होते हैं । ऐसे देवों को नानाचार्य भी कहते हैं ॥२७०३-२७०४॥

कैसे साधु वाहन जाति के देव बनते हैं—

मंत्रतंत्राविकर्माणि यो विधत्ते बहूनि च । ज्योतिष्कभेषजादीनिपराकार्याशुभानि च ॥२७०५॥

हास्यकौतूहलादीनि करोतिस्वेच्छया वदेत् । हस्त्यश्वबाहनेष्वत्र जायते सोमरोधमः ॥२७०६॥

अर्थ—जो मनुष्य साधु होकर भी मंत्र तंत्र आदि अनेक कार्यों को करता है, ज्योतिष्क वा वैद्यक करता है तथा ऐसे ही ऐसे और भी बहुत से अशुभ कार्य करता है, हंसी करता है, कौतूहल तमाशे आदि करता है और इच्छानुसार चाहे जो बोलता है, वह मर कर हाथी, घोड़ा आदि बनने वाले वाहन जाति के नीच देवों में उत्पन्न होता है ॥२७०५-२७०६॥

कैसे आचरण करने से साधु मरकर किल्बिष जाति के देवों में उत्पन्न होता है—

तीर्थकृता च संघस्य चैत्यचैत्यालयस्य च । आगमस्याविनीतो यः प्रत्यनीकः सुधर्मिणाम् ॥२७०७॥

मायावीकिल्बिषाकान्तः किल्बिषादि कुकर्मभिः । स किल्बिषसुरो नीचो भवेत्किल्बिष जातिषु ॥

अर्थ—जो तीर्थंकरों की अविनय करता है, संघ की अविनय करता है, चैत्य चैत्यालयों की अविनय करता है, आगम की अविनय करता है, धर्माल्माओं के प्रतिकूल रहता है, जो मायाकारी है और महापापी है वह अपने महापापों के कारण किल्बिष जाति के देवों में नीच किल्बिष देव होता है ॥२७०७-२७०८॥

कैसे साधु मरकर नीच व मोह जाति में उत्पन्न होते हैं—

उन्मागंवेशको योऽत्र जिनमागंधिनाशकः । सन्मार्गाद्विपरीतोऽत्र दृष्टहीनः कुमार्गगः ॥२७०९॥

मिथ्यामायादिमोहेन मोहयन्मोहपीडितः । जायते स स्वमोहेषु स्वभंडाभिरजातिषु ॥२७१०॥

अर्थ—जो साधु कुमार्ग का उपदेश देता है, जिनमार्गका नाश करता है, श्रेष्ठ मोक्षमार्ग से सदा विपरीत रहता है, जो सम्यग्दर्शन से रहित है, कुमार्गगामी है, जो मिथ्यात्व मायाचारी आवि तीव्रमोह से मोहित है, जो तीव्रमोह के कारण अत्यंत दुःखी है वे स्वच्छन्द देवों में उत्पन्न होते हैं । देवों की स्वभंड नामकी नीच जाति में स्वमोह वा श्वमोह (कुत्ते के समान इधर-उधर स्वच्छंद फिरने वाले) देव होते हैं ॥२७०६-२७१०॥

अम्बावरीष जाति में एवं असुरकुमारों में कैसे कर्म वाले साधु उत्पन्न होते हैं—

क्षुद्रः क्रोधीखलोमानीमायावीदुर्जयोयतिः । युक्तोनुबद्धधरेणतपश्चारित्रकर्मणु ॥२७११॥
संक्लिष्टसनिदानो यः उत्पद्यतेऽयकर्मणा । रौद्रासुरकुमारेषुसोम्बरावि कुजातिषु ॥२७१२॥

अर्थ—जो साधु क्षुद्र हैं, क्रोधी हैं, दुष्ट हैं, अभिमानी हैं, मायाचारी हैं, दुर्जन हैं, जो पहले जन्म के वा इसी भव के पहले वरभावों को धारण करते हैं जो तपश्चरण और चारित्र की क्रियाओं में संक्लेशता धारण करते हैं और जो निदान करते रहते हैं वे पापरूप कर्मों के कारण अम्बावरीष जाति के नीच और रौद्र असुरकुमारों में उत्पन्न होते हैं ॥२७११-२७१२॥

रत्नत्रय की प्राप्ति कैसे साधु को दुर्लभ है—

मिथ्यादर्शनरक्ता ये सनिदानाः कुमार्गणा । कृष्णलेश्योद्धतारौद्रपरिणामागुणातिगः ॥२७१३॥
रयक्त्वा सद्दर्शनसंक्लेशयान्मृयन्तेसमाधिना । ससारे भ्रमतां तेषां बोधिश्चातीवदुर्लभा ॥२७१४॥

अर्थ—जो जीव मिथ्यादर्शन में लीन रहते हैं, जो सदा निदान करते रहते हैं जो कुमार्गगामी हैं, कृष्णलेश्या को धारण करने के कारण जो अत्यन्त उद्धत रहते हैं, जो रौद्र परिणामों को धारण करते हैं और गुणों से सर्वथा बूर रहते हैं, ऐसे जो जीव सम्यग्दर्शन को छोड़कर बिना समाधि के संक्लेश परिणामों से मरते वे जीव सदा इस संसार में परिभ्रमण किया करते हैं । उनको रत्नत्रय की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ हो जाती है ॥२७१३-२७१४॥

रत्नत्रय की प्राप्ति दूसरे भव में भी कैसे जीवों को सुलभ है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्ना अनिदानाः शुभाशयाः । शुक्ललेश्याः शुभध्यानरताः सिद्धान्तवेदिनः ॥१५॥
धर्मध्यानादिसम्यासंयममृयन्तेसमाधिना । तेषामासन्नभ्यानांसुलभाबोधिस्तमा ॥२७१६॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन से सुशोभित हैं, कभी निदान नहीं करते, जिनका हृदय

शुद्ध है, जो शुक्ललेश्या धारण करते हैं, शुभध्यान में सदा लीन रहते हैं और सिद्धांत-शास्त्रों को जानते हैं, ऐसे जो मुनि समाधि पूर्वक धर्मध्यान वा शुक्लध्यान धारण कर सन्यास से मरण करते हैं उन आसन्न भव्य जीवों के उत्तम रत्नत्रय की प्राप्ति अत्यन्त सुलभ रीति से हो जाती है ॥२७१५-२७१६॥

कैसे जीव अनन्त संसार में भ्रमण करते हैं—

गुरुणांप्रत्यनीका ये दीर्घमिथ्यात्ववासिताः । महुमोहावृतादुष्टा आतंरौद्रपरायणाः ॥२७१७॥

मदोद्धताः कुशीलाश्चमृयन्तेऽत्रासमाधिना । स्युस्तेऽनन्तसंसारा विश्वदुःखशताकुलः ॥२७१८॥

अर्थ—जो जीव आचार्य वा गुरु से सदा प्रतिकूल रहते हैं, जो दीर्घमिथ्यात्व को धारण करते हैं, जो तीव्र मोह से घिरे हुए हैं, जो दुष्ट हैं, आतंरौद्र परिणामों को धारण करते हैं, मद से मदोन्मत्त हैं, जो कुशीली हैं, ऐसे जीव बिना समाधि के मर कर अनन्त संसार में परिभ्रमण किया करते हैं और सब तरह के संकड़ों महा दुःखों से व्याकुल रहते हैं ॥२७१७-२७१८॥

कैसे जीव संसार से शीघ्र पार हो जाते हैं—

जिनवाक्यनुरक्ता ये गुरुणां भक्तितत्पराः । शुद्धभावाः सदाचारा रत्नत्रयविसूषिताः ॥२७१९॥

गुर्वाशालकुविक्षा धर्मध्यानसमाधिना । उत्तमं मरणं यान्ति स्युस्ते संसारपारगाः ॥२७२०॥

अर्थ—जो जीव जिनवाणी में सदा अनुरक्त रहते हैं, गुरुओं की भक्ति करने में तत्पर रहते हैं, शुद्ध भावों को धारण करते हैं, सदाचार पालन करते हैं, रत्नत्रय से सुशोभित हैं, गुरु की आज्ञा को सदा पालन करते रहते हैं और जो चतुर हैं, ऐसे जीव धर्मध्यान और समाधि पूर्वक उत्तम मरण को प्राप्त होते हैं और शीघ्र ही संसार से पार हो जाते हैं ॥२७१९-२७२०॥

दुर्मरण से मरने का फल—

बालबालाशुभान्मृत्युन्मरिष्यन्तिबह्वंश ते । जिनवाक्यं न जानन्ति वराका येऽद्यवंचिताः ॥२१॥

स्वान्यशस्त्रादिघातेनविषाविभक्षणेन च । जलानलप्रवेशान्यामनाचाराविकोटिभिः ॥२७२२॥

उच्छ्वासरोधनाद्यैर्दुर्मृतिस्त्वस्यकुर्वते । जन्ममृत्युभरादुःखीघस्तेषां वर्द्धतेतराम् ॥२७२३॥

अर्थ—जो जीव अनेक बार अत्यन्त अशुभ ऐसे बालबालमरण से मरते हैं, जो जिनवाक्यों को जानते ही नहीं, जो नीच हैं, पाप से ठगे हुए हैं, जो अपने ही शस्त्र से वा दूसरे के शस्त्र धातसे मरते हैं वा विषभक्षण से मरते हैं, जलमें डूबकर वा अग्नि

में जलकर मरते हैं वा करीबों अनाचारों के कारण श्वास रोक कर मरते हैं, इसप्रकार जो दुर्मरण से मरते हैं, उनके जन्म-मरण-जरा आदि अनेक दुःखों के समूह निरंतर बढ़ते रहते हैं ॥२७२१-२७२३॥

आचार्य क्षपक को बालबालमरण का स्वरूप उसके त्याग हेतु समझाते हुये पंडितमरण की प्रेरणा—

उद्वेगभयसंक्लेशैरुद्धर्ध्विस्त्रिजगत्स्वपि । त्रिसंस्थावर जीवेषु पराधीनतया त्वया ॥२७२४॥

मरणानि ह्यनन्तानिबालबालाशुभानि च । अन्यैः प्राप्तानि च सर्वैरक्षांशैर्बोधिरगैः ॥२७२५॥

अर्थ—हे क्षपक । इस ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक रूप तीनों लोकों में तथा त्रिसंस्थावर आदि अनेक जीव योनियों में पराधीन होकर उद्वेग भय और संक्लेश रूप परिणामों से अनंतवार अशुभ बालबालमरण किये हैं तथा इसीप्रकार रत्न-त्रय से रहित और जीवों की रक्षा करने में अंधे ऐसे अन्य समस्त जीवों ने अनंतवार बालबालमरण किये हैं ॥२७२४-२७२५॥

क्षपक त्रियोगशुद्धि पूर्वक ४ आराधना की शुद्धि करता है—

ज्ञात्वेति क्षपकेह त्वं भूयस्वास्त्रियतनतः । पण्डितेनमुदाधेनमृष्ट्युघ्नश्चभविष्यसि ॥२७२६॥

इत्याचार्योपदेशेन योग्यस्थाने मठाधिके । समाधिसिद्धये युक्त्यासंस्तरं स प्रपद्यते ॥२७२७॥

अर्थ—यही समझकर हे क्षपक तू प्रसन्न होकर प्रयत्न पूर्वक पंडितमरण से मर जिससे कि तेरा जन्ममरण सदा के लिये नष्ट हो जाय । इसप्रकार आचार्य का उपदेश सुनकर वह क्षपक अपनी समाधि धारण करने के लिये युक्तिपूर्वक किसी मठ आदि योग्य स्थान में अपने बनाये हुये सांयरे पर पहुंचता है ॥२७२६-२७२७॥

क्षपक ४ आराधना की शुद्धि एवं धारण करने के लिये कैसा चितवन करता है—

तदेवाराधनाशुद्धौश्चतुर्विधादूगादिकाः । मनोवाक्कायसंशुद्ध्या कर्तुंभारभतेसुधीः ॥२७२८॥

शंकादिवोषदूरस्थाः सद्गुणाष्टविमूषिताः । धर्मरत्नसूतीमेस्तु दृग्निशुद्धिर्दृढापरा ॥२७२९॥

सर्वज्जघ्निषम्भूतास्वांगपूर्वादिगोचरा । शुद्ध्या भक्तुमेक्षामाराधनाचारपूषिका ॥२७३०॥

त्रयोदशविधा पूर्णा व्रतैः समितिगुप्तिभिः । सर्वैः बोधातिगा चास्तुचारिवाराधनामम् ॥२७३१॥

समस्तेच्छामिरोधोत्था तपः आराधनापराम् । उपोषाख्यां द्विषद्मेवा कुर्वहं कर्महानये ॥२७३२॥

अर्थ—तदनंतर वह बुद्धिमान मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक सम्यग्दर्शन आदि चारों प्रकार की आराधनाओं की शुद्धि करना प्रारंभ करता है । वह चितवन करता है कि शंकाविक दोषों से रहित तथा निःशंक्ति आदि आठों गुणों से सुशोभित

और धर्मरत्न की खानि ऐसी सम्यग्दर्शन की विशुद्धि मेरी सदा उत्कृष्ट और बृद्ध बनी रहे । जो ज्ञानाराधना भगवान् सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि से प्रगट हुई है, जो ग्यारह अंग और द्वादह पूर्वके शोधर है ऐसी आचार पूर्वक मेरी ज्ञानाराधना सदा शुद्धि बनी रहे । पांच महाव्रत तीनगुप्ति और पांच समितियों से परिपूर्ण ऐसी तेरह प्रकार की मेरी चारिआराधना समस्त दोषों से रहित हो । मैं अपने कर्म नष्ट करने के लिये समस्त इच्छाओं के निरोध करने से उत्पन्न हुई तथा धीरे धीरे उग्र उग्र रूप की धारण करने वाली और बारह प्रकार के भेदों से सुशोभित ऐसी तप आराधना को धारण करूँगा । ॥२७२८-२७३२॥

पुनः क्षपक ४ महा आराधना को धारण करता है—

आराधनाइमासारामहतीश्चंचतुर्विधाः । सर्वोत्कृष्टाः करोत्येष विशुद्धामुक्तिमातृकाः ॥२७३३॥

अर्थ—इसप्रकार चिंतन करता हुआ वह क्षपक मोक्ष की इच्छा देनेवाली, अत्यन्त विशुद्ध, सर्वोत्कृष्ट और सारभूत ऐसी इन चारों प्रकार की महा आराधनाओं को धारण करता है ॥२७३३॥

क्षपक पुनः कषाय एवं काय का सल्लेखना करता है—

तथाकषायकायाम्ब्यां द्विधासल्लेखनां कृती । विधत्ते भुवि निःशल्पः क्षमातेषादिभिः परैः ॥२७३४॥

अर्थ—तदनंतर शल्यरहित वह बुद्धिमान् वह क्षपक क्षमा संतोष आदि श्रेष्ठ गुणों को धारण कर कषाय और काय दोनों की सल्लेखना करता है अर्थात् कषायों को घटाता है और शरीर से ममत्व का त्याग करता है ॥२७३४॥

कषाय सल्लेखना करने की विधि—

आदौ कुर्यात्कषायाणां परां सल्लेखनामिति । क्षमेहं विश्वजीवानामपराधकिलाजसा ॥२७३५॥

कृतं मयापराधं मे क्षम्यतां त्रिजगज्जनाः । सर्वभूतेषु मंत्री च ममास्तुसुखकारिणी ॥२७३६॥

अर्थ—वह क्षपक सबसे पहले कषायों की सल्लेखना करता है वह कहता है कि मैं समस्त जीवों के अपराध को क्षमा करता हूँ तथा मुझसे जो अपराध बने हों, उनकी तीनों लोकों के समस्त जीव क्षमा कर दें । तथा सुख देनेवाली मेरी मंत्री समस्त जीवों में हो ॥२७३५-२७३६॥

पुनः क्षपक सम्पूर्ण विकारों का त्याग पूर्वक समस्त पदार्थों में निर्ममत्व भाव धारण करता है—

गुणानुरागएवालं न धरं केनचित्समम् । राजं कषायसम्बन्धं प्रद्वेवंहर्षमंजसा ॥२७३७॥

दीनभावं भयं शोकं सोऽसुकत्वं कुञ्चिन्तनम् । कालुष्यं कृत्स्नबुद्ध्यनिस्नेहं रत्यरतिद्वयम् ॥२७३८॥
 जुगुप्सादिकमन्यद्वा त्रिशुद्ध्या व्युत्सूजाम्यहम् । सर्वभूतव्याचितः शत्रुमित्रादिवर्जितः ॥२७३९॥
 समत्वं निजबेहादी जहामि सर्वथाखिलान् । निर्ममत्वं सदा चित्तेऽप्रकुर्वे त्रिजगत्स्वपि ॥२७४०॥

अर्थ—समस्त गुणों में मेरा अनुराग हो, मैं किसी के साथ बैरभाव नहीं रखता, मैं राग को, कषायों के संबंध को, द्वेष को, हर्ष को, दीनतारूप परिणामों को, भय, शोक को, असुकता को, अशुभध्यान को, कलुषता को, सब तरह के बुद्ध्यनि को, स्नेह को, रति तथा अरति को, जुगुप्सा को तथा और भी कर्म जन्य जो आत्मा के विकार हैं, उन सबका मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक त्याग कर देता हूँ । मैं अपने हृदय में समस्त जीवों के लिये दया धारण करता हूँ, तथा सबसे शत्रुता वा मित्रता का त्याग करता हूँ । मैं अपने शरीर से भी ममत्व का सर्वथा त्याग करता हूँ, मैं तीनों लोकों के समस्त पदार्थों में निर्ममत्व धारण करता हूँ ॥२७३७-२७४०॥

अपक किस प्रकार का आत्म-चितवन करता है—

आत्मैकालम्बनमेऽस्तुसाहं दृगादिसद्गुणैः । सं बिना त्रिजगज्जालसर्वव्यत्यजाम्यहम् ॥२७४१॥
 आत्मैव मे परं ज्ञानमात्मा क्षायिकवर्शनम् । आत्मा परमचारित्र्यप्रत्याख्यानं च निर्मलम् ॥२७४२॥
 आत्मैव सकलो योग आत्मैवमोक्षसाधनः । यतोऽश्रितेगुणाः सन्ति बिनात्मानं न जातुचित् ॥२७४३॥
 एकाकीभूयते देही ह्येक उत्पद्यते द्विधेः । एका भ्रमति संसारे एकः शुद्धयति नीरजाः ॥२७४४॥
 एको मे शाश्वतोऽत्रात्मा क्षामवर्शनलक्षणः । शेवा मेगादयोभावा बाह्याः संयोगसम्भवाः ॥४५॥

अर्थ—अब मैं सम्यग्दर्शन आदि गुणोंके साथ साथ एक आत्मा का ही आश्रय लेता हूँ, उसके सिवाय तीनों लोकों में भरे हुए समस्त द्रव्यों का मैं त्याग करता हूँ । मेरा यह आत्मा ही परम ज्ञान है, आत्मा ही क्षायिक सम्यग्दर्शन है, आत्मा ही परम चारित्र्य है और आत्मा ही परम निर्मल प्रत्याख्यान है । मेरा यह आत्मा ही समस्त योग रूप है और यही आत्मा मोक्ष का साधन है । क्योंकि आत्मा में जितने गुण हैं वा मोक्ष के कारणभूत जितने गुण हैं वे बिना आत्मा के कभी हो ही नहीं सकते हैं । यह प्राणी इस संसार में कर्म के निमित्त से अकेला ही मरता है, अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही परिभ्रमण करता है और कर्म रहित होकर अकेला ही शुद्ध होता है । सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानस्वरूप यह मेरा एक आत्मा ही नित्य है, बाकी के शरीरादिक जितने मेरे बाह्य भाव हैं वे सब भुभुक्ते भिन्न हैं और सब कर्मादिक के संयोग से उत्पन्न हुए हैं ॥२७४१-२७४५॥

पुनः अपक संयोगों का त्याग करके निंदा पूर्वक प्रतिक्रमण करता है—

येनसंयोगमूलने प्राप्तादुःखपरंपरा । मया तं कर्मजसर्वसंयोगं व्युत्सृजाम्यहम् ॥२७४६॥

मूलोत्तरगुणादोर्मासध्येनाराधितागुणः । यः कश्चित्तं त्रिधादोषं गह्रं प्रतिक्रमामि च ॥२७४७॥

अर्थ—जिस कर्म के संयोग से मुझे अनादि काल से आज तक दुःखों की परंपरा प्राप्त हुई है, उन कर्मों से उत्पन्न हुए समस्त संयोगों को मैं त्याग करता हूँ । मूल-गुण और उत्तरगुणों में जो कोई गुण मैंने आराधन न किया हो उस दोष की मैं मन-बचन-कायसे गह्रा करता हूँ, निंदा करता हूँ और उसके लिये प्रतिक्रमण करता हूँ । ॥२७४६-२७४७॥

पुनः सात भयादि की निंदा करता है—

भयान् सप्तमवातष्टौ जनुः संज्ञास्त्रिगौरवाम् । गह्रं च त्र्यष्टिश्चासादना हि सर्वथा ॥२७४८॥

अर्थ—मैं सातों भयों की निंदा करता हूँ, आठों मदों की निंदा करता हूँ, चारों संज्ञाओं की निंदा करता हूँ, तीनों गौरव या अभिमानों की निंदा करता हूँ और तैंतीस आसादनाओं की सर्वथा निंदा करता हूँ ॥२७४८॥

पुनः सप्त भय एवं अष्ट मदों का त्याग करता है—

इहामुत्रभयोन्नाशानुप्तिमृत्युभयानि च । वेदनाकस्मिकश्च ते जहामि भयसप्तकम् ॥२७४९॥

विज्ञानेश्वर्यमाज्ञा च कुलजातितपोबलाः । रूपं सत्सु गुणेष्वर्चतेषु गच्छामि नो मदम् ॥२७५०॥

अर्थ—इस लोक का भय, परलोक का भय, अपनी रक्षा न होने का भय, अगुप्ति (नगर में परकोट के न होने) का भय, मृत्यु का भय, वेदना का भय और आकस्मिक भय ये सात भय हैं, मैं इन सातों भयों का त्याग करता हूँ । ज्ञान का मद, ऐश्वर्य का मद, आज्ञा का मद, कुल का मद, जाति का मद, तप का मद, बल का मद और रूप का मद ये आठ मद हैं । मैं इन गुणों में होनेवाले सब मदों का त्याग करता हूँ ॥२७४९-२७५०॥

अपक ३३ आसादनाओं के त्याग का संकल्प करता है—

पंचैवावस्थिकायाश्च षड्जीवजासद्यस्ततः । महाव्रतानि पंचप्रवचनस्थाष्टमातरः ॥२७५१॥

पदार्था मव चोक्ता हि त्र्यष्टिश्चावितिल्फुटम् । आसादना जिनं कर्तुं मनाक् कार्यामया न भो ॥५२॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने पांच अस्थिकाय, छह प्रकार के जीव, पांच महाव्रत, आठ प्रवचन मातृकाएं नौ पदार्थ बतलाये हैं, इन सबकी संख्या तैंतीस होती

है इन तैतीसों से संबंध रखना वा इनसे ममत्त्व रखना इनका तिरस्कार करना इनके निमित्त से रागद्वेष उत्पन्न करना तैतीस आसादनाएं खतलाई हैं इन आसादनाओं का मैं रंजमात्र भी नहीं लगने दूंगा ॥२७५१-२७५२॥

कैसे ध्यान पूर्वक हृदय में सल्लेखना धारण करनी चाहिये—

निम्बनीमं च यत्किञ्चित्सर्वनिम्बाभि तद्बुद्धि । गहणीयमकृत्यं यद्गृहेतवगुरुसन्निधौ ॥२७५३॥

इत्याद्यभ्यशुभध्यानेः कृत्वा सल्लेखनां यतिः ॥२७५४॥

अर्थ—इस संसार में जो कुछ निन्दनीय है, उसकी मैं अपने हृदय में निंदा करता हूं तथा जो गहरी करने योग्य दुष्कृत्य हैं उनकी मैं गुरु के समीप में गहरी करता हूं । इसप्रकार के ध्यान से अथवा और भी शुभध्यानों से अपने हृदय में कषायों की सल्लेखना करनी चाहिये और फिर उस मुनि का काय की सल्लेखना करनी चाहिये । ॥२७५३-२७५४॥

अपक शरीर को कैसे कुश करें—

षष्ठाष्टमादिपक्षकमासाद्यमशनैः परैः । तपोभेदोद्विषद्भिरश्चशोषयेत्क्रमतो षणुः ॥२७५५॥

अर्थ—बेला तेला करके वा पंद्रह दिन वा एक सहिने का उपवास करके तथा और भी तपश्चरण के बारह भेदों को धारण करके अनुक्रम से अपने शरीर को कुश करना चाहिये ॥२७५५॥

किस क्रमसे अपक अज्ञादिक का त्याग करता है—

ततस्तपसावाक्रमेणान्नस्तोकरतोकेनधर्मधीः । गृह्णाति केवलं नीरं धर्मध्यानसमाधये ॥२७५६॥

पश्चाद्युक्त्याम्भुपानं च परित्यज्यकरोति सः । परलोकोत्तमार्थाय ह्युपवासाभिरन्तरम् ॥५७॥

अर्थ—तदनंतर उस धर्मबुद्धि को धारण करनेवाले यति को धर्मध्यान और समाधि की प्राप्ति के लिये थोड़ा थोड़ा करके अन्न का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये और केवल उष्ण जल रख लेना चाहिये । तदनंतर वह मुनि परलोक में उत्तम गति प्राप्त करने के लिये वा मोक्ष प्राप्त करने के लिये युक्तिपूर्वक जल पीने का भी त्याग कर देता है और फिर सब के लिये उपवास धारण कर लेता है ॥२७५६-२७५७॥

किस विधि से अपक इन्द्रिय आदि का मुंडन करता है—

मुण्डनं दशमुण्डानां करोत्येषु सुमुक्तिः । संकोच्येन्द्रियवाक्यमनोऽवयवध्वंशनात् ॥२७५८॥

एवमेवाक्षविषयेष्वप्यजतः पञ्चलात्मकान् । जित्वा वाक्त्वा स पञ्चेन्द्रियमुण्डान् कुरुते बलात् ॥५९॥

मौनेन वचनः कृत्वामुण्डनं हस्तपादयोः । वपुषोरोधनं युक्त्यास्वस्वेष्वेष्टाचलनाद्बुधः ॥२७६०॥

निरुध्यभृतपाशेन भ्रमस्तं चित्तभक्तम् । पंचेति मुण्डनान्येषकरोति च शिवाप्तये ॥२७६१॥

अर्थ—तदनंतर वह क्षपक पांचों इन्द्रिय मन-वचन-काय और शरीर की चंचलता को छोड़कर युक्तिपूर्वक दस प्रकार का मुंडन धारण करता है । पांचों इन्द्रियां अपने अपने विषयों में दौड़ लगाती हैं उनको अपनी शक्तिके अनुसार जीतकर जबर्दस्ती पांचों इन्द्रियोंको मुंडन करता है । इसीप्रकार मौन धारण कर वचन का मुंडन करता है, हाथ पैरों की क्रियाओं को रोक कर हाथ पैरों का मुंडन करता है तथा वह बुद्धिमान अपनी इच्छानुसार चलायमान होनेवाले शरीर को रोक कर शरीर का मुंडन करता है । चारों ओर कूदते हुए इस मनरूपी बंदर को भी धृतज्ञान के जाल में बांध कर मनका मुंडन कर लेता है । इसप्रकार मोक्ष प्राप्त करने के लिये वह यति हाथ पैर शरीर मन और वचन इन पांचों का मुंडन करता है ॥२७५८-२७६१॥

मुंडन के भेद—

पंचेन्द्रियारिमुण्डास्त्रिमुण्डाहस्तांग्रिकायजाः । मनो वचोद्विमुण्डोचामीमुण्डादशवर्णिताः ॥२७६२॥

अर्थ—पांचों इन्द्रियरूपी शत्रुओं का मुंडन, हाथ पैर और शरीर का मुंडन तथा मन और वचन का मुंडन इसप्रकार आचार्यों ने दश प्रकार का मुंडन बतलाया है ॥२७६२॥

किमका मुंडन व्यर्थ है—

अमोभिमुण्डने दीक्षासफलामुक्तिश्च सताम् । एभिर्विनाजिताक्षाणांशिरसोमुण्डनं वृथा ॥२७६३॥

अर्थ—सज्जन पुरुषों की मोक्ष देनेवाली दीक्षा इन्हीं दश मुंडनों से सफल मानी जाती है । इन मुंडनों के बिना इन्द्रियों को न जीतने वाले लोगों के मस्तक का मुंडन करना व्यर्थ ही है ॥२७६३॥

अधिक भूखादि की वेदना होनेपर क्षपक किस प्रकार चितवन करता है—

तस्मिन्बहुपदासानां करणेतीववेदना । क्षुधाद्यर्थदि जायेत तदेतिचिन्तयेत्सुधीः ॥२७६४॥

अहोक्षुद्वेदनाश्वभ्रेसाध्याविश्वाभ्रभक्षणः । अद्विधनीरंस्तृषा पीडावानुभूतामयाचिरम् ॥२७६५॥

मयात्रारण्यशलादी मृगादिपशुजातिषु । मृगतृष्णादिभिः प्राप्ता तीव्राक्षुत्क्रुवेदना ॥२७६६॥

दृश्याद्या अपरा घोराः क्षुत्तृषादिपरीषदाः । अमलाभ्रभवारण्येनुभूता दुस्तहा मया ॥२७६७॥

सर्वा पुद्गलराशिश्चाप्राद्याभ्रभक्षिता मया । क्षुत्तृषानान्तयेपीतमन्यम्बोरधिकं जलम् ॥२७६८॥

तथापि न मनागासीत्तृप्तिर्मेवाविभक्षणः । किन्तुमित्यप्रबद्धं ते तीव्र क्षुत्क्रुवेदने ॥२७६९॥

अर्थ—इसप्रकार उपवास धारण करने से यदि भूख प्यास की वेदना अधिक होती हो तो उस बुद्धिमान् क्षपकको भी नीचे लिखे अनुसार चितवन करना चाहिये । देखो मैंने नरकों में भूख की इतनी महा वेदना सहन की है कि यदि उस समय तीनों लोकों का समस्त अन्न खाने को मिल जाता तो भी वह भूख नहीं मिटती तथा वहाँ पर प्यास की भी इतनी वेदना सही है कि यदि तीनों लोकों के समुद्रों का जल भी पीने को मिल जाता तो वह प्यास नहीं मिटती । इसीप्रकार जंगल और पर्वतों पर हिरण आदि पशुओं की पर्याय मृगतृष्णा के द्वारा अत्यन्त तीव्र भूख और प्यास की वेदना सहन की है । इस संसाररूपी वनमें परिभ्रमण करते हुए मैंने इनके सिवाय और भी भूख प्यास की असह्य और धीर वेदनाएं वा परीषहें सहन की हैं । अनादि कालसे परिभ्रमण करते हुए मैंने भूख की वेदना मिटा देने के लिये अन्न की समस्त पुद्गल राशि भक्षण करली है तथा प्यास की वेदना मिटाने के लिये समुद्रों के जल से भी अधिक जल पी डाला है । तथापि इस अन्न जल के भक्षण करने से रंचमात्र भी मेरी तृप्ति नहीं हुई है, किन्तु ये भूख प्यासको दोनों कुवेदनाएं प्रतिदिन बढ़ती ही जाती हैं ॥२७६४-२७६६॥

काम भोग अतृप्तकारी हैं नरकादि तृप्ति के पान करने में—

यथेन्धनचयैरग्निः समुद्रश्च नदीशतैः । तृप्तिं नेति तथा जीवः कामभोगैः प्रमातिगैः ॥२७७०॥

कांक्षितो मूर्च्छितो रोगो कामभोगैश्चमानसे । नित्यं कलुषितोभूतो भुञ्जानोऽपि कुमार्गः ॥७१॥

भोगान् दुष्परिणामेनैव भुङ्क्ष्वनिबन्धनम् । दुरन्तं पापसन्तापबध्नाति केवलं यथा ॥२७७२॥

अर्थ—जिसप्रकार ईंधन के समूहसे अग्नि तृप्त नहीं होती और सैकड़ों नदियों से समुद्र तृप्त नहीं होता उसीप्रकार प्रमाण से अधिक काम भोगों का सेवन करनेपर भी यह जीव कभी तृप्त नहीं होता । यह जीव अपने मनमें काम भोगों के ही कारण अनेक पदार्थों की इच्छायें करता है, मूर्च्छित होता है, रोगी होता है तथा वह कुमार्ग-गामी भोगों को नहीं भोगता हुआ भी सदा कलुषित परिणामों को धारण करता है, उस कलुषितरूप अशुभ परिणामों के कारण व्यर्थ ही नरक के महा दुःखों के कारण और अत्यन्त कठिन ऐसे अनेक पाप कर्मों का बंध करता है ॥२७७०-२७७२॥

कैसे मुनि धन्य है—

आहारस्य निमित्तेन नरकं याति सप्तमम् । महस्यायदि ततो नूनमाहारो नयसागरः ॥२७७३॥

पूर्वं कृततपोभ्यासश्चानिवान्तः शिवास्तवे । पश्चाद्भूतकथायो यो विस्वासवान् परीषहान् ॥७४॥

भुत्तृषादिभवांस्तीक्ष्णान् साधयेन्मरणोत्तमम् । धन्यः स एव लोकेऽस्मिन् सार्यंतस्य तपोवित्तम् ॥७५॥

अर्थ—देखो इस आहार के ही निमित्त से बड़े-बड़े मत्स्य सातवें तरक तक पहुँचते हैं, इसलिये कहना चाहिये यह आहार ही अनेक अनर्थों का समुद्र है । जिन्होंने पहले बहुत से तपश्चरण का अभ्यास किया है तथा कभी निवान किया नहीं है और मोक्ष प्राप्त करने के लिये जिन्होंने कष्टों को नष्ट कर भूख प्यास आदि से होनेवाली समस्त तीव्र परीषहों का सहन किया है तथा अंत में जिन्होंने उत्तम पंडितमरण सिद्ध कर लिया है वे ही मुनि इस संसार में धन्य हैं और उन्हीं का समस्त तपश्चरण सार्थक है ॥२७७३-२७७५॥

कैसे मुनि संसार समुद्र में डूबते हैं—

पूर्वकृततपोघोराः प्रतिपालितसद्गताः । पश्चात्कर्मगुरुत्वेनक्षुधाद्यतिपरीषहैः ॥२७७६॥

ये पतन्तिरबधेयदिमृत्युकाले भवार्णवे । मज्जनंनिश्चितं तेषां वृथातपोयमादिकम् ॥२७७७॥

अर्थ—जिन्होंने पहले घोर तपश्चरण किये हैं और श्रेष्ठ व्रतों का अचछी तरह पालन किया है, परंतु पीछे कर्मों के तीव्र उदय से क्षुधादिक कठिन परीषहों के कारण मरण के समय में अपने धैर्य से गिर जाते हैं वे इस संसाररूपी समुद्र में अवश्य डूबते हैं तथा उनका तप यम आदि सब व्यर्थ समझा जाता है ॥२७७६-२७७७॥

क्षपक क्षुधादि परीषहों को सहता है—

इत्यादिचिन्तनरेषीत्रासेम्यः शुद्धचेतसा । सहतेपरमाशक्त्याक्षुधातृषाविवेदनाम् ॥२७७८॥

अर्थ—इसप्रकार शुद्ध हृदय से चिंतन करता हुआ वह यति कभी क्षुब्ध नहीं होता और अपनी परम शक्ति प्रगट कर क्षुधा तृषा आदि परीषहों को सहन करता है । ॥२७७८॥

क्षपक को पूर्व में किये गये भ्रमण के चिंतन की प्रेरणा—

शुष्काधरोदरस्यास्यक्षीणगात्रस्ययोगिनः । कर्मास्थिमात्रशेषस्यकाठिन्यसंस्तरेण च ॥२७७९॥

उत्पद्यतेमहाबुःखंयद्येषमानसे तदा । चिन्तयेत्प्राक्तनस्थस्य भवभ्रमणसंज्ञता ॥२७८०॥

अर्थ—जिसके ओठ पेट सब सूख रहे हैं, जिसका शरीर अत्यंत क्षीण हो रहा है और केवल हड्डी चमड़ा ही बाकी रह गया है, ऐसे उस क्षपक योगी को कठिन सांघरे का महा बुःख उत्पन्न होता है, उस समय उसको अपने हृदय में पहले किए हुए संसार के परिभ्रमण का चिंतन करना चाहिये ॥२७७९-२७८०॥

किस प्रकार के चितवन से क्षपक संस्तर की वेदना को सहन करते हैं—

ग्रहोजलस्थसाकाशेकटकादिभवाभुवि । प्राग्भवे वसता भूक्तामहतीवेदनामया ॥२७८१॥

वज्रकंटकसंकीर्णैश्चक्षेपरवशेन भोः । स दुःखं धसितं पापचिचिरकालं मय विधेः ॥२७८२॥

कियन्मात्रा ततोत्रेयं वेदनासंस्तरादिजा । विचिंत्येति स दुःखं स हृते संस्तरं रोषुषम् ॥२७८३॥

अर्थ—उसको चितवन करना चाहिये कि देखो पहले भवों में मैंने जल, स्थल, आकाश और पर्वतों पर निवास किया है तथा उनसे उत्पन्न हुई अनेक महा वेदनाएं मैंने सहन की हैं । कर्म के परवश हुए मैंने पापकर्म के उदय से वज्रमय कांटों से भरे हुए नरक में चिरकाल तक निवास किया है और वहांपर अनेक महा दुःख भोगे हैं । फिर भला यह कठिन संस्तर से उत्पन्न हुई वेदना कितनी है, यही चितवन कर वह क्षपक कठिन संस्तर से उत्पन्न हुए समस्त दुःखों को सहन करता है ॥२७८१-२७८३॥

क्षपक क्या करके मनको निराकुल बनाता है—

इत्यादिसद्विचाराद्यं ध्यानिर्धर्मशतैः परैः । परमेष्ठिपदध्यानैरनुप्रेक्षार्यचिन्तनैः ॥२७८४॥

प्राग्भामृतपानैश्च तर्पयित्वानिजं मनः । स्वस्थं कुर्यात्स तत्त्वज्ञः स्वात्मध्यानसमाधये ॥२७८५॥

अर्थ—तत्त्वों को जाननेवाला वह क्षपक अपने आत्म ध्यान और समाधि के लिये ऊपर कहे अनुसार श्रेष्ठ विचारों की धारण कर, संकड़ों उत्कृष्ट धर्मध्यानों की धारण कर, परमेष्ठी के चरण कमलों का ध्यान कर अथवा परमेष्ठी के वाचक पदों का ध्यान कर वा अनुप्रेक्षाओं का चितवन कर अथवा प्राग्भरूपी अमृत का पान कर अपने मनको संतुष्ट करता है और उसको सब तरह से निराकुल बना लेता है ॥२७८४-२७८५॥

निराकुल मन वाला क्षपक किसका ध्यान करता है—

निर्विकल्पमनाः ध्यानी चिदानन्दमयं परम् । व्यातुमारभते चित्ते परमात्मानमंजसा ॥२७८६॥

अर्थ—जिसका मन सब तरह के संकल्प विकल्पों से रहित है, ऐसा ध्यान करनेवाला वह क्षपक शीघ्र ही अपने मनमें चिदानन्दमय सर्वोत्कृष्ट परमात्मा का ध्यान करना प्रारम्भ करता है ॥२७८६॥

अभ्यन्तर योग धारण करने की प्रेरणा—

अस्मिन्नवसरे योगी श्रीगणेशपराक्रमः । बाह्ययोगं विधातुं सोऽशक्तः सन्नपि धीधनः ॥२७८७॥

योगमभ्यन्तरं सारं सर्वाराधनपूर्वकम् । एकचिन्तेन मुक्त्यर्थं विधत्ते न निश्चयम् ॥२७८८॥

अर्थ— जिसका शरीर और पराक्रम क्षीण हो गया है ऐसा वह बुद्धिमान योगी यदि उस समय बाह्य योग धारण करने में असमर्थ हो जाय तो फिर मोक्ष प्राप्त करने के लिये उस योगी को एकाग्रचित्त से निरन्तर समस्त आराधनाओं की आराधना पूर्वक सारभूत अभ्यन्तर योग धारण करना चाहिये ॥२७८७-२७८८॥

पञ्चपरमेष्ठी वाचक पदके चित्तवन की प्रेरणा—

एतस्मिन्समयेदोद्भादशांगखिलागमम् । चित्ते चिन्तयितुं धीरः सोऽशक्तोऽपि महामनाः ॥२७८९॥

सर्वसिद्धान्तमूलं यत्पदमेकद्वयादिकम् । सारं तच्चिन्तयेद्युक्त्या प्रशस्तध्यानसिद्धये ॥२७९०॥

अर्थ— यदि उस समय वह महामना धीर वीर चतुर क्षपक अपने मनमें द्वाद-
शांग श्रुतज्ञान को चित्तवन करने में समर्थ न हो तो उसको प्रशस्त ध्यान की सिद्धि के
लिये समस्त सिद्धांतों का मूलकरण और सारभूत ऐसा पञ्चपरमेष्ठी का वाचक एक पद
का वा दो पद का युक्तिपूर्वक चित्तवन करना चाहिये ॥२७८९-२७९०॥

क्षपक को दुष्ट व्याधि ग्रानेपर कैसी औषधि सेवन करना चाहिये—

औणगात्रे तदा तस्य दुर्ब्याधिर्जायते यदि । सोधपाकेन तद्वाप्यं होषं गृह्णाति धौषधम् ॥२७९१॥

अर्थ— कदाचित् पापकर्म के उदयसे उस समय उस क्षपक के क्षीण शरीर में
कोई दुष्ट व्याधि उत्पन्न हो जाय तो उसको दूर करने के लिये उस क्षपक को नीचे
लिखे अनुसार औषधि ग्रहण करनी चाहिये अर्थात् नीचे लिखे अनुसार चित्तवन करना
चाहिये ॥२७९१॥

क्षपक को जिनवचन रूपी अमृतरस का ग्रहण करने की प्रेरणा—

जिनेन्द्रवचनं तथ्यं जन्ममृत्युजरास्तकम् । रोगक्लेशहरं यत्स्याद्विष्वदुःखक्षयकरम् ॥२७९२॥

ग्राह्यं तद्विमयासारं रोगक्लेशार्तशान्तये । जन्मादिदाहनाशाय सुधारसमिबोजितम् ॥२७९३॥

अर्थ— उसे चित्तवन करना चाहिये कि इस संसार में भगवान् जिनेन्द्रदेव के
वचन ही तथ्य हैं वे ही जन्म मरण और बुढ़ापे को नष्ट करनेवाले हैं, रोग और क्लेश
को दूर करनेवाले हैं और समस्त दुःखों को क्षय करनेवाले हैं । अतएव रोग और क्लेशों
के दुःखों को दूर करने के लिये और जन्ममरण का संताप शान्त करने के लिये उत्कृष्ट
अमृतरस के समान सारभूत जिनवचन मुझे ग्रहण करने चाहिये ॥२७९२-२७९३॥

क्षपक रोगों से उत्पन्न क्लेशों को शान्त करने के लिये किसकी शरण लेता है—

अस्मा त्रोगभवक्लेशाण्डरुणंधामिसंप्रति । सर्वाहं तिसिद्धसाधूनां शरण्यानां विगच्छताम् ॥२७९४॥

केवलप्रोक्तधर्मस्य शरण्यस्याखिलापवि । तपोरत्नत्रयादीनां विश्वसातारिधातिनाम् ॥२७६५॥

अर्थ—अब मैं इन रोगों से उत्पन्न हुए क्लेशों को शांत करने के लिये तीनों लोकों के सज्जनों को शरणभूत ऐसे समस्त अरहंत सिद्ध और साधुओं की शरण लेता हूं तथा समस्त आपत्तियों में शरणभूत ऐसे केवली भगवान के कहे हुए धर्म की शरण लेता हूं और समस्त दुःखरूपी शत्रुओं को नाश करनेवाले तप और रत्नत्रय की शरण लेता हूं ॥२७६४-२७६५॥

रत्नत्रय आदि शरणभूत क्यों ?

यतो लोकोत्तमा ये ते विश्वमंगलकारिणः । शरण्या भव्यजीवानां भव्यापि सन्तु सिद्धिदाः ॥२७६६॥

अर्थ—क्योंकि संसार में ये ही लोकोत्तम हैं, ये ही समस्त मंगल करनेवाले हैं और ये ही भव्य जीवों को शरण हैं । इसलिये ये सब मेरे लिये भी समस्त कार्यों की सिद्धि करें अथवा मुझे सिद्ध अवस्था प्रदान करें ॥२७६६॥

धीर वीरता के साथ रोगादि सहना ही श्रेष्ठ है—

धीरत्वेनापि मर्त्यं कातरत्वेन वा यदि । कातरत्वं मुखा त्यक्त्वा धीरत्वे मरणं वरम् ॥२७६७॥

धीरत्वेनापि सोढव्यं रोगादिकर्मजं फलम् । कातरत्वेन वा पुंसां धीरत्वेन वरं च यत् ॥२७६८॥

अर्थ—देखो मरना धीर वीरता के साथ भी होता है और कातरता के समय (रो रो कर) भी होता है । परन्तु कातरता का त्याग कर धीरवीरता के साथ मरण करना अच्छा है, इसीप्रकार रोग क्लेश कर्मों का फल धीरधीरता के साथ भी सहन किया जाता है और कायरता के साथ भी सहन किया जाता है, परन्तु कायरता को छोड़कर धीरवीरताके साथ रोग वा क्लेशों को सहन करना मनुष्यों के लिये हितकारक है ॥२७६७-२७६८॥

शील पूर्वक मरण करना ही श्रेष्ठ है—

शीलेनाप्यत्र मर्त्यं निःशीलेनापि चेत्सताम् । निःशीलत्वं परित्यज्य शीलत्वे मरणं वरम् ॥२७६९॥

अर्थ—इसीप्रकार शीलादिक व्रतों को धारण कर भी मरण होता है और बिना शील व्रतोंको धारण किये भी मरण होता है, परन्तु सज्जन पुरुषों को निःशीलता का त्याग कर शील धारण कर मरना अच्छा ॥२७६९॥

पुनः क्षपक को मन स्थिर करने की प्रेरणा—

इत्यादि चिन्तनेर्ध्यातैः कुर्वन् स स्वमनःस्थिरम् । दधाति जातु गन्तुं न भव्यान् क्षेपार्तसंक्षिपिम् ॥

अर्थ—उस क्षपक को इसप्रकार चितवन कर तथा ध्यान धारण कर अपने मन को स्थिर रखना चाहिये और अपने मन को बलेश और दुःखों के समीप रंचमात्र भी नहीं जाने चाहिये ॥२८००॥

निरोहवृत्ति धारक क्षपक महा लोभ के लिये कैसी उत्तम याचना करता है—

तदासोति निरोहोपिमहालोभकृतोद्यमः । उत्तमासुत्तमार्थाप्स्यंयांचाकुर्यादिमांभुवि ॥२८०१॥
अर्हतावीतमोहानामकायानां च या गतिः । पंचमीत्रिजगत्प्राथ्या सा मे भवतुशर्मणे ॥२८०२॥
तीर्थेशसिद्धनिर्मोहयोगिनां ये परागुणाः । अनन्तज्ञानदृष्ट्याद्यास्ते मे सन्तुशिवाप्तये ॥२८०३॥

अर्थ—उस समय यद्यपि वह क्षपक निरोह वृत्ति को धारण करता है तथापि वह किसी महा लोभ के लिये उत्तम करता है और इसीलिये वह उत्तम अर्थ अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति के लिये नीचे लिखे अनुसार सबसे उत्तम याचना करता है । वह याचना करता है कि भगवान् चितराग श्रयोगकेबली अरहंतदेव को जो तीनों लोकों के द्वारा प्रार्थनीय पंचम गति होती है वही सुख देने के लिये मुझे प्राप्त हो । भगवान् तीर्थेश परमदेव, भगवान् सिद्ध परमेष्ठी और मोह रहित मुनियों जो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन आदि उत्तम गुण हैं वे सब मोक्ष प्राप्त होने के लिये मेरे आत्मा में प्रगट हों ॥२८०१-२८०३॥

क्षपक को उत्तम याचना के लिये कैसा चितवन करना चाहिये—

रत्नत्रययुता बोधिःसमाधिः शुक्लपूर्वकः । यावद्यास्याभ्यहं मोक्षं तावन्मेस्तु भवेभवे ॥२८०४॥
असोभिर्दुःखराशारं कृत्स्नदुष्कर्मणाक्षयः । चतुर्गतिजदुःखानां मे चास्तुमुक्तिहेतवे ॥२८०५॥
जिननाथजगत्पूज्य देहि त्व सन्मृतिमम् । अधुना त्वद्गुणान्सर्वीस्त्वद्गतिचाशुभक्षयम् ॥२८०६॥

अर्थ—जब तक मैं मोक्ष प्राप्त न कर लूं तब तक मुझे भवभव में रत्नत्रय सहित बोधि की प्राप्ति होती रहे और शुक्लध्यान पूर्वक समाधि की प्राप्ति होती रहे । मैंने जो मोक्ष प्राप्त करने के लिये कठिन-कठिन तपश्चरण किये हैं, उनके फल से मेरे समस्त कर्मों का नाश हो तथा चारों गतियों के समस्त दुःखों का नाश हो । हे जिन-नाथ ! हे जगत्पूज्य ! आप मुझे इस समय श्रेष्ठ मरण देवें, अपने सब गुण देवें, अपनी सब सद्गति देवें और मेरे सब अशुभों को नाश करें । इसप्रकार उस क्षपक को चितवन करना चाहिये ॥२८०४-२८०६॥

मृत्यु के निकट आनेपर पञ्चपरमेष्ठी का जप एवं ध्यान करने की प्रेरणा—

मृत्यवस्थां कृमावाप्य परमेष्ठ्याप्त्यसत्पदम् । पञ्चैवात्रजपेद्वाचासर्वकल्मषादिसत्पदम् ॥२८०७॥

यदि तान् जपितुं योगी सोऽसमर्थगिरा तवा । ध्यायेत्पञ्चनमस्कारांश्चेत्तापरमेष्ठिनाम् ॥२८०८॥

अर्थ—इसप्रकार चितवन करते हुए उस क्षपक की यदि मृत्यु अवस्था अत्यंत समीप आ जाय तो उसे अपने वचन से परमेष्ठी के वाचक पांचों श्रेष्ठ पदों का जप करना चाहिये अथवा किसी भी एक दो पद का जप करना चाहिये । यदि वह योगी उन परमेष्ठी के वाचक पदों को उच्चारण पूर्वक जप करने में असमर्थ हो जाय तो उसको अपने हृदय में ही पञ्चपरमेष्ठी के वाचक पंच नमस्कार मंत्र का ध्यान करना चाहिये ॥२८०७-२८०८॥

क्षपक किस प्रकार प्राणों का त्याग करे—

इत्यादिसर्वयत्नेन ध्यायन् जपत्पदोत्तमान् । कुर्वन् वा स्वात्मनोऽध्यानं धृष्वन् निर्यापकास्त्यजान् ॥
सारधर्माक्षरान् ध्यानी निःशब्दो निर्भयः सुधीः । ध्यानाभ्यां धर्मशुक्लाभ्यां त्यजेत्प्राणान्समाधिना ॥

अर्थ—इसप्रकार शल्प रहित, भय रहित, ध्यान करनेवाले उस बुद्धिमान् क्षपक को ऊपर लिखे अनुसार सब तरह के प्रयत्न पूर्वक पंच परमेष्ठी के वाचक उत्तम पदों का जप करते हुए, ध्यान करते हुए, वा अपने आत्मा का ध्यान करते हुए अथवा उन निर्यापकाचार्य के मुखसे निकले हुए सारमूत धर्म के अक्षरों को सुनते हुए धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान को धारण कर समाधि पूर्वक अपने प्राणों का त्याग करना चाहिये । ॥२८०९-२८१०॥

श्रेष्ठ मृत्यु को सिद्ध करनेवाले क्षपक मरकर कहां उत्पन्न होता है—

ततोऽसौ शुद्धिमाप्नोऽहमिन्द्रपदमूर्जितम् । नाकं सर्वार्थसिद्धिं वा गच्छेत्सम्भूतिताधनात् ॥२८११॥

अर्थ—तदनंतर अत्यंत शुद्ध अवस्था को प्राप्त हुआ वह क्षपक श्रेष्ठ मृत्यु को सिद्ध कर लेने के कारण उत्कृष्ट अहमिन्द्र पद प्राप्त करता है वा सर्वार्थ सिद्धि में उत्पन्न होता है अथवा स्वर्गों में उत्तम देव होता है ॥२८११॥

समाधिमरण से उत्पन्न श्रेष्ठ धर्म से किसकी प्राप्ति होती है—

सन्ध्यासोऽथ सुषर्मेण सुदेवन गतोऽसुखम् । महत्त्रिभुवपर्यन्तं सुरेशचक्रिभूतिजम् ॥२८१२॥
भुक्त्वा हृत्वाऽक्षकर्मणि तपसा ध्यान्ति निर्वृतिम् । पण्डिता मुनयः प्राप्य ह्यष्टौ सिद्धिगुणान् परान् ॥

अर्थ—इस समाधिमरण से उत्पन्न हुए श्रेष्ठ धर्म से विद्वानों की वा मुनियों की उत्तम देव गति वा उत्तम मनुष्यगति में सर्वोत्तम सुख मिलते हैं तथा तीन भव तक वे इन्द्र और चक्रवर्ती की विभूतियों का अनुभव कर अंत में अपने तपश्चरण के द्वारा

समस्त कर्मों को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और सिद्धों के आठों परमगुणों को प्राप्त कर लेते हैं ॥२८१२-२८१३॥

जघन्य आराधन का फल—

जघन्याराधना येषां तेऽपि भुक्त्वा परं सुखम् । सप्ताष्टभवपर्यन्तं द्विगतीयान्ति निर्बृतिम् ॥२८१४॥

अर्थ—जो भव्य जीव जघन्य रीति से आराधनाओं की आराधना करते हैं वे भी सात आठ भव तक परम सुखों का अनुभव करते हैं और अंतमें कर्मों को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥२८१४॥

उत्तम मरण को सिद्ध करने की प्रेरणा—

इति शारदा फलं सारं मरणस्योत्तमस्य च । साधयन्तु विद्वद्विद्वत्प्राप्तमरणोत्तमम् ॥२८१५॥

अर्थ—इस प्रकार उत्तममरण का ऐसा अच्छा फल समझकर विद्वान् लोगों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्न पूर्वक उत्तम मरण को सिद्ध करना चाहिये । ॥२८१५॥

सर्प काटने आदि उपसर्ग के आनेपर दो प्रकार के सन्यास धारण करने की प्रेरणा—

यविसर्पविषाद्यश्च चौपसर्गेनृपादिभिः । मरणं जायते स्वस्थ ससन्देहं तदामुषीः ॥२८१६॥

समासेन जगज्जन्तून् क्षमयित्वा स्वमानसे । कृतकारितबोधादीन् विमिश्रानिन्दनादिभिः ॥२८१७॥

भूत्वासर्वत्र निःशल्यो निर्ममत्वं विधाय च । सन्यासं द्विविधं हीनगृह्णाति शर्वसिद्धये ॥२८१८॥

अर्थ—यदि सर्प काट ले वा विष भक्षण कर ले वा राजा आदि का घोर उपसर्ग आ जाय और अपने मरने में सन्देह हो जाय तो उस बुद्धिमान को संक्षेप से ही अपने मनमें संसार के समस्त प्राणियों को क्षमा कर देना चाहिये, तथा कृत, कारित, अनुमोदना से हुए समस्त दोषों की निंदा गर्हा के द्वारा आलोचना करनी चाहिये तथा सर्वत्र शल्यरहित, ममत्वरहित होकर मोक्ष प्राप्त करने के लिये नीचे लिखे अनुसार दोनों प्रकार का सन्यास धारण करना चाहिये ॥२८१६-२८१८॥

पहले सन्यास मरण धारण करने का स्वरूप—

अस्मिन् देशेऽवधौ काले यदि मे प्राणमोचनम् । तदास्तु जन्मपर्यन्तं प्रस्थाप्यार्णं चतुर्विधम् ॥२८१९॥

जीविष्यामि क्वचिद्वाहं पुण्येनोपद्रवात्परात् । करिष्ये पारणं नूनं धर्मचारित्र्यसिद्धये ॥२८२०॥

अर्थ—उसको पहला सन्यास तो इस प्रकार धारण करना चाहिये कि इस देश में इतने काल तक यदि मेरे प्राण निकल जाय तो मेरे जन्म पर्यंत चारों प्रकार के

आहार का त्याग है । तथा दूसरा सन्यास इसप्रकार धारण करना चाहिये कि यदि मैं अपने पुण्य से इस घोर उपद्रव से कदाचित् बच जाऊंगा तो मैं धर्म और चारित्र्य की सिद्धि के लिये इतने काल के बाद अवश्य ही पारणा करूंगा ॥२८१६-२८२०॥

तीन प्रकार के आहार के त्याग की विधि—

यदि नीरं विनाप्रत्याख्यानमावातुमिच्छति । तदा समाधयेस्वस्येदंप्रत्याख्यानमाचरेत् ॥२८२१॥
प्रत्याख्यामि विना नीरं चतुर्धाहारमामृतं । अन्तर्बाह्योपधीन् सर्वान् साधयन्त्रिविधेन च ॥२८२२॥
यः कश्चिदुपधिमंत्रबाह्योवाभ्यन्तरोऽशुभः । समाहारं शरीरं च यावज्जीवं त्यजाम्यहम् ॥२८२३॥

अर्थ—यदि वह क्षपक उस समय पानी को रखना चाहता है, पानी को छोड़ कर बाकी का त्याग करना चाहता है तो उसे अपनी समाधि धारण करने के लिये नीचे लिखे अनुसार प्रत्याख्यान का त्याग करना चाहिये । मैं अपने मरण पर्यंत पानी को छोड़कर बाकी के चारों प्रकार के आहारों का त्याग करता हूं तथा मैं मन-वचन-काय से अंतरंग और बाह्य समस्त परिग्रहों का त्याग करता हूं और समस्त पापों का त्याग करता हूं । इस समय मुझसे संबंध रखने वाला जो अशुभ बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह है, मैं उसका जीवन पर्यंत तक के लिये त्याग करता हूं तथा जीवन पर्यंत ही आहार और शरीर का त्याग करता हूं, शरीर से समत्व छोड़ता हूं ॥२८२१-२८२३॥

मरण के निश्चित होनेपर ४ आहार के त्याग की प्रेरणा—

अथवा स्यस्यनिश्चितमरणं प्रागतं भुवि । प्रत्याख्यानमितिप्राह्वयक्षः सिद्धयं चतुर्विधम् ॥२८४॥

अर्थ—अथवा यदि अपने मरण का अवश्य निश्चय हो जाय तो चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये चारों प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान ग्रहण कर लेना चाहिये ॥२८२४॥

प्रथम समाधिधारण करनेवाले का पहले बतायी विधि से मरण करने की प्रेरणा एवं उसका फल—

एषोऽपि पूर्ववत्सर्वान् धर्मध्यानाविकान्परात् । स्वीकृत्य साधयित्वाणु चतुराराधनाः पराः ॥
समाधिना वपुस्त्यक्त्वासन्यासाज्जिनधर्मतः । सौधर्मादिसर्वार्थसिद्ध्यन्तर्धर्मधीर्जेत् ॥२८२६॥

अर्थ—इस क्षपक को भी पहले के समान उत्कृष्ट धर्मध्यानाविक सब धारण करने चाहिये, चारों प्रकार की आराधनाओं को आराधन करना चाहिये और समाधि-पूर्वक सन्यास से शरीर का त्याग करना चाहिये । इसप्रकार समाधिमरण करनेवाला

धर्मात्मा जिनधर्म के प्रभाव से सौधर्म स्वर्ग से लेकर सर्वार्थ सिद्धि तक उत्तम देवों में जन्म लेता है ॥२८२५-२८२६॥

पण्डित मरण करने का फल—

इतिगणवरजातंपण्डिताख्यंप्रयत्नादनधमरणसारं साधयेद्यः स्वसिद्धये ।

सुरनरपतिसौख्यं प्राप्नुयन्मरणं स श्रयति परमयोगात्कृतस्नकमणिहत्वा ॥२८२७॥

अर्थ—इसप्रकार जो भव्य जीव अपने आत्मा की सिद्धि के लिये भगवान गणधरदेव के द्वारा कहे हुए पाप रहित और सारभूत इस पंडितमरण को प्रयत्नपूर्वक सिद्ध कर लेता है वह जीव इन्द्र और चक्रवर्तियों के सुख भोगकर तथा अंतमें परमयोग धारण कर समस्त कर्मों को नाश करता है और फिर मोक्षस्त्री को प्राप्त कर लेता है ॥२८२७॥

बुद्धिमानों को पण्डित मरण की पुनः प्रेरणा—

मत्वेतोह बुधाप्रयत्नममसात्ममुक्तिसंसिद्धये,

कृत्वा सत्पञ्जितनिरुपमंसाद्धसमस्तैर्व्रतैः ।

जन्मान्तेकिसाधयन्तुमरणसत्पण्डिताख्यंपरं,

स्याद्येनात्रनृजम्भसद्ब्रततपःसर्वार्थसिद्धिप्रदम् ॥२८॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमानों को स्वर्ग मोक्ष सिद्ध करने के लिये प्रयत्न-पूर्वक समस्त व्रतों के साथ-साथ उपभारहित ऐसा सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण करना चाहिये, तथा अंतमें सर्वोत्कृष्ट पंडितमरण को सिद्ध कर लेना चाहिये जिससे कि श्रेष्ठ व्रत, उत्तम तप और समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाला मनुष्य जन्म प्राप्त हो जाय । ॥२८२८॥

चार आराधना की महिमा एवं उसकी प्राप्ति की भावना—

विश्वाध्या विश्वकन्या शिवसुखजननीधर्मरत्नाविलानी,

सेव्यानिस्थंमुनीन्द्रैःसकलविधिहराभर्गलाश्वभ्रगेहे ।

साराः सोपाममालाः सुरगृहगमनेसद्गुणग्रामधात्रीः,

बन्धेश्वाराधनाप्त्येजिनवरपददाराधनादेवता व ॥२८२९॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाव्ये महाप्रये भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचितेप्रत्याख्यान-संस्तरवर्णनो नाम दशमोऽधिकारः ।

अर्थ—यह चारों प्रकार की आराधनारूपी देवता तीनों लोकों में पूज्य है, तीनों लोकों में वंदनीय है, मोक्ष सुख देनेवाली है, धर्मरत्न की खानि है, श्रेष्ठ मुनिराज ही नित्य इसका सेवन करते हैं, यह समस्त कर्मों को नाश करनेवाली है, तरक के घर को बंद करने के लिये बेंडा है, सबमें सार है, स्वर्ग की सीढ़ी है, अनेक सद्गुणों को उत्पन्न करनेवाली है और तीर्थंकर दश की देनेवाली है, ऐसी इस आराधना को मैं आराधना प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूं ॥२८२६॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके महाग्रन्थ में प्रत्याख्यान संस्तर को वर्णन करनेवाला यह दसवां अधिकार समाप्त हुआ ।



एकादशोधिकारः

मंगलाधरण

सर्वशीलगुणाधारान् विश्वातिशयभूषितान् । धन्वेऽर्हंतद्दहामुद्रत्रिजगच्छर्मकारकान् ॥२८३०॥

अर्थ—जो भगवान् अरहंतदेव समस्त शील और समस्त गुणों के आधार हैं, जो समस्त अतिशयों से विभूषित हैं और इस लोक तथा परलोक में तीनों जगत के जीवों का कल्याण करनेवाले हैं उन भगवान् अरहंतदेव को मैं नमस्कार करता हूँ । ॥२८३०॥

शील एवं गुणों के कथन की प्रतिज्ञा—

अथवक्ष्ये समासेनशीलानिसकलान्यपि । गुणाश्चनिखिलान्मुष्ट्यासंख्ययोत्तमयोगिनाम् ॥२८३१॥

अर्थ—अब मैं उत्तम योगियों के लिये युक्ति और संख्या पूर्वक समस्त शीलों को कहता हूँ और समस्त गुणों को कहता हूँ ॥२८३१॥

शील के १८००० भेदों का निर्देश—

त्रियोगाः करणत्रेधा चतुः संज्ञास्तपंच अं । दशपृथ्व्याविकायाश्चधर्माः क्षमादयो दश ॥२८३२॥

अन्योऽन्यं गुणिता एते योगाद्याः धृतकोविदैः । अष्टादशसहस्राणिशीलानिस्तुसंहात्मनाम् ॥२८३३॥

अर्थ—तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पांच इन्द्रियां, पृथ्वीकायिक आदि दश प्रकार के जीव और उत्तम क्षमादिक दशधर्म इन सब योगादिकों को परस्पर गुणा कर देने से अठारह हजार भेद हो जाते हैं, ये ही महात्माओं के शील हैं, ऐसा श्रुतज्ञान के विशारद गणधरादिक देव कहते हैं ॥२८३२-२८३३॥

योगों के ६ भेदों का कथन—

मनोयोगोवचोयोगः काययोगोऽशुभाश्रितः । योगान्तांयानिपापादिक्रियाप्रवर्तकानि च ॥२८३४॥

तानित्रिकरणान्यत्रोक्त्यन्ते करणरोधनैः । अन्यस्तास्तेत्रयोगानवभेदा भवन्ति वै ॥२८३५॥

अर्थ—शुभ मनोयोग, शुभ वचनयोग और शुभ काययोग ये तीन तो योग कहलाते हैं तथा उन योगों के द्वारा जो पुण्य पापरूप क्रिया होती है उनको यहां पर तीन करण कहते हैं । यदि उन मन-वचन-काय की होनेवाली क्रियाओं को, करणों को रोक दिया जाय तो योगों के नौ भेद हो जाते हैं ॥२८३४-२८३५॥

योगों को ४ संज्ञा से गुणा करनेपर शील के ३६ भेदों का कथन—

आहारभयसंज्ञेसंज्ञेसंज्ञेसंज्ञेपरिग्रहे । अतुरक्षादिसंज्ञानां अतुर्धाविरतो जयः ॥२८३६॥

क्रियन्तेमुनिभिस्ताभिश्चतुर्भिर्गुणिता नव । भेदाभयन्तिशीलस्य षट्त्रिंशत्संख्याःसताम् ॥३७॥

अर्थ—आहार, भय, संज्ञे और परिग्रह ये संज्ञा के चार भेद हैं, इनका त्याग करना अर्थात् आहार संज्ञा का त्याग करने के लिये अन्नादिक का त्याग कर देना, भय के त्याग के लिये परिग्रह नहीं रखना, संज्ञे के त्याग के लिये अह्यचर्य धारण करना और परिग्रह के त्याग के लिये ममत्व छोड़ना संज्ञाओं का त्याग है । ऊपर कहे हुए योग निरोधों के नौ भेदों से इन चार के साथ गुणा करने से शील के छत्तीस भेद हो जाते हैं ॥२८३६-२८३७॥

३६ भेदों को ५ इन्द्रिय से गुणा करनेपर १८० भेद होते हैं—

स्पर्शाक्षरसनघ्राण चक्षुःश्रोत्रनिवारणः । षट्त्रिंशद्वर्गिता भेदाः स्फुरन्तीत्यधिकंशतम् ॥२८३८॥

अर्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां कहलाती हैं । इनको वश में करना इन्द्रियों का त्याग है । इसलिये छत्तीस से इन पांचों को गुणा करने से शील के एकसौ अस्सी भेद हो जाते हैं ॥२८३८॥

शील के १८०० भेदों का कथन—

पृथ्व्यपूतेशामहप्रत्येकानन्तकायिकाःभुवि । द्वित्रितुर्वेन्द्रियाःपञ्चाक्षाश्चेतिदशधागिनः ॥२८३९॥

अमीषा रक्षणान्यत्र विधीयन्तेमुनीश्वरैः । यत्नेनयानि तानिस्पृष्टशशीलानि घोमताम् ॥२८४०॥

दशभिर्गुणितां चेत्युक्त्याशीत्यधिकंशतम् । अष्टावशशतान्युत्पद्यन्तेशीलानियोगिनाम् ॥२८४१॥

अर्थ—पृथिवीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक प्रत्येक वनस्पतिकायिक, साधारण वनस्पतिकायिक, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये दश प्रकार के जीव हैं । मुनिराज इन दशों प्रकार के जीवों की रक्षा प्रयत्न पूर्वक करते हैं । इसलिये ये दश भेद भी शील के ही गिने जाते हैं । ऊपर जो शील के एकसौ अस्सी भेद बतलाये हैं उनसे इन दश के साथ गुणा कर देने से शील के अठारहसौ भेद हो जाते हैं ॥२८३९-२८४१॥

शील के १८००० भेदों का कथन—

उत्तमाद्याक्षमाभार्षां सारं चार्जवोत्तमम् । सत्यं शौचंमहत्संयमस्तपस्त्वगाऊर्जितः ॥२८४२॥

आर्किचन्योत्तमोऽह्यचर्यदशविधः परः । एषधर्मो जगत्पूज्यः श्रमणानां शिवप्रदः ॥२८४३॥

वशभिर्गुणितान्येभिः श्रष्टावशशतानि च । श्रष्टादशसहस्राणि सन्ति शीलानियोगिनाम् ॥२८४४॥

अर्थ—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आर्किचन्य और उत्तम अह्युचर्य यह दश प्रकार का धर्म है । यह धर्म जगत्पूज्य है और मुनियों को मोक्ष प्रदान करनेवाला है । ऊपर जो शील के अठारहसौ भेद बतलाये हैं उनसे इन दश धर्मों के साथ गुणा कर देने से अठारह हजार भेद हो जाते हैं । ये सब मुनियों के शील कहलाते हैं ॥२८४२-२८४४॥

शील की महिमा—

इत्यादिगणनाभिश्च जायन्ते अलधारिणाम् । सुशीलानां यतीशानां शीलानि निखिलान्यपि ॥४५॥

श्रष्टादशसहस्रप्रमाणान्युच्यन्ति नाकिभिः । निर्मलाभीह त्रैलोक्ये नमस्तस्मात्कराणि च ॥२८४६॥

अर्थ—इसप्रकार की गणना से श्रुतों को धारण करनेवाले और शीलियों को पालन करनेवाले मुनिराजों के शीलों के सब भेद हो जाते हैं । ये अठारह हजार शील इन्द्रों के द्वारा भी पूज्य हैं, अत्यंत निर्मल हैं और तीनों लोकों में अनंत कल्याण करने वाले हैं ॥२८४५-२८४६॥

शील के पालने वाले की महिमा एवं उस पालने की प्रेरणा—

शीलाभरणयुक्ताश्च त्रिजगच्छ्रीः स्वयंमुदा । वरुणोत्प्रेक्ष्य जितभोवश्चमुक्तिरासोकतेमुदुः ॥२८४७॥

प्रकस्पन्तेसुरेशामां शीलेनाश्रयतानि भोः । किंकराद्वज्रसेवन्ते पावान् शील जुषांसुरा ॥२८४८॥

विद्यन्ते सुशीलानां सर्वापद्रवकोटयः । निर्गला भवेत्कीर्तिश्चन्द्राशुवज्रजगत्त्रये ॥२८४९॥

जीवितव्यंविनकं च वरं शीलवतां भुवि । निःशीलानां वृथा नूनं पूर्वकोटिशतप्रमम् ॥२८५०॥

मत्वेसीमानिशीलानि सर्वाणि कृत्स्नयत्नतः । पालयन्तु बुधा मुक्त्यर्धुर्लभान्यल्पधैतसाम् ॥२८५१॥

अर्थ—जो महा पुरुष इन अठारह हजार शीलों से सुशोभित हैं उनको तीनों लोकों की संपदा प्रसन्नता के साथ स्वयं आकर स्वीकार करती है तथा भगवान् जितेन्द्र-देव की लक्ष्मी और मुक्तिरूपी लक्ष्मी बार-बार उनको देखती है । इन शीलों के प्रभाव से इन्द्रों के आसन भी कंपावमान हो जाते हैं तथा शील पालन करनेवालों के चरण कमलों की देव लोग भी सेवन के समान सेवा करते रहते हैं । शील पालन करनेवालों के समस्त करोड़ों अपद्रव स्वयं नष्ट हो जाते हैं और चन्द्रमा के समान उनकी निर्मल कीर्ति निर्गल होकर तीनों लोकों में फैल जाती है । शील पालन करनेवालों का एक दिन भी जीना अच्छा परंतु बिना शील के सैकड़ों करोड़ वर्ष भी जीना व्यर्थ है । यही

समझकर बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्न पूर्वक इन समस्त शीलों का पालन करते रहना चाहिये । जो छोटी बुद्धिको धारण करनेवाले हैं उनके लिये तो इन शीलों का पालन करना अत्यन्त कठिन है ॥२८४७-२८५१॥

मुनिराज के ८४ लाख गुणों के भेद—

एकविंशतिहिंसाद्याश्चत्वारोत्तिक्रमार्थः । शतपृथ्वाधिकायाश्चदशब्रह्मविशधनाः ॥२८५२॥
दशालोचनजा दोषा दशशुद्धिकरा इमे । अभ्योन्त्यवर्गिता लक्षा अशीतिश्चतुस्ताराः ॥२८५३॥

अर्थ—हिंसादिक के इक्कीस भेद हैं, अतिक्रमणादिक के चार भेद हैं, पृथ्वी-कायादि के सौ भेद हैं, ब्रह्मचर्य की विराधना के दश भेद हैं, आलोचना के दश दोष हैं और इनके त्याग को शुद्ध करनेवाले दश गुण हैं । इन सबको गुणा करने से चौरासी लाख हो जाते हैं ॥२८५२-२८५३॥

प्राणिहिंसादिक के २१ भेदों का निर्देश—

प्राणिहिंसामृषावादोऽवस्तावानं च मंथुनम् । संगः क्रोधोमदोमायालोभोभयोऽरतिस्ततः ॥२८५४॥
रतिस्तथाजुगुप्सा च मनोवाक्काय चंचलाः । मिथ्यादर्शनमेवप्रमादः पैशून्यमेव हि ॥२८५५॥
अज्ञानलक्षणाक्षान्तमनिग्रह इमेभुवि । एकविंशति दोषाः स्थुनृणां दोषविधासिनः ॥२८५६॥

अर्थ—प्राणियों की हिंसा करना १, झूठ बोलना २, चोरी करना ३, मंथुन सेवन करना ४, परिग्रह रखना ५, क्रोध ६, मद ७, माया ८, लोभ ९, भय १०, अरति ११, रति १२, जुगुप्सा १३, मन की चंचलता १४, वचन की चंचलता १५, काय की चंचलता १६, मिथ्यादर्शन १७, प्रमाद १८, पैशून्य १९, अज्ञान २० और पंचेन्द्रियों का निग्रह न करना ये समस्त दोषों को उत्पन्न करनेवाले प्राणिहिंसादिक इक्कीस दोष हैं । ॥२८५४-२८५६॥

किसके गुण हो जाते हैं—

येदंयाद्विज्ञताचारविपरीताः कृता इमे । दोषागुणा हि तेषांस्तुस्त्रिजगत्पूज्ययोगिनाम् ॥२८५७॥

अर्थ—यदि ब्रह्मा आदि वस्तुओं को पालन कर इन दोषों के विपरीत आचरण किये जाय तो तीनों जगत के द्वारा पूज्य मुनियों के लिये वे ही सब गुण हो जाते हैं । ॥२८५७॥

अतिक्रमणादि दूषणों के त्यागने से व्रतादि धर्म की वृद्धि होती है—

अतिक्रमणमेवैकं अतिक्रमण एव हि । अतोचारोऽभ्यमाचारोऽवोचारश्चाहृत्यमी ॥२८५८॥

व्रतादीनां प्रयत्नेन सहिता ये जितेन्द्रियाः । आसन्ते ते गुणास्तेषां व्रतादिधर्मवृद्धिदाः ॥२८५६॥

अर्थ—अतिक्रमण, व्यतिक्रमण, अतिचार और अनाचार ये चार अतिक्रम आदि बोध कहलाते हैं । जो जितेन्द्रिय पुरुष इन बोधों का त्याग कर देते हैं, उनके व्रतादि धर्म की वृद्धि करनेवाले वे गुण हो जाते हैं ॥२८५६-२८५६॥

गुणों के ८४ भेदों का निर्देश—

गुणश्चतुर्भिरेभिस्तेषां गुणा एकविंशतिः । गुणाश्चतुरशीतिश्च भवेयुर्गुणिताः सताम् ॥२८६०॥

अर्थ—पहले जो हिंसा का त्याग आदि इकईस गुण बतलाये हैं, उनके साथ इन चार अतिक्रमादि के त्याग से गुणा कर देने से गुणों के चौरासी भेद हो जाते हैं । ॥२८६०॥

जीवादि की विराधना से १०० भेद—

पृथ्व्यपतेजोमहत्प्रत्येकानन्तकायदेहिनः । द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियास्तु र्षेन्द्रियाः पंचेन्द्रियादश ॥२८६१॥

इमे भेदा कितान्यस्ताः पृथ्व्याद्याः परस्परम् । दशभेदा भवन्त्यत्र बोधास्तेषां विराधनात् ॥२८६२॥

अभीष्टां सर्वयत्नेन रक्षणं ते शकुन्ते । तेषां हृदयतिमां बोधास्तावन्तः स्युर्गुणा हि ते ॥२८६३॥

अर्थ—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ये दस जीवोंके भेद होते हैं तथा इन दशों प्रकार के जीवों की विराधना के दश भेद हो जाते हैं, इनको परस्पर गुणा कर देने से दश प्रकार के प्राणी और उनकी दश प्रकारकी विराधना इन दोनों को परस्पर गुणा कर देने से सौ भेद हो जाते हैं । श्रेष्ठ व्रतोंको धारण करनेवाले जो मुनि प्रयत्न पूर्वक इन दशों प्रकार के प्राणियों की रक्षा करते रहते हैं और उनको दश प्रकार की विराधना से बचाते रहते हैं, उनके उत्तरगुणोंके सौ गुण माने जाते हैं । ॥२८६१-२८६३॥

८४०० भेदों का कथन निर्देश—

गुणाश्चतुरशीतिस्ते शतेनानेन वगिताः । गुणा भवन्ति दक्षैश्चतुरशीतिशतप्रमाः ॥२८६४॥

अर्थ—पहले उत्तरगुणों में चौरासी गुण बतला चुके हैं, उनको इन सौ से गुणा कर देने से चौरासी सौ भेद हो जाते हैं ॥२८६४॥

ब्रह्मचर्य की विराधना करनेवाले १० भेदों के कथन निर्देश—

स्त्रीसंसर्गो महास्वाधरसाद्याहारभोजनम् । गंधमाख्यादिसंस्पर्शकोमलशयनासनम् ॥२८६५॥

शरीरमण्डनं गीतवाद्यादिश्रवणं ततः । अर्थहेमादिसम्पर्कः कुशीलकुर्जनाश्रयः ॥२८६६॥

राजसेवाक्षसीरूपायरात्रिसंचरणं वृथा । एते विराधनादोषाग्रहार्थस्य वै दश ॥२८६७॥

अर्थ—स्त्रियों की संगति करना १, महा स्वाविष्ट सरस आहार का भोजन करना २, गंध माला आदि को सूंघना ३, कोमल शयन और आसन पर सोना बैठना ४, शरीर को सुशोभित बनाये रखना ५, गीत बाजे आदि का सुनना ६, सोना चांदी आदि धन से संबंध रखना ७, कुशीली कुण्डों की संगति रखना ८, राजसेवा करना ९ और इन्द्रियों के सुख के लिये अर्थ ही रात्रि में घूमना १०, ये दश अह्वयर्च की विराधना करनेवाले दोष हैं ॥२८६५-२८६७॥

८४००० भेदों का कथन निर्देश—

त्रिशुद्ध्या ये त्यजन्ते तान्दशदोषास्तपस्विनः । जायन्तेसद्गुणास्तेषां वशैव व्रतशुद्धिवाः ॥२८६८॥

एतदंशविकल्पश्चतुरशीतिशतान्यपि । शुशितानिसहस्राश्चतुरशीतिप्रमाणकाः ॥२८६९॥

अर्थ—जो तपस्वी मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक इन दश दोषों का त्याग कर देते हैं, उनके व्रतों को शुद्ध करनेवाले दश गुण प्रगट हो जाते हैं, ऊपर गुणों के चौरासीसौ भेद बतलाये हैं, उनसे इन दश को गुणा कर देने से गुणों के चौरासी हजार भेद हो जाते हैं ॥२८६८-२८६९॥

आलोचना के दस भेदों का कथन—

आकंपितश्चदोषोऽनुमानितोऽदृष्टबाधरौ । सूक्ष्मः प्रच्छन्नदोषोऽथशब्दाकुलितसंज्ञकः ॥२८७०॥

बहुजनोऽव्यक्तस्तत्सेवीति दशस्फुटम् । बोधा आलोचनस्यैव ज्ञेया एतेष्वकारकाः ॥२८७१॥

अर्थ—आकंपित, अनुमानित, अदृष्ट, बाधर, सूक्ष्म, प्रच्छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त, तत्सेवी ये दश पाप उत्पन्न करनेवाले आलोचना के दश दोष हैं । ॥२८७०-२८७१॥

८ लाख ४० हजार गुणों के कथन का निर्देश—

असीधां दशदोषाणां यत्नेन त्यजन्नास्तताम् । उष्यन्तेगुणाः शुद्धिकरास्तावन्त एव हि ॥२८७२॥

एतेचतुरशीतिश्च सहस्रावगतागुणैः । चत्वारिंशत्सहस्राणि ह्यष्टलक्षाधिकान्यपि ॥२८७३॥

अर्थ—जो सज्जन पुरुष प्रयत्नपूर्वक इन दश दोषों का त्याग कर देते हैं, उनके व्रतों को शुद्ध करनेवाले दस गुण प्रगट हो जाते हैं । ऊपर चौरासी हजार गुण बतला चुके हैं, उनके साथ इन दस का गुणा कर देने से आठ लाख अलीस हजार गुण हो

जाते हैं ॥२८७२-२८७३॥

प्रायश्चित्त के दश भेद—

आलोचनं त्रिशुद्ध्याप्रतिक्रमणं च तद्वयम् । विवेकोद्यतनूत्सर्गस्तपश्छेदः स्वदीक्षया ॥२८७४॥

भूलं च परिहारोयधद्वानंदशसंख्यकाः । प्रायश्चित्तस्य भेदा हि भवन्त्येतेविशुद्धिदाः ॥२८७५॥

अर्थ—मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक आलोचना करना, प्रतिक्रमण करना, वीनों करना, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, स्वदीक्षा का छेद, भूल, परिहार और श्रद्धान ये दस समस्त व्रतों को शुद्ध करनेवाले प्रायश्चित्त के भेद होते हैं ॥२८७४-२८७५॥

प्रायश्चित्त के १० भेद किसके गुण व किसके दोष रूप होते हैं—

विपरीता अमीषोषा जायन्तेप्रमदित्याम् । सम्प्राप्तारिता त्वं गुणः शुद्धिकराः कृत्याम् ॥७६॥

अर्थ—यदि इन प्रायश्चित्तों के विपरीत आचरण किया जाय तो ये ही दश दोष हो जाते हैं तथा ये दोष प्रमादियों को अवश्य लगते हैं । यदि इन्हों प्रायश्चित्तों के भेदों को अच्छी तरह पालन किया जाय तो सज्जनों के व्रतों को शुद्ध करनेवाले ये ही दस गुण हो जाते हैं ॥२८७६॥

मुक्ति के कारणभूत ८४ लाख गुणों का कथन—

एतद्वैशगुणेष्वर्थाश्रितसहस्रसद्गुणाः । अष्टलक्षाधिका युक्त्याशक्तनागुणिता वृधेः ॥२८७७॥

लक्षशचतुरशीतिश्चभवेयुःपिण्डिसागुणाः । सर्वदोषारिहंतारोमुनीनां मुक्तिहेतवः ॥२८७८॥

अर्थ—ऊपर जो आठ लाख चालीस हजार गुणों के भेद बतलाये हैं उनके साथ इन दस से गुणा कर देने से चौरासी लाख गुण हो जाते हैं । ये सब गुण मुनियों के समस्त दोष रूपी शत्रुओं को नाश करनेवाले हैं और मुक्ति के कारण हैं ॥२८७७-२८७८॥

कैसे गुणों को धारण करनेवाले पूज्य पद प्राप्त होते हैं—

एतैर्महागुणैर्यान्तित्रिजगत्पूज्यतापवम् । गणेशजिनवङ्खादिभूति च गुणशालिनः ॥२८७९॥

अर्थ—जो महा पुरुष इन गुणों को धारण कर अपनी शोभा बढ़ाते हैं वे पुरुष इन गुणों के बाहात्म्य से तीनों लोको के द्वारा पूज्य पदको प्राप्त होते हैं और गणधर तीर्थंकर तथा जगद्वर्ती आदि को महा विभूति को प्राप्त होते हैं ॥२८७९॥

उत्तम गुणों के धारण करनेवाले महापुरुषों की उभय लोक में कैसी महिमा होती है—

पुष्पाब्जं नभस्तेजोयशःसत्कारपूजनम् । तमस्कारस्तथादीनिगुणमश्चपदेपदे ॥२८८०॥

तथाहमिन्द्रदेवेन्द्रनागेन्द्रादिपदानि च । प्राप्यामुष्यश्रयन्ते ते पूजास्तुतिशतानि च ॥२८८१॥

अर्थ—जो पुरुष इन उत्तम गुणों को धारण करते हैं, उनका इस लोकमें यश फैलता है, लोग पद-पदपर उनका आदर सत्कार करते हैं, उनकी पूजा करते हैं, उनको नमस्कार करते हैं और उनकी स्तुति करते हैं । तथा इसीप्रकार परलोकमें भी अहमिन्द्र, देवेन्द्र, नागेन्द्र आदि के उत्तम उत्तम पद उनको प्राप्त होते हैं और वहांपर भी सैंकड़ों बार उनकी पूजा होती है और सैंकड़ों बार उनकी स्तुति होती है ॥२८८०-२८८१॥

कौन जगत में पूज्य है और कौन अपूज्य है—

गुणाःसर्वत्रपूज्यन्तेदर्शःसत्पुरुषाभिः । निर्गुणा मज्ज लोकेस्मिन् सत्कुसावियुताग्रपि ॥२८८२॥

अर्थ—सत्पुरुषों के आश्रित रहनेवाले गुण विद्वान् पुरुषों के द्वारा सर्वत्र पूजे जाते हैं और जो पुरुष निर्गुण होते हैं वे चाहे कितने ही अच्छे कुल में उत्पन्न क्यों न हुए हों तथापि उनकी पूजा कोई नहीं करता ॥२८८२॥

मर जानेपर भी कौन सदा जीवित एवं कौन जीवित रहने पर भी मरे के समान है ?

इहामुत्र च जीवन्तिजीवन्तो वा मृताः स्फुटम् । गुणितोगुणिसंयोगाज्जगद्विख्यातकीर्तितः ॥२८८३॥

जीवन्तोपिमृताज्ञेया निर्गन्धकुसुमोपमाः । दृक्त्वपोशानधृसादिगुणहीनाः कुकीर्तितः ॥२८८४॥

अर्थ—गुणी पुरुष उन गुणों के निमित्त से तीनों लोकों में प्रसिद्ध हो जाते हैं और तीनों लोकों में उनकी कीर्ति फैल जाती है । इसलिये वे इस लोक में भी जीते हैं और परलोक में भी जीते हैं । वे मर जानेपर भी सदा जीवित ही रहते हैं । जो पुरुष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य, तप आदि गुणों से रहित हैं, उनकी अपकीर्ति चारों ओर फैल जाती है इसलिये वे जीवित रहते हुए भी सुगंध रहित पुष्प के समान मरे हुए के समान समझे जाते हैं ॥२८८३-२८८४॥

सम्यग्दर्शन आदि गुणों की प्राप्ति की प्रेरणा—

मत्स्वेति धोषनानिरयं पालयन्सुगुणोत्तमान् । गुणिनां पदसंसिद्धयं दृगाद्यान्यत्नतोभुवि ॥२८८५॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान पुरुषोंको गुणियों का पद प्राप्त करने के लिये सम्यग्दर्शन आदि उत्तम गुणों को प्रतिदिन प्रयत्न पूर्वक पालन करते रहना चाहिये । ॥२८८५॥

दश प्रकार के धर्मों का स्वरूप एवं नामों का निर्देश—

अथधर्मं प्रवक्ष्यामि दशभेदं सुखाम्बुधिम् । साक्षान्मुक्तिपरीगन्तुं पाथेयं पथि योगिनाम् ॥२८८६॥

आद्याक्षमोक्षमा श्रेष्ठं मार्दवं चार्जवोत्तमम् । सत्यं शौचं महान् संयमस्तपस्त्यागसत्तमः ॥२८८७॥

आकिञ्चन्यं परं ब्रह्मचर्यं तत्सक्षणा न्यपि । इमानि धर्ममूलानि श्रमणानां दर्शय हि ॥२८८८॥

अर्थ—अथानंतर—अब आगे दश प्रकार के धर्मों का स्वरूप कहते हैं । ये दश प्रकार के धर्म मुनियों के लिये सुख के समुद्र हैं और मोक्षरूपी नगर में जाने के लिये मार्ग का साक्षात् पाथेय है, मार्ग व्यय है । उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दवं, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य यह मुनियों के दश धर्म हैं और समस्त धर्मों का मूल है ॥२८८६-२८८८॥

उत्तम क्षमा धर्म का स्वरूप निर्देश—

मिथ्यादृक्शत्रुदुष्टाहंः कृते सत्यत्पुण्ये । अपकीर्तिभया विभ्यः सह्यते ताडनादिकम् ॥२८८९॥

संयतेरिह लोकार्थं न परमार्थसिद्धये । यत्सा क्षमोच्यते सद्भिः सामान्यपुरुषाभिरता ॥२८९०॥

अर्थ—यदि कोई मिथ्यादृष्टि, शत्रु वा दुष्ट लोग किसी मुनि पर घोर उपद्रव करें, उनकी अपकीर्ति करें, उन्हें भय दिखलावें वा ताड़नादिक करें तो जो मुनि केवल इस लोक के लिये उसको सहन करते हैं, परलोक के लिये सहन नहीं करते उसको सज्जन पुरुष सामान्य पुरुषों के आश्रित रहनेवाली क्षमा कहते हैं ॥२८८९-२८९०॥

किसके उत्तम क्षमा होती है—

प्रास्यदृष्टिविषयार्थादीनां समर्थेऽसत्यपि । केवलकर्मनाशाय सह्यते यो महात्मभिः ॥२८९१॥

प्राणनाशकरो घोरोपसर्गो बुर्जनः कृतः । उत्तमाख्याक्षसाक्षात्ताधर्मरत्नक्षणीपरा ॥२८९२॥

अर्थ—परंतु जो मुनि उसी विषय ऋद्धि दृष्टि विषय ऋद्धि आदि अनेक ऋद्धियों के कारण समर्थ होनेपर भी केवल कर्मों को नाश करने के लिये दुष्टों के द्वारा किये हुये प्राणों को नाश करनेवाले घोर उपसर्गों को भी सहन करते हैं, उन महात्माओं के धर्मरत्न की खानि ऐसी सर्वोत्तम उत्तम क्षमा होती है ॥२८९१-२८९२॥

उत्तम क्षमा धारण करने की प्रेरणा—

स्वबोधगुणाचिन्ताहंः प्रत्यक्षादिविचिन्तनः । विचार चतुरैः कार्यासर्वत्रैका क्षमापरा ॥२८९३॥

अर्थ—अपने गुण दोषों को चिंतन कर अथवा प्रत्यक्ष परोक्ष के गुण दोषों को चिंतन कर विचारशील चतुर पुरुषों को सर्वत्र एक उत्तम क्षमा ही धारण करनी चाहिये ॥२८९३॥

साधु किस प्रकार चिंतन करते हुये निदा आदि के वचन सहते हैं—

यविकश्चित्कुषीः कुर्यात्साधोर्निन्दां तदायमी । हृषीतिचिन्तयेदेतेषोषाः सन्ति न वा मयि ॥६४॥
विद्यते यद्विदोषो मे न चास्य सत्यभाषणात् । शोषाभावेयवाऽज्ञानाद्वक्त्येष ममदूषणम् ॥२८६५॥
न मारयति मां मे न किञ्चिद्गुल्लितसद्गुणम् । इत्यादिचिन्तनं स्तेन सोढव्यं निन्दनादिकम् ॥६६॥

अर्थ—यदि कोई दुष्ट पुरुष किसी साधु को निदा करता हो तो उस समय उस साधु को अपने मनमें विचार करना चाहिये कि मुझमें ये दोष हैं वा नहीं । यदि मुझमें ये दोष हैं तो इसका कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह तो सत्य भाषण कर रहा है । यदि अपने में ये दोष न हों तो उनको विचार करना चाहिये कि यह अपने अज्ञान से मेरे दोषों को कहता है, मुझे मारता तो नहीं है अथवा मेरे श्रेष्ठ गुणों को तो ग्रहण नहीं करता अथवा नहीं छीनता, इसप्रकार चिंतन कर उन मुनियों को अपनी होने वाली निदा को सहन करना चाहिये ॥२८६४-२८६६॥

किस प्रकार के चिंतन से गाली आदि के वचन सहते, क्षमा भाव धरते हैं—

यवि करिचत्परोक्षेण मुनिमाक्रोशति क्रुधा । तदेति मुनिना ध्येयं क्रोधाग्निजलवोपमम् ॥२८६७॥
आक्रोशति परोक्षेयं प्रत्यक्षे मां न पापधीः । आभोऽस्मान्मम मत्वेति क्षंतव्यं तेन तत्कृतम् ॥६८॥

अर्थ—यदि कोई दुष्ट पुरुष क्रोध में आकर परोक्ष में किसी मुनि को गाली देता हो वा कड़वे बुरे वचन कहता हो तो क्रोध रूपी अग्नि को बुझाने के लिये मेघ के समान उन मुनि को इसप्रकार चिंतन करना चाहिये कि यह पापी परोक्ष में ही मुझे गाली देता है, प्रत्यक्ष में आकर तो गाली नहीं देता मेरे लिये यही बड़ा लाभ है । यही समझ कर उन मुनियों को उस दुष्ट का अपराध क्षमा कर देना चाहिये ॥२८६७-२८६८॥

दुष्ट दुर्वचन सहन करने की प्रेरणा—

आक्रोशतिर्याति कश्चित्प्रत्यक्षेण दुरात्मकः । तदेति चिन्तनीमंसन्मुनिना कोपनाशकम् ॥२८६९॥
ददाति केवलमेयं गालीं हन्ति न मां शठः । गालीभिः किं क्षणान्यत्र जायन्ते मेऽशुभानि वा ॥
अतोऽब्रामुत्र हानिश्चास्मैव निन्दनतो न मे । विचिन्तयेति स्वमीनेन सोढव्यं तेन दुर्वचः ॥२८७०॥

अर्थ—यदि कोई दुरात्मा प्रत्यक्ष में ही आकर किसी मुनि को गाली देवे तो उस मुनि को क्रोध को नाश करनेवाला इसप्रकार का चिंतन करना चाहिये कि यह मूर्ख मुझे गाली ही देता है, मुझे मारता तो नहीं है, गाली से मेरे घाव थोड़े ही हुए जाते हैं अथवा मेरी कुछ हानि थोड़ी ही होती है । यदि वास्तव में देखा जाय तो मेरी

निंदा करने से इस लोक में भी इसकी हानि होती है और परलोक में भी इसकी हानि होती है । इसमें मेरी कुछ हानि नहीं होती इसप्रकार चितवन कर और मौन धारण कर उन मुनिराज को उस दुष्ट के दुर्बचन सहन कर लेने चाहिये ॥२६६-२६०१॥

क्रोध से ताड़नादि करनेपर मुनिराज किस प्रकार चितवन करते हैं—

अथवायद्योः कश्चित्साधुं ताडयति क्रुधा । तदेतत् साधुना चित्तं चिन्तनीयं क्षमाकरम् ॥२६०२॥

हन्त्येवायं कुधीर्मान्प्रणामं हरति नाजसा । अस्मान्मे लाभेवात्र न च हानिरप्यभयात् ॥२६०३॥

वात्रायं वधबंधाद्यं मे पापं हरति स्फुटम् । न च पुण्यमतोऽयं हानिर्बुद्धिर्ममोजिता ॥२६०४॥

अथवा मन्त्रिपुत्राद्यं प्राग्भवे ताडितो भया । ततो मां ताडयत्यत्र बोधो मेऽस्य न जातुचित् ॥२६०५॥

अर्थ—यदि कोई मूर्ख क्रोध में आकर किसी साधु को ताड़ना करे मारे तो उन मुनिराज को अपने चित्तमें क्षमा की खानिरूप ऐसा चितवन करना चाहिये कि यह मूर्ख मुझे मारता ही है, मेरे प्राणों का हरण तो नहीं करता अतएव इसमें मेरा लाभ ही है, मेरी हानि कुछ नहीं है, मेरे तो इसमें पाप नष्ट होते हैं, असाताकर्मों की निजंरा होती है । इसप्रकार चितवन करना चाहिये । अथवा इसप्रकार चितवन करना चाहिये कि यह मूर्ख मुझे मारकर वा बांधकर मेरे पापों का हरण करता है, मेरे पुण्य को तो हरण नहीं करता ? इसलिये ऐसा करने में इसकी तो हानि है और मेरे लिये लाभ है । अथवा उन मुनिराज को इसप्रकार चितवन करना चाहिये कि यह मेरे पहले भव का शत्रु है, मैंने पहले भव में इसको मारा होगा इसलिये यह इस भव में मुझे मारता है, यह तो मेरा ही दोष है इसमें इसका क्या दोष है ॥२६०२-२६०५॥

अपने ही कर्म का उदय जान मुनिराज क्षमा धारण करते हैं—

प्राग्भवे वा कृतं कर्म यस्तन्मयं वभूज्यते । निमित्तमात्रमत्रैवं मन्ये दुःखादिकारकम् ॥२६०६॥

मद्योयमपि चित्तं व्रजेत्क्रोधाग्निसन्निधिम् । अजस्थास्यविदोमेव कोविशेषस्तदापृथक् ॥२६०७॥

अर्थ—अथवा उन मुनिराज को इसप्रकार चितवन करना चाहिये कि मैंने पहले भवों में जो कर्म किए हैं वे मुझ ही भोगने पड़ेंगे । यह प्राणी तो उन कर्मों के उदय से होनेवाले दुःखों में केवल निमित्त कारण है । मुख्य कारण तो मेरे ही कर्मों का उदय है । यदि इस समय मेरे हृदय में भी क्रोध उत्पन्न हो आवे तो फिर इस मूर्ख में और मुझ ज्ञानी में अलग-अलग विशेषता क्या होगी ? फिर तो दोनों ही समान हो जायेंगे ॥२६०६-२६०७॥

क्रोध करने से पूर्व साधना भी व्यर्थ हो जाती है—

क्रोधहालाहलाकान्तनिविधीकतुंमक्षमः । अहं यदि कथं क्रोधविषं पिबामिसाम्प्रतम् ॥२६०८॥
अन्यस्तो यः शमः पूर्वं बहुकण्ठर्मयाधुना । संफलं तस्य जायेत यदि कोपं करोम्यतः ॥२६०९॥

अर्थ—यदि मैं क्रोधरूपी महा विषसे प्रकांत हुए इस पुरुष को निविष करने में समर्थ नहीं हूँ अर्थात् यदि मैं इसका क्रोधरूपी विष दूर नहीं कर सकता हूँ तो फिर मैं इस समय क्रोधरूपी विष का पान क्यों करूँ । यदि मैं इस समय क्रोध करता हूँ तो मैंने पहले अनेक कष्ट सहन कर जो उपशम रूप (अत्यंत शांत) परिणामों का अभ्यास किया है वह सब व्यर्थ हो जाता है ॥२६०८-२६०९॥

स्थिरचित्त से उपद्रव सहने की प्रेरणा—

इत्याविचिन्तनंश्चित्तस्थिरीकृत्याशुसाधुना । सोढव्यं निखिललोके ताडनं दुर्जनोद्भवम् ॥२६१०॥

अर्थ—इसप्रकार चित्तवन कर उन मुनिराज को अपना चित्त स्थिर कर लेना चाहिये और इस लोक में दुष्टों के द्वारा उत्पन्न हुए मारण ताड़न आदि सब उपद्रव सहन कर लेने चाहिये ॥२६१०॥

प्राण हरण करने के अवसर पर भी मुनिराज क्षमा धारण करते हैं—

यदि कश्चिदश्रूषेःप्राणान् गृह्णातिशिवभ्रमायकः । श्रूषिणेवं तथा चिन्तनीयकोपाग्नि नोरवम् ॥
आदत्तेयं ममप्राणान् नच धर्मं शिवप्रदम् । अस्माद्दालादि मे लाभो न हानिर्धर्मवर्द्धनात् ॥२६११॥

अर्थ—यदि कोई नरक को जाने वाला दुष्ट किसी मुनि के प्राण ही हरण करता हो तो उन मुनिराज को उस समय क्रोधरूपी अग्नि को शांत करने के लिये मेघ के समान इसप्रकार का चित्तवन करना चाहिये, यह मूर्ख मेरे प्राणों को लेता है, मोक्ष देने वाले मेरे धर्म को तो नहीं लेता इसलिये इस मूर्ख से मेरी कोई हानि नहीं है, किंतु मेरे धर्म की वृद्धि होने से मेरा लाभ ही है ॥२६११-२६१२॥

मुनिराज मारने वाले को भी मित्र एवं हितु मानते हैं—

जरा जर्जरितंकार्यहृत्वादिष्यंगुणाकरम् । वपुदसे वषाद्यं मे कथं स न सुहृद्वरः ॥२६१३॥
बंधार्थः पापकर्मन्योयद्ययं स न साक्षयेत् । तवामोक्षः कुतस्तेभ्योमेवमावेक्षितकरः ॥२६१४॥
कारागारनिभात्कायान्मोचयित्वाशुर्मा हि यः । स्वर्गादीस्थापयत्येव कथं स शत्रुवच्यते ॥२६१५॥

अर्थ—और देखो यह प्राणी मुझे मारकर जरासे जर्जरित हुए मेरे शरीर को नाश करता है और अनेक गुणों की क्षानि ऐसा दिव्य शरीर मुझे देता है इसलिये यह

तो मेरा सबसे बढ़कर मित्र है । यदि यह प्राणी मुझे मारकर पाप कर्मों से मुझे नहीं छुड़ाता तो मैं उन पापों से कैसे छूटता ? इसलिये कहना चाहिये कि यह तो मेरा सबसे अच्छा हिंस करनेवाला है । अरे जो पुरुष कारागार के समान इस शरीर से मुझे शीघ्र ही छुड़ाकर मुझे स्वर्गादिक में पहुंचा देता है, यह मेरा शत्रु कैसे हो सकता है उसे तो मैं अपना मित्र समझता हूं ॥२६१३-२६१४॥

पुनः उत्तम क्षमा धारण करने की प्रेरणा —

इत्यादिसद्विचारैर्धैः प्राणनाशेऽपि साधुना । क्षमका सर्वथा कार्या क्रोधः कार्यो न जातुचित् ॥२६१५॥

अर्थ—इसप्रकार अनेक तरह से अपने श्रेष्ठ विचार धारण कर प्राण नाश होनेपर भी मुनिराज को एक उत्तम क्षमा ही धारण करनी चाहिये । उन मुनिराज को क्रोध कभी नहीं करना चाहिए ॥२६१५॥

मुनिराज चन्दन के वृक्ष एवं पृथ्वी के समान अविकारी और अचल होते हैं—

छेदनेः कर्त्तनैर्वाहैर्विक्रियायातिचन्दनम् । न यथाऽत्र तथा योगी सर्वोपद्रवराशिभिः ॥२६१७॥

कम्पते न यथा पृथ्वीखननज्वालादिभिः । उपसर्गैस्तथाविश्वैर्ध्यानस्थोधीरसंयमी ॥२६१८॥

अर्थ—जिस प्रकार चंदन को छेदने से, काटने से वा जलाने से चंदन में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार समस्त उपद्रवों के समूह आ जानेपर भी योगी के हृदय में कभी विकार उत्पन्न नहीं होता । जिसप्रकार पृथ्वी को खोदने वा जलाने से पृथ्वी कभी कंपायमान नहीं होती उसी प्रकार समस्त उपसर्गों के आ जानेपर भी ध्यान में स्थिर हुए धीरवीर संयमी अपने ध्यान से कभी चलायमान नहीं होते हैं । ॥२६१७-२६१८॥

संकड़ों उपसर्गों के आनेपर भी साधु विकृत नहीं होते हैं—

वक्षसिहृत्क्षामृतादीनिविषाद्यन्तेविषेर्कशात् । नोपसर्गैश्चसाधूनांचित्तानन्दामृतामि भोः ॥२६१९॥

अर्थ—कभी कभी कर्मोंके निमित्त से वा अन्य किसी कारण से दूध वा अमृत आदि उत्तम पदार्थ भी विषरूप हो जाते हैं, परंतु साधुओं के हृदय से उत्पन्न हुआ आनंदामृत संकड़ों उपसर्गों के आ जानेपर भी कभी विषरूप वा विकाररूप नहीं होता । ॥२६१९॥

क्रोध की निंदा एवं क्षमा की महिमा का वर्णन—

न क्रोपसदृशोऽविह्वलिवप्रज्वालनक्षमः । समुतं न क्षमातुल्यं त्रिजगत्प्रीतमक्षमम् ॥२६२०॥

अर्थ—इस संसार में क्रोध के समान अन्य कोई अग्नि नहीं है क्योंकि यह क्रोध समस्त संसार को जला देने में समर्थ है । इसीप्रकार क्षमा के समान इस संसार में कोई अमृत नहीं है क्योंकि इस क्षमा से तीनों लोकों के प्राणी अत्यन्त संतुष्ट हो जाते हैं ॥२६२०॥

क्रोध करनेवाले जीवों की हानि—

द्वीपायनः स्वकोपेनदग्धवाद्द्वारावती मुनिः । सर्वा स्वस्य शरीरचागासैजसेन दुर्गतिम् ॥२६२१॥
क्रोधेनाघार्जनं कृत्वा बहवो नारवादयः । रौद्रध्यानाद्गताःस्वभ्रंस्त्रीश्यादिरहिता अपि ॥२२॥

अर्थ—देखो द्वीपायन मुनि ने क्रोध कर तेजस समुद्रात के द्वारा समस्त द्वारिका नगरी जला डाली, अपना शरीर जल्य डाला और घंघ में उसे नरकरूप दुर्गति में जाना पड़ा । इनके सिवाय स्त्री धन आदि से रहित ऐसे नारद आदि बहुत से प्राणी क्रोध के कारण अनेक पापों को उपार्जन कर अंतमें रौद्रध्यान से मर कर नरक पहुंचे हैं ॥२६२१-२६२२॥

क्रोध अग्नि के समान आत्मिक गुणों को नष्ट करता है—

कोपाग्नि जूंभतेसाधोर्यस्य कायकुटीरके । तस्यदृष्ट्यादिरत्नानि भस्मीभावंतजन्त्यतः ॥२६२३॥
पूर्वं दहति कोपाग्निर्वहं ततोपरान्जनान् । इहपुंसां च धर्मावीन् वत्तेमुग्रह्यधोगतिम् ॥२६२४॥

अर्थ—जिस साधु के शरीररूपी भोंपड़ी में क्रोधरूपी अग्नि लग जाती है, उसके सम्यग्दर्शन आदि समस्त रत्न अवश्य ही जलकर भस्म हो जाते हैं । यह क्रोधरूपी अग्नि पहले तो अपने शरीर को जलाती है, फिर अन्य प्राणियों को जलाती है और फिर उन साधुओं के धर्मादिक गुणोंको नष्ट करती है तथा फिर अंतमें परलोक में नरकादिक अधोगति को देती है ॥२६२३-२६२४॥

जिनेन्द्रदेव क्रोध करनेवाले को क्या समझते हैं—

यदि कोपं स्वचित्कुर्यान्नतो वा जीवराक्षतः । तदा नीचो जिनेः प्रोक्तः सोग्ध्यजावपिपापधीः ॥

अर्थ—यदि कोई नग्न साधु वा एक कोपीन मात्र रखने वाला एलक वा कुल्लक कहीं पर क्रोध करता है तो भगवान् जिनेन्द्रदेव उस पापी को चांडाल से भी नीच समझते हैं ॥२६२५॥

अनेकों दोषों को उत्पन्न करनेवाले क्रोध को मुनि कैसी तलवार से नाश करते हैं—

न क्रोधेन सप्तो धरो सर्वनिर्वाकरोशुभः । इहामुग्रमनुष्याणां सप्तमग्वभ्रकारकः ॥२६२६॥

इत्यादिदोषकर्तारं क्रोधशत्रुं तपोधनाः । क्षमाखड्गेनमोक्षायदुर्जयंघ्नन्तुशक्तितः ॥२६२७॥

अर्थ—इस संसार में क्रोध के समान मनुष्यों का अन्य कोई शत्रु नहीं है । क्योंकि यह क्रोध इस लोक में भी समस्त अनर्थों को करनेवाला और अशुभ वा पाप उत्पन्न करनेवाला है और परलोकमें भी सातवें नरक तक पहुंचाने वाला है । इसप्रकार अनेक दोष उत्पन्न करनेवाले और अत्यन्त दुर्जय ऐसे क्रोधरूप शत्रु को तपस्वी लोग मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपनी शक्ति से क्षमाखण्ड तलवार के द्वारा नाश कर डालते हैं ॥२६२६-२६२७॥

क्षमा की महिमा और किसने इसे धारण करके केवल ज्ञान को प्राप्त किया—

क्षमामुक्तिसखी प्रोक्ता जिनेषुक्तिवशीकरा । कल्पवल्लीक्षमा नृणां संकल्पितसुखप्रदा ॥२६२८॥

क्षमा रक्षामरापुंसां शत्रून्मयः शममातृकाः । क्षमा धर्मसुरत्नानां खनीसाराशुभकरा ॥२६२९॥

पार्श्वेशसंजयन्ताख्यशिवभूत्यादियोगिनः । क्षमयात्राधिराजित्वाब्रह्मपद्मसगनिर्वेरिवान् ॥२६३०॥

केवलाखगमंप्राप्यश्चिजगद्भव्यपूजनम् । लोकाग्रशिखरजगद्गुर्वहवः शर्मसागरम् ॥२६३१॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने इस क्षमा को, मोक्ष को वश करनेवाली ऐसी मोक्ष की सखी बतलाई है । तथा यही क्षमा मनुष्यों के लिये इच्छानुसार सुख देनेवाली कल्पलता के समान है । मनुष्यों को शत्रुओं से रक्षा करनेवाली यह क्षमा ही सबसे उत्तम है । यह क्षमा उपशम की माता है, सबमें सारभूत है, शुभ करनेवाली है और धर्मरूप रत्नों की खानि है । देखो भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी, संजयन्त मुनि और शिव-भूत आदि कितने ही मुनि इस क्षमा को धारण कर ही शत्रुओं से उत्पन्न अनेक उपसर्गों को जीतकर शीघ्र ही केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं तथा तीनों लोकों के भव्य जीवों के द्वारा पूजे जाकर अनन्त सुखों के समुद्र ऐसे लोक शिखर पर जा विराजमान हुए हैं । ॥२६२८-२६३१॥

सर्वश्रेष्ठ गुणों का समूह रूप क्षमा को धारण करने की प्रेरणा—

क्षमासमं तपोनास्तिक्षमातुल्यं न सर्वव्रतम् । क्षमाभं न हितंकिञ्चित्क्षमामिभं न जीवितम् ॥३२॥

इत्यादीन्परमान् ज्ञात्वा क्षमायाः गुणसंख्यानं । कुर्वन्तुसुधियोनित्यं क्षमां कृत्स्नप्रयत्नतः ॥३३॥

अर्थ—इस संसार में क्षमा के समान अन्य कोई तप नहीं है, क्षमा के समान अन्य कोई श्रेष्ठ व्रत नहीं है, क्षमा के समान कोई हित नहीं है और क्षमा के समान कोई जीवन नहीं है । इसप्रकार इस क्षमा के सर्वोत्कृष्ट गुणों के समूह को समझकर

बुद्धिमानों को पूर्ण प्रयत्न के साथ नित्य ही क्षमा धारण करनी चाहिये ॥२६३२-२६३३॥

उत्तम मार्दव धर्म के कथन की प्रतिज्ञा—

इत्येकं लक्षणं सारं धर्मस्याख्यायधीमताम् । क्षमाह्यं धर्ममूलं च द्वितीयं मार्दवं ब्रूये ॥२६३४॥

अर्थ—इसप्रकार बुद्धिमानों के लिये धर्मका मूल और सारमूल ऐसे एक उत्तम रूप धर्मका लक्षण कहा । अब आगे दूसरे उत्तम मार्दव का लक्षण कहते हैं ॥२६३४॥

मार्दव धर्म का लक्षण—

सत्सत्त्वमेषुसर्वेषुसञ्जात्यादिषुचाष्टसु । मृदुभिश्चित्तवाक्कायेनिहृत्य तत्कृतमदम् ॥२६३५॥

क्रियतेमृदुभाषोयोस्त्रिलाहंकारवर्जितः । तद्धर्मलक्षणं ज्ञेयं मार्दवं सत्कृपाकरम् ॥२६३६॥

अर्थ—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, श्रद्धा, तप और शरीर ये अभिमान के आठ कारण बतलाये हैं, इन सबकी उत्तमता प्राप्त होनेपर भी मुनियों को अपने कोमल मन-वचन-काय को धारण कर इन आठों मर्दों का त्याग कर देना चाहिये तथा सब तरह के अभिमानों का त्याग कर अपने कोमल परिणाम धारण करने चाहिये । श्रेष्ठ दया को पालन करनेवाला यही मार्दव धर्म का लक्षण है ॥२६३५-२६३६॥

कोमल एवं कठोर परिणामों के फल का निर्देश—

व्रतशीलसमस्तानि याग्निसम्पूर्णतां सताम् । सुमार्दवेन मुक्तिस्त्रीदत्ते चलिगनं बृहम् ॥२६३७॥

त्रियोगमार्दवत्वेन धमिणां धर्मउल्लवणः । उत्पद्यतेगुणीविश्वः सार्द्धं विश्वसुखाकरः ॥२६३८॥

काठिन्यपरिणामेन जायते पापसूजितम् । क्षयोस्त्रिलवतावीर्णानिद्यं च स्वभ्रसंबलम् ॥२६३९॥

अर्थ—इस मार्दव धर्म के कारण सज्जनों के समस्त व्रत और शील पूर्ण हो जाते हैं तथा इस मार्दव धर्म से ही मुक्तिस्त्री बृह आलिगन देने को तत्पर रहती है । मन-वचन-काय तीनों को कोमल रखने से धर्मात्मा पुरुषों के समस्त गुणों के साथ-साथ समस्त सुखों को देनेवाला सर्वोत्कृष्ट धर्म प्रगट होता है । तथा कठिन परिणामों को रखने से प्रबल पाप उत्पन्न होता है, समस्त व्रतों का नाश होता है और अत्यन्त निद्य ऐसा नरक गति का साधन प्रगट ही जाता है ॥२६३७-२६३९॥

मार्दव धर्म के धारण करने की प्रेरणा—

इतिसन्मृदुकाठिन्यवित्तयोःफलमञ्जसा । शुभाशुभविदित्वाहोहृत्वाकठिनमानसम् ॥२६४०॥

विश्वसत्त्वकृपाक्रान्तं मार्दवं सुष्ठुयत्नतः । कुर्वन्तुमुनयोधर्मशिवश्रीसुखबुद्धये ॥२६४१॥

अर्थ— इसप्रकार कोमल परिणामों का फल शुभ और कठिन परिणामों का फल अशुभ समझकर कठिन परिणामों का त्याग कर देना चाहिये और उन मुनियों को धर्म तथा मोक्ष की लक्ष्मी और सुख बढ़ाने के लिये प्रयत्नपूर्वक समस्त जीवों की कृपा से परिपूर्ण ऐसा मार्गधर्म धर्म धारण करना चाहिये ॥२६४०-२६४१॥

पुनः जिनेन्द्रदेव कथित आर्जव धर्म का स्वरूप निर्देश—

हृदयित्संस्थितं कार्यं व्रूयते वचसा च तत् । वपुषाश्चर्यते तथ्यमजुबुद्धिभिरंजसा ॥२६४२॥
एतदाजवमत्यर्थमुत्तमं धमलक्षणम् । प्रणोतं धर्मनाथेन सतां धर्मकुलालयम् ॥२६४३॥

अर्थ— अपनी सरल बुद्धि को धारण कर अपने मनमें जो कार्य जिस रूप से चिंतन किया है, उसको उसी रूप से कहना और शरीर के द्वारा उसी रूप से करना, उत्तम आर्जव धर्म कहलाता है । धर्मकी परंपरा का घर ऐसा यह आर्जव धर्मका लक्षण सज्जनों के लिये भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥२६४२-२६४३॥

आर्जव धर्म की महिमा एवं उसका फल—

पुं मां चाजवभावेन जायन्ते निर्मला गुणाः । त्रिजगत्सुखसाराणि तीर्थंशादिविभूतयः ॥२६४४॥
धर्मिणामजुचितेनोत्तमो धर्मो भवान्तकः । साक्षान्मुक्तिवधूवाता भवेत्सर्वार्थसाधकः ॥२६४५॥
आर्वा आर्जवयोगेन ह्यवसाश्रयिभोगिनः । यान्ति देवालयं नूनं ? मतोऽस्याप्यभातुकः ॥२६४६॥

अर्थ— इस आर्जव धर्म के निमित्त से मनुष्यों को अत्यन्त निर्मल गुण प्राप्त होते हैं, तीनों जगत् के सारभूत सुख प्राप्त होते हैं और तीर्थंकरादिक की विभूतियां प्राप्त होती हैं । सरल हृदय को धारण करने से धर्मात्माओं को, संसार को नाश करने वाला साक्षात् मोक्षस्त्री को देनेवाला और समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाला उत्तम धर्म प्राप्त होता है । देखो सदा भोगोपभोग सेवन करनेवाले और अश्रुती ऐसे भोग भूमिया भी मन-वचन-कायको सरल रखने के कारण स्वर्ग में ही जाकर जन्म लेते हैं । ॥२६४४-२६४६॥

किमके ध्यानादि तप निष्फल है—

कौटिल्यपरिणामेन कुटिलाधारितदुर्गतिम् । अहोपापार्जनंकुक्षामाज्वरमकरादिकाः ॥२६४७॥
कूटद्वयमिषयर्थमिष्कलं संप्रदायवत् । विषमिश्रितबुद्धं वा तपोध्यानादिदुर्धियाम् ॥२६४८॥

अर्थ— तथा बिल्ली, मगर आदि मायाचारी कुटिल जीव अपने कुटिल परिणामों के ही कारण अनेक पापों को उत्पन्न कर दुर्गति में जाकर जन्म लेते हैं । जो

सरल बुद्धि की धारण नहीं करते, उनके तप और ध्यानादिक सब नित्य द्रव्य के समान व्यर्थ हैं, स्वप्न में मिले हुए राज्य के समान निष्फल हैं और विष मिले हुए दूध के समान हानि करनेवाले हैं ॥२६४७-२६४८॥

मायाचारी रूप क्रियाओं का फल एवं उसे त्यागने की प्रेरणा—

मायाविना तपोधर्मसंयमो वा शुभक्रिया । स्वयतो निश्चितं मायाघेन तिर्यङ्गतिर्भवेत् ॥२६४९॥

भवेति दूरतस्त्यक्त्वामायावाक्यादिमंजसा । ऋजुयोगेन कुर्वीष्यमार्जवं मुक्तये वृषाः ॥२६५०॥

अर्थ—मायाचारी पुरुषों के तप, धर्म, संयम वा शुभ क्रियाएं कुछ नहीं बन सकतीं, क्योंकि यह निश्चित है कि मायाचारी से उत्पन्न हुए पाप के कारण मायाचारियों की तिर्यंच गति की ही प्राप्ति होती है । यही समझकर बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये मायाचारी से मिले हुये मन-वचन-काय को दूर से ही त्याग कर देना चाहिये और मन-वचन-काय की सरलता धारण कर मार्जवं धर्मका पालन करना चाहिये ॥२६४९-२६५०॥

सत्यधर्म का लक्षण एवं उसे धारण करने का फल—

स्वान्येषां हितमुद्दिष्य धर्मतत्त्वार्थगर्भितम् । व्रूयते यद्वचस्तथ्यं सारं सिद्धान्तवेदिभिः ॥२६५१॥

भाषासमितिमाख्यं तत्सत्यं धर्मलक्षणम् । ज्ञानबीजं जगन्मान्यं कर्मधर्म मोक्षकारणम् ॥२६५२॥

सत्येन विमला कीर्तिर्भवेत् लोकत्रये सताम् । महाधर्मश्च जायेत जनार्दनः सद्गुणैः सह ॥२६५३॥

द्विजगच्छ्रीः परं सौख्यं जगत्पूजया च भारतो । सर्वज्ञबन्धनसंस्थास्तथ्यते सत्यवादिभिः ॥२६५४॥

अर्थ—सिद्धांत को जाननेवाले जो मुनि अपने और दूसरों के हित को ध्यान में रखते हुए धर्म और तत्त्वों के अर्थों से सुशोभित यथार्थ और सारभूत वचन कहते हैं तथा भाषा समिति को आलंबन कर वचन कहते हैं, वह सत्यधर्म का लक्षण है । यह सत्यधर्म ज्ञानका बीज है, तीनों लोकों में मान्य है, कर्मों को नाश करनेवाला है और मोक्ष का कारण है । इस सत्यधर्म के कारण सज्जनों की निर्मल कीर्ति तीनों लोकों में फैल जाती है और सम्यग्ज्ञानादिक श्रेष्ठ गुणों के साथ-साथ उनको महाधर्म की प्राप्ति होती है । सत्यवादियों को इस सत्यधर्म के प्रभाव से तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त होती है, परम सुख की प्राप्ति होती है, तीनों लोकों में पूज्य ऐसी सरस्वती की प्राप्ति होती है और सर्वज्ञ की विभूति प्राप्त होती है ॥२६५१-२६५४॥

असत्य बोलने का फल एवं सत्य बोलने की प्रेरणा—

अज्ञत्वं मुखरोगस्थं स्वाकीर्तिवृत्तमंजसा । दुर्गतिं च महत्पापं लभन्ते भूतभाषिणः ॥२६५५॥

इत्येतयोःफलं ज्ञात्वा त्यक्त्वामुखावशोखिलम् । वदन्तुनिपुणाः सत्यं मधुरंसद्वचोहितम् ॥२६५६॥

अर्थ—मिथ्या भाषण करनेवालों को अज्ञानता की प्राप्ति होती है, मुख के अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, संसारमें अपकीर्ति फैल जाती है, अनेक दुःखों की प्राप्ति होती है और महा पाप उत्पन्न होता है । इसप्रकार सत्य असत्य दोनों का फल समझ कर बुद्धिमानों को सब तरह के मिथ्या भाषण त्याग कर देना चाहिये और हित करने वाले मधुर सत्य वचन कहने चाहिये ॥२६५५-२६५६॥

शौच धर्म का लक्षण—

इन्द्रियार्थेष्वनासक्तं निस्पृहं विश्ववस्तुषु । सर्वांगिकरुणाकान्तमनः कृत्वाद्यवजितम् ॥२६५७॥

लोभशत्रुं निहत्योषधेः सन्तोषो यो विधीयते । विश्वार्थस्वसुखादौतच्छौचं सद्धर्मलक्षणम् ॥५८॥

अर्थ—जो मुनि अपने मनसे इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति का त्याग कर देते हैं, अपने ही मन में समस्त पदार्थों की निस्पृहता धारण करते हैं और समस्त जीवों की दया पालन करते हैं । इसप्रकार अपने मनको पाप रहित बनाकर लोभ रूपी शत्रु को सर्वथा नाश कर डालते हैं और समस्त पदार्थों में तथा अपने सुखादिक में पूर्ण संतोष धारण करते हैं, उसको शौच नामका धर्म कहते हैं ॥२६५७-२६५८॥

लोभ के चार भेद एवं उन्हें त्यागने की प्रेरणा—

जीवितारोग्य पंचेन्द्रियोपभोगैश्चतुर्विधः । स्वान्ययोरप्रलोभोवर्क्षस्त्याज्यः समुक्तये ॥२६५९॥

अर्थ—इस संसारमें लोभ चार प्रकार का है, जीवित रहने का लोभ, आरोग्य रहने का लोभ पंचेन्द्रियों का लोभ और भोगोपभोगों की सामग्री का लोभ । चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपने तथा दूसरों के दोनों के लिये चारों प्रकारके लोभ का त्याग कर देना चाहिये ॥२६५९॥

किसको शौच धर्म की प्राप्ति होती है—

निर्लोभानां जिताक्षराणां शौचधर्मो हिकेवलम् । जायते परमो मुक्तये न कामाशक्तचेतसाम् ॥२६६०॥

अर्थ—जो इन्द्रियों को जीतनेवाले निर्लोभी हैं, उन्हीं के मोक्ष प्राप्त करनेवाले परमोत्कृष्ट शौचधर्म की प्राप्ति होती है, जिनका हृदय कामवासना में लगा हुआ है, उनके शौचधर्म की प्राप्ति कभी नहीं होती ॥२६६०॥

निर्लोभी एवं लोभी पुरुषों को संसार में किसकी प्राप्ति होती है—

शौचेन महती लक्ष्मीर्भूयनत्रयगोचरा । मुक्तिश्चोत्सव्यमायाति निर्लोभाश्च यशः परम् ॥२६६१॥

लोभिनां लोभपापेनवारित्रं दुःखमुत्पन्नम् । कुगंतौ भ्रमणं पापबुद्ध्यतिं चाशुभो भवेत् ॥२६६२॥

अर्थ—निर्लोभी पुरुषों को इस शौचधर्म के प्रभाव से तीनों लोकों में उत्पन्न होनेवाली महा लक्ष्मी प्राप्त होती है तथा मोक्ष लक्ष्मी स्वयं आकर प्राप्त हो जाती है और उनका सर्वोत्कृष्ट यश तीनों लोकों में फैल जाता है । लोभी पुरुषों को लोभ रूप पाप से दरिद्रता उत्पन्न होती है, घोर दुःख प्राप्त होते हैं, अनेक दुर्गतियों में परिभ्रमण होता है, महा पाप उत्पन्न होता है, निन्द्य अशुभध्यान होता है और अशुभ कर्मों का बंध होता है ॥२६६१-२६६२॥

किसके द्वारा लोभ रूपी शत्रु को नष्ट करना चाहिये—

यत्वेत्याहृत्यलोभारिसग्लोषलङ्घघाततः । अन्तः शौचविधातव्यं बुधं कर्तव्यं जन्मादृते ॥२६६३॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान् मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये संतोष रूपी तलवार की चोट से लोभ रूपी शत्रु को मार डालना चाहिये और बिना जल के अंतरंग शौच को धारण करना चाहिये ॥२६६३॥

संयम धर्म का स्वरूप निर्देश—

मनः पञ्चेन्द्रियाणामिन्द्रोधनं परिरक्षणम् । षड्जीवानां त्रिशुद्ध्या चाचर्यते अमुमुक्षुभिः ॥२६६४॥

संयमः स जिनः प्रोक्तः साक्षात्मुक्तिनिबन्धनः । तपोवृत्तानधर्मादिगुणानां शुद्धकारकः ॥२६६५॥

अर्थ—मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनि लोग मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक जो मन और पाँचों इन्द्रियों का निरोध करते हैं तथा छहों काय के जीवों की रक्षा करते हैं उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव संयम कहते हैं । यह संयम मोक्ष का साक्षात् कारण है तथा तप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और धर्मादिक समस्त गुणों को शुद्ध करनेवाला है ॥२६६४-२६६५॥

संयम के भेद एवं उनके स्वामी का निर्देश—

उपेक्षापहृतान्यां स संयमो द्विविधो मतः । आद्य उत्कृष्टकायानां द्वितीयोऽपरयोगिताम् ॥२६६६॥

अर्थ—अथवा उपेक्षा संयम और अपहृत संयम के भेद से इस संयम के दो भेद हैं । उत्कृष्ट शरीर को धारण करनेवालों के उपेक्षा संयम होता है और अन्य मुनियों के अपहृत संयम होता है ॥२६६६॥

उपेक्षा संयम एवं अपहृत संयम का स्वरूप निर्देश—

उत्कृष्टांगवत्ताम्यविवस्त्रिगुप्तिधारिणः । रागद्वेषाद्यभाषो यः उपेक्षासंयमो न सः ॥२६६७॥

वक्ष्यः समितयः पञ्च यत्रसंवरमातृकाः । यत्नेन प्रतिपाल्यन्तेऽपहृतास्थः स संयमः ॥२६६८॥

अर्थ—महा जानी और तीनों गुणितियों को पालन करनेवाले महा मुनियों के उत्कृष्ट शरीर में बल होने के कारण जो रागद्वेषका सर्वथा अभाव हो जाता है उसको उपेक्षा संयम कहते हैं । जो चतुर मूनि प्रयत्नपूर्वक संवर को उत्पन्न करनेवाली पाँचों समितियों का पालन करते हैं उसको अपहृत संयम कहते हैं ॥२६६७-२६६८॥

संयम के उत्कृष्ट ५ भेद—

सामायिकाभिधं छेदोपस्थापनसमाह्वयम् । परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसांपरायणामकम् । २६६९॥
यथाख्यातास्य चारित्रं वंशमेवा इमेपराः । संयमस्य बंधर्ज्याश्चारित्रास्यः शिवंकराः ॥२६७०॥

अर्थ—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथा-ख्यात ये चारित्र के उत्कृष्ट भेद हैं । ये सब मोक्ष की प्राप्ति करानेवाले हैं और संयम के ही उत्कृष्ट भेद कहलाते हैं । ऐसा बुद्धिमानों को समझ लेना चाहिये ॥२६६९-२६७०॥

सामायिक चारित्र का स्वरूप—

सर्वसाधनयोगानां सर्वथायच्चवजितम् । निवास्तुतिमुहृच्छब्दद्वन्द्वानादिवस्तुषु ॥२६७१॥
सुखदुःखादिसंयोगे समता करणं वृद्धेः । विधीयते त्रिशुष्या तव वृत्तंसामायिकाह्वयम् ॥२६७२॥

अर्थ—जहां पर बुद्धिमान पुरुष मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक समस्त साधनरूप (पापरूप) योगों का सर्वथा त्याग कर देते हैं तथा निदा स्तुति में, शत्रुमित्र में, रत्न और पाषाण में और सुख दुःखादि के संयोग में समता धारण करते हैं, उस चारित्र को सामायिक नामका चारित्र कहते हैं ॥२६७१-२६७२॥

छेदोपस्थापना संयम का स्वरूप—

देशकालनिरोधार्थः प्रमादेन च कारणः । अंगीकृतव्रतादीनां जातातीचारदोषतः ॥२६७३॥
प्रायश्चित्तस्वनिन्दार्थः यद्विशोधनमंजसा । क्रियतेव्रतिभिस्तद्वि छेदोपस्थापनममृतम् ॥२६७४॥

अर्थ—किसी देश काल के कारण वा किसी की रुकावट के कारण वा प्रमाद से अथवा और किसी कारण से यदि स्वीकार किये हुए व्रतों में कोई अतिचार लग जाय तो अपनी निदा, गर्हा आदि के द्वारा प्रायश्चित्त धारण कर उस अतिचार संशोधन करना, दोषों की शुद्धि कर व्रतों को शुद्ध करना छेदोपस्थापन नाम का संयम कहलाता है ॥२६७३-२६७४॥

परिहार विशुद्धि चारित्र्य कौन धारण कर सकता है ?

विशुद्धिर्भगवत्पुत्रवत्पुत्राणामुपरिस्फुटम् । अधस्तलेनवाष्टानां पादसेवीजितेन्द्रियः ॥२६७५॥

तीर्थंकरस्य सवर्धयवीर्यकायवलांकितः । योनेकदेशभाषादिचतुरो नवपूर्ववित् ॥२६७६॥

निष्प्रभावो महादुःखचर्या सत्तपसायुतः । परिहारविशुद्धि सः कर्तुमर्हति नापरः ॥२६७७॥

अर्थ—जिस मुनिकी आयु कम से कम तीस वर्ष की है, जो तीन वर्ष से ऊपर आठ नौ वर्ष तक भगवान तीर्थंकर परमदेव के समीप चरण कमलों के समीप रह चुका हो, जो जितेन्द्रिय हो, श्रेष्ठ धर्म, श्रेष्ठ पराक्रम, श्रेष्ठ बल और श्रेष्ठ शरीर से सुशो-
भित हो तो अनेक देश की भाषाओं के जानने में चतुर हो, ग्यारह अंग और नौ पूर्वका पाठी हो, प्रभाव रहित हो, जो अत्यन्त कठिन और दुःखमय चर्या करता हो और श्रेष्ठ तपश्चरण करता हो वही मुनि परिहार विशुद्धि नाम के चारित्र्य को धारण कर सकता है । जिसमें ये गुण नहीं हैं, वह परिहार विशुद्धि चारित्र्य को कभी धारण नहीं कर सकता ॥२६७५-२६७७॥

परिहार विशुद्ध चारित्र्य का स्वरूप—

वर्जयित्वात्रिसंध्यांचानेकदेशविहारिणा । एकाकिना प्यनेनैवयोगिना वनवासिना ॥२६७८॥

गम्यते यत्रयत्नेन गव्यूतिद्वयमन्वहम् । परिहारविशुद्ध्याख्यं तच्चारित्र्यं विशुद्धिदम् ॥२६७९॥

अर्थ—परिहार विशुद्धि संयम को धारण करनेवाला मुनि सामायिक की तीनों संध्याओं को छोड़कर बाकी के समय में अकेला ही अनेक देशों में विहार करता है, वन में ही निवास करता है और प्रतिदिन प्रयत्न पूर्वक दो गव्यूति अवश्य गमन करता है, वह आत्मा को अत्यन्त विशुद्ध करनेवाला परिहार विशुद्ध नामका चारित्र्य कहलाता है ॥२६७८-२६७९॥

सूक्ष्म सांपराय नामक चारित्र्य का स्वरूप—

सूक्ष्मीकृतस्वलाभेन शुक्लध्यानविधाधिना । क्षपकोपशमश्रेण्यालुडेनमोहघातिना ॥२६८०॥

सूक्ष्मात्मानुभावोयोऽत्रक्रियते शुद्धचेतसा । तत्सूक्ष्मसांपरायाख्यं चारित्र्यं लोभघातकम् ॥२६८१॥

अर्थ—जिन महा मुनि ने अपना संज्वलन लोभ कषाय अत्यन्त सूक्ष्म कर लिया है, जो शुक्लध्यान धारण कर रहे हैं, जो क्षपकश्रेणी वा जपशम श्रेणी में विराजमान हैं, जो मोहनीय कर्मको घात करनेवाले हैं, ऐसे मुनिराज जो शुद्ध हृदय से सूक्ष्म आत्मा का अनुभव करते हैं उसको लोभ को घात करनेवाला सूक्ष्म सांपराय नाम का चारित्र्य कहते हैं ॥२६८०-२६८१॥

यथाख्यात चारित्र का स्वरूप—

यथातथ्येन सर्वेषां व्रतादीनां च पालनम् । आगमोक्त्यान्तरेस्वानुभवनं परमात्मनः ॥२६८२॥

निर्मोहानां भवेद्यत्र सुबलध्यानसुधाशिनाम् । तच्चारित्रं यथाख्याताभिधंघातियिद्यातकम् ॥२६८३॥

अर्थ—जो मुनिराज मोहनीय कर्म से रहित हैं और जो सुबलध्यानरूपी अमृत का पान कर रहे हैं, ऐसे मुनिराज जो समस्त व्रतादिकों को यथार्थ रीति से पालन करते हैं और आगम में कहे अनुसार अपने आत्मा में परमात्मा का अनुभव करते हैं उसको घातिया कर्मों को नाश करने वाला यथाख्यात चारित्र कहते हैं ॥२६८२-२६८३॥

संयम की महिमा एवं उसको पालने की प्रेरणा—

चारित्र्यैःपञ्चभिश्चेतैश्चतुर्भिर्वर्तिषांगमा । ध्यानिभिलम्ब्यते नूनं समस्तगुणभूषिता ॥२६८४॥

संयमेनसतांस्याच्च संवरोल्लसकर्मणाम् । निर्जरासद्गुणग्रामः सुखं वाचामगोचरम् ॥२६८५॥

संयमेनसमं स्वल्पं कृतं तपोमहाफलम् । फलत्यत्र न संदेहो धीमतां स्वशिवादिषु ॥२६८६॥

संयमेन बिना पुंसां तपोध्यानव्रतादिकम् । वृथा भवेन्न च सार्थसर्वपापभवाश्रयात् ॥२६८७॥

विदित्वेतिविधासध्यः संयमः संयमाविधिः । इत्यन्तरालेकदुःखपर्यन्तत्रयविशुद्धये ॥२६८८॥

अर्थ—इन पाँचों प्रकार के चारित्र से अथवा चार प्रकार के चारित्रसे ध्यानी पुरुषों को समस्त गुणों से विभूषित ऐसी मुक्तिरूपी स्त्री अवश्य प्राप्त हो जाती है । इस संयम को धारण करने से सज्जन पुरुषों के समस्त कर्मों का संवर होता है, समस्त कर्मों की निर्जरा होती है, समस्त गुणों के समूह प्राप्त होते हैं और वाणी के अगोचर सुख प्राप्त होता है । इस संयमके साथ-साथ थोड़ासा किया हुआ तप भी बुद्धिमानों को मोक्षादिक की प्राप्ति में महा फल देता है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है । इस एक संयम के बिना मनुष्यों के तप, ध्यान और व्रतादिक सब व्यर्थ हो जाते हैं, सार्थक नहीं होते क्योंकि बिना संयम के समस्त पापों का आस्रव होता ही रहता है । यही समझकर संवर करने वालों को रत्नत्रय की विशुद्धि के लिये तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिये पूर्ण प्रयत्न के साथ इस संयम का पालन करना चाहिये ॥२६८४-२६८८॥

तप का स्वरूप और उसके भेद—

पञ्चाक्षविषयाणांयत्समस्तेच्छानिरोधनम् । तप्तपः सूरिभिः प्रोक्तं परं सद्धर्मकारणम् ॥२६८९॥

प्रागुक्तंयद्वाप्युषद्भेदविस्तरिण तपोल्लसम् । धर्माधिभिर्विधेयं तत्सद्धर्माय भवापहम् ॥२६९०॥

अर्थ—पाँचों इन्द्रियों के विषयों में अपनी समस्त इच्छाओं का निरोध करना

आचार्यों के द्वारा तप कहलाता है, यह तप उत्कृष्ट धर्म है और श्रेष्ठ धर्म का कारण है । पहले इस तप के बारह श्रेष्ठ विस्तार के साथ कह चुके हैं । यह सब तप संसार को नाश करनेवाला है, इसलिये धर्मात्मा पुरुषों को श्रेष्ठ धर्म धारण करना चाहिये । ॥२६८६-२६९०॥

त्याग धर्म का स्वरूप एवं ज्ञान दान का निर्देश—

अन्तर्वाह्योपधीनायन्मूर्च्छात्यजनमंजसा । मनोवाककाययोगैः स त्यागउत्तमधर्मवः ॥२६९१॥

तथाज्ञानहरं ज्ञानदानसिद्धान्तगोचरम् । शब्दार्थोभयसम्पूर्णं यत्सत्पात्राय दीयते ॥२६९२॥

अर्थ—मन-वचन-काय के तीनों योगों से अंतरंग और बाह्य सब तरह के परिग्रहों में मूर्च्छा वा ममत्व का त्याग कर देना त्याग कहलाता है । यह त्याग सबसे उत्तम धर्म को देनेवाला है । अज्ञान को हरण करनेवाला दूसरा त्याग ज्ञानदान है । यह ज्ञानदान सिद्धांत शास्त्रके गोचर है अर्थात् सिद्धांत शास्त्रोंका पढ़ाना ज्ञानदान है । सिद्धांत शास्त्र के शब्द अर्थ वा शब्द अर्थ दोनों जो श्रेष्ठ पात्रों के लिये दिए जाते हैं उसको ज्ञानदान कहते हैं ॥२६९१-२६९२॥

अभय दान का स्वरूप एवं ज्ञान दान एवं अभय दान का फल—

अभयाख्य महद्दानं भयभीताक्षितात्मनाम् । त्यागः स उच्यते सद्भिः केवलज्ञाननेत्रवः ॥२६९३॥

ज्ञानदानेन लभ्यन्ते श्रुतज्ञानादयोक्षिताः । बुधैश्चनिर्भयस्थानं दयादानेननिश्चितम् ॥२६९४॥

अर्थ—तीसरा त्याग अभयदान है, भयसे भयभीत हुए समस्त जीवों को अभय दान देना अभय दान है, यह सब दानों में उत्तम दान है और केवलज्ञान रूपी नेत्रों को देनेवाला है ऐसा श्रेष्ठ पुरुषों ने कहा है । विद्वान् पुरुषों को ज्ञानदान देने से पूर्ण श्रुत-ज्ञान की प्राप्ति होती है तथा दयादान देने से मोक्षरूप निर्भय स्थान की प्राप्ति होना अवश्य ही निश्चित है ॥२६९३-२६९४॥

परिग्रह त्याग से लाभ—

संगत्यागेन जायेत चित्तशुद्धिः परासताम् । तथाध्यानं प्रशस्तं च ध्यानात्कर्मक्षयस्ततः ॥२६९५॥

केवलज्ञानलक्ष्मीश्चततोमुक्तिव्यूहस्तथा । अनन्तसुखमात्मोत्थसिद्धिभियागुणैःसमम् ॥२६९६॥

अर्थ—परिग्रहों का त्याग करने से सज्जनों का मन अत्यन्त शुद्ध हो जाता है, मन के शुद्ध होने से ध्यान की प्राप्ति होती है, ध्यान से कर्मों का क्षय होता है, कर्मों का क्षय होने से केवलज्ञान लक्ष्मी प्राप्त होती है, केवलज्ञान लक्ष्मी प्राप्त होने से मुक्ति

रूपी स्त्री की प्राप्ति होती है और मुक्ति के प्राप्त होने से अनंत गुण और अनंत लक्ष्मी के साथ-साथ आत्मा से उत्पन्न होनेवाला अनंत सुख प्राप्त होता है ॥२६६५-२६६६॥

परिग्रह ग्रहण से हानि—

संगादिमूर्च्छया पुंसां दुर्घ्यानिजायतेतराम् । दुर्घ्यानाच्चमहापापं पापाददुःखपरंपरा ॥२६६७॥

अर्थ—परिग्रहादिक में ममत्व रखने से मनुष्यों के अशुभध्यान होता है, अशुभध्यान से महा पाप होता है और पाप से अनेक दुःखों की परंपरा प्राप्त होती है ॥२६६७॥

परिग्रह त्याग की महिमा आकांक्षा पूर्वक परिग्रह के त्यागने की प्रेरणा—

संगत्यागसमो धर्मो न जगच्छीमुत्थाकर । संगमूर्च्छानिभं पापं न महच्छुभभ्रदुःखदम् ॥२६६८॥

विज्ञायेतिनिहृत्मानुसंगत्यागोत्साहिनः । धर्माप्राप्तिसंघातं त्यागं कुर्वन्तु धर्मदम् ॥२६६९॥

अर्थ—इस संसार में परिग्रह के त्याग के समान अन्य कोई धर्म नहीं है, क्योंकि यह धर्म तीनों लोकों की लक्ष्मी और सुख की खानि है । इसीप्रकार परिग्रह में मूर्च्छा रखने के समान अन्य कोई पाप नहीं है, क्योंकि परिग्रह में मूर्च्छा रखना महा नरक के दुःख देनेवाली है । यही समझकर सुख चाहने वाले पुरुषों को धर्म की प्राप्ति के लिये समस्त परिग्रहों की आकांक्षा का त्याग कर देना चाहिये और उसके साथ समस्त परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिये । यह परिग्रहों का त्याग ही धर्म की प्राप्ति करानेवाला है ॥२६६८-२६६९॥

आकिंचन्य धर्म का स्वरूप—

देहोपधिखशर्मादौममत्वं त्यज्यतेऽथत् । निस्पृहैर्योगशुद्ध्या तदाकिंचन्यमुत्थाकरम् ॥३०००॥

अर्थ—जो निस्पृह मुनि मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक शरीर परिग्रह और इन्द्रियों के सुख में ममत्व का त्याग कर देते हैं उसको सुख देनेवाला आकिंचन्य धर्म कहते हैं ॥३०००॥

पुनः परिग्रह के ममत्व के त्यागने की प्रेरणा—

यथा यथा शरीरादौनिर्ममत्वंप्रवृत्ते । तथा तथा निरोधश्चपापानानिर्जरासताम् ॥३००१॥

अक्षार्थोपधिखशर्मादित्यक्तुं यच्छक्यते बुधैः । तत्त्याज्यंसकलं वस्तुमनोवाक्कायशुद्धिभिः ॥३००२॥

त्यक्तुं यच्छक्यते नाहो कायादिपुस्तकादिकम् । त्याज्यं तेषाममत्वं च सर्वथादोषकारणम् ॥

अर्थ—जैसे-जैसे शरीरादिक में निर्ममत्व बढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे सज्जनों

के पापों का निरोध होता रहता है और कर्मों की निर्जरा होती रहती है । बुद्धिमान पुरुष इन्द्रियों के विषयों की और परिग्रहों के सुखको जितना त्याग कर सकते हैं उनको उतना त्याग मन-वचन-कायकी शुद्धता पूर्वक अवश्य कर देना चाहिये । तथा जो शरीर या पुस्तक आदि ऐसे परिग्रह हैं जिसका त्याग किया ही नहीं जा सकता उनमें समस्त दोषों का कारण ऐसा समत्व अवश्य छोड़ देना चाहिये ॥३००१-३००३॥

परिग्रह में समत्व धारने से हानि—

एवं ये कुर्वन्ते नित्यं ह्यार्किचन्यं परं भवेत् । तेषां धर्मर्णिवंदोषसंख्यं समकारिणम् ॥३००४॥

अर्थ—इसप्रकार जो परिग्रह का त्याग या समत्वका त्याग कर देते हैं, उनके धर्मका सागर ऐसा सर्वोत्कृष्ट आर्किचन्य धर्म होता है तथा जो परिग्रहादिकों में समत्व धारण करते हैं उनके समस्त दोषों के समूह आ उपस्थित होते हैं ॥३००४॥

उत्कृष्ट आर्किचन्य धर्म धारने की प्रेरणा—

मत्वेति समतां त्यक्त्वा सर्वाकायाविवस्तुषु । निर्ममत्वाशयैः कार्यमार्किचन्यं शिवाप्तये ॥३००५॥

अर्थ—यही समझकर निर्ममत्व धारण करनेवाले पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये शरीरादिक समस्त पदार्थों में पूर्ण समत्व का त्याग कर उत्कृष्ट आर्किचन्य धर्म धारण करना चाहिये ॥३००५॥

सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मचर्य का लक्षण—

दृश्यन्ते सकला मायौ यत्र मात्राविसन्निभाः । त्यक्तरागैर्मनोनेत्रं ब्रह्मचर्यं तदुत्तरम् ॥३००६॥

ब्रह्मचर्येण मुक्तिस्त्री वृणोति ब्रह्मचारिणम् । सर्वैः गुणैः समं शीघ्रं स्वर्गश्रियोन्न का कथा ॥३००७॥

अर्थ—रागद्वेष को त्याग करनेवाले जो पुरुष अपने मनरूपी नेत्रों से समस्त स्त्रियों को अपनी माता के समान देखते हैं उनके सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मचर्य होता है । ब्रह्मचारियों को इस ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मुक्तिस्त्री समस्त गुणों के साथ-साथ आकर स्वयं स्वीकार करती है फिर भला स्वर्ग की लक्ष्मी की तो बात ही क्या है ॥३००६-३००७॥

किसका हृदय शुद्ध एवं किसका हृदय अशुद्ध रहता है—

अत्यक्षते परोक्षमौ हृज्ज्वला ब्रह्मचारिणाम् । कामिनां चित्तशुद्धिः क्व तया बिनाशुभंकृतः ॥

अर्थ—ब्रह्मचारियों का हृदय शुद्ध रहता है इसलिये उनको परम धर्म की

प्राप्ति होती रहती है तथा कामी पुरुषों का हृदय कभी शुद्ध नहीं हो सकता इसलिये उनका कल्याण भी नहीं हो सकता ॥३००८॥

ब्रह्मचर्य पालने की प्रेरणा—

ज्ञात्वेतिषोधना नित्ययोगशुद्ध्याविमुक्तये । पालयन्तुविरक्त्याहो ब्रह्मचर्यं सुखमदम् ॥३००९॥

अर्थ—यही समझकर विद्वान् पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक तथा परिणामों में विरक्तता धारण कर श्रेष्ठ धर्म देनेवाला यह ब्रह्मचर्य सदा पालन करते रहना चाहिये ॥३००९॥

दश धर्म पालने की प्रेरणा—

एषोदशविषोधमोमुक्तिस्त्रीहृदयप्रियः । क्षमादलक्षणविश्वः कर्तव्योमुक्तिर्काक्षिभिः ॥३०१०॥

अर्थ—इसप्रकार यह दश प्रकार का धर्म है और मुक्तिस्त्रीके हृदय को अत्यंत प्रिय है अतएव मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनियों को उत्तम क्षमा आदि समस्त धर्मों को धारण कर सदा इसका पालन करते रहना चाहिये ॥३०१०॥

धर्म की महिमा एवं उसे पालने की प्रेरणा—

न धर्मसवृशोबन्धुरिहामुग्रहितकरः । नास्यधर्मसमः कल्पवृक्षः कल्पितभोगदः ॥३०११॥

चिन्तामणि न धर्माभिचिन्तितार्थशतप्रदः । धर्मतुल्योनिधिरास्तिह्यखण्डो वा सुहृद्वरः ॥३०१२॥

न धर्मसन्निभं पुंसां पाथेयं परजन्मनि । सहगामीवृक्षिन्नान्योधर्माद्वानमवः शुभः ॥३०१३॥

धर्माद्विना न कोप्यन्यो मोक्षं नेतुं नरान्धमः । उद्धतुं नरकाद्वाहो वातुं चेन्वाविसत्पवम् ॥३०१४॥

इत्याद्यस्य फलं ज्ञात्वाप्रवरंसुष्ठुशक्तिः । भजध्वं धर्ममेकं च त्यक्त्वापापसुलार्थिनः ॥३०१५॥

अर्थ—इस संसार में इस लोक और परलोक दोनों लोकों में हित करनेवाला धर्म के समान अन्य कोई बन्धु नहीं है तथा इसी धर्म के समान इच्छानुसार भोगों को देनेवाला अन्य कोई कल्पवृक्ष नहीं है । इस धर्म के समान संकड़ों चितित पदार्थों को देनेवाला कोई चिन्तामणि रत्न नहीं है, अथवा इस धर्म के समान कोई अखंड निधि नहीं है और इस धर्म के समान अन्य कोई श्रेष्ठ मित्र नहीं है । मनुष्यों को परजन्म में जाने के लिये इस धर्म के समान कोई पाथेय (मार्ग का व्यय) नहीं है तथा कल्याण करनेवाला शुभ रूप ऐसा वा साथी भी इस धर्म के सिवाय अन्य कोई नहीं है । इस धर्म के सिवाय अन्य कोई भी मनुष्यों को मोक्ष ले जाने में समर्थ नहीं है अथवा नरक से उद्धार करने के लिये भी तथा इन्द्रादिक श्रेष्ठ पद देने के लिये भी धर्म के बिना

अन्य कोई समर्थ नहीं है । अतएव सुख की इच्छा करने वालों को इस धर्म का ऐसा श्रेष्ठ फल समझकर अपनी शक्ति के अनुसार पापों का त्याग कर इस एक धर्म का ही सेवन करना चाहिये । ३०११-३०१५॥

किसको धारण कर मोक्ष स्थान प्राप्त किया जा सकता है—

इतिश्रुतिसुधर्मविश्वनाथमुं वाच्यं दशविधमपदोषं ये चरन्त्यात्मशक्त्या ।

श्रिभुवनपतिसेव्यंशससारं च भुक्त्वा जिनपतिविभवं ते यान्तिमोक्षं गुणाब्धिम् ॥३०१६॥

अर्थ—इसप्रकार यह दश प्रकार का धर्म तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा पूज्य है और समस्त दोषों से रहित है । ऐसे इस धर्म को जो अपनी शक्तिके अनुसार धारण करते हैं वे तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा सेवनीय ऐसे सारभूत सुखों का अनुभव कर तोर्थकर की विभूति को प्राप्त करते हैं और अंतमें अनेक गुणों के समुद्र ऐसे मोक्षस्थान में जा विराजमान होते हैं ॥३०१६॥

अन्तमें धर्म को नमस्कार करके आचार्य पापों के नाश की याचना करते हैं—

धर्मधीधनकाक्षिणां च धनदो धर्मप्रयन्तेविदो,

धर्मणैवसदाप्यतेवरसुखं धर्मायभक्त्यानमः ।

धर्मास्त्रास्त्यपरोगुणाष्टजनको धर्मस्यत्त्वानिः,

क्रियाः धर्ममेवधत्तोमनः प्रतिदिनहेधर्म पापं जहि ॥३०१७॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकारुपेमहाग्रंथे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते शीलगुण-

दशलक्षणिकधर्मवर्णनोनामैकादशमोऽधिकारः ।

अर्थ—यह धर्म लक्ष्मी और धन की इच्छा करने वालों को धन देता है, विद्वान लोग ही इस धर्म को धारण करते हैं, इस धर्म से ही श्रेष्ठ सुखों की प्राप्ति होती है, इसीलिये मैं इस धर्म के लिये भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूं । इस धर्म के सिवाय सम्यक्त्व आदि आठों गुणों को देनेवाला अन्य कोई नहीं है, क्रियाकर्म वा धर्मानुष्ठान ही इस धर्मकी खानि है अतएव मैं अपने मनको प्रतिदिन धर्ममें ही लगाता हूं, हे धर्म तू मेरे पापों को नाश कर ॥३०१७॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके महाग्रन्थमें शीलगुण दशलक्षण

धर्म को निरूपण करनेवाला यह ग्यारहवां अधिकार समाप्त हुआ ।

द्वादशमोधिकारः

भंगलाचरण

वीतरागान्मुनीन्ब्रौघाननुप्रेक्षार्थचिन्तकान् । सद्ध्यानध्वस्तकर्मासीन् वन्देविश्वहितोद्यतान् ॥३०१८॥

अर्थ—जो मुनिराज वीतराग हैं, अनुप्रेक्षाओं का सदा चिन्तन करते रहते हैं, जिन्होंने अपने श्रेष्ठध्यान से कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर दिया है और जो समस्त संसार का हित करनेवाले हैं ऐसे मुनिराजों को मैं नमस्कार करता हूँ ॥३०१८॥

बारह अनुप्रेक्षाओं के कथन की प्रतिज्ञा—

प्रत्यहं या अनुप्रेक्षा द्वादशैव मुनीश्वरैः । घंराग्यायसदाध्येयास्तावक्येरागहानये ॥३०१९॥

अर्थ—मुनियों को अपना वैराग्य बढ़ाने के लिये बारह अनुप्रेक्षाओं का प्रति-दिन चिन्तन करना चाहिये । इसलिये रागद्वेष को नष्ट करने के लिये मैं उन अनु-प्रेक्षाओं का निरूपण करता हूँ ॥३०१९॥

द्वादश अनुप्रेक्षाओं के नाम निर्देश—

अनित्याख्या ह्यनुप्रेक्षा द्वितीयाशरणाभिधा । संसारसंज्ञिकैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवाह्वया ॥३०२०॥

संवरो निर्जरा लोको बोधिदुर्लभनामकः । धर्मराताअनुप्रेक्षा भाविता जिनपुंगवैः ॥३०२१॥

अर्थ—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक बोधि दुर्लभ और धर्म ये बारह अनुप्रेक्षाएं भगवान् जिनेन्द्रदेव ने कही हैं ॥३०२०-३०२१॥

अनित्य अनुप्रेक्षा का स्वरूप निर्देश—

अनिश्मानिसमस्तानि वपुरागुः सुखानि च । इन्द्रचापसमानानि राज्यसौख्यनानि च ॥३०२२॥

योधनं जरयाकान्तं स्वायुयममुलेस्थितम् । रोगैः सन्निधिता भोगाःसौख्यं दुःखपुरस्तरम् ॥३०२३॥

इन्द्रचक्रिलेशादिपदानि शरव्यतामि न । इन्द्रियारोग्यसामर्थ्यवलान्यश्रोपमानि च ॥३०२४॥

धूल्ललाभाश्चलानार्यः कुटम्बस्वविहम्बकम् । पुत्राः पाशोपमा गेहवासो बन्दिगृहोपमः ॥३०२५॥

रूपं पुंसां क्षणध्वंसि संपावच्छलजीवितम् । सम्पदोविपवोन्तेस्युभगुरन्तिक्षितं जगत् ॥३०२६॥

आजन्मदिनमारभ्य जीवान् स्वान्तनयत्यहो । समयाद्यैः सदापापीयमोक्षणप्रयाणकैः ॥३०२७॥

यत्किञ्चिद्बुध्यतेवस्तु सुन्दरं भुवनत्रये । कालानलेनतत्सर्वं भस्मीभवंभवेद्विधेः ॥३०२८॥

अर्थ—यह शरीर, आयु, सुख, राज्य, भवन और धन आदि सब अनित्य हैं और इन्द्रधनुष के समान क्षणभंगुर हैं । यह जीवन बुढ़ापे से घिरा हुआ है, अपनी आयु यमराज के मुख में ही रह रही है । भोग सब रोगों से मिले हुए हैं और सुखों के आगे सदा दुःख ही बने रहते हैं । इन्द्र चक्रवर्ती, बलदेव आदि के जितने उत्तम पद हैं वे भी सदा रहनेवाले नहीं हैं, तथा इन्द्रिय, आरोग्य, सामर्थ्य और बल सब बादल के समान थोड़ी बेर तक ही ठहरने वाले हैं । चंचल स्त्रियां संकल के समान बंधनमें डालने वाली हैं, कुटुम्ब सब विडम्बना मात्र है, पुत्र जाल के समान बांधने वाले हैं और घर का निवास कारागार के समान है । मनुष्यों का यह रूप क्षणभंगुर है, जीवन बिजली के समान चंचल है, संपत्तियां सब विपत्तियों के मध्य में रहती हैं । इसप्रकार यह समस्त जगत क्षणभंगुर है । यह महापापी यमराज समय समय के अनुसार थोड़ा थोड़ा चल कर जन्ममर्त्य सन्तरे से जाल तक प्रत्येक जीवोंको अपने पास बुला लेता है । इस संसार में तीनों लोकों में जो कुछ सुन्दर पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं वे सब कालरूपी अग्नि से जलकर भस्म हो जाते हैं ॥३०२२-३०२८॥

अनित्य शरीरादि से नित्य मोक्ष सिद्ध करने की प्रेरणा—

इत्यनित्यं जगद्भावा नित्यमोक्षं सुलोभिनः । अनित्यं स्वशरीराद्यः साधयन्तु वृणादिभिः ॥३०२९॥

अर्थ—इसप्रकार जगत को अनित्य समझ कर मोक्ष के लोभी पुरुषों को सम्यग्दर्शनादिक धारण कर इस अनित्य शरीरादिक से नित्य स्वरूप मोक्ष को सिद्ध कर लेना चाहिये ॥३०२९॥

अशरण अनुप्रेक्षा का स्वरूप—

बनेव्याघ्रगूहीतस्य मृगस्येव जगत्त्रये । यमारातिगूहीतस्य जन्तो न शरणं कश्चित् ॥३०३०॥

अर्थ—जिसप्रकार किसी वनमें किसी हिरण को सिंह पकड़ लेता है, उस समय उस हिरण का कोई शरण नहीं है, उसी प्रकार जब इस जीव को यमरूपी शत्रु पकड़ लेता है तब इसको बचाने वाला शरणभूत तीनों लोकों में कोई दिखाई नहीं देता ॥३०३०॥

समस्त आपत्तियों में शरणभूत कौन ?

अर्हन्तोऽशरीराश्च त्रिविधा साधवोऽक्षिताः । ब्रह्माश्रयशरण्याः स्युः सर्वत्रापविधीमताम् ॥३०३१॥

तथा तैश्च प्रणीतो यो धर्मो रत्नत्रयात्मकः । सह्यामीशरण्यः स सतां यमान्तको महान् ॥३०३२॥

संसारभयभीतानां जिनशासनमन्त्रु तम् । शरण्यं विद्यते पुंसां जन्ममृत्युसुखापहम् ॥३०३३॥

मंत्रतन्वीषधावीनि व्यर्थानिनिखिलाव्यपि । सन्मुखेसति जन्तूनांयमेऽकिञ्चित्करारणि च ॥३०३४॥

अर्थ—इसलिये बुद्धिमानों को इस लोक और परलोक दोनों लोकों में सर्वत्र समस्त आपत्तियों में अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु ही शरण हैं । अथवा उन्हीं पंच परमेष्ठियों के द्वारा कहा हुआ तथा परलोक में भी इस जीव के साथ जाने वाला, सर्वोत्कृष्ट और यमराज को नाश करनेवाला ऐसा रत्नद्वय रूप धर्म ही सज्जनों को शरण होता है । जीव संसार से भयभीत हैं उनके लिये जन्ममृत्यु के दुःखों को दूर करनेवाला सर्वोत्कृष्ट यह जिनशासन ही शरणभूत है । जिस समय यमराज इन जीवों के सन्मुख होता है, उस समय मंत्र, तंत्र और औषधि आदि सब न कुछ करनेवाली व्यर्थ हो जाती हैं ॥३०३१-३०३४॥

मृत्युरूपी यमराज से कोई नहीं बचा सकता—

भीयमानोयसेनांगीवराकः स्वास्यंप्रति । इन्द्रचक्रिखगेशार्धः क्षणं त्रातुं न शक्यते ॥३०३५॥

यत्रेन्द्राद्यायमेनावः पाल्यन्तेस्वपदादृतात् । कस्तत्रोद्धरतेभ्योऽस्मात्सर्वजीवक्षयंकरात् ॥३०३६॥

अर्थ—जिस समय यह यमराज इस दुःखिया जीव को अपने घर ले जाता है उस समय इन्द्र चक्रवर्ती विद्याधर आदि कोई भी क्षणभरके लिये भी नहीं बचा सकता । अरे जब यह यमराज इन्द्र को भी जबर्दस्ती अपने पैरों के नीचे डाल लेता है तो फिर समस्त जीवों को क्षय करनेवाले यमराज से और कौन बचा सकता है ॥३०३५-३०३६॥

पंच परमेष्ठों की शरण लेने की प्रेरणा—

विज्ञायेतिजिनेन्द्रोक्तधर्मस्वपरमेष्ठिनाम् । नित्यं भोक्षं यमादिभ्योऽन्यजन्तु शरणं ब्रूयाः ॥३०३७॥

अर्थ—यही समझकर विद्वान् पुरुषों को भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुये धर्म की शरण लेनी चाहिये, पांचों परमेष्ठियों की शरण लेनी चाहिये और यम नियम पालन कर सदा रहनेवाली मोक्ष प्राप्त कर लेनी चाहिये ॥३०३७॥

५ परावर्तन रूप संसारानुप्रेक्षा का स्वरूप—

ब्रह्मक्षेत्राभिधे कासभवभावाह्वयेऽशुभे । संसारे दुःखसम्पूर्णं भ्रमन्ति कर्मणाग्निनः ॥३०३८॥

कर्मलोककर्मपर्याप्तिभिर्गृहीता न पुद्गलाः । न मुक्ता बह्वशो जीर्णयै ते न स्युजंगद्गृहे ॥३०३९॥

अथोभध्योर्ध्वलोकेषुध्रुवन्तोनिखिलाग्निनः । यत्रोत्पन्नामृतानेव स प्रवेशो न विद्यते ॥३०४०॥

चस्तपिण्यवस्तपिण्योर्वहिनः कर्मणा धृताः । येषु जातामृताहो न नस्युस्तेसमयाभुवि ॥३०४१॥

अनुगतिषु जीवैश्चयावर्तयेयकान्तिमम् । न गृहीता न मुक्ता या सा योनिर्निश्चितमृतले ॥३०४२॥

मिथ्याचरतिवृत्तयोगकषायैश्चनिरन्तरम् । प्रमार्दयिष्ययान्धाःस्वनिष्कान्ति कर्मपुद्गलैः ॥३०४३॥

अर्थ—यह संसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के सैद से पांच प्रकार का है, यह संसार दुःखों से परिपूर्ण है और अशुभ है, ऐसे संसार में ये प्राणी अपने कर्मों के उदय से सदा परिभ्रमण किया करते हैं । इन तीनों लोकोंमें ऐसे कोई पुद्गल नहीं हैं जो इस जीव ने कर्म नोकर्म और पर्याप्तियों के द्वारा अनंतवार ग्रहण न किये हों और अनंतवार ही न छोड़े हों । ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक में ऐसा कोई लोक का प्रवेश नहीं है जहांपर संसारमें परिभ्रमण करते हुए ये जीव उत्पन्न न हुए हों अथवा मृत्यु को प्राप्त न हुए हों । इसीप्रकार इस उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का कोई ऐसा समय नहीं है जिसमें ये प्राणी अपने-अपने कर्मों के उदय से न जन्में हों और न मरे हों । इस संसार में चारों गतियों की योनियों में से प्रवेयक विमान के अंत तक ऐसी कोई योनि नहीं है जो इस जीव ने न ग्रहण की हो न मरकर छोड़ी हो । विषयों में अंधे हुए ये जीव मिथ्यात्व, अविरत, कषाय, प्रमाद और योगों के द्वारा निरंतर पुद्गलों के द्वारा बने हुए कर्मों का बन्ध करता रहता है ॥३०३८-३०४३॥

संसार में परिभ्रमण का कारण—

इति संसारकान्तारेऽनादीघोरेभ्रमन्त्यहो । धर्मरत्नत्रयोयेतं ह्यप्राप्येन्द्रियलोसुपाः ॥३०४४॥

अर्थ—इसप्रकार इन्द्रियों के लोलुपी जीव रत्नत्रय से सुशोभित धर्म को न पाकर अनादि काल से चले आये घोर दुःखमय संसाररूपी वनमें सदा परिभ्रमण किया करते हैं ॥३०४४॥

संसार में भ्रमण करते जीव कैसे-कैसे कष्ट भोगते हैं—

जन्ममृत्युजरादुःखरोगक्लेशशतानि च । इष्टवस्तुवियोगं अमिष्टसंयोगसंशयम् ॥३०४५॥

अपमानशतादीनिवारिद्वय विरहाम्बहूना । वीर्यादिमहादुःखान्प्राप्नुवन्तिभवाग्निः ॥३०४६॥

अर्थ—ये संसारी जीव सैंकड़ों जन्म-मरण जरा दुःख रोग और क्लेशों को प्राप्त होते हैं, इष्ट पदार्थों के वियोग और अमिष्ट पदार्थों के संयोग को प्राप्त होते हैं, सैंकड़ों अपमानों को प्राप्त होते हैं, विद्वता को प्राप्त होते हैं, अनेक प्रकार के विरहों को प्राप्त होते हैं, वीर्यादि महा दुःखों को प्राप्त होते हैं और अनेक महा दुःखों को प्राप्त होते हैं ॥३०४५-३०४६॥

संसार का स्वरूप समझ विवेकीजन को क्या करना चाहिये—

श्वभ्रस्थलजलाकाशे जायमाना विधेर्वशात् । त्रियमाणाः पराधीना लभन्ते दुःखमूलवणम् ॥३०४७॥

सुखदुःखद्वयं भान्ति संसारे निविवेकिनाम् । किञ्चित्सुखलवेन वसवं दुःखं विवेकिनाम् ॥३०४८॥

इत्यशर्माकरं ज्ञात्वा भवं मोक्षं सुखार्णवम् । साधयन्तु ब्रूयाः शीघ्रं तपो रत्नत्रयादिभिः ॥३०४९॥

अर्थ—ये जीव अपने-अपने कर्म के निमित्त से नरक में उत्पन्न होते हैं, जल, स्थल वा आकाश में उत्पन्न होते हैं और फिर पराधीन होकर मरते हैं इस प्रकार महा दुःखों को प्राप्त होते हैं । इस संसार में जो निविवेकी पुरुष हैं, उनके लिये सुख दुःख दोनों अच्छे लगते हैं और विवेकी पुरुषों को सुख किञ्चिन्मात्र दिखाई देता है, बाकी समस्त संसार महा दुःखमय प्रतीत होता है । अतएव विद्वान् पुरुषों को इस संसार को अनेक दुःखों का घर समझकर तपश्चरण और रत्नत्रय के द्वारा बहुत शीघ्र सुख का समुद्र ऐसा मोक्ष सिद्ध कर लेना चाहिये ॥३०४७-३०४९॥

एकत्व भावना का स्वरूप—

एको रोगभराक्रान्तो हृदन् दोनो यमालयम् । गच्छेत्स्वजनमध्याह्न कोपि तेन समं ज्ञेत् ॥३०५०॥

एको बध्नाति कर्माणि ह्यर्को भ्रमति संसृता । एकोत्र जायते वेही एकश्च म्रियते सदा ॥३०५१॥

यत्र नानाहितं भोग्यं कथं पोषितोऽपि सः । पादेकं न ज्ञेद्देहिना साद्धं दुर्जनोऽदिवत् ॥३०५२॥

सत्र ये स्वजना जाताः स्वस्वकार्यपरायणाः । कर्मायत्ता कथं यांति जीवेन सह ते खिलाः ॥३०५३॥

एकः पापार्जनाद्गच्छेन्नरकं दुःखपूरितम् । पुण्यपाकवशादेकः स्वर्गसर्वसुखांकितम् ॥३०५४॥

प्रसंस्थावरकायेष्वेकाकी भ्रमति दुःखभाक् । आर्यम्लेच्छकुलेष्वत्र नृगतौ विधिर्वचितः ॥३०५५॥

एकस्तपासिना हृत्वा कर्माशतोन् स्वपौरुषात् । मोहेन सह भव्योऽत्र व्रजेन्मोक्षं गुणाकरम् ॥३०५६॥

अर्थ—यह जीव अकेला ही रोगी होता है, अकेला ही रोता है, अकेला ही दरिद्र होता है और अकेला ही मरता है, उस समय कुटुम्ब परिवार के लोगों में से कोई इसके साथ नहीं जाता । यह जीव अकेला ही कर्मबन्ध करता है, अकेला ही संसार में परिभ्रमण करता है, सदा अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है । यह जीव जिस शरीर को अनेक सुख देनेवाली भोगोपभोग सामग्री से पालन पोषण करता है वह शरीर उन जीवों के एक पैड भी साथ नहीं जाता, दुष्ट के समान वह वहीं पड़ा रहता है । इस संसार में कर्मों के उदय से प्राप्त हुए कुटुम्बी लोग जो अपने-अपने कार्य सिद्ध करने में सदा तत्पर रहते थे वे सब इस जीव के साथ भला कैसे जा सकते हैं अर्थात् कभी नहीं ? यह जीव इकट्ठे किए हुए पाप कर्म के उदय से अकेला ही दुःखों

से भरे हुए नरकों में जाता है और पुण्यकर्मके उदय से अकेला ही समस्त सुखों से भरे हुए स्वर्ग में जाता है । कर्मों से ठगा हुआ वह प्राणी अकेला ही दुःखी होता हुआ त्रस और स्थावरकायिक जीवों में परिभ्रमण करता है और अकेला ही मनुष्यगति में श्राय वा मलेच्छ कुलों में उत्पन्न होता है । इसी प्रकार यह अकेला ही भव्यजीव अपने पौरुष से तपश्चरणरूपी तलवार के द्वारा मोह के साथ-साथ समस्त कर्मरूपी शत्रुओं को मार कर अनंतगुणों से भरे हुए मोक्ष में जा विराजमान होता है ॥३०५०-३०५६॥

एकत्व भावना के चितवन की प्रेरणा—

इत्येकत्वं परिज्ञाय स्वस्मत्सर्वत्र बोधनाः । एकत्वं भावयत्स्वात्मनोऽत्रैकत्वपदवाप्तये ॥३०५७॥

अर्थ—इस प्रकार सर्वत्र अपने अकेलेपन का परिज्ञान करके बुद्धिमानों को मोक्षरूप एकत्व पद प्राप्त करने के लिये इस एकत्व भावना का चितवन करते रहना चाहिये ॥३०५७॥

अन्यत्व अनुप्रेक्षा का स्वरूप—

यत्र देहात्पृथग्भूतो मृतः साक्षात्खिलोक्यते । वेही जडैतरेस्तत्र किं स्वकीयः पृथग्जनः ॥३०५८॥
जोवात्पचेन्द्रियाण्यत्र भिन्नरूपाणि तत्त्वतः । कर्मजाग्यन्यवस्तूनि मनः कायवचांसि च ॥३०५९॥
अन्यामातापिताप्यन्योन्याभार्यास्वजनो जितः । पुत्राद्यन्यत्कुटुम्बं च स्याद्देहिनां चतुर्गता ॥३०६०॥
आत्मानन्दर्शनज्ञानवृत्तादिगुणभाजनम् । मुक्त्वा किञ्चिन्न वस्तुस्थात्स्वकीयभुवनवये ॥३०६१॥

अर्थ—जहाँपर भरने पर यह शरीर से साक्षात् भिन्न दिखाई देता है फिर भला जड़ और चैतन्यभय अन्य पदार्थ वा कुटुम्बी लोग जो साक्षात् भिन्न दिखाई देते हैं वे इस आत्मा के कैसे हो सकते हैं । वास्तव में देखा जाय तो पाँचों इन्द्रियां, मन-वचन-काय तथा अन्य समस्त पदार्थ इस जीव से भिन्न हैं और अपने-अपने कर्मके उदय से प्राप्त हुए हैं । चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए इन जीवों के माता भी भिन्न हैं, पिता भी भिन्न हैं, स्त्री भी भिन्न हैं, समस्त कुटुम्ब वर्ग भी भिन्न हैं और पुत्रादिक भी सब भिन्न हैं । इन तीनों लोकों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य रूप गुणों से सुशोभित अपने आत्माको छोड़कर बाकी का और कोई भी पदार्थ अपना नहीं है ॥३०५८-३०६१॥

अन्यत्व भावना के स्वरूप को जाननेवाले को क्या करना चाहिये —

इत्यन्यत्वं विदित्वा स्वदेहावेस्तत्त्ववेदिनः । पृथक्कुलांगतोऽप्यन्तरेऽप्यायन्तु स्वविन्मयम् ॥३०६२॥

अर्थ—तत्त्वों को जानने वाले पुरुषों को इसप्रकार अपने आत्मा को शरीरादिक से भिन्न समझकर अपने उस शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को अपने अंतरंग में ही शरीर से भिन्न समझते हुए उसका ध्यान करना चाहिये ॥३०६२॥

अशुचि भावना का स्वरूप—

दृश्यते यत्रदुर्गन्धस्वदेहेष्यशुभाकरे । विश्वाशुचित्वबाहुल्यंभायिवी तत्र किं शुचिः ॥३०६३॥
 एकान्ततोऽशुभं तीव्रं नरकेष्टेवनादिजम् । तारकागोऽशुचित्वं च कृत्स्नदुःखनिबन्धनम् ॥३०६४॥
 देहदेहांगभारारोपणाद्यशुभमुत्पन्नम् । तिर्यंगातीतदंगावी चाशुचित्वकृमिजम् ॥३०६५॥
 बीभत्सेश्वभ्रमादृश्ये गर्भे वसन्तिदेहिमः । नवमासान् ततो जन्मसमप्तेऽशुचियोनिना ॥३०६६॥
 बालत्वेऽशुचिमध्येऽलोटन्ति यौवनं नराः । सेवन्ते चाशुचिद्वारंस्त्रीणां कामार्तपोडिताः ॥३०६७॥
 रक्तमांसाशुभाकीर्णं चर्मवद्धास्तिसंचयम् । विश्वाशुभाकरीमूत्रं मलः प्रादभाजनम् ॥३०६८॥
 रोगोरगावित् निष्ठमशुभं स्वकलेवरम् । विद्धि त्वं दुःखदंसर्वनिर्घातां मूलमजसा ॥३०६९॥
 स्थशुचिद्वार जाता ये भोगाश्चस्वान्यदेहयोः । कदर्थनाभवास्तेषामशुभं वर्ण्यतेत्रकिम् ॥३०७०॥

अर्थ—जहांपर अनेक अशुभों की खानि और दुर्गन्धमय अपने शरीर में हो समस्त अपवित्रता की बहुलता दिखाई देती है फिर भला स्त्रियों के शरीर में अपवित्रता कैसे आ सकती है । देखो नरक में नारकियों के शरीर में तीव्र अपवित्रता है, वह अपवित्रता स्वभाव से ही अशुभरूप है, छेदन भेदन से उत्पन्न होती है और अन्य समस्त दुःखों के कारणों से उत्पन्न होती है । तिर्यचगति में भी तिर्यचों का शरीर छेदा जाता है, अधिक भार से वह थक जाता है, अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, उसमें कीड़े पड़ जाते हैं, इसप्रकार तिर्यचों का शरीर भी अत्यन्त अपवित्र है । मनुष्यभव में यह प्राणी नौ महिने तक तो नरक के समान अत्यन्त बीभत्स गर्भ में निवास करता है और फिर अत्यन्त अपवित्र योनिके द्वारा जन्म लेता है । फिर बालकपन में अपवित्र स्थानों में ही लोटता फिरता है और यौवन अवस्था में काम से पीड़ित होकर स्त्रियों की महा अपवित्र योनि का सेवन करता है । हे जीव देख तेरा यह शरीर रुधिर मांस आदि अशुभ पदार्थों से भरा है, ऊपर चमड़े से ढका है, भीतर हड्डियों का ढेर भर रहा है, मल-मूत्र का भाजन है, समस्त अशुभ पदार्थों की खानि है, रोगरूपी सर्पों का बिल है, अत्यन्त निष्ठ है, अनेक दुःख देनेवाला है और समस्त अनर्थोंकी जड़ है । हे जीव तू अपने शरीर को ऐसा समझ । जो भोग स्त्रियों की अत्यन्त अपवित्र योनि से उत्पन्न हुए हैं तथा अपने और दूसरों के शरीर की संघटित करने से उत्पन्न होते हैं उन भोगोंकी अपवित्रता

का भला क्या वर्णन करना चाहिये । अर्थात् वे तो अत्यन्त अपवित्र हैं ही ॥३०६३-३०७०॥

अपवित्र शरीर से पवित्र मोक्ष पद की सिद्धि की प्रेरणा—

इत्याद्यशुचिसम्पूर्णजगद्भावाविशगिरः । वपुषःशुचिना मोक्षं साधयन्तु शुचिप्रदम् ॥३०७१॥

अर्थ— इसप्रकार समस्त जगत को अपवित्रमय जानकर विरक्त पुरुषों को इस अपवित्र शरीर से अत्यन्त पवित्र ऐसी मोक्ष सिद्ध कर लेनी चाहिये ॥३०७१॥

कीन संसार समुद्र में डूबते हैं ?

भयदुःखशताकोर्णो घोरसंसारसागरे । कर्मास्त्रैर्वनिमज्जन्तिधर्मलोतासिगा जनाः ॥३०७२॥

अर्थ— जिन मनुष्यों ने धर्मरूपी जहाज को छोड़ दिया है वे कर्मों के आस्त्रव होते रहने से सैकड़ों भय और दुःखों से भरे हुए इस घोर संसार समुद्र में अवश्य डूबते हैं ॥३०७२॥

आस्त्रव के कारणों के त्यागने की प्रेरणा—

रागद्वेषोद्विधामोहःखानि संज्ञाश्चतुःप्रमाः । गौरवाणिकषायामययोगाहिसावयोभूणाम् ॥३०७३॥

एते तर्थाकरोभूतावुस्त्याज्याः कालरागिनाम् । त्याज्याः कर्मारिभीतः कृत्स्नकर्माश्रवहेतवः ॥३०७४॥

अर्थ— राग, द्वेष, दोनों प्रकार का मोह, इन्द्रियां, चारों प्रकार की संज्ञा, गौरव, कषाय, योग और हिसादिक पाप ये सब मनुष्यों के अनेक अनर्थ उत्पन्न करने वाले हैं और कातर पुरुष बड़ी कठिनता से इसका त्याग कर सकते हैं इसलिये कर्मरूपी शत्रुओं से भयभीत रहनेवाले मनुष्यों को इन समस्त कर्मों के आस्त्रव के कारणों का अवश्य त्याग कर देना चाहिये ॥३०७३-३०७४॥

आस्त्रव अनुप्रेक्षा का चिंतवन करनेवाला भव्यजीव रागद्वेष संज्ञादि की बार-बार निंदा करता है—

येनात्र तुष्यति ब्रव्ये कृतिसते द्वेष्टि दुर्जनः । दुश्चृत्तादौ च तौ रागद्वेषोधिगभवतोऽशुभौ ॥३०७५॥

येनावस्ते न सन्मार्गं कुमार्गमभ्यते जमः । अक्षामिधे शुख वेत्ति द्विधामोहोधिगस्तु सः ॥३०७६॥

अभिभूता अगज्जीवा वारं वारं चतुर्गती । एवं जानन्ति न येस्तानिखानियान्तुक्षयसताम् ॥३०७७॥

संज्ञाभिर्याभिरत्यर्थपीडिताजन्तवोऽखिलाः । अर्जयन्तिमहापापं ता याभ्युप्रलयं स्वतः ॥३०७८॥

गारव्यैर्जडः पापं घोरं गुरुतरं वृथा । उपाज्यं नरकं यान्ति मन्त्रन्तु नाशमाशु ते ॥३०७९॥

कषायरिपवस्तेष्व धजन्तुक्षयमंजसा । यंबुर्कर्मस्थितिं कृत्वा पतन्ति नरकोगिनः ॥३०८०॥

दुर्योग्यैर्निजात्मानंनिबद्धकर्मबन्धनैः । क्षयन्तिवुर्गती जीवास्तेधिग्भवन्तु चंचलाः ॥३०८१॥

अर्थ— जिस रागद्वेषके कारण दुष्ट पुरुष धनादिक द्रव्यों में संतोष मनाते हैं और कुत्सित द्रव्य में द्वेष करते हैं अथवा सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र्य में द्वेष करते हैं, ऐसे अशुभ रागद्वेष को बार-बार धिक्कार हो । जिस मोह के कारण यह जीव श्रेष्ठ मार्ग को तो ग्रहण नहीं करता और कुमार्ग को बहुत अच्छा मानता है तथा जिस मोह इन्द्रियों के विषयों में ही सुख मानता है, ऐसे दोनों प्रकार के मोह को बार-बार धिक्कार हो । जिन इन्द्रियों के कारण ये जीव चारों गतियों में परिभ्रमण कर बार बार तिरस्कृत होते हैं और अपने आत्मा के स्वरूप को नहीं जान सकते, ऐसी इन सज्जनों की इन्द्रियों का शीघ्र ही नाश हो । जिन आहारादिक संज्ञाओं के कारण ये समस्त जीव अत्यन्त पीड़ित वा दुःखी हो रहे हैं और महापाप उत्पन्न कर रहे हैं उन संज्ञाओं का भी अपने आप नाश हो । जिन गारव तथा अभिमानों से ये अज्ञानी जीव व्यर्थ ही महापाप उपार्जन कर नरक में जाते हैं उन अभिमानों का भी शीघ्र ही नाश हो । जिन कषायों से ये जीव कर्मों की स्थिति बांधकर नरक में पड़ते हैं वे कषायरूपी शत्रु शीघ्र ही नाश को प्राप्त हों । जिन चंचल योगों से ये जीव अपने आत्मा को कर्म-रूपी बंधनों से बांधकर दुर्गति में गिर पड़ते हैं उन चंचल योगों को भी धिक्कार हो । ॥३०७५-३०८१॥

अल्प आश्रय भी संसार का ही कारण है—

हिंसाद्यः पञ्चभिर्घोरैर्यदपाज्यात्रकिल्बिषम् । गच्छन्तिबुधियःश्वभ्रं प्रलययान्तुपञ्च ते ॥३०८२॥

इत्यार्थः प्रत्ययःसर्वैः कर्मास्त्रयंगले धृताः । भ्रमन्तोत्र शठाः नित्यं लभन्ते दुःखमुत्थरणम् ॥३०८३॥

यावत्कर्मास्त्रिषोल्पोपिकुर्वतामपि सत्तपः । न तावच्छाश्वतस्थानं किन्तुसंसारएव हि ॥३०८४॥

अर्थ—जिन हिंसादिक पाँचों पापों से ये मूर्ख जीव घोर पापों का उपार्जन कर नरक में पड़ते हैं उन पाँचों पापों का भी शीघ्र ही नाश हो । इसप्रकार कर्मास्त्र के समस्त कारणों से जकड़े हुए मूर्ख प्राणी इस संसार में सदा परिभ्रमण किया करते हैं और घोर दुःखों का अनुभव किया करते हैं । श्रेष्ठ तपश्चरण करनेवाले मुनियों के भी जब तक थोड़े से कर्मों का भी आश्रय होता रहता है, तब तक उनको मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं होती किन्तु उनका संसार ही बढ़ता रहता है ॥३०८२-३०८४॥

त्रियोग की शुद्धता पूर्वक आश्रय रोकने की प्रेरणा—

इत्यास्त्रयमहादोषान् शास्त्रानिरुध्यप्रत्ययान् । योगशुद्ध्यास्त्रयान्निर्वहान् निराकुर्वन्तुधीयताः ॥८५॥

अर्थ—इसप्रकार आश्रय के महा दोषों को समझकर बुद्धिमान मुनियों को

मन-वचन-काय की शुद्धता से आस्रव के सब कारणों को रोक कर समस्त आस्रव को बंद कर देना चाहिये ॥३०८५॥

संवर अनुप्रेक्षा का स्वरूप—

रागद्वेषाविपूर्वोक्तान् निरुध्यास्रवकारणान् । कर्मास्रव निरोधे यः संवरः स शिवंकरः ॥३०८६॥

अर्थ—पहले जो रागद्वेष आदि आस्रव के कारण बतलाये हैं उन सबको रोक कर कर्मों के आस्रव का निरोध करना चाहिये । कर्मों के आस्रव का निरोध होना ही मोक्ष देनेवाला संवर है ॥३०८६॥

आस्रव को किसके द्वारा रोका जाता है—

रागद्वेषोमिरुध्येतेसर्पो वा ज्ञानमंत्रतः । दग्धस्ताव्यां द्विषामो ह्यो दध्यते दुष्टदंतिवत् ॥३०८७॥

तपसेन्द्रियसंज्ञानिराक्रियन्तेजितेन्द्रियैः । शौरवाचिनयेनाश्रयज्यन्ते वरिणो यथा ॥३०८८॥

निगृह्यन्ते कषायाश्चक्षमाश्चैरिवारयः । निरुध्यन्ते चलायोगा गुप्तिपाशेन वा मृगाः ॥३०८९॥

हिंसादीनि निवार्यन्ते समिति व्रतसंयमैः । प्रशस्तध्यानलेश्याश्च रुध्यन्ते सकलास्रवः ॥३०९०॥

अर्थ—ये रागद्वेषरूपी सर्प ज्ञानरूपी मंत्र से रोके जाते हैं तथा सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य से दुष्ट हाथी के समान दोनों प्रकार का मोह रुक जाता है । जितेन्द्रिय पुरुष तपश्चरणके द्वारा इन्द्रिय और संज्ञाओं को रोकते हैं और गारवों वा अभिमानों को शत्रुओं के समान विनय से रोकते हैं । इसी प्रकार कषायरूपी शत्रुओं को क्षमा, मार्दव आदि शस्त्रों से वश में करते हैं, गुप्तिरूपी जाल से हिरणों के समान चंचल योगों को वश में कर लेते हैं । इसी प्रकार व्रत समिति और संयम से हिंसादिक पांचों पापों को निवारण करते हैं और प्रशस्त ध्यान तथा शुक्ललेश्यासे समस्त आस्रव को रोक देते हैं ॥३०८७-३०९०॥

किसके निर्जरा के साथ मोक्ष की प्राप्ति होती है—

इतियुक्त्वा सुयोगार्थं निरुध्य निखिलास्रवान् । ये कुर्युः संवरं तेषां निर्वाणं निर्जरायुतम् ॥३०९१॥

अर्थ—इसप्रकार योग धारण कर युक्तिपूर्वक जो समस्त आस्रवों को रोक लेते हैं और संवर धारण कर लेते हैं, उनके कर्मों की निर्जरा के साथ ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥३०९१॥

संवर की महिमा एवं उसे सिद्ध करने की प्रेरणा—

येन कर्मास्रवो रुद्धः संवरयुक्तिभिः कृतः । तस्यैवेष्टसुसिद्धिः स्यात्संविनानिष्कलं तपः ॥३०९२॥

मत्वेति संवरं वक्षाः कुर्वन्त्येकं शिवाप्तये । परीषह जयेज्ज्ञानसद्विधानसंयमादिभिः ॥३०६३॥

अर्थ—जिस महात्मा ने युक्तिपूर्वक अपने कर्मों को रोक कर संवर धारण किया है, उसीके समस्त इष्ट पदार्थों की सिद्धि होती है । उस संवर के बिना तपश्चरण भी सब निष्फल समझना चाहिये । यही समझकर चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये परीषहों को जीतकर, सम्यग्ज्ञान की वृद्धि कर, श्रेष्ठध्यानको धारण कर और संयम की पालन कर एक संवर ही सिद्ध कर लेना चाहिये ॥३०६२-३०६३॥

निर्जरा का स्वरूप एवं उसके भेद—

रक्षास्त्रमहर्षेण चारित्र्यसद्गुणभागिनः । तपोभिर्बुद्धिरेमुंक्तिजननीर्निर्जराभवेत् ॥३०६४॥

निर्जरा सा द्विधा ज्ञेया देशतः सर्वतो नृणाम् । स्वकर्मवशतो वेश निर्जरान्यतपो भवा ॥३०६५॥

अर्थ—जिन महामुनियों ने समस्त आस्त्रव को रोक दिया है और जो चारित्र्य-रूपी श्रेष्ठ गुण को धारण करते हैं उनके कठिन-कठिन तपश्चरणों के द्वारा मोक्ष की देनेवाली निर्जरा होती है । वह निर्जरा दो प्रकार की है—एक एकदेश निर्जरा और दूसरी सर्वदेश निर्जरा । उनमें से एकदेश निर्जरा अपने-अपने कर्मों के उदय से होती है और सर्वदेश निर्जरा तपश्चरण से होती है ॥३०६४-३०६५॥

एक देश एवं सर्वदेश निर्जरा का लक्षण—

चतुर्गतिषु सर्वेषां भ्रमतां कर्मणां क्षयात् । भ्रमाद्यानिर्जरा जाता सा हेया वेश निर्जरा ॥३०६६॥

संवरेण समं यत्नात् तपोभिर्याबुधैः कृता । विपुला मुक्तिसंसिद्धयं सा ग्राह्या सर्वनिर्जरा ॥३०६७॥

अर्थ—चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए जीवों के कर्मों के क्षय होने से जो निर्जरा होती है उसको देश निर्जरा कहते हैं । ऐसी निर्जरा सदा त्याग करने योग्य है । बुद्धिमान् लोग जो मोक्ष प्राप्त करने के लिये संवर के साथ-साथ तपश्चरण के द्वारा प्रयत्नपूर्वक बहुत से कर्मों की निर्जरा करते हैं उसको सर्वनिर्जरा कहते हैं । वह निर्जरा ग्रहण करने योग्य है ॥३०६६-३०६७॥

कोन जीव अत्यन्त शुद्ध होता है—

अग्निना धातुपाषाणौ यथाशुद्धयतियोगतः । तथा तपोग्निना भव्यः कृतः संवरनिजरः ॥३०६८॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्नि के द्वारा धातुपाषाण (जिस पाषाणमें सोना वा चांदी निकले) युक्तिपूर्वक शुद्ध करने से शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार तपश्चरणरूपी अग्नि से संवर और निर्जरा को करनेवाला भव्य जीव अत्यन्त शुद्ध हो जाता है ॥३०६८॥

मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति किसको होती है ?

यथा यथामुनीन्द्राणां जायते कर्मनिर्जरा । तथातथा च मुक्तिस्त्रीमुदायातिस्वयंवरा ॥३०६६॥

ध्यानयोगेनभव्यानां समस्तकर्मनिर्जरा । यदातदेव जायेत मोक्षलक्ष्मी गुणैःसमम् ॥३१००॥

अर्थ—मुनियों के जैसी-जैसी कर्मों की निर्जरा होती जाती है वैसे ही वैसे स्वयं वरण करनेवाली मुक्तिस्त्री प्रसन्न होकर उसके समीप आती जाती है । जिस समय भव्य जीवों के ध्यान के निमित्त से समस्त कर्मों की निर्जरा हो जाती है, उसी समय अनंत गुणों के साथ-साथ मोक्षलक्ष्मी प्राप्त हो जाती है ॥३०६६-३१००॥

संवर पूर्वक निर्जरा करने की प्रेरणा—

मत्वेतिनिर्जरानित्यं कतव्यामुक्तयेबुधैः । तपोयोगैः सदाचारैः सर्वासंवरपूर्विका ॥३१०१॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये तपश्चरण ध्यान और सदाचार आदि कर संसार पूर्वक पूर्ण कर्मों की निर्जरा सदा करते रहना चाहिये ॥३१०१॥

लोक अनुप्रेक्षा का स्वरूप—

अधोवेत्रासनाकारो मध्येस्याद्भल्लरीसमः । मृदंगसदृशश्चाधो लोकस्येतित्रिधास्थितिः ॥३१०२॥

पापिनः पापपाकेनपुण्यन्तेलेदनादिभिः । सप्तश्वज्जैवधोभागे नारकाः नरकेसदाः ॥३१०३॥

पुण्येनपुण्यवन्तोस्योर्ध्वभागेसुखमुत्सृजन् । कल्पकल्पास्तविष्वेपुभुजन्तिस्त्रीमर्हद्भिः ॥३१०४॥

क्वचित्सील्यं क्वचिद्दुःखं मध्येलोके क्वचिद्वयम् । प्राप्नुवन्तिनृत्यंतिर्यंचपुण्यपापवशीकृताः ॥

लोकाप्रेक्षाश्चतस्रं धाम मनुष्यक्षेत्रसम्मितम् । सिद्धा यत्रलभन्तेहो भ्रमन्तं सुखमात्मजम् ॥३१०६॥

अर्थ—यह लोकाकाश नीचे वेत्रासन के (स्टूल के) आकार है, मध्य में भल्लरी के आकार है और ऊपर मृदंग (परदावज) के आकार है । इसप्रकार यह लोक तीन भागों में बटा हुआ है । इस लोक के अधो भागमें सातों नरकों में महापापी नारकी अपने पापकर्म के उदयसे छेदन भेदन आदि के द्वारा महा दुःख भोगा करते हैं । इसी प्रकार इस लोक के ऊपर के भाग में कल्पवासी देवों में अनेक पुण्यवान् देव अपने पुण्य कर्म के उदय से देवांगना और महा ऋद्धियों के द्वारा उत्कृष्ट सुख भोगा करते हैं तथा कल्पातीत देवों में महा ऋद्धियों के द्वारा अत्यन्त उत्कृष्ट सुख भोगा करते हैं । इसी प्रकार मध्य लोक में पुण्य पाप के वशीभूत हुए मनुष्य और तिर्यंच कहीं सुख भोगते हैं, कहीं दुःख भोगते हैं और कहीं सुख दुःख दोनों भोगते हैं । इस लोक के

शिखर पर मनुष्य लोक के समान एक नित्य स्थान है, जहाँपर सिद्ध भगवान शुद्ध आत्मा से उत्पन्न हुए अनंत सुखों का अनुभव किया करते हैं ॥३१०२-३१०६॥

लोक अनुप्रेक्षा को समझने वाले की प्रेरणा—

इति लोकत्रयं ज्ञात्वा तन्मूर्द्धस्थं शिवालयेन । हृत्वाभोहं दृगार्धं च साधयन्तु विबोद्धतम् ॥३१०७॥

अर्थ—इसप्रकार तीनों लोकों का स्वरूप समझकर और उसके मस्तक पर मोक्ष का स्वरूप समझकर विद्वान् पुरुषों को सम्यग्दर्शनादिक धारण कर शीघ्र ही मोह का नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेनी चाहिये ॥३१०७॥

बोधिदुर्लभ भावना का स्वरूप—

युगच्छिद्रे प्रवेशश्च समिलाया यथाम्बुधी । दुर्लभोऽनन्तसंसारे नृभवोऽत्र तथ्यांगिनाम् ॥३१०८॥

अर्थ—यदि किसी समुद्र में एक ओर बेल के कंधे का जूआ डाला जाय और उसी समुद्र में दूसरे किनारे पर उस जूए के छिद्र में पड़ने वाली बांस की कील डाली जाय जिसप्रकार उन दोनों का मिलना तथा उस जूए के छिद्रमें उस बांस की कील का पड़ जाना अत्यन्त कठिन है, उसीप्रकार अन्तः संसार में परिभ्रमण करते हुए जीवों को मनुष्य जन्म की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है ॥३१०८॥

आर्यदेश उत्तम-कुल आदि की प्राप्ति की क्रमशः दुर्लभता का निर्देश—

क्वचित्त्वर्ध्वमनुष्यत्वेऽप्यार्यवेशोऽतिदुर्लभः । तस्मात्सुकुलमत्ययं दुर्लभकल्पशास्त्रिवत् ॥३१०९॥

कुलतो दुर्लभं रूपं रूपावायुश्च दुर्घटम् । आरोग्यमायुषोऽक्षारिण्यपटूनि सुलभानि न ॥३११०॥

सैन्योऽपि सुभतिः साध्वीनिष्पापा सुष्ठु दुर्लभा । मतेः कषायहोतृत्वं विवेकाद्यतिदुर्लभम् ॥३१११॥

एतेभ्यः सद्गुरो सारः संयोगो दुर्लभस्तराम् । संग्रोगाद्धर्मशास्त्रार्ण्यवधारणं नृणाम् ॥३११२॥

सुगमं न ततः श्रद्धानं निश्चयोऽतिदुर्लभः । ततः सद्दर्शनज्ञाने विमुक्तिः सुष्ठु दुर्लभा ॥३११३॥

ततो निर्मलचारित्र्यं दुष्प्राप्यं निधिवत्तराम् । लब्धेऽप्येतेषु सर्वेषु यावज्जीव निरन्तरम् ॥३११४॥

सर्वदानिरवद्याचरणमत्यन्तदुर्घटम् । तस्मात्समाधिमृत्युः स्यान्निधिवद्दुर्लभः सताम् ॥३११५॥

अर्थ—यदि कदाचित् किसी काल में मनुष्य जन्म की प्राप्ति भी हो जाय तो आर्य देश में जन्म होना अत्यन्त दुर्लभ है । यदि कदाचित् आर्य देश में भी मनुष्य जन्म प्राप्त हो जाय तो कल्पवृक्ष की प्राप्ति के समान श्रेष्ठ उत्तम कुल में जन्म होना अत्यन्त कठिन है । इसी प्रकार उत्तम कुल से सुन्दर रूप का प्राप्त होना दुर्लभ है, उससे पूर्ण आयु का प्राप्त होना दुर्लभ है । पूर्ण आयु से भी नीरोग शरीर का प्राप्त होना अत्यन्त

दुर्लभ है और नीरोग शरीर की प्राप्ति होनेपर भी इन्द्रियों की चतुरता प्राप्त होना कभी सुलभ नहीं हो सकता । कदाचित् इन्द्रियों की चतुरता भी प्राप्त हो जाय तो पापरहित श्रेष्ठ बुद्धि का मिलना अत्यंत दुर्लभ है । यदि कदाचित् निष्पाप बुद्धि भी प्राप्त हो जाय तो कषाय रहित होना और विवेक का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है । इन समस्त संयोगों के मिल जानेपर भी सारभूत श्रेष्ठ गुरु का संयोग मिलना अत्यन्त दुर्लभ है । यदि कदाचित् श्रेष्ठ गुरु का भी संयोग मिल जाय तो धर्मशास्त्रों का सुनना तथा उनका धारण करना उत्तरोत्तर अत्यन्त दुर्लभ है । कदाचित् इनका भी संयोग मिल जाय तो उन धर्मशास्त्रों में कहे हुए पदार्थों का श्रद्धान करना उनका निश्चय करना अत्यंत ही दुर्लभ है । तथा उस श्रद्धान से भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में विशुद्धि रखना अत्यंत ही दुर्लभ है । कदाचित् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान की विशुद्धि भी प्राप्त हो जाय निधि के मिलने के समान निर्मल चारित्र्य का प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है । कदाचित् इन सबका संयोग प्राप्त हो जाय तो अपने जीवन पर्यंत निरंतर सर्वदा निर्दोष चारित्र्य का पालन करना अत्यंत ही दुर्लभ है । यदि कदाचित् यह भी प्राप्त हो जाय तो सज्जनों को निधि मिलने के समान समाधिमरण का प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है ॥३१०६-३११५॥

कौन जीव बोधि के फल को प्राप्त करता है—

इतिदुर्लभबोधिं ये प्राप्ययत्नेनधीधनाः । साधयन्तिशिखादीनि तेषां बोधिफलं भवेत् ॥३११६॥

अर्थ—इसप्रकार अत्यंत दुर्लभ ऐसे बोधि रूप रत्नत्रय को पाकर जो विद्वान् प्रयत्न पूर्वक मोक्षाधिक को प्राप्त कर लेते हैं उन्हीं को बोधि का फल प्राप्त हुआ समझना चाहिये ॥३११६॥

कौन जीव संसार में परिभ्रमण करते हैं—

यासाद्याबोधिसत्ता ये कुर्वन्ते मोक्षसाधने । प्रमादं वीर्यसंसारे ते भ्रमन्तिविषेर्षशात् ॥३११७॥

अर्थ—जो मुख्य पुरुष इस रत्नत्रय रूप बोधि को पाकर मोक्ष के सिद्ध करने में प्रमाद करते हैं वे पुरुष अपने कर्मों के उदय से वीर्यकाल तक इस महा संसार में परिभ्रमण किया करते हैं ॥३११७॥

किनका बोधि प्राप्त करना सफल है—

सत्त्वेतिबोधिसत्तत्तत्प्राप्यशौचं शिष्यधियम् । साधयन्तु बुधायत्नाद्येन तत्सफलं भवेत् ॥३११८॥

अर्थ—यही समझकर विद्वानों को रत्नत्रयरूपी श्रेष्ठ रत्नों को पाकर प्रयत्न पूर्वक शीघ्र ही मोक्षलक्ष्मी को सिद्ध कर लेना चाहिये जिससे उनका बोधि का प्राप्त होना सफल हो जाय ॥३११८॥

पुनः दश धर्म पालन करने की प्रेरणा—

प्रागुक्तोवशधाधर्मः कर्तव्यो धर्मकांक्षिभिः । भुक्तिमुक्तिप्रदो नित्यं क्षमादि लक्षणोत्तमः ॥३११९॥

अर्थ—धर्म की इच्छा करनेवाले पुरुषों को उत्तम, क्षमा, मार्दव आदि लक्षणों से सुशोभित तथा भुक्ति और मुक्ति दोनों को देनेवाला जो ऊपर कहा हुआ दश प्रकार का धर्म है वह सदा पालन करते रहना चाहिये ॥३११९॥

मोक्ष प्रदायिनी अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन की प्रेरणा—

अनुप्रेक्षा इमा सद्भिर्द्वाविशेष निरन्तरम् । वैराग्यवृद्धये ध्येया रागहान्यै शिष्यकराः ॥३१२०॥

अर्थ—विद्वान् पुरुषों को अपना वैराग्य बढ़ाने के लिये और रागद्वेष को नष्ट करने के लिये इन बारह अनुप्रेक्षाओं का निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये । क्योंकि ये अनुप्रेक्षाएं अवश्य मोक्ष प्रदान करनेवाली हैं ॥३१२०॥

द्वादश-अनुप्रेक्षा की महिमा एवं उनके चिन्तन का फल—

एताद्वादशभावनाः सुविमलास्तोर्थैश्चरैः सेविता प्रोक्ताभ्यन्तर्गता हिताय परमा वैराग्यवृद्धयै वृषाः । ये ध्यायन्ति सदाऽमलेस्वहृदये तेषांमुदावृद्धं तेसंवेगोऽपरो विनश्यतितरां रागः शिष्यधीर्भवेत् ॥३१२१॥

अर्थ—ये बारह भावनाएं अत्यंत निर्मल हैं, तीर्थकर परमदेव भी इनका चिन्तन करते हैं और भव्य जीवों का हित करने और परम वैराग्य को बढ़ाने के लिये कहो गई हैं । इसलिये जो विद्वान् अपने निर्मल हृदय में प्रसन्न होकर इन भावनाओं का चिन्तन करते हैं उनका सर्वोत्कृष्ट संवेग बढ़ता है, राग नष्ट हो जाता है और मोक्षलक्ष्मी उनको प्राप्त हो जाती है ॥३१२१॥

उपसंहारात्मक अनुप्रेक्षाओं की महिमा—

निरुपमगुणखानीर्मोक्षलक्ष्मीसखीश्च जिनवरमुखजाताः सेविताः धीगणेशैः ।

दुरितगिरिविघातेवज्रधाराः सदां प्रभजतश्चिकामा भावना द्वावर्शताः ॥३१२२॥

अर्थ—ये बारह भावनाएं अनुपम गुणों की खानि हैं, मोक्षलक्ष्मी की सखी हैं, भगवान् जिनेन्द्रदेव के मुखसे उत्पन्न हुई हैं तथा गणधर देवों ने इनकी सेवा की है और पापरूपी पर्वतों को चूर-चूर करने के लिये वज्र की धारा के समान हैं । अतएव मोक्ष

की इच्छा करनेवाले मुनियों को इन बारह भावनाओं का चिंतन सदा करते रहना चाहिये ॥३१२२॥

परीषहों के कथन की प्रतिज्ञा—

मुनीनां येयसोढव्याः परीषहाश्चतानिह । मार्गाध्ययनगुहकर्मनिर्जरार्थविशाम्यहम् ॥३१२३॥

अर्थ—मुनिराज अपने चारित्र्यमार्ग से वा मोक्षमार्ग से च्युत न होने के लिये तथा पाप कर्मों की निर्जरा करने के लिये जिन परीषहों की अवश्य सहन करते हैं उनको मैं कहता हूँ ॥३१२३॥

२२ परीषहों के नाम निर्देश—

क्षुत्पिपासावशीतोष्णाख्यौ वंशमशकाह्वयः । नाग्न्यारत्यभिधौस्त्रीचर्यानिषद्यापरीषहौ ॥३१२४॥

शय्याक्रोशोवधोर्वाचालाभोरोगपरीषहः । तृणस्पर्शमलःसत्कारपुरस्कारसंज्ञकः ॥३१२५॥

प्रज्ञाशान्ताभिधादर्शनान्येतेपरीषहाः । सोढव्या यस्तिभिर्नित्यंद्वाविंशतिः शिवाप्तये ॥३१२६॥

अर्थ—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, वंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्रीचर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, वांचा, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और प्रदर्शन ये बाईस परीषह हैं । मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये इन परीषहों की अवश्य सहन करना चाहिये ॥३१२४-३१२६॥

क्षुधा परिषह को जीतने के लिये किस प्रकार चिन्तन करना चाहिये—

षष्ठाष्टमेकपक्षाद्यु पवासात्ताभकारणः । उत्पद्यतेमुनेः स्वान्तर्दाहिन्यग्निशिखेवक्षुत् ॥३१२७॥

यदातेन तदाचित्तेस्मरणीयमिदं स्फुटम् । अहो परवशेनात्रयाप्ता क्षुब्धेवनामया ॥३१२८॥

नृगतीवन्दिगेहाद्यः जलस्थलक्षणाविषु । तिर्यग्गतौनिरोधार्थंश्वभूषु भ्रमता धिरम् ॥३१२९॥

तस्या इयं कियम्भात्रा विचिन्त्येतिशिवायिना । जेतव्या वेवमा क्षुब्धा सस्तोधासेनान्यथा ॥३०॥

अर्थ—किसी मुनिराज ने वेला वा तेला किया हो अथवा पंद्रह दिन वा एक महीने का उपवास किया और पारणा के दिन भी आहार का लाभ न हुआ हो तो उस समय अग्नि की शिखा के समान उनके अंतरंग को जलाने वाली क्षुधा वेवना उत्पन्न होती है । उस समय उन मुनिराज को अपने हृदय में यह चिन्तन करना चाहिये कि मैंने परवश होकर जो मूख की वेदना सही है, मनुष्यगति में बंदीगृह में पड़कर मूख की वेदना सही है, जलचर, थलचर और नभचर के पशु पक्षियों की योनियों में जो मूख की वेदना सही है । तिर्यग्गति में बांधे जाने वा रोके जाने के कारण जो मूखकी वेदना

सही है तथा नरकगति में जो सूख की वेदना सही है, उसके सामने यह सूख कितनी है, कुछ भी नहीं है, इसप्रकार चितवन कर मोक्ष चाहने वालों को संतोष धारण कर सूख से उत्पन्न हुई वेदना को जीतना चाहिये, बिना संतोष के क्षुधा वेदना कभी नहीं जीती जा सकती ॥३१२७-३१३०॥

मुनिराज को किस प्रकार के चितवन से तृषा परिषह जीतना चाहिये—

बहूपवासमार्गश्रमविरुद्धाभ्रसेवनैः । शीघ्रभानुकरंस्तीवापिपासा जायतेयतेः ॥३१३१॥

तदेदं चिन्तनीयं सन्धुनिन्याकुक्षं रातृजा । पराधीनतयावाहोऽभ्युभूतश्चिरं मया ॥३१३२॥

नरतिर्यग्गतीश्वभूः प्रदेशे निर्जले बने । इति ध्यानेन धीरः सज्जयतात्तृदपरीषहम् ॥३१३३॥

अर्थ—अनेक उपवास करने से, मार्ग के परिश्रम से, विरुद्ध अन्न के सेवन करने से और शीघ्र ऋतु में सूर्य की तीव्र किरणों से मुनियों की तीव्र प्यास की वेदना होती है । उस समय उन मुनियों को इसप्रकार चितवन करना चाहिये कि मैंने परवश होकर मनुष्यगति में, तिर्यग्गति में, नरक में और निर्जन बनों में चिरकाल तक बड़ी-बड़ी कठिन प्यास की वेदना सही है । इसप्रकार चितवन कर उन धीरवीर मुनिराज को तृषा परीषह जीतनी चाहिये ॥३१३१-३१३३॥

प्यास की शांति के लिये मुख प्रक्षालनादि का निवेद्य—

शुष्कोष्ठमुखसर्वांगस्तृषाग्निस्तपितोपिसन् । सञ्छान्त्यं जातु न कुर्यान्मुखप्रक्षालनादिकम् ॥३१३४॥

अर्थ—यदि तृषारूपी अग्नि से उन मुनियों के ओठ सूख गये हों, मुख सूख गया हो, समस्त शरीर सूख गया हो तथा वे मुनिराज प्यास की अग्नि से संतप्त हो रहे हों तो भी वे उस प्यास की शांति के लिये अपना मुख प्रक्षालन आदि कभी नहीं करते हैं ॥३१३४॥

मुनिराज को किस प्रकार के चितवन से शीत वेदना जीतनी चाहिये—

तुषारबहुलेशीतकाले चतुःपथाविषु । स्थितस्य शीतवाताद्यः शीतवाधापराभवेत् ॥३१३५॥

तदेष नारकाणां च पाशूनां नृवरित्रिणाम् । चिन्तनं शीतद्रु सौघं सहतेदृढचेतसा ॥३१३६॥

अर्थ—जिस शीत ऋतु में बहुत ही तुषार पड़ रहा हो, बहुत ठंडी वायु चल रही हो और वे मुनिराज किसी चौराहे पर खड़े हों उस समय उनको शीत की अधिक वेदना होती है । उस समय वे मुनिराज नारकियों के पशुओं के और दरिद्री मनुष्यों के शीतजन्य दुःखों को चितवन करते हुए अपने चित्त को बृद्ध बनाकर शीत की वेदना को

सहन करते हैं ॥३१३५-३१३६॥

किस प्रकार की गर्मी से शीत वेदना दूर करते हैं—

तथाध्यानोष्मणा योगी शीतवाधां निवारयेत् । मनाक्प्रावरणाग्न्यादीन्शीतज्ञान्त्यर्नेचिन्तयेत् ॥

अर्थ—उस समय वे मुनिराज ध्यानरूपी गर्मी से अपनी शीत वेदना को दूर करते हैं और उस शीत की वेदना को शांत करने के लिये न तो किसी के ओढ़ने का चिंतवन करते हैं और न अग्नि आदि शीत को दूर करनेवाले पदार्थों का चिंतवन करते हैं ॥३१३७॥

किस प्रकार के चितवन से उष्ण वेदना जीतते हैं—

ग्रीष्मोद्यभास्करोष्णांशुपित्तरोगपथधर्मः । आतापनमहायोगक्षारान्नानशनादिभिः ॥३१३८॥

दुस्सहोष्णमहातापो जायते वनवासिनः । निराश्रयपशुनृणां नारकाणां विधेर्वशात् ॥३१३९॥

जातोष्णचिन्तनेभासासद्ज्ञानामृतपानतः । उष्णदुःखं जयेन्नाम्बुसेकावगाहनादिभिः ॥३१४०॥

अर्थ—गर्मी के दिनों में जब सूर्य की किरणें अत्यन्त तीव्र और उष्ण होती हैं वा पित्त रोग हो जाता है अथवा मार्ग के चलने से परिश्रम बढ़ जाता है वा वे मुनिराज आतापन महा योग धारण कर लेते हैं अथवा वे अधिक लवण मिला हुआ अन्न ग्रहण कर लेते हैं उस समय वन में निवास करनेवाले उन मुनियों के असह्य गर्मी का महा संताप उत्पन्न होता है । उस समय वे निराश्रय पशुओं के, मनुष्यों के वा नारकियों के कर्मों के उदय से होनेवाली तीव्र उष्ण वेदना का चितवन करते हैं और श्रेष्ठ ज्ञानरूपी अमृतका पान करते हैं, इन दोनों कारणों से वे उस गर्मी की वेदना को जीतते हैं । वे मुनिराज पानी के छिड़काव से वा पानी में नहाने से गर्मी की बाधा को कभी दूर नहीं करते ॥३१३८-३१४०॥

दंशमशक परीषह जय का स्वरूप—

दंशश्चमशकः सर्वभक्षिकावृश्चिकादिभिः । भक्षमाणोऽत्र दिग्बस्त्रो वृक्षमूलाविषुस्थितः ॥३१४१॥

न मनाक्खिद्यतेयत्रध्यानीध्यानध्वलेश्च स । परीषहजपो ज्ञेयः स दंशमशकाह्वयः ॥३१४२॥

अर्थ—जो मुनि दिग्बस्त्र अवस्था को धारण किये हुए किसी वृक्ष के नीचे विराजमान हैं, उस समय यदि कोई डांस, मच्छर, मक्खी, बीछू आदि कीड़े मकोड़े उन्हें काट लेते हैं तो वे मुनिराज अपने मन में रंघमात्र भी खेद स्थित नहीं होते और न वे

ध्यानी अपने ध्यान से चलायमान होते हैं इसको दंशमशक परीषह विजय कहते हैं ।
॥३१४१-३१४२॥

नाग्न्य परीषह जय का स्वरूप—

नग्नत्वेन च ये जाताः शीतोष्णोष्णोपद्रवाः । शरीरविक्रिया जीवभक्षणेहंसनादिभिः ॥३१४३॥
सह्यन्ते यत्रधैर्येण ते संक्लेशाद्विनान्वहम् । विगम्बरधरंज्यो नाग्न्यदोषजयोत्र सः ॥३१४४॥

अर्थ—नग्न अवस्था धारण करने से बहुत से ठंडी गर्मी के उपद्रव होते हैं, अनेक जीव काट लेते हैं, शरीर में कोई विकार भी हो जाता है और अनेक दुष्ट लोग भी उनको देखकर हंसते हैं, इन सब उपद्रवों को वे दिगम्बर अवस्था को धारण करने वाले मुनिराज बिना किसी प्रकार के संक्लेश परिणामों के धैर्य के साथ प्रतिदिन सहन करते हैं इसको नाग्न्य परीषह जय कहते हैं ॥३१४३-३१४४॥

अरति परीषह जय का स्वरूप—

अरण्यवासशीतोष्णोष्णतपश्चरणादिभिः । शब्देर्भयानकंजातारतिः सिंहविजंनिशि ॥३१४५॥
मुनिभिर्जोयते यात्र रति कृत्वागमामृते । ध्यानज्ञानरतैःस्याच्छारतिवाधाजयोऽत्र सः ॥३१४६॥

अर्थ—वन का निवास, शीत उष्ण की बाधा, उग्र तपश्चरणादिक और सिंह व्याघ्र आदि के भयानक शब्दों से रात के समय अरति के कारण प्राप्त होते हैं तथापि ज्ञान ध्यान में लीन रहनेवाले वे मुनिराज आगमरूपी अमृत में प्रेम करते हुए उस अरति की बाधा को जीतते हैं इसको अरति परीषह जय कहते हैं ॥३१४५-३१४६॥

स्त्री परीषह जय का स्वरूप—

हावभावविलासांगारूपभ्रूजिकारजल्पनैः । कटाक्षशरविक्षेपैः शृंगाररसदर्शनैः ॥३१४७॥
उन्मत्तयौवनस्त्रीभिः कृतोत्थोद्वेगान्तकः । सह्यतेयोगिभिर्योत्रस्त्रीबाधाजयएव सः ॥३१४८॥

अर्थ—कोई मुनिराज किसी एकांत स्थान में विराजमान हों और वहां पर उन्मत्त यौवनवती स्त्रियां आकर हाव, भाव, विलास, शरीर के विकार, मुखके विकार, भोहों के विकार, गाना बजाना बकवाद करना, कटाक्षरूपी बाणों का फेंकना और शृंगार रस का दिखाना आदि कितने ही कारणों से व्रतों को नाश करनेवाला अनर्थ करती हों तो भी वे मुनिराज निर्विकार होकर उस उपद्रव को सहन करते हैं । इसको स्त्री परीषह जय कहते हैं ॥३१४७-३१४८॥

चर्या परीषह जय का स्वरूप—

भीमारण्याद्विबुर्गेषु नानावेशपुरादिषु । विहरद्विः सवालंडपाषाणकंटकादिभिः ॥३१४६॥

आतपादध्यथामा यः क्रियतेसर्वथाजय । निर्णयैर्मुक्तयेचर्यापरीषह जयोत्रसः ॥३१५०॥

अर्थ—जो मुनिराज भयानक वन में, पर्वत पर, किलों में अनेक देश और नगरों में विहार करते हैं तथा उस विहार में पत्थरों के टुकड़े वा कांटे आदि के लग जाने से पैरों में अनेक छोटे-छोटे घाव हो जाते हैं तथापि वे दिगम्बर मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिये उस सबको सहन करते हैं, जीतते हैं इसको चर्यापरीषह जय कहते हैं ॥३१४६-३१५०॥

निषद्या परीषह जय का स्वरूप—

बहुपसर्गसंजातैः कम्बराद्विवनादिषु । कृतवज्रासननादिभ्योऽचलनं यन्महात्मनाम् ॥३१५१॥

धृतासनविशेषाणां ध्यानारोपितचेतसाम् । सर्वद्राचलयोगानां निषद्याजय एव सः ॥३१५२॥

अर्थ—जो मुनिराज किसी गुफा में पर्वत पर वा वनादिक में किसी वज्रासन आदि कठिन आसन से विराजमान होते हैं और उस समय भी अनेक उपसर्ग उन पर आ जाते हैं तथापि वे मुनिराज अपने आसन से कभी चलायमान नहीं होते, इसीप्रकार विशेष-विशेष कठिन आसन धारण करके भी वे अपने हृदय को ध्यान में ही लगाये रहते हैं और अपने योग को सदा अचल बनाये रखते हैं, उनके इस परिषह सहन करने को निषद्या जय कहते हैं ॥३१५१-३१५२॥

शय्या परीषह जय का स्वरूप—

स्वाध्यायध्यानयोगाद्यवश्रमसेवादिहानये । निद्रां मोहूर्तिकीं युक्त्यानुभवद्भिजिताशयैः ॥३१५३॥

वण्डकपाशवंशशय्यादीक्रियतेपरिवर्तनम् । न सिंहाद्युपसर्गैर्ध्वंश्छय्या जयएव सः ॥३१५४॥

अर्थ—जो मुनि स्वाध्याय, ध्यान, योग और मार्ग का परिश्रम दूर करने के लिये युक्तिपूर्वक मुहूर्तमात्र की निद्रा का अनुभव करते हैं, उस समय में भी अपने हृदय को अपने वश में रखते हैं, दंड के समान वा किसी एक कर्बट से सोते हैं, सिंहादिक का उपद्रव होनेपर भी जो कभी कर्बट नहीं बदलते उसको शय्या परिषह जय कहते हैं । ॥३१५३-३१५४॥

आक्रोश परीषह जय का स्वरूप—

मिथ्यादुर्गन्तेच्छुषांडालशत्रुपापिदुरात्मनम् । परुषाद्यवसानावशाधिक्कारवचांसि च ॥३१५५॥

आक्रोशादीन्बहून्श्रुत्वात्रिशुद्धधासहनंहियत् । विनाक्लेशेन दक्षारणमाक्रोशजय एव सः ॥३१५६॥

अर्थ—जो मुनिराज मिथ्यादृष्टि, म्लेच्छ, चांडाल, शत्रु, पापी और दुरात्माओं के कठोर वचनों को अपमान जनक शब्दों को तिरस्कार वा धिक्कार के वचनों को वा अनेक प्रकार के गालीगलौच के शब्दों को सुन करके भी मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक उनको सहन करते हैं, उनको सुनकर कभी किसी प्रकार का क्लेश नहीं करते उन चतुर मुनियों के आक्रोश परिषह जय कही जाती है ॥३१५५-३१५६॥

बध परीषह जय का स्वरूप—

मिथ्यादृग्बुर्जनेर्दुष्टः शत्रुभिः श्वश्रूणामिभिः । कोपादिभिः प्रयुक्ताश्च बधबंधादिताडनाः ॥३१५७॥

सद्यः प्राणहरायत्रसह्यन्तेधोरयोनिभिः । योगशुद्धाद्यनशायबधमर्षणमेव तत् ॥३१५८॥

अर्थ— जो मुनिराज अपने पापों को नाश करने के लिये मिथ्यादृष्टि, बुर्जन, दुष्ट, नरकगामी और शत्रु आदि के द्वारा क्रोध पूर्वक किये गये बध, बंधन वा ताड़न आदि को सहन करते हैं तथा वे और धीरे मुनि मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक उसी समय प्राण हरण करनेवाले बधबंधनादि को भी सहन करते हैं उसको बध परिषह जय कहते हैं ॥३१५७-३१५८॥

यांचा परीषह जय का स्वरूप—

व्याधिक्लेशशलाघर्षहूपवासपारणः । योष्यते नौषघाम्बादियांचासहनमेव तत् ॥३१५९॥

अर्थ—जो मुनि संकड़ों व्याधि और क्लेशों के हो जाने पर भी तथा अनेक उपवासों के बाद पारणा करनेपर भी कभी औषधि वा जल आदि की याचना नहीं करते हैं उसको यांचा परिषह जय कहते हैं ॥३१५९॥

अलाभ परीषह विजय का स्वरूप—

अलाभो योज्यपानादेः षष्ठाष्टमाविपारणे । त्रिशुद्ध्या सह्यते तुष्टेरलाभविजयोत्र सः ॥३१६०॥

अर्थ—जो मुनिराज बेला तेला आदि अनेक उपवास करके पारणा को निकले और अन्न पानादिक का लाभ न हो तो भी वे मुनिराज संतुष्ट होकर मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक उस भूख प्यासकी तथा आहारादिक के न मिलने की बाधा को सहन करते हैं इसको अलाभ परिषह विजय कहते हैं ॥३१६०॥

रोग परीषह जय का स्वरूप—

कुष्ठोदरव्याध्यादातपित्तज्वरादिशक्पातः । दुस्तर्हः पापपाकोत्थेर्विश्वदुःखनिबन्धनैः ॥३१६१॥

जाताया वेदनाया यममहत्याः सहनं बुधैः । कर्महार्थप्रतीकारं विनारोगजयोत्र सः ॥३१६२॥

अर्थ—जो मुनिराज अपने कर्मों को नाश करने के लिये कोढ़, उदर शूल, वातज्वर, पित्तज्वर आदि अपने पाप कर्मों के उदय से उत्पन्न हुए और समस्त दुःखों को देनेवाले ऐसे सैकड़ों असह्य रोगों की महा वेदना को भी बिना प्रतिकार का इलाज कराये सहन करते हैं उन बुद्धिमानों के रोग परिषह जय कहलाती है ॥३१६१-३१६२॥

तृणस्पर्श परीषह जय का स्वरूप—

शुष्कपत्रतृणादीनां स्पर्शानैश्चमस्त्वशः । जातकण्डूधिकारादेस्त्यक्तदेहमहात्मभिः ॥३१६३॥

कलेशाद्वृत्ते घनाशायसहनं यद्विधीयते । त्रिशुद्ध्या स तृणस्पर्शपरीषह अयोत्रसः ॥३१६४॥

अर्थ—अपने शरीर से ममत्व का त्याग कर देनेवाले जो मुनिराज अपने पापों को नाश करने के लिये मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक वायु से उड़कर आये हुए सूखे पत्ते या तृण आदि के स्पर्श से उत्पन्न हुई खुजली आदि के विकार को सहन करते हैं, उसमें किसी प्रकार का कलश नहीं करते उसको तृणस्पर्श परीषह जय कहते हैं ॥३१६३-३१६४॥

मल परीषह जय का स्वरूप—

मलजल्लाविलिप्तांगं ध्रियते यद्विरागिभिः । संस्कारक्षालनातीतमर्द्धवर्धशवप्रमम् ॥३१६५॥

स्नानादीन् दूरतस्त्यक्त्वा यथायथा रागहानये । दुष्कर्ममलनाशाय मलधारणमेव तत् ॥३१६६॥

अर्थ—जो वीतराग मुनिराज जीवों की दया पालन करने के लिये, राग को नष्ट करने के लिये और पापकर्म रूपी मल को नाश करने के लिये स्नान आदि को दूर से ही त्याग कर देते हैं और संस्कार वा प्रक्षालन आदि से रहित आधे जले हुए मुरदे के समान मल पसीना नाक का मल आदि से लिप्त हुए शरीर को धारण करते हैं उसको मल परीषह जय कहते हैं ॥३१६५-३१६६॥

सत्कार पुरस्कार परीषह जय का स्वरूप—

नमःस्तवप्रशंसावि सत्कार उच्यते बुधैः । अग्रतः करणं यात्रादेः पुरस्कार एव सः ॥३१६७॥

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नेस्तपःसद्गुणशालिभिः । द्विधनस्त्यज्यते सत्कारपुरस्कार एव सः ॥३१६८॥

अर्थ—नमस्कार करना, स्तुति करना, प्रशंसा करना आदि सत्कार कहलाता है तथा चलते समय यात्राविक में उनकी आगे रखना स्वयं पीछे चलना पुरस्कार

कहलाता है । जो मुनिराज ज्ञान विज्ञान से सुशोभित हैं और तपश्चरण आदि अनेक सद्गुणों से विभूषित हैं, ऐसे मुनिराज इन दोनों सत्कार पुरस्कार का त्याग कर देते हैं, कोई सत्कार पुरस्कार न करे तो खेद नहीं करते उसको सत्कार पुरस्कार परोषह जय कहते हैं ॥३१६७-३१६८॥

प्रज्ञा परोषह जय का स्वरूप—

अहंविद्वान् जगद्वेसा धलोवर्द्धमे जडाः । किंचित्त्वं न जानन्तिहीत्यादिगर्वएव यः ॥३१६९॥

सर्वाङ्गपूर्वविद्विश्चनिवार्यतेमदान्तकाः । सद्वादिभिर्महाप्राज्ञैः प्रज्ञाजय स ऊजितः ॥३१७०॥

अर्थ—जो मुनि ग्यारह अंग चौदह पुरुष के जानकार हैं, महा बुद्धिमान हैं, वाद विवाद करने में सर्वश्रेष्ठ हैं और अभिमान से सदा दूर हैं तो भी वे अपने मन में ऐसा अभिमान कभी नहीं करते कि मैं विद्वान् हूँ, संसार के समस्त तत्त्वों को जानता हूँ, बाकी के ये लोग सब बेल के समान मूर्ख हैं, तत्त्वों का स्वरूप कुछ भी नहीं जानते इसप्रकार के अभिमान को वे सदा के लिये त्याग कर देते हैं उसको प्रज्ञा परोषह जय कहते हैं ॥३१६९-३१७०॥

अज्ञान परोषह जय का स्वरूप—

अज्ञेयं वेत्तिकिञ्चिन्न परमार्थपशूपसः । इत्यादिकटुकालापसहनयज्जनोद्भवम् ॥३१७१॥

ईदृशंदुर्द्धरं घोरं तपो मे कुर्वतो नयम् । अद्याप्युत्पद्यते कश्चिद् ज्ञानाद्यतिशयो न ॥३१७२॥

इत्यादि बहुकालुष्यमनसोयधिहन्त्यते । स्वल्पज्ञानिभिरज्ञानपरोषह जयोहि सः ॥३१७३॥

अर्थ—जो मुनि स्वल्पज्ञानी हैं उनके लिये अन्य दुष्ट लोग “यह अज्ञानी है यह परमार्थ को कुछ नहीं जानता पशु के समान है” इसप्रकार कड़वे वचन कहते हैं तथापि वे उनको सहन करते हैं तथा “मैं इसप्रकार का दुर्द्धर और घोर और पापरहित तपश्चरण करता हूँ तो भी मुझे ज्ञान का कुछ भी अतिशय प्रगट नहीं होता श्रुतज्ञान वा अवधिज्ञान प्रगट नहीं होता” इसप्रकार की कलुषता अपने मन में कभी नहीं लाते उसको अज्ञान परोषह जय कहते हैं ॥३१७१-३१७३॥

अदर्शन परोषह जय का स्वरूप—

प्रातिहार्याणिकुर्वन्ति सुराःसद्योगधारिणाम् । महातपस्विनामेतत्प्रलापमात्रमेव हि ॥३१७४॥

यतो मे दुर्द्धरानुष्ठानसत्तपोविधायिनः । विख्यातोतिशयःकश्चिज्जालेनामरैः कृतः ॥३१७५॥

प्रवृज्जानाधिकान्त्रिमित्यादिस्त्यज्यते च यः । संकल्पोद्विग्विशुद्ध्या हि सोऽदर्शनजयो बुधैः ॥३१७६॥

अर्थ—“शास्त्रों में यह सुना जाता है कि देव लोग श्रेष्ठ योग धारण करने वाले महा तपस्वियों के लिये प्रातिहार्य प्रगट करते हैं उनका अतिशय प्रगट करते हैं, परन्तु यह कहना प्रलापमात्र है यथार्थ नहीं है क्योंकि मैं बड़े बड़े घोर तपश्चरण तथा दुर्धर अनुष्ठान पालन करता हूँ तो भी देव लोग मेरा कोई प्रसिद्ध अतिशय प्रगट नहीं करते इसलिये कहना चाहिये कि यह वीक्षा लेना भी व्यर्थ है” इसप्रकार के कलुषित संकल्प विकल्प को जो मुनिराज अपने सम्यग्दर्शन की विशुद्धि से कभी नहीं करते हैं उसको बुद्धिमान लोग अदर्शन परीषह जय कहते हैं ॥३१७४-३१७६॥

परीषहों को सहन करने की प्रेरणा—

एते कर्मोदयोत्पन्नाद्वाविशतिपरीषहाः । सर्वशक्त्याघनाशाय सोढव्यामुक्तिगामिभिः ॥३१७७॥

अर्थ—ये बाईस परीषह अपने-अपने कर्मों के उदय से प्रगट होती हैं इसलिये मोक्ष प्राप्त करनेवाले मुनियोंको अपने पाप नाश करने के लिये अपनी सब शक्ति लगा कर ये परीषहों को सहन करना चाहिये ॥३१७७॥

किस-किस कर्म के उदय से कौन कौनसी परीषह होती है—

ज्ञानावरणपाकेनप्रज्ञाज्ञानपरीषहौ । दर्शनाभिधमोहोदयेनादर्शनसंज्ञकः ॥३१७८॥

साभान्तरायपाकेनस्यावलाभपरीषहः । नाग्न्याभिधानिषद्याचाक्रोशांचापरीषहः ॥३१७९॥

स्यात्सत्कारपुरस्कारोभानाह्वयकषायतः । अरत्यरतिनाम्नोदयोदयास्त्रीपरीषहः ॥३१८०॥

वेवनीयोदयेनात्र क्षुत्पिपासा परीषहः । शीतोष्णस्थौ तथा वंशमशको हि परीषहः ॥३१८१॥

शय्या चर्याविधोरोगस्तृणस्पर्शमलाह्वयः । एकादश इमे पुंसांप्रजायस्ते परीषहाः ॥३१८२॥

अर्थ—इन परीषहों में से ज्ञानावरण कर्म के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान परीषह प्रगट होती हैं । दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से अदर्शन परीषह प्रगट होती है । साभान्तराय कर्मके उदय से अलाभ परीषह होती है । नाग्न्य परीषह, निषद्या, आक्रोश, यांचा और सत्कार पुरस्कार परीषह मान कषाय नाम के चारित्रमोहनीय कर्मके उदय से होती है, अरति परीषह अरति नाम के नोकषाय चारित्र मोहनीय के उदय से होती है और स्त्री परीषह वेद नाम के नोकषाय रूप चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होती है । इसप्रकार सात परीषह चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होती है । क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, वंशमशक, शय्या, चर्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह वेवनीय कर्म के उदय से होती हैं ॥३१७८-३१८२॥

एक जीव के एक समय में एक साथ कितनी परीषह हो सकती है—

एकस्मिन्समये ह्येकजीवस्ययुगपद्भूवि । परीषहा प्रजायन्तेगिनां संकोनविशति ॥३१८३॥
मध्येशीतोष्णयोर्नूनमेकएवपरीषहः । शय्या चर्मा निषद्यानांतर्गकः स्यान्नचान्यथा ॥३१८४॥

अर्थ—एक जीव के एक समय में एक साथ जीवों के उन्नीस परीषह हो सकती है । क्योंकि शीत और उष्ण परीषह में से कोई एक ही परीषह होती है तथा शय्या, चर्मा, निषद्या इन तीनों परीषहों में से कोई एक परीषह होती है । इसमें कभी अंतर नहीं होता ॥३१८३-३१८४॥

किस-किस गुणस्थान में कौन-कौन से परीषह होते हैं—

मिथ्यात्वाद्यप्रमत्तान्तगुणस्थानेषुसप्तसु । सर्वपरीषहाः सन्ति ह्यपूर्वकरणेसताम् ॥३१८५॥
आदर्शनंविनाह्येकविशति स्युःपरीषहाः । विशतिश्चानिवृत्तौ हिविनारतिपरीषहात् ॥३१८६॥
शुक्लध्यानेनतत्रैवप्रनष्टे वेदकर्मणि । स्मृत्याख्ये परीषहे नष्टे से स्मुरेकोनविशतिः ॥३१८७॥
तत्तोमानकषायस्यक्षयात्तत्रैव वाशमात् । ताम्न्यनामनिषद्याख्याक्रोशयांच्चापरीषहाः ॥३१८८॥
सत्कारादिपुरस्कारस्वामीभिः पंचाभविना । अनिवृत्त्याविषु क्षीणकषायांतेषुनिश्चितम् ॥३१८९॥
गुणस्थानचतुष्केषु चतुर्वंशपरीषहाः । छद्मस्थवीतरागाणां भवन्त्यत्याःसुखप्रधाः ॥३१९०॥
नष्टेघातिविधीक्षीणकषाये च परीषहाः । प्रजाजानाह्वयालाभा नश्यन्तिह्यर्थातिधातिनः ॥३१९१॥
केवलज्ञानिनोवेदनीयास्थविद्यमानतः । उपचारेण कथ्यन्तेत्रैकादशपरीषहाः ॥३१९२॥

अर्थ—मिथ्यात्व से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक सात गुणस्थानों में सब परीषह होती है । अपूर्वकरण नाम के आठवें गुणस्थान में आदर्शन को छोड़कर बाकी की इकईस परीषह होती है । अनिवृत्ति करण नामके नौवें गुणस्थान में अरति परीषह को छोड़कर बाकी की बीस परीषह होती है । उसी नौवें गुणस्थान में जब शुक्लध्यान के द्वारा वेद कर्म नष्ट हो जाता है तब स्त्री परीषह भी नष्ट हो जाती है और उस समय नौवें गुणस्थान में उनईस परीषह ही रह जाती है । इसी नौवें गुणस्थान में आगे चलकर जब मान कषाय नष्ट हो जाता है अथवा मान कषाय का उपशम हो जाता है तब ताम्न्य, निषद्या, आक्रोश, यांचा और सत्कार पुरस्कार ये पांच परीषह नष्ट हो जाती है, उस समय उसी नौवें गुणस्थानमें इन पांचों के बिना चौदह परीषह रह जाती है । ये चौदह परीषह नौवें गुणस्थानके इस भाग से लेकर क्षीण कषाय नामके बारहवें गुणस्थान तक चार गुणस्थानोंमें रहती हैं । परंतु छद्मस्थ वीतरागों के अर्थात् ग्यारहवें बारहवें गुणस्थान में ये परीषह बहुत ही थोड़ी रहती है और सुख देनेवाली ही होती

है दुःख नहीं देती । क्षीण कषाय के अंतमें जब घातिया कर्मों का नाश हो जाता है तब उन केवली भगवान के प्रज्ञा अज्ञान और अलाभ परीषह भी नष्ट हो जाती हैं अतएव केवली भगवान के वेदनीय कर्म के विद्यमान रहने से उपचार से ग्यारह परीषह रह जाती है ॥३१८५-३१८६॥

केवली भगवान के रंचमात्र भी दुःख का कारण परीषह नहीं—

घातिकर्मक्षलापायात्स्वकार्यकरणेऽक्षमाः । बाधुं दुःखमशक्ताश्चविगतान्तसुखाश्रयात् ॥३१८७॥

अर्थ—केवली भगवान के घातिया कर्मों का नाश हो जाने से वे परीषह अपना कुछ कार्य नहीं कर सकती । तथा उन भगवान के अनंत सुख की प्राप्ति हो जाती है इसलिये वे परीषह रंचमात्र भी दुःख नहीं दे सकती ॥३१८७॥

नरकादि गति में कितनी परीषह होती है ?

सर्वे शीततराः सन्तिसर्वोत्कृष्टाः परीषदाः । नारकाणां गतीं घोरस्तथातिर्यग्गतावपि ॥३१८८॥

प्रज्ञाज्ञानाभिधावर्शनालाभनाग्न्यसंज्ञकाः । अरतिस्त्रीनिषद्याश्चाक्रोशयांचापरीषदाः ॥३१८९॥

सत्कारादिपुरस्कारः क्षुत्पिपासावधोप्यमी । सन्ति देवगतीस्त्वहपाश्चतुर्दशपरीषदाः ॥३१९०॥

अर्थ—नरकों में नारकियों के और तिर्यचगति में तिर्यचों के समस्त परीषह होती हैं तथा अत्यन्त तीव्र और उत्कृष्ट होती हैं । देव गतिमें प्रज्ञा, अज्ञान, अवर्शन, अलाभ, नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, यांचा, सत्कार पुरस्कार, क्षुधा, पिपासा और बध ये चौदह परीषह बहुत थोड़े रूपमें होती है ॥३१९०-३१९१॥

ध्यानादि द्वारा परीषह सहने की प्रेरणा—

एते परीषहाविश्वे कर्मजाः कर्महानये । सोढव्याः संयतैः शक्त्या ध्यानाध्ययनकर्मभिः ॥३१९२॥

अर्थ—ये समस्त परीषह कर्मों के उदय से उत्पन्न होती हैं । इसलिये मुनियों को अपने कर्म नष्ट करने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार ध्यान और अध्ययन आदि कार्यों के द्वारा अवश्य सहन करनी चाहिये ॥३१९२॥

मुनिराज किस प्रकार परीषह रूपी योद्धाओं को जीतते हैं—

चारित्रसंगरेधोरे परीषहं महाभटाः । वैजिताः सप्तपौकान्वृत्तपापितंदुर्ध्वैः ॥३१९३॥

तेषां नश्यन्ति कर्माणिपञ्चाशत्स्करं समम् । ढौकतेत्रिजगत्लक्ष्मीभुक्तिधियासहाचिरात् ॥३१९४॥

अर्थ—अपने चारित्र में अचल रहनेवाले जो मुनिराज चारित्ररूपी घोर युद्ध में चारित्र रूपी धनुष पर श्रेष्ठ तप रूपी बाण चढ़ाकर परीषह रूपी महा योद्धाओं को

जीत लेते हैं, उनके समस्त कर्म पापों बुद्धिरूपी चोरों के साथ-साथ अवश्य नष्ट हो जाते हैं और बहुत ही शीघ्र मोक्ष लक्ष्मी के साथ-साथ तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है ॥३१६८-३१६९॥

परीषहों को नहीं जीतने से हानि—

परीषहभटेभ्यो ये भीता नश्यन्ति कातराः । सच्चारित्ररणात्प्राप्यतेपकीर्तिजगत्त्रये ॥३२००॥

हास्यं स्वजनसाधूनामध्वेचतुर्गताविह । अमुत्रपापपाकेनस्युविश्वदुःखभाजनाः ॥३२०१॥

अर्थ—जो कायर मुनि परीषह रूपी योद्धाओं से डरकर भाग जाते हैं वे उस चारित्ररूपी युद्ध में तीनों लोकों में फैलने वाली अपकीर्ति प्राप्त करते हैं, अपने स्वजन और साधुओं के मध्य में उनकी हंसी होती है तथा परलोक में पापकर्म के उदय से उनको चारों गतियों के समस्त महा दुःख प्राप्त होते हैं ॥३२००-३२०१॥

धैर्य रूपी तलवार से परीषहों को जीतने की प्रेरणा—

मत्वेति सुषिग्रोनित्यंस्वारीमिवपरीषहान् । जयन्तु धैर्यखड्गेन मुक्तिसाम्राज्यसिद्धये ॥३२०२॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान् मुनियों को मुक्तिरूपी साम्राज्य सिद्ध करने के लिये अपनी धैर्य रूपी तलवार से अपने शत्रुओं के समान ये समस्त परीषह सदा के लिये जीत लेनी चाहिये ॥३२०२॥

ऋद्धियों के कथन की प्रतिज्ञा एवं उनके भेद—

ऋद्धीर्यमुनोन्त्राणामृषीणां सप्तपोभवाः । समासेन प्रवक्ष्यामि तपोमाहात्म्यव्यक्तये ॥३२०३॥

ऋद्धिर्बुद्धघातृया चाद्याक्रियर्द्धिविक्रियाह्वया । तपऋद्धिर्बलद्धिर्षोषद्धिरससंज्ञकाः ॥३२०४॥

क्षेत्रद्धिर्योगिनामेताऋद्धयोष्टविधाःपराः । जनन्योलिलसौख्यानां तपःशुद्धिप्रभावजाः ॥३२०५॥

अर्थ—अथानंतर—मुनियों के, ऋषियों के श्रेष्ठ तप के प्रभाव से अनेक ऋद्धियां उत्पन्न होती हैं । अतएव उस तप का माहात्म्य प्रगट करने के लिये संक्षेप से उन ऋद्धियों का स्वरूप कहता हूँ । बुद्धिऋद्धि, क्रियाऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, तपऋद्धि, बलऋद्धि, शोषविऋद्धि, रसऋद्धि और क्षेत्रऋद्धि ये आठ प्रकार की ऋद्धियां मुनियों के होती हैं । ये सब ऋद्धियां तपस्वरण की शुद्धता के प्रभाव से प्रगट होती हैं और समस्त सुखों की उत्पन्न करनेवाली होती हैं ॥३२०३-३२०५॥

बुद्धि ऋद्धि के भेद व क्रिया ऋद्धि के भेद—

केवलावधिसंज्ञाने भवःपयंदोधनः । जीवकोष्ठाह्वयेऋद्धीपावापुसारिसंज्ञका ॥३२०६॥

संभिन्नश्रोत्र, दूरास्वादन, दूरस्पर्शन, दूरदर्शन, दूरध्यान, दूरश्रवण, वशपूर्वित्वमेव हि ॥३२०७॥

संभक्तपुत्रं वा पुत्रित्वं विधाय यथाशक्तं भवति । अष्टांगमहा निमित्तं परा ॥३२०८॥

सत्प्रज्ञाश्रमणत्वं च ज्ञानेकबुद्धता परा । वादित्वसृष्टिभेदाः स्युर्वा ऽ रष्टादशाप्यमी ॥३२०९॥

अर्थ—केवलज्ञान, मनःपर्यवसान, अवधिज्ञान, बीजबुद्धि, कीष्टबुद्धि, पाप्माशु-
सारि, संभिन्नश्रोत्र, दूरास्वादन, दूरस्पर्शन, दूरदर्शन, दूरध्यान, दूरश्रवण, वशपूर्वित्व वा
चतुर्दशपूर्वित्व, समस्त पदार्थों के जानने की सामर्थ्य, अष्टांग महा निमित्त की पूर्णता,
प्रज्ञाश्रमणत्व, प्रत्येक बुद्धता और श्रेष्ठ वादित्व इसप्रकार अठारह अतिशयों का प्राप्त
होना बुद्धिऋद्धि के भेद हैं ॥३२०६-३२०९॥

क्रिया ऋद्धि का प्रथम भेद व रूप चारण ऋद्धि के भेद—

चारणत्वं तथा आकाशगामीत्वं ध्योमगामिनाम् । विधाक्रियधिरप्रेति तत्रैते चारणाः पराः ॥३२१०॥

जलजंघाभिघास्तन्तुपुष्पपत्राख्यचारणाः । बीजश्रेणिफलाग्निशिखाद्युपरिगामिनः ॥३२११॥

जलमादाय वाप्यादिष्वपकायिकविराधनाम् । अकुर्वन्तो मनाग्भूमाविध कार्याय पावयोः ॥३२१२॥

व्रजन्तुद्धारनिकोपाय्यां येष्विस्त्रागिरक्षकाः । महाकारुण्यचित्तास्ते भवन्ति जलचारणाः ॥३२१३॥

भूमेरुपरिचाकाशे चतुरंगुलसम्मिस्ते । स्वजं धोक्षेपनिकोपाय्यां यान्ति बहुधा जनाम् ॥३२१४॥

विहारकर्मणे ये ते योगिनो जंघचारिणः । एवमन्येपि विज्ञेयास्तस्माद्विचारणाः पराः ॥३२१५॥

अर्थ—चारण ऋद्धि और आकाशगामी ऋद्धि ये दो प्रकार की क्रियाऋद्धियां
आकाशगामी मुनियोंके होती हैं । अब आगे चारण ऋद्धियों का विशेष रीति से लिखते
हैं । जलचारण, जंघाचारण, तंतुचारण, पुष्पचारण, पत्रचारण, बीजचारण, श्रेणीचारण,
फलचारण, अग्निशिखाचारण आदि चारण ऋद्धिके अनेक भेद हैं । जो मुनि अपने कार्य
के लिये बावड़ी, सरोवर आदि जल में जलकायिक जीवों की रंचमात्र भी विराधना न
करते हुए पृथ्वी के समान उस जल पर पैरों को उठाते रखते हुए चलते हैं, ऐसे समस्त
जीवों की रक्षा करनेवाले और हृदय में महा करुणा धारण करनेवाले वे मुनिराज जल-
चारण ऋद्धि को धारण करनेवाले कहलाते हैं । जो मुनि भूमि से चार अंगुल ऊपर
आकाश में अपनी जंघाओं को उठाते रखते हुए विहार करते हैं और इसीप्रकार अनेक
योजन चले जाते हैं उन मुनियोंको जंघाचारण ऋद्धिधारी कहते हैं । इसीप्रकार तंतुचारण,
पुष्प, फल, चारण आदि चारण ऋद्धियोंके भेद समझ लेने चाहिये ॥३२१०-३२१५॥

आकाशगामिनी ऋद्धि का स्वरूप—

पर्यंकासनयुक्ता वा निषण्णा वा सुचारणाः । कायोत्सर्गस्थिताः पादोद्धारनिकोपणेन वा ॥३२१६॥

वा ताभ्यामन्तरेणैव बहुयोजनगामिनः । आकाशगामिनो ज्ञेयाः कुशलाः वजने च ले ॥३२१७॥

अर्थ—आकाशगामिनी ऋद्धि को धारण करनेवाले मुनि चलने में अत्यन्त चतुर होते हैं तथा पर्यकासन से बैठकर वा अन्य किसी आसन से बैठकर वा कायोत्सर्ग से लड़े होकर वा पैरों को उठाते रखते हुए वा पैरों को बिना उठाए रखे अनेक योजन चले जाते हैं, उसको आकाशगामिनी ऋद्धि कहते हैं ॥३२१६-३२१७॥

विक्रिया ऋद्धि के भेद—

अणिमा महिमा नाम्नी लघिमा गरिमा ततः । प्राप्तिः प्राकाम्यमोक्षित्वं वशित्वं वशकारकम् ॥

तथैवाप्रतिधातोन्तर्द्वानिमदृश्यकारणम् । कामरूपित्वमित्याद्याविक्रियद्विरनेकधा ॥३२१६॥

अर्थ—विक्रिया ऋद्धि के अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्य, प्राकाम्य, ईशत्व, वश करनेवाली वशित्व, अप्रतिधात, अदृश्यता का कारण अंतधान और काम-रूपित्व आदि अनेक भेद हैं ॥३२१८-३२१९॥

तपोतिशय ऋद्धि के ७ भेद का कथन—

अग्रदीप्ततप्तस्तप्तोमहद्घोरतप्तततः । सर्वकार्यविधौ शक्तस्तपोघोरपराक्रमः ॥३२२०॥

घोराद्यन्तगुणब्रह्मचर्यस्वप्नेष्यल्लिखितम् । सत्तपोतिशयद्विरचंषामता सप्तधासताम् ॥३२२१॥

अर्थ—अग्रदीप्ततप, तप्ततप, महाघोरतप, समस्त कार्यों के सिद्ध करने में समर्थ ऐसा घोर तप, घोर पराक्रम, घोरगुण और स्वप्न में अलंछित रहनेवाला घोर ब्रह्मचर्य इसप्रकार तपोतिशय ऋद्धि के सात भेद हैं ॥३२२०-३२२१॥

बल ऋद्धि का स्वरूप एवं भेद—

मनोवाक्कायभेदेन त्रिधा बलद्विरुच्यते । सर्वांगपाठविन्तादीसत्तपश्चरणेक्षमाः ॥३२२२॥

अर्थ—मनोबल, वचनबल और कायबलके भेद से बलऋद्धि के तीन भेद हैं । ये मुनिराज इस बलऋद्धि के समस्त अंगों का पाठ और चितवन क्षणभरमें कर लेने के लिये समर्थ हो जाते हैं ॥३२२२॥

औषधि ऋद्धि के भेद—

ग्रामखेलाण्यजलमलोविट्सर्षौषधस्ततः । तथैवास्यविषोदृष्टिविषद्विरितियोगिनाम् ॥३२२३॥

विश्वरोगहराज्ञेयाऔषधद्विः पराष्टधाः । सत्तपोवृत्तधर्मादिमाहात्म्यव्यक्तिकारिणी ॥३२२४॥

अर्थ—ग्राम, खेल, जल, मल, विट्, सर्षप, आस्य विष और दृष्टि विष ये समस्त रोगों को हरण करनेवाली औषधि ऋद्धियां आठ प्रकार की हैं । ये सब

ऋद्धियां तप चारित्र्य और धर्म के माहात्म्य को प्रगट करनेवाली हैं ॥३२२३-३२२४॥

रस ऋद्धि के भेद—

परा आस्यविषाददृष्टिविषामहर्षयोद्भूताः । सन्धीराध्याविणोमब्धवाध्याविणो दृष्टिपुंगवाः ॥३२२५॥

सर्पिराधाविश्वेषामृताध्याविण ऊजिताः । एवरसद्विषसंप्राप्ताः षड्विधाऋद्धयोमताः ॥३२२६॥

अर्थ—रसऋद्धि के छह भेद हैं—आस्यविषा, दृष्टिविषा, क्षीरस्त्रावी, मधु-
स्त्रावी, सर्पिस्त्रावी और अमृतस्त्रावी । इनसे सुशोभित होनेवाले मुनि रसऋद्धिधारी
कहलाते हैं ॥३२२५-३२२६॥

क्षेत्र ऋद्धि के भेद—

द्विधाऋद्धिसंप्राप्ताः इत्यक्षीणमहानसाः । जनावगगहवाःस्वस्याधमेक्षीणमहालयाः ॥३२२७॥

अर्थ—क्षेत्र ऋद्धि के दो भेद हैं—एक अक्षीण महानस और आश्रम में सम-
स्त लोगों को जगह देनेवाली अक्षीण महालय इनसे सुशोभित होनेवाले मुनि क्षेत्रऋद्धि-
धारी कहलाते हैं ॥३२२७॥

ऋद्धियों की महिमा—

इमा षष्ठविधाः साराः ऋद्धयोधिविधास्तथा । तपोमाहात्म्यजा ज्ञेया ऋषीणांशिवशर्मदाः ॥३२८॥

अर्थ—इसप्रकार ये आठ प्रकार की ऋद्धियां कहलाती हैं इन सारभूत
ऋद्धियों के अनेक भेद हैं तथा ऋषियों के तपश्चरण के माहात्म्य से प्रगट होती हैं और
उन्हें मोक्ष देनेवाली होती हैं ॥३२८॥

किनके ये ऋद्धियां प्रकट होती हैं—

निराकांक्षास्त्रिशुद्धायेऽनघंकुर्वन्तिसत्तपः । ऋद्धयः सकलास्तेषां जायन्ते स्वयमेव हि ॥३२२९॥

अर्थ—जो मुनि मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक बिना किसी आकांक्षा के
पापरहित श्रेष्ठ तपश्चरण करते हैं उनके अपने आप समस्त ऋद्धियां प्रगट हो जाती
हैं ॥३२२९॥

तप नहीं करने से हानि—

जिनदीक्षांमुवावाय तपोयैत्र न कुर्वन्ते । तेषां रोगव्रजोमुग्रदुर्गतिनित्यभक्षणात् ॥३२३०॥

अर्थ—जो मुनि अपनी इच्छानुसार दीक्षा धारण करके भी तपश्चरण नहीं
करते उनके अनेक रोग प्रगट होते हैं और नित्य भक्षण करने से परलोक में दुर्गति

होती है ॥३२३०॥

तपश्चरण करने की प्रेरणा—

मत्वेति शिवसिद्धयर्थं कुर्वन्तु सत्तपोन्वहम् । विश्वद्विजनकं शक्त्या भवभीताः शिवाधिनः ॥३२३१॥

अर्थ—यही समझकर संसार से भयभीत हुए और मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये समस्त ऋद्धियों को प्रगट करनेवाला यह श्रेष्ठ तपश्चरण अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन करते रहना चाहिये ॥३२३१॥

ऋद्धिधारी मुनिराज की वन्दना, स्तुति—

इति विमलमहद्वर्धसंकृता ये महान्तः सकलगुणसमुद्राः विश्वपूज्याऋषीन्वाः ।

शिवगतिसुखकामा वंदिताः संस्तुतास्ते समनिश्चित निजर्द्धोभुक्तिसिद्धयं प्रवक्षुः ॥३२३२॥

अर्थ—इसप्रकार जो मुनि निर्मल महा ऋद्धियोंसे सुशोभित हैं, जो सर्वोत्कृष्ट हैं, समस्त गुणों के समुद्र हैं, तीनों लोकों में पूज्य हैं, ऋषिराज हैं और मोक्ष गति के सुखों की इच्छा करनेवाले हैं, उनकी मैं वंदना एवं स्तुति करता हूँ । वे मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिये मुझे अपनी समस्त ऋद्धियों को प्राप्त करें ॥३२३२॥

ग्रन्थ की प्रामाणिकता एवं महिमा—

मूलाचारादिशास्त्रान्तरगणितान्संवलोक्यार्थलो,

वं मूलाचारप्रदीपाभिषर्ममृतसमं ज्ञानतीर्थमयात्र ।

सम्यक्स्वाचारदीपजगतिसुयमिनां धर्मबीजं ब्रूयाच्य,

मेतत्स्वाध्यायहान्यदुरितचयहरं प्रसारं च शक्ते ॥३२३३॥

अर्थ—मैंने श्रेष्ठ आचार्यों के द्वारा कहे हुए मूलाचार आदि अनेक शास्त्रोंको देखकर तथा उनका सार लेकर अपने और अन्य जीवों के पाप नाश करने के लिये अमृत के समान यह मूलाचार प्रदीप नामका सारभूत ग्रंथ मुनियों के लिये बनाया है । यह ग्रंथ ज्ञानका तीर्थ है, श्रेष्ठ आचार्यों को दिलाने वाला दीपक है, धर्म का बीज है, विद्वानों के द्वारा पूज्य है और पापों के समूह को नाश करनेवाला है ॥३२३३॥

ग्रन्थ रचना का कारण—

न कीर्तिपूजादिकलाभवांच्छया न वा कवित्वाद्यभिसामकीक्षया ।

ग्रंथः कृतः किन्तु परार्थसिद्धये स्वधर्मवृत्त्यै भुवि केवलमया ॥३२३४॥

अर्थ—यह ग्रंथ मैंने न तो अपनी कीर्ति या पूजा आदि के लाभ की इच्छा से

बनाया है और न अपना कवित्व के अभिमान को दिखलाने की इच्छा से बनाया है । किंतु केवल दूसरों का उपकार करने के लिये और अपने धर्म की वृद्धि के लिये मैंने यह ग्रंथ बनाया है ॥३२३४॥

पूज्य सरस्वती से क्षमा याचना—

अस्मिन्ग्रन्थबरेसुमार्गकथकेकिञ्चिन्मयोक्तं यत् मात्रामभियुज्यातिहीनमखिला ज्ञानप्रमादादिभिः ।
आचारांगमसंविद्धमथवासर्वक्षमत्वात्स्वतः पूजये भारति तीर्थनाथमुखजे दोषमदीयं भुवि ॥३२३५॥

अर्थ—हे माता सरस्वती, हे तीर्थंकर के मुख कमल से उत्पन्न हुई देवी ! मैंने सुमार्ग को दिखलाने वाले इस श्रेष्ठ ग्रंथमें अपने पूर्ण अज्ञान वा प्रमादिक से आचारांग शास्त्र के विरुद्ध कहा हो वा मात्रा संधि पद आदि कुछ कम कहा हो उस मेरे दोष को हे पूज्य सरस्वती तू क्षमा कर ॥३२३५॥

ग्रन्थ के पठन-पाठन का फल—

येपठितसुविदोवरशास्त्रं धर्मरत्ननिधिमात्महिताय ।
आदिमांगजमिमनिरवद्यं ते विबुध्ययतिमार्गसमग्रम् ॥३२३६॥
तत्त्वतोनुचरणाद्विसौहृद्यं प्राप्यशक्रपदञ्चशुभजीवम् ।
चक्रिराजविभवं च निहृद्य कृत्स्नकर्मकिलयातिशिवस्तम् ॥३२३७॥

ये पाठयन्तिनिपुणा यमिनः शिष्याश्च शुद्धं यथार्थसहितं वरशास्त्रमेतत् ।
ते ज्ञानदानप्रतिताड्युत्तममन्तःस्थु लब्ध्वाखिलागमसिंहत्रिजगच्छरण्याः ॥३२३८॥

अर्थ—यह मूलाचार प्रदीप नाम का शास्त्र धर्मरूप रत्नों का निधि है, पहले आचारांग ग्रंथ से उत्पन्न हुआ है और निर्दोष है । इसलिये जो बुद्धिमान पुरुष अपना हित करने के लिये इसको पढ़ते हैं वे मुनियों के समस्त मार्ग को जानकर और यथार्थ रीति से उसको आचरण कर स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं तथा वहाँके सुखों को प्राप्त कर वहाँ के इन्द्रपद के सुखों को प्राप्त कर बचे हुए पुण्य कर्म से चक्रवर्ती की विभूति को प्राप्त करते हैं । तथा अंतमें समस्त कर्मों को नाश कर मोक्ष में जा विराजमान होते हैं । जो चतुर मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस शास्त्र को यथार्थ अर्थ सहित शुद्ध रीति से पढ़ाते हैं वे ज्ञानदान से उत्पन्न हुए अब्भुत धर्म के प्रभाव से समस्त आगम के पारगामी होकर तीनों लोकों को शरणमूल हो जाते हैं, अर्थात् अरहंत वा सिद्ध हो जाते हैं ॥३२३६-३२३८॥

ग्रन्थ को लिखने लिखवाने का फल—

ये संलिखन्तिसुखियःस्वयमेव वेमं ग्रन्थं धनेनधमिनः खलुलेखयन्ति ।

ते ज्ञानतीर्थपरमोद्धरणाद्धरिष्यां तीर्थेश्वराः किल भवेयुरहो क्रमेण ॥३२३६॥

अर्थ—इसीप्रकार जो बुद्धिमान इस ग्रन्थ को स्वयं लिखते हैं वा जो धनी धन खर्च कर लिखाते हैं वे इस पृथ्वीपर ज्ञानरूपी तीर्थ के परम उद्धार करनेवाले कहे जाते हैं और इसीलिये वे अनुक्रम से तीर्थकर पद को प्राप्त करते हैं ॥३२३६॥

ग्रन्थकर्ता (सकलकीर्ति) शास्त्र शुद्धि के लिये विशेष भानियों से प्रार्थना करते हैं—

रहितसकलदोषा ज्ञानपूर्णा ऋषीन्द्रा स्त्रिभुवनपतिपूज्याः शोधयन्त्वेवयत्नात् ।

विशदसकलकृत्याख्येनचाचारशास्त्रमिदमिहगणिनासंकीर्तितं धर्मसिद्धयर्थं ॥३२४०॥

अर्थ—यह आचारशास्त्र ग्रन्थ धर्म की सिद्धि के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध ऐसे आचार्य सकलकीर्ति ने बनाया है । जो मुनिराज समस्त दोषों से रहित हों, ज्ञान से परिपूर्ण हों और तीनों लोकों के द्वारा पूज्य हों वे इस ग्रन्थ को प्रयत्न पूर्वक शुद्ध करें । ॥३२४०॥

समस्त गुणों की प्राप्ति हेतु तीर्थकर देव की स्तुति—

सर्वेतीर्थकराः परार्थजनका लोकलघोक्षोत्तकाः,

वंधाविश्वहितोद्यता भवहराधर्मार्थकाभाविदाः ।

अन्तातीतगुणार्णवा निरुपमामुक्तिस्त्रयोबल्लभा,

लोकेऽकारणबंधवोनिजगुणार्थसन्तु नोवःस्तुताः ॥३२४१॥

अर्थ—इस संसार में आज तक जितने तीर्थकर हुए हैं वे सब मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ को प्रगट करनेवाले, तीनों लोकों के पदार्थों को प्रकाशित करनेवाले, तीनों लोकों के द्वारा बंधनीय, समस्त जीवों का हित करनेवाले, संसार को नाश करनेवाले, धर्म, अर्थ, काम आदि पुरुषार्थों को देनेवाले, अनंत गुणों के समुद्र, उपमारहित मुक्ति-स्त्री के स्वामी और इस लोक में बिना कारण सबका हित करनेवाले बंधु रूप हुए हैं । इसीलिये मैं उनकी स्तुति करता हूँ । वे तीर्थकर परमदेव मेरे लिये अपने समस्त गुण प्रदान करें ॥३२४१॥

समस्त सिद्धि के लिये सिद्ध भगवान की स्तुति—

सिद्धामुक्तिवधूसंगसुखिमोऽनंतास्त्रिलोकाप्रगा ध्येयास्तत्पदकांक्षिभिःमुनिवरैःप्राप्तातीर्थनाथैरपि ।

पञ्चाशद्विंशतिगुणाङ्किताः शिषकराः मूर्तातिगा निर्मलाः,
ज्ञानाणाममवोदिसन्तु स कलासिद्धिनिजासंस्तुताः ॥३२४२॥

अर्थ—इसीप्रकार अनंत सिद्ध परमेष्ठी मुक्तिरूपी स्त्री के समागम से अत्यन्त सुखी हैं, तीनों लोकों के शिखर पर विराजमान हैं, सिद्ध पद की इच्छा करनेवाले मुनियों को ध्यान करने योग्य हैं, पहले भगवान् तीर्थंकर परमदेव ने भी उनकी वंदना की है, वे सम्यक्त्व आदि आठों गुणों से सुशोभित हैं, मोक्ष के देनेवाले हैं, प्रमूर्त हैं, निर्विकार हैं और ज्ञानरूप शरीर को धारण करनेवाले हैं । ऐसे सिद्ध परमेष्ठी की मैं स्तुति करता हूं वे सिद्ध परमेष्ठी तुम लोगों के लिये अपनी समस्त सिद्धि प्रदान करें । ॥३२४२॥

समस्त साधुओं की स्तुति—

पञ्चाक्षरपरायणाः सुगणिनः स्वाचारसंदर्शिनः,
श्चाक्षराष्टक्षितान्गपाठनिपुणाध्यापकाः साधवः ।
विवेशक्तिभरेणयोगसहिताः स्वाचारमार्गोद्यताः,
ये ते विश्वहितकराश्चममवोदस्य स्वकीयान्गुणान् ॥३२४३॥

अर्थ—इस संसार में पञ्चाक्षरों के पालन करने में तत्पर तथा अपने आचारों को बिखलाने वाले दूसरों से पालन कराने वाले जितने आचार्य हैं तथा आचाराङ्गादि समस्त अंगों के पढ़ने पढ़ाने में निपुण जितने उपाध्याय हैं और अपनी शक्तिके अनुसार योगों को धारण करनेवाले अपने आचार मार्ग में उद्यत रहने वाले तथा समस्त जीवों का हित करनेवाले जितने साधु हैं वे सब तुम्हारे लिये और मेरे लिये अपने-अपने समस्त गुण प्रदान करें ॥३२४३॥

जैन शासन की स्तुति—

भवविपुमयभीतामां शरण्यं बुधाचार्यं निरुपमगुणपूर्णस्वर्गमोक्षकहेतुम् ।
गणधरभूमिसेव्यं धर्ममूलं गरिष्ठं जयतु जगति जैनं शासनं पापवृत्तम् ॥३२४४॥

अर्थ—इस संसार में यह जैनशासन संसाररूपी शत्रु से भयभीत हुए जीवों के लिये शरणभूत है, विद्वानों के द्वारा पूज्य है, उपमारहित गुणों से पूर्ण है, स्वर्गमोक्ष का एक अद्वितीय कारण है, गणधर और मुनियों के द्वारा सेवा करने योग्य है, धर्म का मूल है, सर्वोत्कृष्ट है और पापों से रहित है । ऐसा यह जैनशासन तीनों लोकों में जयवंत हो ॥३२४४॥

आचार प्रदीप नामक ग्रन्थ की प्रामाणिकता एवं स्तुति—

विश्वेश्वरानितीर्थमहितमपमलं वन्दितं संस्तुतं च,
विश्वाचारप्रदीपंगुणगणजनकतीर्थनाथः प्रणीतम् ।
अर्थाङ्गाविपूर्वगणधरयमिभिर्यन्निवृद्धमयातत् नित्यं,
यास्वप्रवृद्धिसकलप्रतिगणैर्धर्मतीर्थं हि यावत् ॥३२४५॥

अर्थ—जो आचार प्रदीप ज्ञान का तीर्थ है, तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा पूज्य है, वंदनीय है, स्तुति करने योग्य है, समस्त आचारों को दिखलाने वाला दीपक है, अनेक गुणों के समूह को उत्पन्न करनेवाला है, अर्थरूप से भगवान् तीर्थकर परमदेव का कहा हुआ है, तथा अर्थरूप से अंग पूर्व के द्वारा गणधर परमदेवों ने इसकी रचना की है, उसी को मैंने रचना रूप में प्रगट कर दिया है ऐसा यह ग्रन्थ जब तक धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति रहे तब तक समस्त सृष्टियों के समूह के द्वारा सदा वृद्धि को प्राप्त होता रहे ॥३२४५॥

आचार्य स्वयं ज्ञान तीर्थ की स्तुति करते हुए स्तुति के फल की कामना कर रहे हैं—

एतज्ज्ञानसुतीर्थसारमतुलं प्रोक्तमयासंस्तुतं ब्रह्ममेति सुलोभिनः शिवपथं रत्नत्रयं निर्मलम् ।
शुद्धिवाक्स्तनुचेतसां च सुमतिं बोधिसमाधिगुणान् तीर्थसांसुगतिदवात्सुकलं दुःखं निहत्य द्रुतम् ॥

अर्थ—यह वंदना करने योग्य, स्तुति करने योग्य, उपमारहित और सारभूत ऐसा मेरे द्वारा कहा हुआ ज्ञान तीर्थ अत्यन्त लोभ करनेवाले मेरे समस्त दुःखों को दूर कर मुझे मोक्ष मार्ग प्रदान करे, निर्मल रत्नत्रय प्रदान करे, मन-वचन-काय की शुद्धि प्रदान करे, पंडितमरण प्रदान करे, बोधि और समाधि को प्रदान करे, तीर्थकरों के गुणों को प्रदान करे और सबसे उत्तम गति प्रदान करे ॥३२४६॥

पञ्च परमेष्ठी की स्तुति पूर्वक मंगल कामना करते हैं—

असमगुणनिधानास्तोचनाथाः शरण्याः जगतिरहितवेहा विश्वलोकाप्रमृताः ।
त्रिविधगुणमहान्तः साधवो येऽस्मिन्नास्ते ममसकलसुखाप्स्येसन्तु भागवत्या वः ॥३२४७॥

अर्थ—इस संसार में अनुपम गुणों के निधान और सबको शरणभूत जितने तीर्थकर हैं तथा शरीर रहित और लोक शिखर पर विराजमान जितने सिद्ध हैं और अनेक गुणों से सुशोभित जितने आचार्य, उपाध्याय, साधु हैं वे सब मेरे लिये समस्त सुखों को देनेवाले हों और तुम्हारे लिये समस्त मंगलों को देनेवाले हों ॥३२४७॥

शास्त्र के श्लोक संख्या का प्रमाण—

पञ्चषष्ठ्यधिकाः श्लोकास्त्रिंशच्छतप्रमाः ।

अस्याचारसुशास्त्रस्य ज्ञेयाः सिद्धीकुसामुवि ॥३२४८॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्येमहाग्रन्थे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचितेनुप्रेक्षापरीषद्
ऋद्धिवर्णनो नाम द्वादशमोऽधिकारः ।

अर्थ—विद्वान् पुरुषों ने इस आचार शास्त्र के समस्त श्लोकों की संख्या तीन
हजार तीन सौ पैंसठ बतलाई है ॥३२४८॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नाम के महाग्रन्थ में अनुप्रेक्षा परीषद्
और ऋद्धियों को वर्णन करनेवाला यह बारहवां अधिकार समाप्त हुआ ।

